॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

११२

कविवत्सलहालसातवाहनविरचिता

गाथासप्तशती

(गाहासत्तसई)

सविमर्श 'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेता

व्याख्याकारः

डॉ० जगन्नाथ पाठक

साहित्याचार्य, एम० ए० (संस्कृत-हिन्दी), पी-एच० डी०
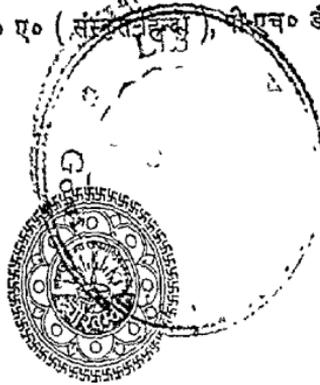
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९६९

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

192

GĀTHĀSAPTAŚATĪ

Edited With

The 'Prakāśa' Hindī Commentary

BY

DR. JAGANNĀTHA PĀṬHAKA

Sahityacharya, M. A., Ph. D.
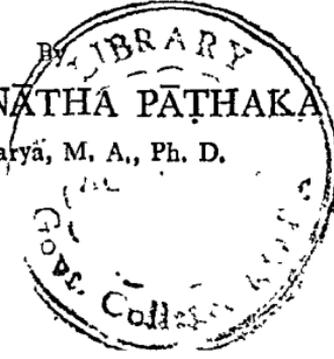
THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1

1969

बिहार राज्य के भू० पू० मुख्य-सचिव तथा 'गाथासप्तशती'

के

अन्यतम प्रमाणभूत व्याख्याता

माननीय श्रीधर वासुदेव सोहोनी, आई० सी० एस० महोदय

को

सविनय

भूमिका

गाथासप्तशती एक मुक्तक अमृतमय प्राकृत-काव्य है। एक ओर प्राकृत-भाषा की स्वाभाविक मधुरिमा और दूसरी ओर कृत्रिमतारहित ग्राम्य जीवन के सरस-मधुर घात-प्रतिघातों तथा संलाप-वचनों का एकत्र संयोग इस काव्य का सबसे पहला आकलनीय पक्ष है। यह ठीक है कि हमें समग्र काव्य में आमुष्मिकतानिर्मुक्त और वह भी वासनात्मक प्रतीत होने वाले तत्त्वों का बहुत कुछ संकलन प्राप्त होगा, परन्तु यदि हमारा हृदय एक उत्कृष्ट काव्य की विषयमर्यादा की प्रतीक्षा के बिना भी उसकी भाव-भूमियों में रमने का कुतूहली है और सच्चे अर्थ में 'सरस' है तो निश्चय ही हमें गाथासप्तशती के महनीय उद्देश्य 'आनन्द' की लोकोत्तर भूमि में, बिना किसी प्रयास के पहुँचने में बहुत सुविधा होगी और हम वहाँ 'स्नेह' के विशाल देव-मन्दिर में अपने को उपस्थित अनुभव करेंगे। शृङ्गार अपने समग्र अस्तित्व में, इस रचना के प्रत्येक विन्यास से जैसे फूट पड़ता है और यहाँ संयोग और विप्रलम्भ के दोनों मार्ग निरन्तर अभ्यस्त होने के कारण सर्वथा अपिच्छिल हो जाते हैं।

गाथासप्तशती में ऐसे प्रसङ्ग, जिनमें आर्द्रापराध नायक के प्रति नायिका का मान, नायक का नायिका को प्रेम में फाँस कर पुनः मन्दस्नेह हो जाना, दूतियों या सखियों द्वारा परस्पर प्रतिकूल या मिलन की इच्छा वाले नायक-नायिकाओं के संगम के उपायों का निर्देश, नायक को नायिका द्वारा या नायिका को नायक द्वारा अपने संकेत-स्थान का प्रकटीकरण, पथिक के प्रति स्नेहोद्गार, प्रिय के समीप जाने वाले पथिक से नायिका की विरहावस्था का वर्णन, गोत्रस्खलन आदि अपराधों से सपत्नियों के परस्पर रागद्वेष आदि पाये जाते हैं, अपनी विविधता में अपूर्व और चमत्कार-पूर्णता में अनुपम हैं। इसे एक हद तक महसूस करने के लिए हमें साहित्य के नाम पर प्रचलित बहुत सी धारणाओं से मुक्त होना अनिवार्य होगा। मसलन्, प्रायः संस्कृत के अथवा अन्य प्राचीन साहित्य के अध्ययन से यह बात स्थिर हो आती है कि साहित्य का सम्बन्ध उन्हीं लोगों से है जो अपने आपको जीवन के सामान्य स्तर को छोड़, एक खास अन्दाज से रहते, बोलते और परस्पर व्यवहार करते रहने की प्रतिभा का अपने में आधान कर लेते हैं। इस धारणा के कारण हम साहित्य को एक विशेष सीमा में रख देते हैं और उसे विशेष लोगों की पूँजी समझ लेते हैं। गाथासप्तशती हमारी इस गलत धारणा को मूलतः उच्छेद कर देती है और यह बात मनमें स्थिर करती है कि जीवन की सादगी, वह चाहे रहन-सहन को लेकर हो, बात-

चीत को लेकर हो अन्यथा अन्य व्यवहारों को लेकर हो, साहित्य के लिए सबसे मूल्यवान् सम्पत्ति है, क्योंकि सादगी में जीवन अविकीर्ण रहता है, प्रसन्न रहता है। वहाँ विकीर्णताजनित मालिन्य का सर्वथा अभाव होता है। यही कारण है कि गाथासप्तशती का विषय कोलाहलपूर्ण नगर का चाकचक्य नहीं, किन्तु प्रशान्त और प्रकृति-सरस ग्रामीण वातावरण है। जब से सभ्यता में मानव-जीवन का रहन-सहन आदि कारणों को लेकर नगर और ग्राम के द्वैविध्य में विघटन हुआ तभी से साहित्य ने भी अपने को द्विविधरूपता में रूपान्तरित कर लिया होगा, यह अनुमान सामान्यतः लगाया जा सकता है। परन्तु प्रत्यक्ष रूप में जो नगर के सभी व्याघातों को अभिभूत करके ग्रामीण तत्वों ने साहित्य के रूप में चरम विकास किया, उसका भारत के लौकिक-साहित्य में सबसे पहला और सबसे मार्मिक उदाहरण शायद गाथासप्तशती है। निश्चय ही आज से शताब्दियों पूर्व इस महान् रचना का किया हुआ बीजारोपण आज भारत के विविध और बहुमुखी लोक जीवन में निर्मित महनीय साहित्य के रूप में हमारे समक्ष है। और, सबसे बड़ी बात यह है कि जिनका मन नागरिक चाकचक्य में निरन्तर घुसपैठ का अभ्यासी है वह भी ऐसे साहित्य की ओर बरबस अभिमुख होते आरहे हैं।

एक गाथा में, सम्भवतः नायक-नायिका में खटपट होने के कारण स्थिति गम्भीर होने की सम्भावना हो गई है, अर्थात् नायक अन्य नायिका में अनुराग करने के लिए उद्यत है। नायिका इस पश्चात्ताप से कि नायक के साथ अगर खटपट न होता तो यह स्थिति न आती, रो रही है, वह भी मुँह को फेर कर। आखिर वह कोई चंट नागरिक युवती तो नहीं ठहरी, जो नायक के इस प्रकार उतारू होने पर पुनः अपने प्रति आकृष्ट होने के लिए उसे विवश करती अथवा प्रणय-सूत्र को ही स्वयं तोड़ कर अन्य का सहारा लेने की धमकियाँ देने लगती। वल्कि यहां तो प्रेम की मर्यादा को निभाना ही जीवन का सबसे उत्कृष्ट आदर्श स्वीकार कर लिया गया है, पर यहां भी आवश्यक नहीं माना गया है कि वह सर्वथा पति में हो, वह इतर में (अर्थात् जार या उपपति में भी) भी उसी हद तक उत्पन्न हो सकता है, इसे लोकाचार की सीमा में न देखकर, साहित्य की सरस भूमि में ही निरीक्षण किया जाय तब इसके सत्य की उपलब्धि सम्भव होगी। प्रस्तुत में, नायिका की सखी अब दोनों के बीच आती है और यह कहती है—

सहि ईरिसिव्विअ गई या रुव्वसु तंसवलिअमुहचन्दं।
एआणं वालवालुङ्कितन्तुकुडिलाणं प्रेम्माणं ॥ ११० ॥

सखी का सबसे पहला कर्तव्य हो जाता है कि वह प्रेम में आदर्श को दोनों के बीच एक अनिवार्य नीति के रूप में उपस्थित करे और फिर उन्हें अपनी गलती को महसूस करने का अवसर दे। वह कहती है कि प्रेम ककड़ी के तन्तु सरीखे कुटिल होते हैं। मनमाने जहां-तहां उन्हें प्राप्त करना सम्भव नहीं। वह तो एक बार जिसे पकड़ लेते हैं, दूसरी बार अन्यत्र ले जाने का प्रयास करते ही टूट जाते हैं और उनके लिए फिर से आश्रय ग्रहण करना कठिन हो जाता है। सखी द्वारा इस प्रकार की सटीक उपमा का प्रयोग गाथासप्तशती के लोककवि ही कर सकते हैं। निश्चय ही इस उपमा में एक विशेष प्रकार की सुरभि है जो अन्यत्र लभ्य नहीं।

गाथासप्तशती के प्रत्येक विषय पर एक क्रम से निर्धारण करके विचार किया जाना स्वतन्त्र रूप में भी आवश्यक है। इस प्रकार का वर्गीकरण गाथासप्तशती के एक प्राचीन टीकाकार साधारण देव ने अपनी टीका 'मुक्तावली' में दिया है, जिसे 'व्रज्यापद्धति' के नाम से अभिहित किया गया है। प्रस्तुत में एक सर्वाङ्गीण आकलन के लिए हमें सूत्र रूप में उनमें से कुछ तत्त्वों पर विचार कर लेना चाहिये। यह स्वाभाविक है कि भारत का ग्रामीण जीवन धन सम्पत्ति के चाक-चक्य से बहुत पहले से ही वञ्चित रहा है, और यह दोष शायद उसमें मानवीय गुणों के अपेक्षित रूप में विकास के लिए साधक ही सिद्ध हुआ है, न कि बाधक। इतना होने पर भी, धनसम्पत्ति के अभाव का जो परिणाम हो सकता है, आखिरकार उसे भुगतना तो हर हालत में लाजिम था। इस प्रकार गाथा-सप्तशती के ग्रामीण वातावरण में प्रेम और सद्भाव का सरस-मधुर राग अलापने वाले नायक और नायिकाओं पर उसका दुष्प्रभाव यत्किञ्चित् इस काव्य में अभिलक्षित हुआ है और कमाल यह है कि दारिद्रय ने उन्हें अपने स्नेह के मार्ग से च्युत न होने दिया, प्रत्युत वे लोग अपने आपमें और भी स्थिर और समर्थ हो सके। एक गाथा में नायिका अपने पति की हालत को धन की दृष्टि से दयनीय देखकर अपने घर पर कपड़े और अलंकार से सजधज कर आने वाले लोगों पर कुपित होती है। उसे पसन्द नहीं, कि उसके दरिद्र पति को अपने स्नेहोद्वेल जीवन में निराशा का दुःखद बोझ रंचमात्र भी महसूस हो।

महसूस, वह चाहे राग की भावना का हो अथवा ईर्ष्या या मन्यु आदि की भावनाओं का हो, गाथासप्तशती के सरल और छल-छद्म से कोसों दूर रहने वाले पात्र ही पूर्णता से कर सकते हैं। इसका मुख्य कारण है उनका जीवन के सुदीर्घ काल से प्रचलित आडम्बरों से सर्वथा मुक्त होना। महसूस करने के लिए, आज की साहित्यिक परिभाषा में संवेदनशील होने के लिए, मुखर हो जाना सबसे बड़ा बाधक होता है। गाथासप्तशती के पात्र मुखर नहीं, बल्कि मूक हैं,

उनमें संवेदनशीलता या महसूस करने की क्षमता एक आश्चर्यजनक सीमा तक पाई जाती है। इस तथ्य को गाथासप्तशती की प्रत्येक गाथा से अनुभव किया जा सकता है।

बहुत गाथाओं में नायक के प्रति, नायिका के प्रति अथवा दूती के प्रति परस्पर उपालम्भ का प्रयोग मिलता है। उपालम्भ से त्रुटियों का निराकरण होता है और विशेष रूप से प्रणय के सम्बन्ध-सूत्रों में मजबूती आती है। यदि उपालम्भों के विविध चमत्कारों से काव्य की पृष्ठभूमि में कोई परिचित होना चाहे तो गाथासप्तशती में उसे पर्याप्त और पुष्कल सामग्री मिल जायगी।

वीरता और स्नेह आदि जैसे द्विविध भावों का एकत्र संयोग करके मार्मिकता तक पहुंचा देना भी गाथासप्तशती की कुछ गाथाओं की विशेषता है। एक गाथा (क्र० ३१) में वीर नायक (ग्रामणीपुत्र) के कारण गांव के लोग निर्भीक होकर नींद के सुख लेते है, उन्हें चोर डाकुओं के आतङ्क का लेश भी नहीं होता और दूसरी ओर उसकी बेचारी पत्नी उस वीर के प्रहारजनित व्रणों के कारण विषम वक्ष पर बहुत कठिनाई से नींद ले पाती है। यद्यपि टीकाकारों ने गाथा को इस प्रकार वरगलाने की कोशिश की है कि जार को वह ग्रामणीपुत्र की असन्तुष्ट पत्नी निर्विघ्न प्राप्त होगी, मगर इसका जो उदात्तपक्षीय अर्थ है उसमें चमत्कार का अधिक अनुभव होता है। यहां मैं गाथासप्तशती के रसिक वर्ग से विनम्र प्रार्थना करना एक उसके संस्करण के प्रस्तावक के रूप में अपना कर्तव्य समझता हूँ कि प्रस्तुत व्याख्यान गाथासप्तशती की प्राचीन काल से प्रचलित व्याख्या-रूढियों की सीमा से मुक्त नहीं है। ऐसा करने के पीछे मेरे सामने एक परम्परा का व्यामोह भी (जो बहुत अंश में सार्थक भी है) रहा है। फिर भी, गाथासप्तशती की गाथाओं की अपनी विशेषता है कि पढ़ने के समय ही रसिक जन के हृदय में अपने नये अर्थ पहुंचा देती हैं और उस आधार पर कोई भी व्यक्ति अपने अभिमतार्थ के लिए यहां सर्वथा स्वतंत्र है। इसलिए प्रत्येक गाथा को पढ़ते समय अपनी उद्भावना शक्ति को सबसे पहले क्रियाशील रखना आवश्यक है, तत्पश्चात् व्याख्याओं की ओर आना चाहिए।

गाथासप्तशती में ऐसी नायिकाएं बहुत कम मिलती हैं जिनका अपने प्रिय पर विश्वास होता है और ऐसे नायक भी कम हैं जो अपनी पत्नी में ही एकान्ततः अनुराग करते हैं। जहां दोनों पक्षों में इस प्रकार की एकनिष्ठता है वहाँ भी इस मर्यादा के विपरीत कुछ न कुछ विघटनकारी तत्त्वों का निर्देश अवश्य मिल जाता है। यहां तक कि देवर की ओर से भी विघटन का कुछ गाथाओं में संकेत है। एक स्थान पर शीलवती नायिका ने जब देखा कि उसका देवर उसके प्रति-असद्व्यवहार के लिए प्रवृत्त होना चाहता है तब उसने रामायण की कथा

का वह प्रसंग, जब लक्ष्मण ने अपने बड़े भाई राम का अनुगमन किया है, सुनाया (क्रमा० ३५)। दूसरी ओर एक गाथा में यह भी निर्देश है कि शील को खण्डित कर देने वाले सभी विरोधी तत्त्व संघटित हैं, जैसे नायिका का घर राज-मार्ग के एक ऐन चौराहे पर है, वह देखने में अच्छी है, तरुणी है, उसका पति परदेश गया है, उसके पड़ोस में छिनाल औरतों का घर भी है और साथ ही वह गरीब है फिर भी उसका शील खण्डित न हुआ, परन्तु प्रस्तुत अर्थ अपनी स्वतन्त्र धारणा के अनुसार यह हो कि इस स्थिति में उसका शील नहीं खण्डित हुआ ? तो काकुवैशिष्ट्य से यह अर्थ जाहिर होगा कि ऐसी प्रतिकूल स्थितियों में फिर सम्हल पाना मुश्किल है, अवश्य ही उस नायिका का शील खण्डित हो गया। हम यदि यहां यह कहें कि ऐसी नायिकाओं के प्रति गाथासप्तशती के रचयिताओं के मन में पूरी सहानुभूति थी, तो यह कथन बहुत अंश में निराधार न होगा, जब कि हमारे सामने एक दूसरी गाथा (क्रमांक २९७) मौजूद है—

पउरजुवाणो गामो, महुमासो, जोअणं, पई ठेरो।
जुण्णसुरा साहीणा, असई मा होउ किं मरउ ॥

अर्थात् गांव जवानों से भरा है, वसन्त का महीना है, जवानी है, पति बूढ़ा है और पुरानी शराब अपने अधीन है, फिर वह गरीब असती या कुचाली न हो तो क्या मरे ? निश्चय ही इन पंक्तियों में गाथाकार की ऐसी नायिका के प्रति सहानुभूति है और वह एक हद तक एक समस्या के रूप में उपस्थित परिस्थिति को सुलझा न पाकर व्यग्र हो उठा है और इस प्रकार का प्रश्नात्मक प्रयोग कर गया है।।

गाथासप्तशती का प्रत्येक पात्र अपने प्रिय के प्रति अपने समग्र अस्तित्व को अर्पित करने के लिए सब प्रकार से तत्पर है। उसे परवाह नहीं कि उसे प्रणय की इस मंजिल को तय करने के लिए किन-किन परिस्थितियों से गुजरना होगा। इस अंश में नायक-पक्ष की अपेक्षा नायिका-पक्ष अधिक प्रबल और पूर्ण है, जो गाथासप्तशती की ग्राम्य परिस्थितियों के अनुसार स्वाभाविक है। एक महिला तो अपने स्नेह के मूल्याङ्कन के लिए दैव से यह प्रार्थना करती है कि इसके प्रिय का अन्य महिला के साथ सम्पर्क हो, ताकि प्रिय विदित कर सके कि उसकी प्रिया में कितना गुण है और अन्य महिला में कितना दोष ?

गाथासप्तशती अपनी असामान्य भङ्गि-भणितियों से आद्योपान्त ओतप्रोत है। अलङ्कारों का चमत्कार और व्यञ्जनाओं की छटा का यहां पदे-पदे दर्शन होता है। कविता के समग्र उत्कर्षाधायक तत्त्वों की योजना गाथासप्तशती में आकस्मिक एवं प्रयत्ननिरपेक्ष प्रतीत होती है, इसका सबसे पुष्ट साधक तर्क यह है कि सभी विशेषताओं के बावजूद कहीं पर भी भाषा की सादगी और रवानगी में कोई

अन्तर नहीं आता और गोलमटोल की तो सम्भावना भी नहीं हो सकती। एक ओर नदी, पर्वत, वन, उपवन, वृक्ष आदि प्रकृति की रम्य विभूतियों के चित्र, दूसरी ओर मानव-जीवन में निरन्तर सरसता का सचार करने वाले उत्सवों, आचारों, व्यवहारों तथा परिस्थितियों के निर्देश गाथासप्तशती की भौगोलिक, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक महनीयता के अनिवार्य प्रमाण हैं। जहां-कहीं वेश्याओं का भी उल्लेख है, जो प्राचीनकाल में भारतीय समाज का एक अनुपेक्षणीय अङ्ग वन गई थीं। उनको इस रूप में स्वीकार करने का एक यह हेतु सम्भव हो सकता है कि उस समय के सामान्य लोगों की भी विलासिता की चरम परिणति, जो बहुत अंश में कला और रसिकता के क्षेत्र की वस्तु हो गई थी, वेश्याओं के कारण ही सजीव हो पाती थी। विलासिता की पृष्ठभूमि को लेकर गाथाओं में काम-शास्त्र के विविध पारिभाषिक तत्त्वों का भी संकेत है। जैसा कि दूसरी गाथा में स्पष्ट कहा गया है कि अमृतमय प्राकृतकाव्य को सुनना और पढ़ना जो नहीं जानते और कामशास्त्र-विषयक तत्त्वचिन्ता में लगे रहते हैं वे लज्जित क्यों नहीं होते ? इस उल्लेख ने गाथासप्तशती के टीकाकारों को निश्चय ही कामशास्त्रानुकूल व्याख्यान के लिए बाध्य किया है और इसका परिणाम यह हुआ कि निर्भीकता के साथ सीधी-साधी गाथाओं को भी कामशास्त्र के किसी-न-किसी सिद्धान्त के अनुकूल ठहराया गया है। मैं व्यक्तिगत रूप से गाथासप्तशती को काम-शास्त्र की साङ्केतिक सीमाओं से एकदम मुक्त न मानते हुए भी एक मर्यादित काव्य स्वीकार करता हूं जिसमें मानव के सबसे ऊँचे भाव प्रणय का रस अनन्यसामान्य रूप से पद-पद में भिन गया है।

गाथासप्तशती अपने आप में सब प्रकार से पूर्ण होने के कारण ही आगे के निर्मित समग्र साहित्य पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में अपना प्रभाव डालती रही। यह कहना अनुचित न होगा कि गाथासप्तशती भारतीय समग्र गीतिकाव्य (Lyrical poem) की एक खास कड़ी है और अमरुक-शतक, आर्यासप्तशती आदि काव्य के निर्माण का मूल प्रेरक ग्रन्थ है, यहाँ तक कि हिन्दी-साहित्य के विख्यात रीतिकालीन कवि विहारी ने 'बिहारीसतसई' का निर्माण इसी परम्परा में किया है। 'गाथासप्तशती' की व्यङ्ग्यसर्वङ्कषा' व्याख्या के रचयिता भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने अपनी संस्कृत-भूमिका में विस्तार से गाथाओं तथा उनसे प्रभावित अमरुक तथा आचार्य गोवर्धन के श्लोकों एवं आर्याओं का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ की नीति और वीर-पक्ष की कुछ गाथाओं ने निश्चय ही अप्रत्यक्ष रूप में आगे चल कर हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में प्राप्त होने वाली रचनाओं को प्रभावित किया होगा, ऐसा अनुमान भी असंगत नहीं लगता। निश्चय ही भारतीय साहित्य में व्यास और वाल्मीकि आदि की महतो महान्

आर्ष रचनाओं को छोड़ कर एक अद्भुत परम्परा का निर्माण करने वाले ग्रन्थों में गाथासप्तशती का स्थान किसी से कम नहीं।

ऊपर की पंक्तियों का फलितार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में इस प्रकार है—

गाथासप्तशती की सबसे महनीय विशेषता उसका 'काव्यपक्ष' है जो अपने आपमें अनुपम है। यह अन्य बात है कि इसमें शृङ्गार का अतिरेक भी निःसङ्कोच स्थान पा गया है, जो इसकी काव्यपक्षीय विभिन्न विशेषताओं के समक्ष बाधक नहीं होता। कविता का सबसे अधिक मान्य गुण सहजता या सादगी है, इसके बावजूद अलङ्कार तत्त्व, जिसे 'अन्दाजेबयान' कह सकते है, भी कविता का अनिवार्य गुण है। गाथासप्तशती में ये दोनों गुण पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। यह समझना कोई गलत धारणा नहीं कि सादगी या सहजता विषय-सापेक्ष गुण है और कृत्रिमता और पोलमपोल से सर्वथा विरुद्ध है। गाथासप्तशती अपने रूप में मानव-जीवन के कृत्रिमतामुक्त सहज संकेतों का एक आकलनीय काव्य है। इसका खास कारण है इस काव्य के प्रत्येक चरित्र का नागरिक वातावरण से मुक्त होना। हमें आज भी नागरिक और ग्रामीण वातावरणों का भेद बिलकुल स्पष्ट दिखाई दे रहा है। सचमुच ग्रामीण जनों के जीवन में एक उन्मुक्तता और खास तरह की सहजता का प्रत्यक्ष दर्शन होता है, जो शहरी लोगों में प्रायः सम्भव नहीं। यह अलग बात है कि आज से बहुत पहले भी सभ्य समाज में कुछ अनुकूल प्रतीत न होने वाले प्रयोगों को 'ग्राम्य' कह कर उपेक्षणीय समझने की परम्परा विद्यमान रही है, परन्तु साहजिकता और उन्मुक्तता के उभय तटों से प्रवाहित होने वाला ग्राम्य जीवन का प्रवाह स्नेह जैसे पूर्ण भाव लहरियों का अगर एकान्ततः आश्रय है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। हम यह नहीं कहते कि स्नेह के विरुद्ध ईर्ष्या, घृणा और द्वेष आदि के कुत्सित भाव ग्राम्य जीवन में मौजूद नहीं, पर इतना अवश्य है कि इन कुत्सित भावों को ग्राम्य जीवन की स्नेहाप्लुत गहराई से सम्पर्क नहीं होता बल्कि वह सिर्फ सतही हैं। गाथासप्तशती ऐसे ही उन्मुक्त और सहज जीवन प्रवाह को अभिलक्षित करने वाली अनुपम रचना है।

गाथासप्तशती कविवत्सल हाल द्वारा संकलित या सम्पादित (महाराष्ट्री) प्राकृत की करोड़ गाथाओं में से सात सौ मुक्तक गाथाओं का संग्रह है यह बात इसकी तीसरी गाथा से विदित होती है—

> सत्त सताइं कइवच्छलेण कोडीअ मज्झआरम्मि।
> हालेण विरइआइं सालङ्काराणं गाहाणं॥

इस ग्रन्थ के काल, रचयिता के नाम, स्वरूप आदि के सम्बन्ध में, विद्वानों में बहुत वर्षों से तीव्र मतभेद चला आ रहा है, जिसका उल्लेख विचार-विमर्श

को आगे गतिशील करने और एक निश्चित संकेत तक पहुंचने के लिए प्रस्तुत में अनिवार्य है।

उद्धृत तृतीय गाथा में 'कविवत्सल' का प्रयोग संग्रहकर्ता हाल का 'विरुद' जान पड़ता है, जो अनेक कवियों के आश्रयदाता या गोष्ठीकर्ता होने के कारण सम्भवतः उल्लिखित है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि गाथासप्तशती का उद्भव किसी कोटिसंख्याक विशाल राशिग्रन्थ से हुआ है, अतः इसे उस ग्रन्थ का संक्षेपीकरण भी मान लेना गलत न होगा। इस गाथा में प्रयुक्त 'हाल' शब्द की संस्कृत छाया टीकाकारों द्वारा विभिन्न रूपों में निर्दिष्ट है, जैसे—'शालेन', 'शालवाहनेन' अथवा 'शालिवाहनेन'। साथ ही 'शालिवाहन' शब्द के 'सालाहण' अथवा 'हालाहण' के रास्ते से संक्षिप्त रूप 'हाल' में परिवर्तित होने की सम्भावना भी की गई है। अनेक ऐतिहासिक विद्वानों ने यह समान रूप से स्वीकार किया है कि गाथासप्तशती का लेखक हाल सातवाहन ईसा की प्रथम शती के अन्तिम दिनों में राज्य करता था (हरप्रसाद शास्त्री, ए० इ० भा० १२, पृ० २३० तथा गौ० ही० ओझा, प्राचीन लिपि पृ० १६३)।

सप्तम शताब्दी ईस्वी के सुप्रसिद्ध संस्कृत कवि बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' के आरम्भ में एक श्लोक लिखा है—

अविनाशिनमग्राम्यमकरोत् सातवाहनः।
विशुद्धजातिभिः कोषं रत्नैरिव सुभाषितैः॥

इसमें बाण ने एक 'सुभाषितकोष' की चर्चा की है, जिसका रचयिता 'सातवाहन' था। प्रस्तुत ग्रन्थ गाथासप्तशती और बाणभट्ट द्वारा उल्लिखित 'सुभाषितकोष' को अभिन्न मानते हुए विद्वानों ने स्वीकार किया है कि गाथासप्तशती का रचयिता या संकलनकर्ता हाल सातवाहन दक्षिणापथ के आन्ध्रभृत्य वंश का एक राजा था जो शकसंवत् का प्रवर्तक एवं स्वयं प्राकृत कवियों का आश्रयदाता भी था। उसकी राजधानी प्रतिष्ठानपुर (आधुनिक पैठण) थी। पण्डितों का अनुमान है कि 'गाथासप्तशती' का प्राचीन नाम 'गाथाकोश' था। इस मत के विशेष प्रवर्तक डा० मिराशी जी ने पुष्कल प्रमाणों से इसे सिद्ध कर दिया है। विशेष युक्ति यह है कि गाथासप्तशती के पीताम्बर आदि टीकाकार इसे 'कोश' कहते हैं। इसके लिए अन्तिम गाथा जो कई प्राचीन प्रतियों में प्राप्त हुई है, में भी 'कोश' शब्द का प्रयोग है। वह गाथा इस प्रकार है—

एसो कइणामंकिअगाहापडिवद्धवड्ढिआमोओ।
सत्तसअओ समत्तो सालाहणविरइओ कोसो॥
[एष कविनामाङ्कितगाथाप्रतिवद्धवर्धितामोदः।
सप्तशतकः समाप्तः शालवाहनविरचितः कोषः॥]

इस आधार पर इसमें सन्देह नहीं कि बाणभट्ट का 'सुभाषितकोश' गाथा-सप्तशती ही है। जब आगे चल कर 'कोश' शब्द का पर्याय 'कोश' ग्रन्थों के लिए रूढ़ हो गया तब 'गाथसप्तशती' यह नया नामकरण प्रचलित हुआ।

जैसा कि प्रत्येक शतक की अन्तिम गाथा में 'हालप्रमुख' उल्लेख है, उससे स्पष्ट है कि ग्रन्थ की गाथाएँ अनेक समकालीन कवियों की बनाई हुई हैं जिनमें प्रमुख 'हाल' था। 'सप्तशती' की अनेक प्रतियों में गाथाओं के कर्ताओं का नामोल्लेख भी है, जो परस्पर भिन्न होने के कारण बहुत कुछ प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। उपर्युक्त गाथा में 'कविनामांकित' प्रयोग से कुछ लोगों ने अंदाज लगाया है कि गाथासप्तशती की प्रत्येक गाथा के साथ 'हाल' कवि का नाम जुड़ा था, जो कालान्तर में अलग होगया। परन्तु यह बात यथार्थ मालूम होती है कि 'हाल' के अतिरिक्त अनेक कवियों की गाथाएँ इस 'संग्रह' में ली गई हैं। सम्भव है गाथाओं के साथ उन कवियों के नाम भी एक परम्परा से चले आते थे जिसका बहुत आगे चलकर विच्छेद हो गया और टीकाकारों ने अंदाज पर नामों को जोड़ना आरम्भ कर दिया। यहां तक कि स्वयं 'हाल' शब्द अपने संस्कृत रूप में व्यवस्थित नहीं रह गया और किसी के, अनुसार कुछ बना और किसी के अनुसार कुछ बना।

एक पुरानी प्रति में जिसे रावसाहब विश्वनाथ मण्डलीक ने १९०३ ई० में प्रकाश में लाया था, इस ग्रन्थ का नाम 'शालिवाहनसप्तशती'[१] मिलता है। इसी प्रति से यह भी विदित होता है कि उक्त ग्रन्थ के संकलन में 'हाल' के ६ सहयोगी कवि थे—१–बोदित (बोदिस), २–चुल्लुहः, ३–अमरराज, ४–कुमारिल, ५–मकरन्दसेन, ६–श्रीराज। गाथासप्तशती की प्रायः सभी प्रतियों में प्रारम्भ की गाथाएँ इन्हीं कवियों द्वारा रचित रूप में निर्दिष्ट की गई हैं।

हाल सातवाहन का कर्तृत्व और गाथासप्तशती को ई० प्रथम शताब्दी की रचना, इन दोनों पक्षों में डा० भण्डारकर ने संदेह किया है। उनके अनुसार इसका रचयिता हाल (सातवाहन) राजा था यह केवल परम्परामात्र है, अतः यह त्याज्य है, जैसा कि प्राचीन भारतीय साहित्यकारों से सम्बन्धित परम्पराएँ अपना ऐतिहासिक मूल्य नहीं रखतीं। 'हर्षचरित' का तेरहवां श्लोक सातवाहन को 'गीत कोष' का रचयिता बताता है किन्तु इस मान्यता का कोई आधार नहीं कि यह 'कोष' 'हाल' की 'सप्तशती' ही है, जैसा कि प्रो० वेबर ने भी कहा है।

डा० भण्डारकर ने अपने इस पक्ष को युक्तिसंगत करते हुए और यह सिद्ध

१–जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई शाखा, खण्ड १०, संख्या २९, पृ० १२७–१३८।

करते हुए कि गाथासप्तशती की रचना बाद में हुई, दो बातों पर विशेष ध्यान दिलाया है। पहली बात है, एक गाथा (१।८९) में कृष्ण तथा राधा का उल्लेख तथा दूसरी बात है, एक अन्य गाथा (३।६१) में सप्ताह के एक दिन 'मङ्गलवार' का प्रयोग। डा० भण्डारकर का कहना है कि राधिका का सबसे प्राचीन उल्लेख 'पञ्चतन्त्र' में दिखाया जा सकता है, जिसका संकलन ई० पांचवी शताब्दी में हुआ है। उसी प्रकार तिथि दिखाने, तथा अन्य सर्व-साधारण कार्यों में दिवसों के प्रयोग का नवीं शताब्दी में प्रचलन हुआ, यद्यपि बुध-गुप्त के एरण के अभिलेख में तिथिप्रयोग का सर्वप्राचीन उदाहरण मिलता है, अतः हम लोग 'हाल' की गाथासप्तशती की तिथि छठी शताब्दी के प्रारम्भ में निर्धारित करें तो अधिक त्रुटिपूर्ण न होगा (रा० गो० भण्डारकर स्मृति ग्रन्थ, पृ० १८८-८९)।

हाल सातवाहन के गाथासप्तशती के कर्तृत्व तथा समय के सम्बन्ध में उपर्युक्त डा० भण्डारकर की अनुपपत्तियों का खण्डन डा० राजबली पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'विक्रमादित्य' (पृ० १२-१४) में विस्तार से किया है। डा० पाण्डेय का विचार प्रस्तुत में ज्ञातव्य है। वे लिखते हैं—

"...डा० भण्डारकर जब भारत के प्राचीन महर्षियों से सम्बद्ध परम्पराओं को हटा देने की बात करते हैं तो वे परम्पराओं के प्रति तर्कपूर्ण रुख नहीं अपनाते। प्रो० वेबर के तर्कों को अपने तर्कों की पुष्टि के लिए लाना ही कोई मूल्य नहीं रखता, जिनके कितने ही सिद्धान्त कालान्तर में भ्रमपूर्ण सिद्ध हुए हैं। गाथासप्तशती मे कोई असङ्गति नहीं है, जिसका उत्तर 'हर्षचरित' को देना पडता है। वस्तुतः यह ललित पदों का 'कोष' है। हमें अन्य साधनों से ज्ञात होता है कि हाल सातवाहन प्राकृत-साहित्य के बहुत बड़े संरक्षक तथा स्वयं एक बहुत बड़े कवि थे—

केऽभूवन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः। भोज (सरस्वती कं०)

(आढ्यराजः शालिवाहनः—रत्नेश्वर)

दिवंगत डा० सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ने भी हर्षचरित के सातवाहन को हाल सातवाहन बताया है (बाम्बे गजेटियर भाग १, खण्ड २, पृ० १७)। प्रबन्ध चिन्तामणि के लेखक मेरुतुंग (पृ० २६) तथा फ्लीट का भी यही मत है (जे० आर० ए० एस० १९१६, पृ० ८२०)।

जहाँ तक 'गाथासप्तशती' में राधिका के उल्लेख का प्रश्न है, यह दिखाया जा सकता है कि कल्पना की किसी उड़ान में भी गाथा की तिथि बाद में सिद्ध नहीं होती। पांचवीं शती के 'पञ्चतन्त्र' में राधिका के उल्लेख से यह मान लेना आवश्यक नहीं कि यह सर्वप्रथम उल्लेख है। पांचवीं शती में राधिका के उल्लेख

का अर्थ यह है कि उसके पूर्व ही राधिका की मान्यता लोकप्रिय हो चुकी थी तथा किसी कहानीकार की सामग्री बन कर प्रयोग का रूप धारण करने के लिए शतियां लगी होंगी। अतः सम्भव नहीं प्रतीत होता कि राधा का सम्प्रदाय प्रथम शती ई० में प्रचलित रहा हो, जिस समय गाथा की रचना हुई। गाथा में सप्ताह के दिनों के उल्लेख के सम्बन्ध में डा० भण्डारकर यह स्वीकार करते हैं कि इसका सर्वप्राचीन उल्लेख बुधगुप्त के एरण वाले अभिलेख में होता है। इससे भी प्राचीन अभिलेख, शकक्षत्रप रुद्रदामन् के अभिलेख में तिथि शक संवत् ५२ (१३० ई०) दिन गुरुवार उल्लिखित है। अतः गाथासप्तशती में राधिका तथा सप्ताह के दिवस का उल्लेख उसकी तिथि छठी शताब्दी में नहीं खींच लाता, जिससे डॉ० भण्डारकर के सिद्धान्त का पोषण हो कि विक्रम संवत् का संस्थापक गुप्त राजा द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य था।"

भारत के दक्षिणी भाग में सातवाहन वंशी सम्राटों का राज्य लगभग ई० पू० २२० से २२५ ई० तक रहा। ऐतिहासिक विद्वानों ने इस कालावधि को 'सातवाहनयुग' कहा है। यह बात निःसंकोच स्वीकार की गई है कि 'सातवाहन' का ही दूसरा रूप 'शालिवाहन' है। पुराणों में इस वंश का नाम 'आन्ध्र' है। इतिहासकारों ने इसके इस अर्थ में यह औचित्य देखा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय आन्ध्रों का एक प्रबल सुसंगठित राष्ट्र था और सातवाहनों का नया राज्य उसी का पुनर्जीवन सूचित करता है।[1] परन्तु आजकल के 'आन्ध्रप्रदेश' में सातवाहनों के राज्य के रहने का कोई लेख या अवशेष प्राप्त नहीं। सब उपरले गोदावरी कांठें अर्थात् महाराष्ट्र से प्राप्त हुए हैं। उनके लेख प्राकृत में हैं। सातवाहन राजाओं का प्राकृतभाषी तथा महाराष्ट्र होना तो प्रमाणित होता है पर उनका 'आन्ध्र' होना पूर्ण सही अर्थ में विदित नहीं होता। सम्भावना के अनुसार 'आन्ध्र' प्रदेश को जीतने अथवा उनमें द्राविड़ रक्त का मिश्रण होने के कारण वे 'आन्ध्र' कहलाए हों। कर्णाटक के वेल्लारि जिले से पाये गए एक सातवाहन-अभिलेख में उस प्रदेश को 'सातवाहनि-हार' कहा गया है, वही सातवाहनों का अभिजन था। सातवाहनों के लेखों के अनुसार उनके गोत्र के नामों से वे ब्राह्मण प्रतीत होते है। अनुश्रुति (द्वात्रिंशत्पुत्तलिका) के अनुसार वे मिश्रित ब्राह्मण और नागवंश के थे। उनके सिक्कों पर उनके तेलगु या कन्नड़ी उपनाम पाये जाते हैं।

सातवाहन वंश का संस्थापक सिमुक (पुराणों के अनुसार शिशुक, सिन्धुक आदि) था। उसकी राजधानी शायद उत्तरी गोदावरी तट पर प्रतिष्ठान या

१—इस प्रसंग के विशेष वर्णन के लिए देखें, जयचन्द विद्यालङ्कार की 'भारत वर्ष के इतिहास की रूपरेखा' (सातवाहनयुग) पृ० ७०९।

पैठण थी। सिमुक के बाद उसके भाई कन्ह या कृष्ण ने राज्य किया और बाद में उसके पुत्र सातकर्णि ने।

इन्हीं सातवाहनों के वंश में आगे चल कर कथासरित्सागर (षष्ठतरंग) के अनुसार प्रतिष्ठानपुर (पैठण) में दीपकर्णिसूनु सातवाहन राजा हुआ। उसकी सभा में बृहत्कथा के प्रणेता गुणाढ्य और कालाप व्याकरण के कर्ता शर्ववर्मा प्रभृति अनेक विद्वान् हुए। सातवाहन लोग बहुत पहले से 'दक्षिणापथपति' के नाम से विख्यात हो चुके थे। अतः वर्तमान 'पैठण' ही 'प्रतिष्ठान' था। 'प्रबन्धकोष' के 'सातवाहन-प्रबन्ध' में राजशेखर सूरि लिखते हैं—'अधुना तु दक्षिण-देशस्थितं प्रतिष्ठानपुरं क्षुल्लकग्रामतुल्यं वर्तते', अर्थात् अब तो दक्षिण देश में प्रतिष्ठा-पुर एक छोटा सा गाँव है। जयपुर के म० म० दुर्गाप्रसाद शास्त्री ने कथासरित्सागर द्वारा वर्णित सातवाहन की पहचान में वात्स्यायन-कामसूत्र के द्वादश अध्याय का यह वाक्य उद्धृत किया है—'कर्तर्या कुन्तलः शातकर्णिः शातवाहनो महादेवी मलयवतीं जघान', अर्थात् कुन्तल-जनपद के स्वामी शातवाहन ने महादेवी मलय-वती को कर्तरी के प्रहार से मार डाला। जैसा कि म० म० शास्त्री जी के उल्लेख के अनुसार डा० पीटर्सन के तीसरे रिपोर्ट के ३४९ पृष्ठ से ज्ञात होता है कि उन्हें बूँदी के राज पुस्तकालय से प्राप्त गाथासप्तशती की पाण्डुलिपि की समाप्ति में यह उल्लेख प्राप्त हुआ है—

"राएण विरइआए कुन्तलजणवअइणेण हालेण।
सत्तसई अ समत्तं सत्तमसज्झासअं एअं॥

इति सप्तमं शतकम्। इतिश्रीमत्कुन्तल-जनपदेश्वर-प्रतिष्ठानपत्तनाधीश-शत-कर्णोपनामक-द्वीपिकर्णात्मज-मलयवतीप्राणप्रिय-कालापप्रवर्तकशर्ववर्यधीसख—मलय-वत्युपदेशपण्डितीभूत-त्यक्तभाषात्रयस्वीकृतपैशाचिकपण्डितराजगुणाढ्यनिर्मितभस्मी भवद्बृहत्कथावशिष्टसप्तमांशावलोकनप्राकृतादिवाक्पञ्चक (?) प्रीत-कविवत्सलहाला-द्युपनामक-श्रीसातवाहननरेन्द्रनिर्मिता विविधान्योक्तिमयप्राकृतगीर्गुम्फिता शुचिर-सप्रधाना काव्योत्तमा सप्तशत्यवसानमगात्।"

इससे वात्स्यायन द्वारा वर्णित और कथासरित्सागर में वर्णित 'सातवाहन' एक ही ठहरते हैं। और जैसा कि कथासरित्सागर का यह श्लोक है—

राजार्हरत्ननिचयैरथ शर्ववर्मा
तेनार्चितो गुरुरिति प्रणतेन राज्ञा।
स्वामीकृतश्च विषये भरुकच्छनाम्नि
कूलोपकण्ठविनिवेशिनि नर्मदायाः॥ (षष्ठ तरंग)

इससे प्रतीत होता है कि सातवाहन ने प्रसन्न होकर शर्ववर्मा को भरुकच्छ (आधुनिक भरोच) अर्पित किया था, इससे लगता है कि सातवाहन के राज्य-

विस्तार में गुर्जर-प्रदेश (गुजरात) भी सम्मिलित था। इस सातवाहन के सम्बन्ध में कहा ही गया है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में हुआ था और शकसंवत् का प्रवर्तक शालिवाहन यही सातवाहन था। 'प्रबन्धकोश' के उल्लेख के अनुसार महावीर स्वामी के निर्वाण के ४७० वर्ष के पश्चात् विक्रमादित्य हुआ और विक्रमादित्य की सबसे प्राचीन अनुश्रुति के रूप में गाथासप्तशती की एक गाथा[1] प्राप्त होती है। विक्रमादित्य का समय ई० पू० प्रथम शताब्दी माना गया है और सातवाहन का ई० प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध। यह बहुत कुछ सत्य है कि हाल प्राकृत साहित्य के पुरस्कर्ता थे और विक्रमादित्य संस्कृत-साहित्य के। कुछ पंडितों ने इस विक्रमादित्य को द्वितीय चन्द्रगुप्त माना है, जिसका समय चतुर्थ शती था।

जिन प्राचीन कवियों और लेखकों ने 'हाल' के 'गाथाकोष' की चर्चा की है, वे हैं—बाणभट्ट, उद्योतन सूरि, अभिनन्द, राजशेखर, हेमचन्द्र, जिनप्रभसूरि, मेरुतुंग, सोढ्वल तथा राजशेखर सूरि। इनमें से, बाणभट्ट (सप्तम शताब्दी) के 'हर्षचरित' का तेरहवां श्लोक पहले उद्धृत किया जा चुका है।

उद्योतनसूरि (७७८ ई० के लगभग) अपनी 'कुवलयमाला' में लिखते हैं—

पालित्तयसालाहणछप्पण्णयसीहनायसद्देण।
संखुद्धमुद्धसारंगउ व्व कहता पयं देमि॥
निम्मलगुणेण गुणगुरुयएण परमत्थरयणसारेण।
पालित्तयेण हालो हारेण व सहइ गोट्ठीसु॥
चक्कायजुवलसुहया रंमत्तणरायहंसकयहरिसा।
जस्स कुलपव्वयस्स व वियइइ गङ्गा तरङ्गमई॥
भणिअविलासवइत्तणचोक्किल्ले जो करेइ हलिए वि।
कव्वेण किं पउत्थे हाले हालावियारे व्व॥
पणईहिं कइयणेण व भमरेहिं व जस्स जायपणएहिं।
कमलायरो व्व कोसो विलुप्पमाणो वि हु न झीणो॥

संक्षिप्तार्थ यह कि हाल तीन पालियों (प्राकृत, शौरसेनी, महाराष्ट्री) का प्रेमी, प्राकृत कवियों का आश्रयदाता तथा गोष्ठियों में शोभा करने वाला था, उसने ऐसा 'कोश' का निर्माण करवाया जो निरन्तर कवियों द्वारा उपयोग किए जाने पर भी न विलुप्यमान हुआ और न क्षीण हुआ।

१—संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खं।
चलणेण विक्कमाइत्तचरिअँ अणुसिक्खिअं तिस्सा॥ ५।६४॥

रामचरित महाकाव्य के रचयिता अभिनन्द (८–९वीं शताब्दी) लिखते हैं–

नमः श्रीहारवर्षाय येन हालादनन्तरम्।
स्वकोषः कविकोषाणामाविर्भावाय सम्भृतः ।। ६।९३
हालेनोत्तमपूजया कविवृषः श्रीपालितो लालितः
ख्याति कामपि कालिदासकवयो नीताः शकारातिना।
श्रीहर्षो विततार गद्यकवये वाणाय वाणीफलं
सद्यः सत्क्रिययाऽभिनन्दमपि च श्रीहारवर्षोऽग्रहीत् ।। २२।१००

इससे विदित होता है कि हाल एक महान् राजा और कवियों का आश्रय-दाता था, जिसकी सभा में श्री पालित नाम का कवि था।

सुप्रसिद्ध कवि राजशेखर (८९०–९२० ई०) अपने प्राकृत नाटक 'कर्पूर-मञ्जरी' में हाल का स्मरण हरिचन्द्र, नन्दिचन्द्र, कोट्टिश आदि प्राकृत कवियों के साथ करते हैं—

उज्जुअं एव्व ता किं ण भणइ, अम्हाणं चेडिआ हरिअन्दणदिअंदकोट्टिसहाल-प्पहुदीणं पि पुरदो सुकइत्ति।

जल्हण की 'सूक्तिमुक्तावली' में राजशेखर का यह श्लोक है—

जगत्यां ग्रथिता गाथा सातवाहनभूभुजा।
व्यधुर्धृतेश्च विस्तारमहो चित्रपरम्परा ।।

यहाँ राजा सातवाहन के विशाल गाथा-ग्रन्थ के निर्माण में धैर्य के विस्तार पर आश्चर्य प्रकट किया गया है। एक ओर हेमचन्द्र, अमरसिंह आदि प्राचीन कोषकारों का हाल, शाल, शालवाहन और सातवाहन को पर्याय रूप मानना तथा दूसरी ओर राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' के राजचर्याप्रसंग में लिखना कि–"तत्र यथासुखमासीनः काव्यगोष्ठीं प्रवर्तयेत् भावयेत् परीक्षेत च। वासुदेव-सात-वाहन-शूद्रक-साहसांकादीन् सकल-सभापतीन् दानमानाभ्यां कुर्यात्"—तथा उद्योतनसूरि का भी ठीक यही वर्णन देना, इसके प्रमाण हैं कि 'हाल' शालिवाहन और सातवाहन एक ही राजा के पर्याय हैं।

प्रसिद्ध कोषकार हेमचन्द्र विद्वान् चार राजाओं—विक्रमादित्य, शालिवाहन, मुञ्ज और भोज के नाम गिनाता है एवं शालिवाहन को हाल या सातवाहन भी लिखता है।[1] 'कल्पप्रदीप' में जिनप्रभसूरि (१४वीं शताब्दी) ने 'प्रतिष्ठान नगर के वर्णन के प्रसंग में लिखा है कि वहाँ के राजा सातवाहन के अनुरोध पर चतुर्लक्ष श्लोकों का एक ग्रन्थ कपिल, आत्रेय, बृहस्पति और पाञ्चाल ने बनाया, जिसका सार यह है—

१–ज० बां० ब्रां० रा० ए० सो०, जि० १०, पृ० १३१ 'शालिवाहन और शालिवाहनसप्तशती' लेख।

जीर्णे भोजनमात्रेयः कपिलः प्राणिनो दया।
बृहस्पतिरविश्वासः पाञ्चालः स्त्रीषु मार्दवम् ॥[१]

सम्भव है इस उल्लेख का तात्पर्य विशाल 'गाथाकोष' से हो, जिसमें पूर्वोक्त मुनियों के प्रतीक के अनुसार अन्य शास्त्रों की चर्चा का भी स्थान हो।

मेरुतुंग 'प्रवन्धचिन्तामणि' में लिखता है—

"स श्रीसातवाहनस्तं पूर्वभववृत्तान्तं जातिस्मृत्या साक्षात्कृत्य ततः प्रभृति दानधर्ममाराधयन् सर्वेषां महाकवीनां विदुषां च सङ्ग्रहपरः चतसृभिः स्वर्णकोटिभिः गाथाचतुष्टयं क्रीत्वा सप्तशतीगाथाप्रमाणसातवाहनाभिधानं सङ्ग्रहगाथाकोषं शास्त्रं निर्माप्य नानावदातनिधिः सुचिरं राज्यं चकार।"

यह उल्लेख सबसे पहला है जिसमें 'गाथासप्तशती' का प्रचलित नाम प्राप्त हुआ है। अन्य सभी लेखकों ने उसे 'गाथाकोष' ही कहा है। इन कुछ जैन लेखकों ने 'गाथाचतुष्टय' लिखकर उसे चार लाख गाथाओं का संग्रह भी कहा है। यह परम्परा से सुनी हुई वातें हो सकती हैं, किसी ने ऐसा ग्रन्थ शायद ही अपनी आँखों से देखा हो और लिखा हो। राजशेखर सूरि[२] नाम के एक जैन लेखक का भी यही कथन है कि शालिवाहन या सातवाहन ने कवियों और पण्डितों की सहायता से चार लाख गाथाएं तैयार करवा कर उसे 'कोष' नाम दिया।

अब यहां, गाथासप्तशती' के सम्बन्ध में नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५६, सं० २००८ (केशवस्मृति अंक) में प्रकाशित श्री मिट्ठनलाल माथुर के एक लेख के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक होगा। श्री माथुर ने उपर्युक्त जैन लेखकों के आधार पर निश्चय किया है कि गाथासप्तशती और गाथाकोष और इनके संकलनकर्ता या रचयिता एक दूसरे से वहुत भिन्न और पृथक् हैं।

श्री माथुर ने अपने मत के विपरीत टीकाकारों, कोषकारों, लिपिकारों और इन सभी को आधार मान कर चलने वाले प्राचीन ऐतिहासिक विद्वानों को तथा अन्य लोगों को भी भ्रान्त माना है, क्योकि ये लोग चार लाख गाथाओं वाले गाथाकोष, जिसकी कोई प्रति दुर्भाग्य से उपलब्ध नहीं है, को तथा 'गाथासप्तशती' नाम से प्रसिद्ध अपेक्षाकृत अत्यन्त लघु गाथा संग्रह को ही सातवाहन का विशाल 'गाथाकोष' मानते आ रहे हैं। यह हम आगे लिखेंगे कि श्री माथुर आखिरकार गाथासप्तशती का रचयिता किसे मानते है, इसके पूर्व गाथासप्तशती को सात-

---

१–सिंधी जैन ग्रन्थमाला 'विविधतीर्थकल्प' में 'प्रतिष्ठानपत्तन' कल्प पृ० ४७।

२–'चतुर्विंशतिप्रवन्ध'; ज० वां० व्रां० रा० ए० सो० जि० १०, पृष्ठ १३५–१३४८ ई०।

वाहन का गाथाकोष मानने पर श्री माथुर के अनुसार जो ऐतिहासिक उलझनें उत्पन्न होती हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

गाथासप्तशती को सातवाहन के आनुमानिक समय ई० प्रथम शताब्दी की रचना मान कर उसमें वर्णित सभी तत्त्वों को ई० सन् के प्रारम्भिक वर्षों का बताया जाने लगा, जिससे कई असत्य और असभ्य कल्पनाएँ करनी पड़ीं। उपलब्ध प्रतियों के अन्तःपरीक्षण पर कई विद्वानों ने प्रथम शताब्दी की रचना के पक्ष में सन्देह प्रकट किया है, प्रायः उनकी धारणा शालिवाहन और प्रथम शताब्दी के प्रसिद्ध हाल सातवाहन को एक ही मानने की है। सन्देह प्रकट करने वालों में डा० कीथ, वेवर और डा० डी० आर० भण्डारकर हैं। ऊपर डा० भण्डारकर के मत का जोरदार खण्डन डा० राजवली पाण्डेय के शब्दों में हम प्रस्तुत कर चुके हैं। महामहोपाध्याय श्री वी० वी० मिराशी जी गाथासप्तशती और गाथाकोष को एक ही मानते हैं, उनका कहना है कि मूलतः उसका संकलन प्रथम शताब्दी में हाल सातवाहन के द्वारा हुआ था, परन्तु मुक्तक गाथाओं का संग्रह होने के कारण आठवीं शताब्दी तक प्रक्षिप्त गाथाएँ भी जुड़ती रहीं और मूल गाथाएँ बदलती और हटाई जाती रहीं।[1] श्री माथुर ने मिराशी जी जैसे लोगों के विचारों पर खेद प्रकट करते हुए गाथासप्तशती और गाथाकोष के कर्ताओं के भेदक तत्त्वों का इस प्रकार निर्देश किया है—

(१) गा० स० का हाल (शालवाहन) शैव है और गा० को० का हाल (सातवाहन) जैन धर्मावलम्वी है। (२) प्रथम हाल विलासी रुचि का व्यक्ति है और द्वितीय धार्मिक और लोकहितकारी वृत्ति वाला है।

ये दोनों भेदक तत्त्व अपने साथ कोई मौलिक तर्क या युक्ति नहीं रखते। पहली वात के अनुसार गा० स० के 'हाल' को शैव मानते हुए भी गा० को० के हाल (सातवाहन) को जैनधर्मावलम्वी एक मात्र इस आधार पर मान लेना कि उसे जैन लेखकों ने अपने ग्रन्थों में स्थान दिया है और धर्मोद्धारक रूप में चर्चा की है, यह कोई पुष्ट युक्ति नहीं, क्योकि जैन लेखकों ने अपने प्रवन्धों में ऐसे भी बहुत लोगों को स्थान दिया है जो सर्वथा जैन नहीं थे, यहाँ तक कि कालिदास पर उन्होंने कथाएँ गढ़ी हैं और दूसरे यह कि परम्परा यह रही है कि प्राचीन लोग अपने से पुराने राजाओं को अपने-अपने धर्म का अनुयायी वताया और लिखा करते थे, उनका उद्देश्य एकमात्र धर्म का प्रचार था। अतः केवल उन्हीं के आधार पर गाथाकोष के सातवाहन को 'जैन धर्मावलम्वी' कहने की वात अनु-

१—इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, दिसम्बर १९४७, जि० २३, पृष्ठ ३००–१०।

पादेय प्रतीत होती है। इतना अवश्य है कि उन कथाओं में भी सत्य रहता है पर बहुत साधारण और हल्का होकर, जिसे निकाल पाना साधारण बुद्धि का काम नहीं। जैसा कि कहा है—'नासङ्गतवाग्जनो जैनः'; अर्थात् जैन कभी असंगत बात नहीं कहते, तो यह मानी हुई बात है कि कोई आदमी अपनी बात को कभी असंगत कहने के लिए तैयार नहीं होता।

दूसरी बात यह, जैसा कि श्री माथुर ने लिखा है, एक विलासी रुचि का और दूसरा धार्मिक रुचि का था। ये बातें परस्पर उतनी विरुद्ध नहीं प्रतीत होतीं जितनी कि श्री माथुर को अभीष्ट हैं। आखिर जब आप एक को शैव बतलाते हैं तो आप क्यों नहीं स्वीकार करते कि शैव था और धार्मिक था? क्या धार्मिक रुचि वाला व्यक्ति विलासी नहीं होता? विलास और धर्म के क्षेत्र अलग हैं फिर दोनों का परस्पर विरोध कैसा? फिर श्री माथुर ने गाथासप्तशती की उन गाथाओं को क्यों नहीं ध्यानस्थ किया जिनमें शीलवती और पतिव्रताओं की चर्चा है?

अतः यह बात, जैसा कि श्री मिराशी जी का कथन है, गाथाकोष और गाथासप्तशती दोनों एक ही रचनाएँ हैं और दोनों का रचयिता भी एक ही प्रथम शताब्दी का हाल सातवाहन है, बहुत कुछ उचित है।

विशेष क्षोद-क्षेम की ओर न जाकर हम प्रस्तुत में कल्पना और खोज के अनुसार श्री माथुर द्वारा निर्णीत गाथासप्तशती के रचयिता के सम्बन्ध में लिखना चाहते हैं। उनके अनुसार मेवाड़ नरेश शालिवाहन, जिसकी राजधानी आहाड़ अथवा आड़ (आढ्य) रही है, प्रस्तुत गाथासप्तशती का रचयिता या संकलन-कर्ता है जिसका समय दशवीं शताब्दी है। यह गुहिलवंश का राजा था। इसकी राजधानी का ध्वंसावशेष अब भी उदयपुर के पास देखा जाता है। श्री माथुर ने भोज के उल्लिखित 'आढ्यराज' को इसे ही माना है और इसे गाथासप्तशती का कर्ता सिद्ध करने के लिए एक बहुत बड़ा वाग्जाल तैयार किया है। इसके साथ गाथासप्तशती के निर्माण-क्षेत्र उत्तरी भारत तथा प्राकृत (महाराष्ट्री) के साहित्य का निर्माण आदि असम्भाव्य कल्पनाएँ भी की हैं। आश्चर्य है कि श्री माथुर के लेख के प्रकाश में आए कितने वर्ष हुए, पर किसी ने उनकी पुष्टि में कुछ नहीं लिखा।

जब कि दूसरे पक्ष के विद्वान् यह मानते हैं कि 'गाथाकोष' कोई कोटिसंख्याक ग्रन्थ होगा और गाथासप्तशती उसमें से मूलतः निकल कर भी आगे के समयों में विभिन्न कारणों से बदलती आ रही है, ऐसी स्थिति में उसके सम्बन्ध में तथा उसके प्रस्तोता के सम्बन्ध में ऐतिहासिक उलझनों का खड़ा होना स्वाभाविक है।

यह प्रसिद्ध है कि वेबर ने गाथासप्तशती की सात सौ गाथाओं में चार सौ तीस गाथाओं को प्राचीन माना है और बाकी को परवर्ती काल में प्रक्षिप्त कहा है। श्री मिराशी जी ने अपने लेख में 'गाथासप्तशती' के वाकाटक संस्करण में प्रवरसेन द्वितीय द्वारा किए गए अंशदान की चर्चा की है (सिद्धभारती १९५०)। यह दूसरी बात है कि सप्तशतियों के विकास के अध्ययन की दृष्टि से गाथासप्तशती का नामकरण परवर्तीकाल का सिद्ध होता है।

गाथाओं के साथ उनके रचयिता कवियों के नाम भी उल्लिखित मिलते हैं। उपलब्ध प्रतियों में अधिकांश नाम लुप्त हो गये हैं, केवल भुवनपाल की टीका में ३८४ नाम पाये जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि परवर्ती कवियों की गाथाएँ और उनके नाम गाथासप्तशती में पर्याप्त स्थान पा गए हैं। हम आगे चल कर उन कवियों में से कुछ का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

ऐतिहासिक विषयों के अभिनिविष्ट विद्वान्‌ श्री श्रीधर वासुदेव सोहोनी आई. सी एस. का जर्नल् आफ दि विहार रिसर्च सोसाइटी (Vol. XLI : पार्ट २; १९५५ पृ० २२९–२४४) में प्रकाशित 'कालिदास, हालसातवाहन और चन्द्रगुप्त II' शीर्षक लेख 'गाथासप्तशती' के कालनिर्णय के सम्बन्ध में एक मौलिक विचार को उपस्थित करता है। श्री सोहोनी ने सिद्ध किया है कि 'गाथासप्तशती' का प्रभाव समग्र कालिदास-साहित्य पर पड़ा है, फलतः कालिदास हाल (सातवाहन) के पश्चात् हुए। जैसा कि श्री सोहोनी का संक्षेप में कहना है—

कालिदास के 'मेघदूत' का यह श्लोक परीक्षणीय है—

हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे।
कृत्वा तासामभिगममपां सौम्य ! सारस्वतीना-
मन्तः शुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः॥ पू० मे०

इस श्लोक में प्रयुक्त 'हाला' शब्द अपनी मौलिकता की दृष्टि से संस्कृत नहीं, अपितु प्राकृत है, जैसा कि मल्लिनाथ लिखते हैं—"अभियुक्तदेशभाषापदमित्यत्र सूत्रे 'हाला' इति देशभाषापदमतीव कविप्रयोगात् साधु।" मल्लिनाथ ने यहाँ अपने पूर्ववर्ती 'वामन' का अनुगमन किया है, जैसा कि वामन ने अपने काव्यालङ्कारसूत्र' में लिखा है—"अतिप्रयुक्तं देशभाषापदम्" जिसका स्वयं यह व्याख्यान किया है—"अतीव कविभिः प्रयुक्तं देशभाषापदं योज्यम्। यथा—'योषिदित्यभिललाष न हालाम्' इत्यत्र 'हाला' इति देशभाषापदम्।

हाला अर्थात् सुरा। प्राकृत कविता के सम्बन्ध में जैसा कि कहा गया है—

(क) अमृतं प्राकृतकाव्यं पठितुं श्रोतुं च ये च जानन्ति ।
कामस्य तत्त्वचिन्तां कुर्वन्तस्ते कथं न लज्जन्ति ॥ (२)
(गाथासप्तशती, सं० छाया)

(ख) ललिते मधुराक्षरे युवतिजनवल्लभे सशृङ्गारे ।
सति प्राकृतकाव्ये कः शक्नोति संस्कृतं पठितुम् ॥
(वज्जालगा, सं० छाया)

(ग) परुषाः संस्कृतबन्धाः प्राकृतबन्धोऽपि भवति सुकुमारः ।
पुरुषमहिलानां यावदिहान्तरं तावदेतेषाम् ॥
(कर्पूरमञ्जरी, सं० छाया)

इन उद्धरणों में प्राकृत कविता को संस्कृत की अपेक्षा कामशास्त्रीय संवेदन से पूर्ण, युवतिजनवल्लभ एवं सुकुमार आदि कहा है । स्वयं कालिदास ने 'कुमार संम्भव' में संस्कृत और प्राकृत कविता का भेद इस प्रकार किया है—

द्विधा प्रयुक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तन्मिथुनं नुनाव ।
संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं वधूं सुखग्राह्यनिबन्धनेन ॥ ७।९० ॥

यहाँ कालिदास स्पष्ट रूप से संस्कृत को 'संस्कारपूत' और प्राकृत को सुखग्राह्यनिबन्धन' लिखते हैं, अर्थात् संस्कृत पुरुषों की भाषा है और प्राकृत सुखग्राह्य होने के कारण स्त्रियों के योग्य भाषा है । संस्कृत का अध्ययन करने वाला स्वभावतः शुद्धान्तःकरण हो जाता है यह मान्यता तभी से प्रचलित थी । उपर्युक्त मेघदूत के श्लोक का श्लेषानुप्राणित व्यञ्जना से यह अर्थ गृहीत होगा—'(युवतिजनवल्लभ होने कारण) रेवती के लोचनों से अंकित अभिमतरसा हाला (प्राकृत रचना) को छोड़कर जिन्हें बलराम ने बन्धु के स्नेह से सेवन किया उन सारस्वत जलों (संस्कृत के काव्यों) का अभिगम करके हे सौम्य ! तुम भी अन्तःशुद्ध हो जाओ ।' संक्षिप्त निष्कर्ष यह कि इस पद्य में कालिदास ने 'हाला' शब्द से प्राकृत काव्य-रचना के प्रतीक हाल सातवाहन को व्यञ्जित करते हुए एक अपनी विशिष्ट शैली में संस्कृत में अपनी विशेष निष्ठा का मनोरम संकेत किया है । ऐसी स्थिति में यह बिलकुल ठीक लगता है कि कालिदास हाल और हाल की साहित्यिक मण्डली तथा निर्माण से परिचित थे ।

जैसा कि श्री सोहोनी साहब लिखते हैं, भोज ने 'सरस्वती कण्ठाभरण' में हाल सातवाहन और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (साहसाङ्क) के साहित्यिक प्रयोग के माध्यम की भापा का भेद स्पष्टता से कहा है—

केऽभूवन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः ।
काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृत भाषिणः ॥ ११,१५ ॥

राजशेखर ने भी 'काव्यमीमांसा में इसी प्रकार का उल्लेख किया है—

"श्रूयते चोज्जयिन्यां साहसाङ्को नाम राजा तेन च भाषात्मकमन्तःपुरमेवेति समानं पूर्वेण।"

"श्रूयते च कुन्तलेषु सातवाहनो नाम राजा तेन प्राकृतभाषात्मकमन्तःपुरमेवेति समानं पूर्वेण।" (१०)

इस प्रकार भोज और राजशेखर के उल्लेख एक रूप से हाल और चन्द्रगुप्त द्वितीय (साहसांक) के शासन की भाषा के सम्वन्ध का भेद प्रतिपादन करते हैं। ई० ३५० के वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में यह उल्लेख है—

"कर्तर्या कुन्तलः शातकर्णिः शातवाहनो महादेवीं मलयवतीं जघान।"

(२। ९। २८)

जैसा कि वहुत पहले डा० पीटर्सन को प्राप्त गाथासप्तशती की पाण्डुलिपि का 'नोट' दिखाया गया है उसके आधार पर वात्स्यायन कुन्तल शातकर्णि और गाथासप्तशती का हाल सातवाहन, स्पष्ट रूप से एक समय के हैं। इससे यह भी है कि वात्स्यायन हाल सातवाहन से वाद के समय के हैं। श्रीरामकृष्ण कवि को 'लीलावती' की पाण्डुलिपि प्राप्त हुई थी, जिसमें मलयवती के साथ हाल सातवाहन के विवाह का उल्लेख है। वात्स्यायन के उल्लेख और डा० पीटर्सन को प्राप्त गाथासप्तशती से भी मलयवती का कुन्तल शातकर्णि-सातवाहन की महिषी होना प्रमाणित है। भोज का 'आढ्यराज' हाल सातवाहन के अतिरिक्त कोई नहीं, यह परीक्षित तथ्य है।

जो कि गाथासप्तशती की क्र० ५।६४ गाथा में 'विक्रमादित्य' का उल्लेख है, उसके सम्वन्ध में श्री सोहोनी साहव का निर्णय है कि वह कोई अन्य व्यक्ति नहीं, स्वयं हाल सातवाहन है। वह गाथा संस्कृत छाया के अनुसार इस प्रकार है—

संवाहनसुखरसतोषितेन ददता तव करे लाक्षाम्।
चरणेन विक्रमादित्यचरितमुपलक्षितं तस्याः॥

यहाँ विक्रमादित्य के दान की प्रशंसा की गई है, तथा दूसरी गाथा क्र० ५।६७ में 'शालिवाहननरेन्द्र' का उल्लेख है वहाँ भी शालिवाहन की दानशीलता की चर्चा है—

आपन्नानि कुलानि द्वावेव जानीत उन्नतिं नेतुम्।
गौर्या हृदयदयितोऽथवा शालिवाहननरेन्द्रः॥

'निर्युक्तिभाष्य' में भद्रवाहु सूरि ने भी हाल और उसके मुद्रादान का 'भृगुकच्छ' के राजा नरवाहन के विरोध में निश्चित रूप से उल्लेख किया है।

तथा हम ऊपर 'कथासरित्सागर' के उल्लेख से विदित कर चुके हैं कि सातवाहन ने नर्मदा के तटवर्ती भरुकच्छ देश को शर्ववर्मा के अर्पित किया था।

श्री सोहोनी जी ने विस्तार से यह लिखा है कि कालिदास ने हाल की गाथासप्तशती (महाराष्ट्री प्राकृत रचना) के वातावरण में ही कुमारसम्भव में, मेघदूत में शिव-पार्वती के विवाहित जीवन का वर्णन किया है। ऋतुसंहार का वर्णन भी यही अभिव्यक्त करता है।

श्री सोहोनी साहब ने कालिदास और गाथासप्तशती के पद्यों को बहुत अंश में समानार्थक बताते हुए उद्धृत किया है। उसमें, एक अन्तिम उद्धरण श्री सोहोनी साहब के मन्तव्य को, कि गाथासप्तशती का कालिदास-साहित्य पर प्रभाव पडा है, बहुत अंश में यथार्थतः स्पष्ट करता है, वह है, जैसा कि कालिदास ने 'उत्तरमेघ' में लिखा है—

एतस्यान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद् विदित्वा
या कौलीनाच्चकितनयने मय्यविश्वासिनी भूः।
स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचरितरसाः प्रेमराशीभवन्ति॥

इस श्लोक का 'आहुः' पद यह सूचित करता है कि इस सम्बन्ध की बात किसीने पहले कह दी है, स्वभावतः गाथासप्तशती के क्रमाङ्क ३।३६ की गाथा दृष्टिपथ में आती है, जिसमें कवि ने 'स्नेह' को श्लेष के आवरण में प्रस्तुत किया है—संस्कृत छाया के अनुसार—

अदर्शनेन पुत्रक ! सुष्ट्वपि स्नेहानुबन्धघटितानि।
हस्तपुटपानीयानीव कालेन गलन्ति प्रेमाणि॥

जैसा कि इस गाथा में स्नेहानुबन्धघटित प्रेम के अदर्शन या विरह की अवस्था में हाथ के पानी की तरह विगलित होने का जो वर्णन है, ठीक वही बात 'स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनः' में कालिदास ने कहा है।

इस प्रकार श्री सोहोनी साहब ने कालिदास का कालनिर्णय करते हुए, गाथासप्तशती के सम्बन्ध में जो एक युक्ति और तर्कसम्मत सिद्धान्त प्रस्तुत किया है वह निश्चय ही चमत्कारी और विचारणीय है। इससे गाथासप्तशती के हाल सातवाहन की कृति तथा ई० प्रथम शताब्दी की रचना होने के निर्णय को बहुत कुछ दृढ़ता प्राप्त होती है। निश्चय ही इस निर्णय के बावजूद इतिहास के विद्वानों के समक्ष विचार और युक्ति के नये तथ्य उद्भासित होंगे और गाथा-सप्तशती के सम्बन्ध के समग्र अध्ययन को गतिशीलता मिलेगी।

अब, जैसा कि पीछे कहा गया है, गाथासप्तशती की टीकाओं में गाथाकारों के नामों का भी उल्लेख है। यह गाथासप्तशती के ऐतिहासिक अध्ययन का

अनिवार्य और मौलिक पक्ष है। प्रस्तुत में, गाथाकारों के सम्बन्ध में विशेषज्ञों के निर्णय के आधार पर कुछ के सम्बन्ध में उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है।

(१) प्रवरसेन—भुवनपाल की टीका में प्रवर और प्रवरराज नाम भी मिलते हैं। यह 'सेतुबन्ध' (रावण-वहो) का रचयिता होना चाहिये। सेतुबन्ध का उल्लेख बाण, दण्डी और आनन्दवर्धन ने किया है, इसलिए सातवीं शती से पहले का कवि निश्चित होता है। श्री मिराशी जी ने इसे वाकाटक वंश का प्रवरसेन द्वितीय माना है जिसका समय ४२०–५० ई० है। इसी नाम का एक राजा कश्मीर में भी हुआ, जिसका समय कनिंघम महाशय ४३२ ई० लिखते हैं।

(२) सर्वसेन—'अवन्तिसुन्दरी' कथा में दण्डी के अनुसार यह 'हरिविजय' नामक प्राकृत काव्य का रचयिता प्रतीत होता है। इस नाम का राजा इतिहास में एक ही प्राप्त होता है। सम्भवतः यह वाकाटक वंश की वत्सगुल्म शाखा का स्थापन करने वाला प्रथम प्रवरसेन के पुत्रों में से एक है। इसका नाम इसके पुत्र द्वितीय विन्ध्यशक्ति के बसीमताभपत्र में तथा अजन्ता की गुहा सं० १६ पर उल्लिखित पाया गया है। सर्वसेन का समय ई० ३००–३३५ है। इसके वाकाटक-वंशीय होने के अनुमान का आधार इसके नाम का 'सेन' शब्द है, जो उस परम्परा के राजाओं के नाम में जुड़ा मिलता है—जैसे जयसेन, मकरन्दसेन, मल्लसेन, महासेन, विश्वसेन, सत्यसेन।

(३) मान—श्री मिराशी जी के अनुसार वाकाटक वंश की दोनों शाखाओं का अन्त करके कुन्तल देश में राष्ट्रकूट वंश की स्थापना करने वाला मान (मानराज या मानांक) है। समय लगभग ३७५ ई०। कर्नल टॉड ने बताया है कि मोरी राजा मान का एक शिलालेख मानसरोवर झील (चित्तौड़) से प्राप्त हुआ था।

(४) देवराज या देव—इं० हि० क्वा०, दि० १९४७ पृ० ३०७ में श्री मिराशी जी के अनुसार यह राष्ट्रकूट मानांक का पुत्र है। इसके दरबार में द्वितीय चन्द्रगुप्त ने कालिदास को दूत बना कर भेजा था। राष्ट्रकूट वंश की दो ताम्रलिपियों में इसका नाम उल्लिखित है। 'देसीनाममाला' में एक 'कोश' का उल्लेख है जो सम्भवतः इसी देवराज का है। इस नाम के और भी राजाओं का उल्लेख नवीं-दसवीं शताब्दी के शिलालेखों में मिलता है।

(५) वाक्पतिराज—मधुमथनविजय और गौडवहो (महाराष्ट्री प्राकृत के काव्यों) का रचयिता है। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थों में इसके नाम और पद्यों को लिखा है। भवभूति का समकालीन तथा कन्नौज के राजा प्रतिहार यशोवर्मन् का राजकवि। समय आठवीं शती का उत्तरार्ध। 'वाक्पतिराज' परमार राजा मुंज का एक विरुद भी।

(६) कण या कणराज—अकोला जिले के तरहला ग्राम से प्राप्त कुछ सिक्कों के आधार पर श्री मिराशी जी ने इसे सातवाहनवंश का एक राजा बताया है। उसका राज्यकाल ई० २२९ से २३८ तक है।

(७) अवन्तिवर्मा—कश्मीर का एक प्रसिद्ध राजा। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन का आश्रयदाता। समय ई० ८५५–८८४।

(८) ईशान—प्राकृत का विख्यात कवि। बाणभट्ट द्वारा हर्षचरित में उल्लेख। समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध।

(९) दामोदर (गुप्त)—सम्भवतः कश्मीर-नरेश जयापीड़ (ई० ७७९–८१३) का मन्त्री। कुट्टनीमत का लेखक।

(१०) मयूर—बाणभट्ट का समकालीन। सप्तम शताब्दी।

(११) बप्पस्वामी—अनुमानतः प्रसिद्ध कवि तथा जैन आचार्य। प्रतिहार सम्राट् नाग या लोक या द्वितीय नागभट्ट का मित्र और समकालीन। समय नागभट्ट के राजत्वकाल (८१३–८३३ ई०) के लगभग।

(१२) वल्लभ (देव) या भट्ट वल्लभ—सम्भवतः 'भिक्षाटनकाव्य' का रचयिता। पूरा नाम शिवदास। आनन्दवर्धन के देवीशतक की टीका में कैयट ने अपने को चन्द्रादित्य का पुत्र और वल्लभदेव का पौत्र सूचित किया है। समय आठवीं या नवीं शताब्दी।

(१३) नरसिंह—अभिनव गुप्त के 'ध्वन्यालोक-लोचन' में तथा शार्ङ्गधर-पद्धति में इसके श्लोकों का उल्लेख है। यह धारवार जिले का निवासी सोलङ्की राजा भी हो सकता है। दसवीं शती के कवि पम्प के 'विक्रमार्जुनविजय' में इस वंश के दस राजाओं का उल्लेख है इस-नामावलि में दो नरसिंह हैं। कवि पम्प नरसिंह का समसामयिक था। कन्नौज नरेश यशोवर्मन् का उपनाम नरसिंह मिलता है।

(१४) अरिकेसरी—इसे नरसिंह का पुत्र समझते हैं।

(१५) वत्स, वत्सराज या वत्सभट्टी—वत्सराज नाम का एक राजा कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार वंश में नवीं शताब्दी में था। यहं भी सम्भव है कि 'मन्दसोर-प्रशस्ति' का रचयिता पाँचवीं शताब्दी का वत्सभट्टी प्रस्तुत हो। सर्वथा यह परवर्तीकाल का है।

(१६) आदिवराह—'ग्वालियर-प्रशस्ति' में प्रतिहार राजा भोजदेव का उपनाम 'आदिवराह' मिलता है। समय नवीं शती का उत्तरार्ध।

(१७) माउरदेव—प्राकृत के जैन कवि स्वयम्भू के कथनानुसार भाषाकवि माउरदेव उसका पिता है। 'जैन-साहित्य का इतिहास' में श्री नाथूराम प्रेमी जी

ने स्वयम्भू का समय ई० ६७८ और ७८४ के बीच माना है अतः माउरदेव का समय सातवीं और आठवीं शताब्दी माना जा सकता है।

(१८) विअड्ढ (विअड्ढइन्द्र)—स्वयम्भू के अनुसार यह भी प्राकृत और अपभ्रंश का कवि था। समय ई० छठी या सातवीं शताब्दी होना चाहिये।

(१९) धनञ्जय—इस नाम के दो कवि। एक मालवा नरेश मुंज परमार का राजकवि तथा दूसरा, जिसका एक श्लोक वीरसेन कृत 'धवला टीका' में उद्धृत मिलता है। दोनों में से प्रस्तुत गाथाकार यदि कोई भी हो तो उसका समय छठी और दसवीं शताब्दी के बीच का होना चाहिये।

(२०) कविराज—'काव्यमीमांसा' की प्रस्तावना में श्री सी० डी० दलाल के अनुसार यह कन्नौज के प्रसिद्ध राजकवि राजशेखर का विरुद है। समय ई० ८८०–९२०।

(२१) सिंह—इस नाम का एक गुहिलोत वंश का राजा था। समय नवीं शताब्दी का प्रथम चरण। आहाड़ से उपलब्ध दसवीं शताब्दी के शक्तिकुमार के एक शिलालेख (इण्डियन एण्टिक्वेरी, खण्ड २९, पृ० १९१) के अनुसार यह प्रथम भर्तृपद का पुत्र था। 'चाटसूप्रशस्ति' (एपिग्राफिका इण्डिका, खण्ड १२, पृ० १३–१७) में यह ईशान के अग्रज के रूप में उल्लिखित है।

(२२) अमित (गति)—श्री नाथूराम प्रेमी जी (जै० सा० का इतिहास) के अनुसार यह माथुर संघ का दिगम्बर जैन साधु और प्राकृत का प्रसिद्ध कवि था। ई० ९९३ में 'सुभाषितरत्नसन्दोह' और ई० १०१३ में 'धर्मपरीक्षा' नाम के ग्रन्थों का इसने निर्माण किया।

(२३) माधवसेन—उपर्युक्त अमितगति का सम्भवतः गुरु है।

(२४) शशिप्रभा—परमार राजा मुंज और उसके उत्तराधिकारियों के दरबारी कवि पद्मगुप्त के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नवसाहसाङ्कचरित' में राजा सिन्धुल की महिषी शशिप्रभा का वृत्तान्त है। सम्भव है यह प्राकृत की कवयित्री हो।

(२५) नरवाहन—यह नाम मेवाड़ के गुहिलोतवंशीय राजा सिंह के उत्तराधिकारियों में प्राप्त हैं। इसका एक शिलालेख उदयपुर के पास एकलिंग स्थान से प्राप्त हुआ है। आहाड़ के शिलालेख में यह शालिवाहन का पिता बताया गया है।

गाथासप्तशती की बहुत-सी गाथाओं के रचयिता कवियों के सम्बन्ध के इस उपर्युक्त विवरण को, यदि यह तथ्य बहुत कुछ प्रामाणिक है कि गाथासप्तशती में समयानुसार गाथाएँ निकाली जाती और स्थान पाती रहीं, तो निश्चय ही ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए नजरन्दाज नहीं किया जा सकता।

हम ऊपर के पृष्ठों में यह निश्चित कर सके हैं कि गाथासप्तशती अपने मूल रूप में प्रतिष्ठान के हालसातवाहन तथा उनके समय के विभिन्न लोककवियों की गाथाओं का संग्रह-कोष है। बाणभट्ट आदि कवियों का जो 'गाथाकोष' है वही वर्तमान गाथासप्तशती है। दोनों नाम सर्वथा अभिन्न कृति के हैं। जैसा कि श्री सोहोनी साहब का मत है कि गाथासप्तशती की गाथाओं का प्रभाव व्यापक रूप में कालिदास-साहित्य पर पड़ा है, यह निश्चय ही कालिदास के गुप्तकालीन होने के पक्ष को दृढ़ करता है तथा प्रस्तुत में विद्वानों के लिए विचारणीय है।

प्राकृत भाषा और महाराष्ट्री प्राकृत—कहा जा चुका है कि गाथासप्तशती की प्राकृत महाराष्ट्री है। संस्कृत की भाँति प्राकृत भी भारतीय ज्ञान-विज्ञान की वाहन भाषा थी, जो सम्भवतः वैदिक सभ्यता के समय से ही भारतीय जन जीवन में अपने विविध दैशिक और कालिक रूपों में प्रवर्तमान होती चली आ रही थी। यह मानना पड़ेगा कि पुराकाल में जब संस्कृत समाज के सभ्य और शिक्षित लोगों के व्यवहारों का माध्यम थी तब प्राकृत बहुत अंश में असभ्य और अर्धसभ्य श्रेणी के लोगों के व्यवहारों तथा आदान-प्रदान का माध्यम रही। यह तथ्य है कि संस्कृत-प्राकृत की गङ्गा-यमुनी ने भारतीय संस्कृति और तत्त्वज्ञान के रस को देश-देशान्तरों में प्रवाहित करके समग्र संसार के मानस को इस देश की ओर आकृष्ट किया था। यह दूसरी बात है कि प्राकृत का विकास संस्कृत से हुआ। कई विद्वानों ने दोनों को पृथक् भाषा माना है और 'प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः' (प्राकृतसञ्जीवनी) को अमन्तव्य घोषित किया है। जो हो, जब से संस्कृत ने अपने को उत्कृष्टतम साहित्य के पद पर प्रतिष्ठित कर लिया तब से बहुत कुछ उसका जन-सम्पर्क छूट गया और तभी से प्राकृत ही जन-साधारण की भाषा बनी। यही कारण है कि प्राकृत ने विभिन्न भारतीय प्रदेशों में अपना अलग-अलग स्वरूप धारण किया और अपेक्षाकृत इसकी रवानगी बनी रही।

बहुत आगे चलकर प्राकृत ने भी अपना साहित्यिक रूप ग्रहण किया और तब से प्राकृत-साहित्य या साहित्यिक प्राकृत के विभिन्न पहलुओं पर सभ्य और शिक्षित लोगों का भी ध्यान गया। जिन्हें साहित्यिक प्राकृत कहा गया उनमें महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, (अर्धमागधी) और पैशाची के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। प्राकृत-व्याकरण के यशस्वी विद्वान् पिशेल के अनुसार स्वच्छन्द प्रयोग के लोप होने पर आर्य भाषा के लौकिक मध्यकालीन रूप का विकास हुआ, किन्तु प्राकृतों के विकास का आधार प्राचीन और प्राचीनतर आर्यभाषाओं की विशेषताएँ हैं। कुछ वैयाकरणों ने प्राक्+कृत=प्राकृत इस विश्लेषण के

आधार पर प्राकृत को संस्कृत से भी प्राचीनतर माना है। इसके विपरीत अन्य प्राचीन विद्वानों ने संस्कृत को ही प्राकृत का प्रकृति, उद्भव स्थान या योनि माना है। नमिसाधु 'काव्यालङ्कार' की टीका में लिखते हैं—'सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः, तत्र भवः सैव वा प्राकृतम्।' अर्थात् संसार के समस्त लोगों का जो वचनव्यापार व्याकरण आदि के संस्कार से रहित है वह 'प्रकृति' है, उस 'प्रकृति' में होने वाली अथवा वही 'प्राकृत' है। इस परिभाषा के विपरीत 'संस्कृत' हो जाती है क्योंकि उसमें व्याकरण आदि का संस्कार होता है। संस्कृत से प्राकृत के उद्भवसिद्धान्त में सिंहदेवमणि के अनुसार 'प्रकृतेः संस्कृतात् आगतं प्राकृतम्' (वाग्भटालङ्कारटीका), है, अर्थात् संस्कृत ही प्रकृति है और उससे आगत या विकसित भाषा 'प्राकृत' कहलाई। 'प्राकृतसंजीवनी' में भी कहा है—'प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः' अर्थात् सभी संस्कृत प्राकृत की योनि या उद्भवस्थान है। इसी प्रकार अन्य लोगों ने भी संस्कृत को ही प्राकृत का उद्भवस्थान माना है, जैसे—'संस्कृतरूपायाः प्रकृतेरुत्पन्नत्वात् प्राकृतम्' (तर्कवागीशकृत काव्यादर्श टीका); 'प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता' (नरसिंहकृत षड्भाषाचन्द्रिका); 'प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्' (हेमचन्द्र); 'प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं प्राकृतमुच्यते' (मार्कण्डेयकृत प्राकृतसर्वस्व)। इन प्रमाणों के आधार पर प्राकृत भाषाओं का मूल आधार संस्कृत भाषा ही ठहरती है।

विद्वानों का यह भी कथन विचारणीय है कि 'प्राकृत' भाषा प्रकृति अर्थात् प्रजा की भाषा थी, अर्थात् जनभाषा और संस्कृत समाज के विकसित लोगों, जैसे राजदरबारियों की भाषा थी। यही कारण है कि संस्कृत में प्राकृत की अपेक्षा मौलिक और गूढ़ विचारों के संवहन की शक्ति अधिक है और प्राकृत में संस्कृत की अपेक्षा प्रवाहमयता और साधारण प्रयोग अधिक मात्रा में मिलते हैं जो किसी भी जनभाषा या बोली की अपनी विशेषता है। किसी ने 'पाअड' (प्राकृत) को 'प्रकट' मानकर अर्थ किया है। पाणिनि के समकालीन आचार्य वररुचि प्राकृत के आद्यवैयाकरण हैं और उन्होंने अपनी रचना 'प्राकृतप्रकाश' में महाराष्ट्री, पैशाची, शौरसेनी और मागधी इन चार प्राकृतों का विचार किया है।

महाराष्ट्री—प्रस्तुत ग्रन्थ गाथासप्तशती महाराष्ट्री प्राकृत की ही रचना है, इस कारण यहाँ विशेष रूप से उसी का स्वरूपज्ञान आवश्यक हो जाता है। यह मानना अनुचित नहीं कि महाराष्ट्री का जन्मस्थान प्राचीन महाराष्ट्र होगा तथापि अपनी मौलिक विशेषता और महाराष्ट्रों के देश पर प्राबल्य होने के कारण यह प्राकृत सभी जगहों में विद्यमान थी और सभी प्राकृतों में

(Standard) मानी जाती थी। जब प्राकृत भाषाओं ने 'जनभाषा' या बोली की सीमा से ऊपर उठकर 'साहित्य' का रूप धारण किया तब सभी प्राकृतों में महाराष्ट्री सर्वाधिक उन्नत थी। ध्वनिपरिवर्तन की दृष्टि से यह सबसे बढ़कर सिद्ध हुई। प्राचीन वैयाकरणों ने महाराष्ट्री का ही विस्तार से वर्णन किया है और अन्य प्राकृतों को उसी के सदृश बताकर भिन्न विशेषताएँ अलग-अलग दे दी हैं। 'प्राकृतविमर्श' में डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल लिखते हैं कि महाराष्ट्री प्राकृत में स्वरमध्यवर्ती व्यञ्जन का लोप अधिक हुआ है, इसी लिए शब्दों में संयुक्त स्वर के व्यापक प्रयोग मिलते हैं और स्वरों की इसी अधिकता के कारण महाराष्ट्री का प्रयोग व्यापक हुआ। 'काव्यादर्श' में दण्डी ने महाराष्ट्री प्राकृत को 'प्रकृष्ट' कहा है—'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः'। इस कथन के पीछे महाराष्ट्री की व्यापकता, लोकप्रियता और सर्वजनीनता के भाव स्पष्ट रूप से प्रतीत होते हैं। महाराष्ट्री प्राकृत को सबसे पहले और ऊँचा स्थान मिलने का यह भी कारण है कि वह अपने साहित्य रूप में गीत-रचना (Lyrical poetry) का एकमात्र आधार बनी। संस्कृत नाटकों में गीत महाराष्ट्री में ही मिलते हैं और गद्य की भाषा शौरसेनी तथा अन्य विभाषाएँ हैं। स्वाभाविक है कि गद्य की भाषा की अपेक्षा पद्य की भाषा अधिक लोकप्रिय होती है।

महाराष्ट्री की संक्षेप में विशेषताएँ—(१) स्वर के मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यञ्जनों का लोप और महाप्राण व्यञ्जन का 'इ' में परिवर्तन हो जाता है, जैसे कृति > कइ, कवि > कइ; कथं > कइं, कथा > कहा आदि। (२) शब्दों के अल्पप्राण व्यञ्जन का महाप्राणरूप और फिर उसका 'ह' में परिवर्त्तन होता जाता है, जैसे—स्फटिक > स्पटिक्क > फलिह; भरत > भरथ > भरह। (३) प्रारम्भिक प्राकृतों के समान स्वर के मध्यवर्ती 'स' के स्थान पर प्रायः 'ह' का प्रयोग हो जाता है, जैसे—पाषाण > पाहाण; तस्य > ताह; अनुदिवसं > अणुदिअहं। (४) आत्मन् > अप्पा, शौरसेनी और मागधी में अत्ता। (५) क्रिया-विशेषण की विभक्ति 'आहि' का प्रयोग पञ्चमी एकवचन के लिए दुराहि, मूलाहि आदि, परन्तु कुछ में पुराना रूप भी मिलता है। (६) सप्तमी एकवचन की विभक्ति 'स्मिन्' > म्मि; परन्तु 'ए' रूप का भी प्रयोग देखा जाता है। (७) संस्कृत धातु √'कृ' का विकास वर्तमान में प्राचीन फारसी के समान 'कु' के रूप में है कृणोति > कुणइ। (८) कर्मवाच्य का प्रत्यय 'य' > इज्ज; पुच्छिज्जन्तो। (९) कृतवाचक संज्ञा में 'त्वान' का ऊण प्रयोग है, पुच्छिऊण।

गाथासप्तशती महाराष्ट्री प्राकृत का ही गीतकाव्य है इसके अतिरिक्त जयवल्लभ का वज्जालग्ग, वाक्पतिराज का गौडवहो, प्रवरसेन का सेतुबन्ध

(रावणवहो) महाराष्ट्री प्राकृत की प्रमुख रचनाएँ हैं। संशोधकों के अनुसार ये सभी रचनाएँ हाल की गाथासप्तशती से परवर्ती काल की हैं। यद्यपि गाथासप्तशती की अनेक गाथाओं में परवर्ती काल के प्राकृत कवियों का उल्लेख भी मिलता है लेकिन इसे विद्वानों ने प्रामाणिक न मानकर गाथासप्तशती को महाराष्ट्री प्राकृत की प्राचीनतम रचना स्वीकारा है।

प्रथम प्रकाशन

गाथासप्तशती के सर्वप्रथम मुद्रण-संस्कार का श्रेय वेवर को है। वेवर ने 'लाइप्जिग' से इस ग्रन्थ की सम्पूर्ण आवृत्ति को १८८१ ई० में 'डेस सप्तशतकम् डेस हाल' के नाम से जर्मन में प्रकाशित किया। इसमें सन्देह नहीं कि वेवर का श्रम गाथासप्तशती के मुद्रण-इतिहास में किसी काल में भी अपरिहरणीय होगा। अब तक आगे के मुद्रण-संस्कारों का एकमात्र आधार वेवर का जर्मन-संस्करण ही विशेष रूप से रहा है। वेवर का जर्मन-संस्करण गाथासप्तशती के अनेक हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर है और विभिन्न टीकाओं को उद्धृत करते हुए उन्होंने गङ्गाधर की टीका को विशेष तौर पर अपने संस्करण में स्थान दिया है। साधारणदेव की 'मुक्तावली' टीका में 'व्रज्या' पद्धति अपनाई गई है, अर्थात् गाथासप्तशती की गाथाओं को टीकाकार साधारणदेव ने प्रसिद्ध क्रम से न रखकर विषयानुक्रम से रखा है। विभिन्न टीकाओं में अव्यवस्थित क्रम के मिलने से ग्रन्थ के स्वरूप को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करने में निश्चय ही वेवर को बड़े उत्तरदायित्व के साथ विशेष रूप से गङ्गाधर की टीका के अनुसार प्रस्तुत करना पड़ा है। वेवर ने ग्रन्थ को दो भागों में बाँटकर उत्तरार्ध में हाल के नाम पर विभिन्न टीकाओं तथा साहित्य के ग्रन्थों में प्राप्त होने वाली गाथाओं को रखा है। वेवर के संस्करण के आधार पर प्रस्तुत नवीनतम मराठी संस्करण में श्री जोगलेकर ने सब मिलकर ३०६ गाथाओं को उत्तरार्ध में समाविष्ट किया है।

भारत में गाथासप्तशती का प्रथम मुद्रण निर्णयसागर प्रेस (वम्बई) ने सम्पन्न किया, जिसे पं० दुर्गाप्रसाद और पणशीकर शास्त्री ने सम्पादन करके गङ्गाधरभट्ट की 'भावलेशप्रकाशिका' टीका के साथ 'काव्यमाला' (क्र० २१ ग्रन्थ) में प्रकाशित किया। यह संस्करण चार हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इसी संस्करण की आवृत्ति १९११ में प्रकाशित हुई। फिर जयपुर के भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने अपनी स्वतन्त्र संस्कृत टीका 'व्यङ्ग्यसर्वङ्कषा' के साथ प्राकृत गाथाओं का संस्कृत संस्करण प्रस्तुत किया। इस पुस्तक की तीन आवृत्तियाँ तक सामने आयीं। श्री जगदीशलाल शास्त्री ने पंजाव युनिवर्सिटी

(लाहौर) की लाइब्रेरी से प्राप्त हस्तलिखित प्रति के आधार पर गाथासप्तशती का एक संस्करण प्रकाशित किया। मूल हस्तलिखित प्रति के त्रुटित होने के कारण चौथे शतक की पन्द्रह, पाँचवें की १००, छठे की ५५ और सातवें की ९८ गाथाएँ ही इस संस्करण में प्रकाश में आयीं। प्रत्येक गाथा के साथ हारिताम्र पीताम्बर की अप्रकाशित टीका भी सामने आयी। टीकाकार ने एक नये ढंग से हाल का अभिमतार्थ धर्म और नीतिपरक व्याख्यान के साथ प्रस्तुत किया है। अन्य टीकाओं की भाँति इसमें भी गाथाकारों के नामों का उल्लेख है।

भारत के विभिन्न स्थानों से गाथासप्तशती की पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं, इससे जाहिर है कि इस ग्रन्थ के प्रति औत्सुक्य और श्रद्धा भारतीय सहृदयों में सर्वत्र समान रूप से व्याप्त थी। श्री वेबर के अनुसार 'गाथासप्तशती' के कम से कम ६ भिन्न पाठ प्रचलित हैं। परन्तु समस्त भिन्नताओं के वावजूद सभी प्रतियों में साधारण और समान रूप गाथाओं की संख्या ४३० के लगभग है और सम्भावित रूप से विद्वानों ने गाथासप्तशती का मूल भाग इतना ही माना है। जैसा कि गाथासप्तशती की तीसरी गाथा सूचित करती है, एक करोड़ गाथाओं से सात सौ गाथाओं का संग्रह तैयार किया गया है, इसके आधार पर यह कल्पना अप्रासङ्गिक नहीं कि इस संग्रह के नाम पर इधर-उधर की अन्य गाथाएँ भी भिन्न क्रम से आ गई हैं जिनके प्राचीनत्व और अर्वाचीनत्व का निर्णय विद्वानों के लिये खासकर परेशानी का विषय बना रहा। फिर भी प्रायः वेबर तथा अन्य संशोधकों ने प्रस्तुत संस्करणों को ही एक प्रामाणिक रूप में उपयोगी माना है। प्रक्षेपक तत्त्वों के कारण उत्पन्न विभिन्नताओं का एक स्पष्ट और प्रकट कारण यही प्रतीत होता है कि लोकप्रियता और प्रसार दोनों की दृष्टि से यह ग्रन्थ साहित्य-संसार में महत्त्वपूर्ण रहा है।

टीकायें—गाथासप्तशती के इन टीकाकारों का उल्लेख है—(१) कुलनाथ, (२) गङ्गाधर, (३) पीताम्बर, (४) प्रयागदासात्मज प्रेमराज (टीका-साहित्यजन्मावनि), (५) भुवनपाल (जैन टीकाकार, टीका-छेकोक्तिविचार-लीला), (६) साधारणदेव। पीताम्बर ने अपनी टीका में अन्य टीकाकारों का उल्लेख किया है—(७) कुलपति, (८) चैतन्य, (९) भट्ट, (१०) भट्ट राघव, (११) भोजराज। डा० रामकृष्ण भाण्डारकर ने (१२) आजड इस टीकाकार का उल्लेख किया है, पंजाव युनिवर्सिटी लाइब्रेरी में (१३) माधवयज्व मिश्र की लिखी तात्पर्यदीपिका नाम की व्याख्या मिलती है। (१४) भट्ट मथुरानाथ शास्त्री की व्यङ्ग्यसर्वङ्कषा टीका भी गाथासप्तशती की साहित्यिक प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखते हुए नये विचारोन्मेष को अग्रसारित करती है। इसके अतिरिक्त श्री जोगलेकर का मराठी संस्करण उपयोगी वन पड़ा है।

मुझे विदित हुआ है कि श्री राधागोविन्दवसाक नाम के एक बङ्गाली विद्वान् ने गाथासप्तशती का बङ्गला संस्करण प्रस्तुत किया है। हिन्दी में, 'चौखम्बा' ने श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी के अनुवाद के साथ इस ग्रन्थ का एक सरल संस्करण प्रकाशित किया है। (१५) प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद और विशेष व्याख्या के साथ हिन्दी का संस्करण गाथासप्तशती के मुद्रण के इतिहास में कोई नया उपक्रम नहीं है वल्कि गाथासप्तशती के प्रामाणिक संस्करणों का ही यह एक उपस्थापन है। गाथाओं का सरल और अनुकूल हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करना ही और उनके वक्तव्य को स्पष्ट करके साहित्यिक विचारधारा को एक गति देना ही इस संस्करण का मुख्य उद्देश्य है। इसके साथ ही राष्ट्रभाषा हिन्दी की सर्वांगीण समृद्धि के चतुर्दिक उपक्रम में यह विनम्र प्रयास कहाँ तक अपना योगदान कर सकेगा इसका निर्णय भविष्य के अधीन है।

इन सभी वातों के वावजूद यह अविस्मरणीय है कि गाथासप्तशती की इतनी टीकाओं में सवसे अधिक गंगाधरभट्ट की संस्कृत टीका लोकप्रिय हुई। और प्रस्तुत संस्करण में प्रधान रूप से अवतरणों को लिखते हुए गंगाधर को ही उद्धृत किया गया है। गंगाधर की टीका की हस्तलिखित प्रतियाँ अनेक स्थानों में प्राप्त हुई हैं, परन्तु कहीं टीकाकार ने अपने देशकाल का उल्लेख नहीं किया है, फिर भी संशोधकों ने एक हस्तलिखित प्रति के अनुसार ही पन्द्रहवीं या सोलहवीं शताब्दी निश्चय किया है। गाथा ५।९४ में गंगाधर लिखते हैं—"झिल्ली 'झींगुर' इति कान्यकुब्जभाषया प्रसिद्धः कीटविशेषः"; वेबर ने इससे निष्कर्ष निकाला है कि वे मध्यदेश में कन्नौज के निवासी थे। गंगाधर का धर्म वैदिक शैव प्रतीत होता है। यह स्पष्ट है कि गाथासप्तशती की शृङ्गारिक व्याख्या लिखने में गंगाधर को अद्भुत सफलता मिली है। पीताम्बर ने धर्म और नीति की ओर गाथाओं को घसीटने का प्रयत्न किया है जो अनेकत्र स्वाभाविकता एवं औचित्य की सीमा में बिलकुल नहीं आता।

प्राकृत की मिठास—यह तो निश्चित ही है कि प्राकृत को संस्कृत की अपेक्षा अधिक ग्राम्य व्यवहार में गतिशील होने का अवसर मिला है, यहाँ तक कि अपने साहित्यिक रूप में भी प्राकृत भाषा लोक जीवन से प्राप्त सादगी और सहजता के गुणों को छोड़ नहीं सकी, ऐसी स्थिति में प्राकृत में संस्कृत की अपेक्षा अधिक मिठास का अनुभव होना स्वाभाविक ही है। कहा है—'संस्कृतात् प्राकृतं मिष्टम्', अर्थात् प्राकृत संस्कृत से मीठी है। वहुत प्राचीनकाल से प्रकृत के सम्वन्ध में यह धारणा चली आ रही है। जयवल्लभ के 'वज्जालग्ग' में एक गाथा है—

देसियसद्दपलोट्टं महुरक्खरछन्दसंठिअं ललियं ।
फुडवियडपायडत्थं पाइअकव्वं पढेयव्वं ॥
[देशीशब्दपर्यस्तं मधुराक्षरच्छन्दः संस्थितं ललितम् ।
स्फुटविकटप्रकटार्थं प्राकृतकाव्यं पठनीयम् ॥]

अर्थात् प्राकृत काव्य में देशी शब्द, मधुर अक्षर, ललित छन्द एवं प्रकट अर्थ हैं, ऐसा प्राकृतकाव्य पढ़ने योग्य है ।

राजशेखर ने 'कर्पूरमञ्जरी' (१।८) में लिखा है—

परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो ।
पुरिसमहिलाणँ जेत्तिअमिहंतरं तेत्तिअमिमाणं ॥
[परुषाः संस्कृतबन्धाः प्राकृतबन्धोऽपि भवति सुकुमारः ।
पुरुषमहिलानां यावदिहान्तरं तेषु तावत् ॥]

अर्थात् संस्कृत का निबन्धन परुष अर्थात् रूखा होता है और प्राकृत का सुकुमार होता है, जितना अन्तर पुरुष और स्त्री में है उतना इनमें है ।

वज्जालग्ग' में जयवल्लभ की यह गाथा भी दर्शनीय है—

ललिये महुरक्खरए जुवईजणवल्लहे ससिंगारे ।
सते पाउअकव्वे को सक्कइ सक्कयं पढिउं ॥
[ललिते मधुराक्षरे युवतिजनवल्लभे सशृङ्गारे ।
सति प्राकृतकाव्ये कः शक्नोति संस्कृतं पठितुम् ॥]

अर्थात् ललित, मधुर अक्षरों वाले, युवतियों के प्रिय, शृङ्गारयुक्त प्राकृत-काव्य के मौजूद होते कौन संस्कृत पढ़ सकता है ?

'गौडवहो' में महाकवि वाक्पतिराज लिखते हैं—

णवमत्थदंलणं संनिवेस-सिसिराओ बन्धरिद्धीओ ।
अविरलमिणयो आ भुवनवन्धमिह णवर पययम्मी ॥
सयलाओ इमं वाया विसन्ति एत्तो भणेन्ति वायाओ ।
एन्ति समुद्दं चिअ णेन्ति सायराओ च्चिअ जलाइं ॥
हरिसविसेसो वियसावओ य मउलावओ य अच्छीण ।
इह वहिहुजो अन्तोमुहो य हिययस्स विप्फुरइ ॥ १।९२–९४ ॥

अर्थात् अभिनव आशय, समृद्ध रचना और मृदु शब्दमाधुर्य के कारण प्राकृत सभी भाषाओं में श्रेष्ठ है । जिस प्रकार जल सागर से निर्मित होते हैं और सागर में ही विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार सभी भाषाएँ प्राकृत से निर्मित होती हैं और प्राकृत में ही विलीन हो जाती हैं । प्राकृत से अन्तःकरण को अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है, आनन्द से नेत्र विकसित हो जाते हैं तथा तृप्ति से मुकुलित हो जाते हैं ।

गाथाछन्द—गाथासप्तशती के पद्य 'गाथा' छन्द में रचित हैं। 'गाथा' शब्द बहुत प्राचीन है। यह अपने विभिन्न अर्थों में वैदिककाल से चला आ रहा है। पिङ्गलाचार्य अपने 'छन्दःशास्त्र' में लिखते हैं—

'अत्रानुक्तं गाथा' (८।१)

यहाँ टीकाकार हलायुध ने लिखा है—'अत्रशास्त्रे नामोद्देशेन यन्नोक्तं छन्दः, प्रयोगे च दृश्यते तद् गाथेति मन्तव्यम्।' अर्थात् इस शास्त्र में जो छन्द नाम-उद्देशपूर्वक नहीं कहा गया है और प्रयोग में देखा जाता है, उसे 'गाथा' मानना चाहिए। श्री रत्नशेखरसूरि ने अपने छन्दःकोश में 'गाथा' का लक्षण इस प्रकार दिया है—

सामन्नेणं वारस अट्ठारस वार पनरमत्ताओ।
कमसो पायचउक्के गाहाए हुन्ति नियमेणं॥
गाहाइ दले चउचउमत्तंसा सत्तः; अट्ठमो दुकलो।
एयं वीयदले वि हु नवरं छट्ठोइ एकगलो॥

श्री कोलब्रुक महाशय (A. R. X. 400) का कहना है कि प्राकृत में जो गाथा है वह संस्कृत से आई है। सामान्य रूप से 'गाथा' में प्रथम और तृतीय चरण में वारह-बारह मात्राएँ होती हैं, द्वितीय चरण में अट्ठारह मात्राएँ तथा चतुर्थ चरण में पन्द्रह मात्राएँ होती है। संस्कृत के 'आर्या' छन्द के जो रूप हैं प्रायः प्राकृत की गाथाओं के रूप भी वही मिलते हैं। इसी कारण आचार्य गोवर्धन ने प्राकृत गाथासप्तशती की परम्परा में संस्कृत में 'आर्यासप्तशती' लिखी, परन्तु यह परम्परा अपभ्रंश और हिन्दी तक पहुंच कर 'दोहा' नाम के अतिरिक्त छन्द में परिवर्तित हुई।

प्राकृत में 'प्राकृत काव्य' और गाथा छन्द की प्रशंसा में भी कुछ पद्य प्रस्तुत में उद्धरणीय हैं। जयवल्लभ 'वज्जालग्ग' में लिखते हैं—

पाइअकव्वस्स नमो पाइअकव्वं च णिम्मिअं जेण।
ताहं चिअ पणमामो पठिऊण य जे वियाणन्ति॥

अर्थात् प्राकृत काव्य को नमस्कार है तथा जिसने प्राकृत काव्य को वनाया है उसे नमस्कार है, एवं उन्हें भी हम प्रणाम करते हैं जो प्राकृत काव्य को पढ कर जानते हैं।

गाथा के सौन्दर्य की प्रशंसा में जयवल्लभ का कहना है—

अद्धक्खरभणियाणं नूणं सविलासमुद्धहसियाहं।
अद्धाच्छिपेच्छिआइं गाहाहि विणा ण णज्जंति॥

अर्थात् महिलाजनों के आधे अक्षरों की वातें विलास के साथ मुग्ध हँसी

तथा कटाक्षों के निरीक्षण गाथाओं के विना नहीं मालूम पड़ते है ! अर्थात् गाथाओं का रसिया ही इनके समग्र भावों का आस्वादन कर सकता है।

फिर जयवल्लभ ही लिखते हैं—

गाथा रुवइ वराई सिक्खिज्जन्ती गवारलाएहिं।
कीरइ लुच्चपलुच्चा जहगाई मन्ददोहेहिं॥

अर्थात् गँवार लोगों के द्वारा पढ़ी जाती हुई वेचारी गाथा रोती है, उसे उस गाय की भाँति कष्ट होता है जिसे गलत ढंग से दुहते हैं।

गाथासप्तशती के उत्तरार्ध (८१०) की गाथा है—

गाहाण अ गेआण अ तंतीसद्दाण पोढमहिलाण।
ताणं सो च्चिअ दण्डो, जे ताण रसं ण आणन्ति॥

अर्थात् गाथाओं, गीतों, वीणा के शब्दों और प्रौढ महिलाओं का रस जो नहीं जानते उनके लिए वही दण्ड है।

प्रस्तुत संस्करण—राष्ट्रभाषा हिन्दी का यह प्रस्तुत संस्करण गाथासप्तशती के इतिहास में हुए समग्र निर्माणों का बहुत कुछ ऋणी है। जहाँ से जो सामग्री इसके सम्बन्ध में प्राप्त हुई है मैंने उसे यहाँ संकेतित करने का प्रयत्न किया है, ताकि ग्रन्थ की समग्रता को बहुत अंश में समेटा जा सके। मेरा दुर्भाग्य रहा है कि मेरे समक्ष वेबर का जर्मन संस्करण हमेशा के लिए नहीं रह सका, तथा काव्यमाला से प्रकाशित गंगाधर की टीका वाले संस्करण को भी देखने से मैं वञ्चित रहा जिसकी क्षति पूर्ति मैंने यथाकथञ्चित् श्री जोगलेकर जी के मराठी संस्करण तथा भट्ट मथुरानाथ शास्त्री जी की संस्कृत व्याख्या वाले संस्करण से की है। मुझे दृढ़ आशा है कि गाथासप्तशती के सत्य-सङ्केत तक पहुँचने में यह श्रम सहृदय वर्ग का सहायक होगा। मैंने गाथाओं का अनुवाद करने में गाथाओं की स्वाभाविकता और सहजता का यथासम्भव ध्यान रखा है और अनुवाद की भाषा को भी ग्राम्य वातावरण के अनुकूल प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। गाथासप्तशती का उत्तरार्ध, जो वेवर के जर्मन संस्करण से लेकर श्री जोगलेकर जी ने अपने मराठी संस्करण में प्रस्तुत किया है, यहाँ मैंने मराठी संस्करण के आधार पर ही दिया है। मैंने अपनी ओर से जहाँ तक वन सका है, उत्तरार्ध की गाथाओं की संस्कृत छाया भी दी है। जो छाया श्री जोगलेकर को अन्यत्र प्राप्त हुई है उसका संकेत यहाँ भी मैंने कर दिया है। सचमुच मेरे सामने मराठी संस्करण न होता तो यह हिन्दी संस्करण अपने समक्ष विभिन्न अभावों के कारण किसी प्रकार सम्पन्न नहीं होता, अतः मैं श्री जोगलेकर जी के प्रति हृदय से आभारी हूँ। मैं त्रुटियों की ओर से प्रायः सावधान रहा हूँ, पर अपने दोषों को

यथावत् देख पाना शायद मनुष्य की प्रकृति के प्रतिकूल पडता है। मेरे दोषों को अवगत कराने वाले मित्रों का मै हार्दिक कृतज्ञ रहूँगा।

प्राकृत भाषा और साहित्य के प्रति मेरा आकर्षण आरम्भ से ही रहा है। संस्कृत के वातावरण में प्राकृत के प्रति उपेक्षा देख कर मै उन दिनों भी दर्द का अनुभव करता था। प्राकृत की निन्दा सुनना मुझे पसन्द नहीं था—'खंजर चले किसी पे तड़पते है हम 'अमीर'।' शायद उन्हीं दिनों काशी में जब मैंने 'गाथासप्तशती' की पुस्तक पढ़ी थी तभी मेरे मनमें उसकी हिन्दी व्याख्या की इच्छा का बीजारोपण हो चुका था। संस्कृत के महान् आलङ्कारियों द्वारा उत्तम काव्य के उदाहरण के रूप में प्राकृत सुभाषितों का निःसङ्कोच उपयोग इसका परिचायक है कि उनके मनमें किसी प्रकार का भेदभाव न था। यहाँ तक कि आचार्य गोवर्धन ने 'गाथासप्तशती' की प्राकृत गाथाओं के अनुकरण पर 'आर्या-सप्तशती' का निर्माण करते हुए संस्कृत के असामर्थ्य को कुछ श्लिष्ट व्यञ्जना में स्पष्ट कर दिया है—

'वाणी प्राकृतसमुचितरसा बलेनेव संस्कृतं नीता।'

अर्थात् जो वाणी प्राकृत भाषा में ही समुचित रस वाली थी उसे बलपूर्वक मैंने संस्कृत का रूप दिया है।

मेरा प्राकृत के कवियों के सम्बन्ध में निजी विचार यह है कि इनकी अन्दाजेबयानी संस्कृत के कवियों के लिए हमेशा ईर्ष्यास्पद रही है। संस्कृत कवियों की स्थिति प्राकृत कवियों के सामने कुछ इसी प्रकार रही होगी, जैसा कि उर्दू के प्रसिद्ध कवि 'जौक' ने लिखा है—

न हुआ पर न हुआ 'मीर' का अन्दाज नसीब।
जौक यारों ने बहुत जोर ग़जल में मारा॥

प्रेरणाओं के लिए अपने मित्र श्री शिवदत्तशर्मा चर्वेदी, व्याख्याता-काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का अनुगृहीत हूँ। एक अदूरस्थ प्रियजन के प्रति मेरा मूक आभार-निवेदन है, जिसने हमेशा मुझे थकान और नैराश्य के जीवन से उबारा है। अपने अनुज बैजनाथ पाठक और रामजी पाठक को भी अनेक धन्यवाद। चौखम्बा-प्रकाशन के अधिकारी गुप्त-बन्धुओं का आभारी हूँ जिन्होने तत्परता से प्रस्तुत ग्रन्थ को प्रकाशित किया।

शारदीय दुर्गापूजा
वि० सं० २०२६

—जगन्नाथ पाठक

॥ श्रीः ॥

गाथासप्तशती

'प्रकाश' हिन्दीभाष्योपेता

प्रथमं शतकम्

पसुवइणो रोसारुणपडिमासंकंतगोरिमुहअन्दं ।
गहिअग्घपंकअं विअ संझासलिलञ्जलिं णमह ॥ १ ॥

[पशुपते रोषारुणप्रतिमासंक्रान्तगौरीमुखचन्द्रम् ।
गृहीतार्घपङ्कजमिव संध्यासलिलाञ्जलिं नमत ॥]

(प्रातःकाल सन्ध्या करते हुए पशुपति भगवान् शङ्कर ने अपनी अंजलि में जल लिया, तब पार्वती के मन में हुआ कि मुझे छोड़कर सन्ध्या का ध्यान क्यों कर रहे हैं ? यह सोच कर वह क्रोध से तमतमा उठी) क्रोध से उसका अरुणवर्ण मुखचन्द्र सन्ध्या की जलाञ्जलि में प्रतिबिम्बित होने लगा, मानो भगवान् पशुपति ने कमल के साथ अञ्जलि में अर्घ्य धारण किया हो, ऐसी जलाञ्जलि को नमन करो।

विमर्श—ग्रन्थारम्भ का मङ्गलाचरण। सन्ध्योपासन एक नित्य वैदिक कर्म है, जो अनिवार्य रूप से प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल किया जाता है। यद्यपि मूल गाथा में कवि ने यह व्यक्त नहीं किया है कि भगवान् शङ्कर कब का यह सन्ध्योपासन कर रहे हैं, तथापि टीकाकारों का यह अनुमान है कि कवि को यहां प्रातःकाल की सन्ध्या ही विवक्षित है, क्योंकि इस ग्रन्थ के अन्त में भी कवि ने ठीक इसी प्रसंग की एक दूसरी गाथा लिखी है। वहां शिवजी संध्या की जलाञ्जलि में पार्वती के मुखकमल का प्रतिबिम्ब देखते ही विचलित हो जाते हैं। उन्हें सन्ध्योपासन का मन्त्र भूल जाता है और व्यर्थ ही अपना अधर चलाते हैं। अभिप्राय यह कि ग्रन्थारम्भ की सन्ध्या प्रातःकालीन और ग्रन्थान्त की सन्ध्या सायंकालीन है, इसी को व्यञ्जित करने के लिये कवि ने एक प्रकार की दो गाथाओं का निर्माण किया है। श्री जोगलेकर ने इस गाथा में प्रयुक्त 'अरुण' शब्द को देखकर प्रातःकालीन सन्ध्योपासन के अनुमान की

पुष्टि की है, क्योंकि 'अरुण' का उदय प्रातःकाल ही होता है। अन्त की गाथा में यह शब्द नहीं है। प्रस्तुत मङ्गलाचरण में कवि ने भगवान् शङ्कर द्वारा सूर्य को जलाञ्जलि अर्पित करने का निर्देश किया है, सम्भव है कवि के उपास्य देव शङ्कर नहीं, वल्कि सूर्य हों, क्योंकि ग्रन्थ के मध्य के आसपास की गाथा (४।३२) में सूर्य-नमन की चर्चा है। गाथासप्तशती श्रृङ्गार-प्रधान रचना है। कवि ने पार्वती के 'रोषारुण' मुख का उल्लेख करते हुए उसी की व्यंजना की है। श्रृङ्गार के क्षेत्र में नायिका के रोष या मान का बहुत महत्त्व है। पार्वती यहां मानिनी नायिका हैं जो अपने पति शिवजी को सपत्नी सन्ध्या का ध्यान करते हुए देखकर बिगड़ कर लाल हो उठी हैं। पार्वती और सन्ध्या के सापत्न्य-भाव का उल्लेख संस्कृत के अन्य कवियों ने भी ऐसे ही प्रसंगों में किया है। आचार्य गोवर्धन ने 'गाथासप्तशती' पर आधारित अपनी संस्कृत रचना 'आर्यासप्तशती' में दूसरी भङ्गिमा से शिव द्वारा सन्ध्यानमन का उल्लेख किया है (मङ्गल-आर्या ६, ७)। सापत्न्य के सम्बन्ध में बाणभट्ट ने 'कादम्बरी' में लिखा है—'यदेतत् सापत्न्यकरणं नारीणां प्रधानं कोपकारणम्, अग्रणीर्विरागहेतुः, परं परिभवस्थानम्।' यहां ध्यान देने योग्य एक बात यह है कि कवि ने पार्वती के मुख की उपमा चन्द्र और कमल दोनों से दी है। टीकाकार का कथन है कि जैसा कि कालिदास ने पार्वती के मुख में चन्द्र का प्रकाश और कमल की सुगन्धि आदि गुणों का एकत्र समन्वय किया है वही प्रस्तुत में गाथाकार को भी अभिप्रेत है। कुमारसम्भव में कालिदास लिखते हैं—

चन्द्रं गता पद्मगुणान् न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥ १।४३

(लक्ष्मी—शोभा—चन्द्र को प्राप्त कर कमल के गुणों से वञ्चित रही और कमल को प्राप्त किया तो चन्द्र के गुणों से वञ्चित हुई, तब उस चपला ने पार्वती के मुख में आश्रित होकर चन्द्र और कमल दोनों में रहने का आनन्द लिया)। टीकाकार गङ्गाधर के अनुसार प्रस्तुत गाथा उस नायक के प्रति दूती की उक्ति है जो नायिका का प्रणयरोष नहीं सहता है। दूती का तात्पर्य है कि प्रेम के व्यवहार से तुझे परिचित होना चाहिए। नायिका तुझ पर कोप करती है तो तुझे प्रसन्न होना चाहिए। क्या पार्वती के रोषारुण मुख का यहां अर्थ प्रणय के सिवा और भी है ?.एक उर्दू का कवि तो 'माशूक' के गुस्से को अपने प्यार का कारण मानता है—'उनको आता है प्यार पर गुस्सा, मुझको गुस्से पे प्यार आता है ॥' कविवर विहारी का नायक तो गुस्सैल प्रिया को और भी कुपित कर देता है, मनावन करने के लिए प्रवृत्त ही नहीं होता—'मनु न मनावन को करै देतु रुठाइ रुठाइ' ॥ १ ॥

अमिअं पाउअकव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणन्ति।
कामस्स तत्ततन्तिं कुणन्ति ते कहँ ण लज्जन्ति॥ २॥
[अमृतं प्राकृतकाव्यं पठितुं श्रोतुं च ये न जानन्ति।
कामस्य तत्त्वचिन्तां कुर्वन्तस्ते कथं न लज्जन्ते॥]

जो लोग अमृत-मधुर प्राकृत-काव्य को पढ़कर तथा (दूसरे द्वारा पढ़े जाने पर) सुन कर भी नहीं समझते और कामशास्त्र के तत्त्वज्ञान का अभिमान रखते हैं वे क्यों नहीं लज्जा का अनुभव करते? (अभिप्राय यह कि प्राकृत काव्य के ज्ञान के विना कामशास्त्र सम्बन्धी तत्त्वज्ञान सम्भव नहीं)।

विमर्श—विदग्ध नायिका का वचन नायक के प्रति। नायक व्युत्पन्न होने के कारण यह स्वीकार नहीं कर रहा है कि प्राकृत काव्य मधुर एवं सरस होता है। वल्कि उसकी धारणा यह है कि प्राकृत में निर्मित काव्य मूर्ख लोगों और स्त्रियों के ही उपयोग की चीज है, पढ़े-लिखे लोगों के उपयोग की सामग्री इसमें कुछ भी नहीं होती। विदग्धा नायिका ने नायक की इस धारणा का खण्डन किया कि नहीं, यह सरासर ग़लत विचार है कि प्राकृत काव्य मूर्खों और स्त्रियों के ही उपयोग की वस्तु है। कामशास्त्र का तत्त्वज्ञान प्राकृत काव्य के श्रवण-मनन के विना विलकुल नीरस हो जाता है। क्योंकि प्राकृत कविता में विशेष रूप से शृंगाररस ओत-प्रोत रहता है। अगर कोई नायक विदग्ध-वनिताओं को प्रसन्न करना चाहता है तो विना प्राकृत की समयोचित गाथा के सुनाए वह अपना अभीष्ट सिद्ध नहीं कर सकता। अगर वह ऐसा नहीं करता तो उसका कामशास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान विदग्धनायिकाओं को प्रसन्न करने में सफल हो सकेगा इसमें सन्देह है। स्पष्ट वक्तव्य तो यह है कि ऐसे शुष्क, कामशास्त्रवेत्ता और प्राकृतकाव्य-ज्ञानविरहित सज्जन को लज्जित होना चाहिए। क्योंकि प्राकृत काव्य साक्षात् अमृत है। संस्कृत काव्य की परुषता तो सर्वविदित है। अगर कोई 'काव्य अमृत का साक्षात् रूप होता है' यह सिद्ध करना चाहे तो उसे उदाहरण रूप में प्राकृत काव्य को ही स्वीकार करना होगा, परुष वर्णों के चयन वाले संस्कृत काव्य को नहीं। सचमुच अगर शुद्ध दृष्टि से देखा जाय तो प्रतीत होता है कि संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत भाषा एवं काव्य की मधुरिमा कुछ और ही है। कुछ लोगों का यह कहना कि यह निरे ग्रामीण लोगों की भाषा और साहित्य है, विलकुल अनुचित है। टीकाकार साधारणदेव का कथन है कि कामशास्त्र के फल की प्राप्ति की इच्छा रखने वाले को चाहिए कि वह प्राकृत गाथाओं को संगृहीत करके रखे। कामशास्त्र की प्रक्रियाएं अत्यन्त अश्लील और भद्दी किस्म की होती हैं। नायिका को प्रसन्न क्या और भी रुष्ट कर देनेवाली होती हैं। तब एक मात्र

प्राकृत काव्य के माध्यम से ही नायक अपने हृदय की मधुर भावनाओं को शब्द के रूप में अभिव्यक्त करके नायिका को प्रसन्न कर सकता है। क्योंकि प्राकृत-काव्य के सुनते ही चित्त में एक प्रकार की अद्‌भुत चेतनता हो जाती है। अमृत भी सचेतन कर देता है, अतः प्राकृत काव्य को 'अमृत' कहना उसकी प्रतिष्ठा के अनुकूल है। प्राकृत-काव्य की प्रसंसा में कुछ अन्य पद्य उद्‌धृत करते हैं। राजशेखर कर्पूरमंजरी-सट्टक में लिखते हैं—

परुसा सक्कअवन्धा पाउअवन्धो वि होइ सुउमारो।
पुरिस महिलाणँ जेत्तिअमिहन्तरं तेत्तियमिमाणम्॥ १।८

अर्थात् संस्कृत काव्य परुष होते हैं और प्राकृत-काव्य सुकुमार। इन दोनों में उतना ही अन्तर समझना चाहिए जितना पुरुष और महिला में अन्तर होता है।

'वज्जालग्ग' में मिलता है—

ललिए महुरक्खरए जुवईजणवल्लहे ससिंगारे।
सन्ते पाइअकव्वे को सक्कइ सक्कअं पढिउम्॥

अर्थात् ललित, सुमधुर वर्णों वाला, युवतियों का प्रिय, श्रृङ्गार-प्रधान प्राकृत काव्य के रहने पर कौन है जो संस्कृत-काव्य पढ़ने के लिए प्रवृत्त होगा? ॥ २ ॥

सत्त सताइं कइवच्छलेण कोडीअ मज्झआरम्मि।
हालेण विरइआइं सालङ्काराणँ गाहाणम्॥ ३॥
[सप्तशतानि कविवत्सलेन कोटेर्मध्ये।
हालेन विरचितानि सालङ्काराणां गाथानाम्॥]

कविवत्सल हाल ने अलङ्कार-युक्त करोड़ों गाथाओं के मध्य से सात सौ का संग्रह तैयार किया है।

विमर्श—हाल ने अपने को 'कविवत्सल' कहा है। सम्भवतः अगर यह उनका अपना नाम नहीं तो निश्चय ही उनकी कविवत्सलता इस अंश में सार्थक कि उन्होंने करोड़ों की संख्या में इधर-उधर पड़ी रहनेवाली समकालीन कवियों की अलंकारपूर्ण गाथाओं को एकत्र संगृहीत करके एक प्रकार का रत्नकोष तैयार किया जो आज 'गाहासत्तसई' या गाथासप्तशती के नाम से उपलब्ध है। इस प्रकार हाल ने उन कवियों को अमर करके उनपर अपना सच्चा 'वात्सल्य' प्रकट किया। यह संग्रह उनके द्वारा उस समय नहीं तैयार कर दिया गया होता तो निश्चय ही ऐसे मूल्यवान् गाथा-रत्न उसी समय धूलि में मिलकर नष्ट हो जाते और उनका नाम-निशान मिट जाता। गाथासप्तशती का

प्राचीन नाम 'कोश' या 'सुभाषित-कोश' था। हाल सातवाहनवंशी सम्राट् थे। कुछ विद्वान् गाथासप्तशती और 'सुभाषितकोश' को एक नहीं मानते, पर निश्चित प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि हालकृत गाथासप्तशती ही सातवाहन-विरचित 'सुभाषितकोश' है। बाण ने हर्षचरित में उल्लेख किया है—

अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहनः ।
विशुद्धजातिभिः कोशं रत्नैरिव सुभाषितैः ॥ १.१३ श्लोक

गाथासप्तशती के प्राचीन कई टीकाकार तथा कुवलयमाला कथा के कर्ता इन्द्रसूरि (७७८ ई०) आदि ने भी इस सुभाषित-संग्रह को 'कोश' या 'गाथा-कोश' कहा है। विद्वानों का अनुमान है कि 'जब मध्यकाल में अभि-धान-कोशों को 'कोश' के नाम से अभिहित किया जाने लगा तब उसके बाद से हाल का ग्रन्थ गाथासप्तशती के नाम से प्रसिद्ध हुआ।' 'प्राकृत-पिङ्गल' में गाथा का यह लक्षण कहा है—'पढमं बारह मत्ता बीए अट्ठार एहिं संजुत्ता। जह पढमं तह तीअं दहपञ्चविहूसिआ गाहा॥' संस्कृत में लिखी गई गाथा 'आर्या' के नाम से बोधित होती है। हाल ने संगृहीत गाथाओं को 'सालंकार' कहा है। प्रायः आलंकारिक आचार्यों ने अलंकारों के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में गाथासप्तशती की गाथाओं को उद्धृत किया है। प्रस्तुत में 'हालेन' का संस्कृत पाठान्तर 'शालवाहनेन' और 'शालिवाहनेन' है, सम्भव है 'हाल' शब्द 'शालवाहन' या 'शालिवाहन' का ही प्राकृत रूपान्तर हो। 'शालवाहन' का प्राकृत रूप 'सालाहण' भी प्राप्त है ॥ ३ ॥

उअ णिच्चलणिप्पन्दा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ संखसुत्ति व्व ॥ ४ ॥

[पश्य निश्चलनिःस्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव ॥]

देखो, कमल के पत्तों पर निश्चल और निष्पन्द भाव से बैठी हुई बक-पंक्ति मरकत मणि के निर्मल पात्र पर रखी हुई शंख-निर्मित शुक्तिका की भाँति शोभ रही है।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने इस गाथा को उद्धृत करके इसकी व्यञ्जना इस प्रकार स्पष्ट की है—'अत्र निष्पन्दत्वेन आश्वस्तत्वम्। तेन च जनरहित-त्वम्। अतः संकेतस्थानमेतदिति कयाचित् कंचित् प्रत्युच्यते। अथवा मिथ्या वदसि न त्वमत्रागतोऽभूरिति व्यज्यते।' अर्थात् कोई नायिका निश्चल-निष्पन्द बैठी हुई बकपंक्ति की ओर नायक का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहती है कि 'देखो, यहां

किसी के आने की सम्भावना नहीं है, यह बिलकुल निर्जन प्रदेश है। इसका पता इसी से लगता है कि यह बक-पंक्ति आश्वस्त होकर कमल के पत्तों पर बैठी हुई है। यहां किसी के आने की सम्भावना होती तो यह कभी उड़ गई होती। अतः यह स्थान संकेत के योग्य है, हम दोनों यहां जब चाहें मिल सकते हैं, किसी बात का डर नहीं।' अथवा कोई नायक दूसरी नायिका में आसक्त हो जाने के कारण न पहुँच कर भी नायिका को यह कहकर छल रहा था कि संकेत देकर तू नहीं आई और मैं तो आया था। नायक के इस कथन को असत्य सिद्ध करने के लिए नायिका ने बक-पंक्ति की ओर इशारा किया जो निश्चल भाव से कमल-पत्र पर बैठी थी। नायिका का तात्पर्य यह था कि तू सरासर झूठ बोल रहा है, तू यहां नहीं आया था। अगर आता तो यह बक-पंक्ति इस प्रकार आश्वस्त होकर बैठी न होती। गाथा में प्रयुक्त 'उअ' 'पश्य' (देखो) के अर्थ में देशी प्रयोग अथवा पश्यार्थक अव्यय है। 'निश्चल-निष्पन्द' पर टीकाकारों ने विचार किया है। ये दोनों शब्द भिन्नार्थक हैं। चलन अर्थात् शरीरक्रिया; बकपंक्ति निश्चल बैठी थी, अर्थात् वह उसके शारीरिक कार्य (एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना आदि) बिलकुल बन्द थे। स्पन्द अर्थात् अवयव क्रिया, बकपंक्ति निष्पन्द थी अर्थात् अङ्गों का हिलना-डोलना कुछ भी न होता था। इस प्रकार इन दोनों अभिन्नार्थक प्रतीत होनेवाले शब्दों के अर्थ से पौनरुक्त्य की आशंका नहीं रह जाती। कवि ने निर्मल मरकत-भाजन पर स्थित शंखशुक्ति की कल्पना की है। शंख को खराद कर बना हुआ चन्दनादि रखने योग्य शुक्त्याकार पात्र ही 'शंख-शुक्ति' से यहां विवक्षित है। इस प्रकार सचेतन वस्तु बकपंक्ति की उपमा अचेतन वस्तु शंखशुक्ति से देकर कवि ने बकपंक्ति में लेशमात्र भी संचलन का अभाव व्यक्त किया है। इससे उस प्रदेश की अत्यन्त निर्जनता सूचित होती है। 'बलाका' से कुछ लोगों ने 'बक-स्त्री' अर्थ माना है, पर यहां 'बक-पंक्ति' अर्थ ठीक बैठता है। यद्यपि बहुत से बकों की पंक्ति का मरकत-भाजन स्थित एक शंखशुक्ति के साथ उपमानोपमेय भाव असंगत सा प्रतीत होता है, तथापि बक-पंक्ति की एकत्व विवक्षा से उपमानोपमेय भाव में किसी प्रकार की कमी नहीं मालूम होती। 'बक-स्त्री' में कोई व्यंजना नहीं, परन्तु 'बकपंक्ति' से यह व्यंजित होता है कि बहुत से बगले जब बिलकुल आश्वस्त होकर बैठे हैं तो निश्चय ही यह प्रदेश निर्जन और एकान्त होने से संकेत के योग्य है। एक बगली मात्र के निश्चल-निष्पन्द बैठे रहने से यह तात्पर्य उस स्वाभाविकता से व्यक्त नहीं होता। टीकाकार गंगाधर के अनुसार इस गाथा में दीर्घरत की सूचना है। किसी के अनुसार इसमें विपरीत रति की ओर संकेत है॥ ४॥

तावच्चिअ रइसमए महिलाणं बिब्भमा विराअन्ति ।
जाव ण कुवलअदलसेच्छआइँ मउलेन्ति णअणाइं ॥ ५ ॥

[तावदेव रतिसमये महिलानां विभ्रमा विराजन्ते ।
यावन्न कुवलयदलसच्छायानि मुकुलीभवन्ति नयनानि ॥]

रतिकाल में उत्तम नायिकाओं के हाव-भाव तभी तक मनोहर लगते हैं जब तक कि उनकी नीलकमल-सदृश आंखें (आनन्द से) मुकुलित नहीं हो जातीं।

विमर्श—नायिका नायक के साथ रतिकार्य में असन्तुष्ट होने से सुरतावसान में भी आंखें चलाचलाकर 'नायक को उद्दीप्त करने का विभ्रम करती है। उसकी सखी को यह विदित हुआ तब उसने नायिका को यह गाथा कह कर समझाया कि तेरा विभ्रम-प्रदर्शन किसी काम का नहीं। विभ्रम तो तभी तक शोभा देते हैं जब तक आंखें रत्यानन्द से मुकुलित नहीं हो जातीं। तत्पश्चात् रतान्त में विभ्रमों के प्रदर्शन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः रति-सुख प्राप्त हो या न हो विभ्रम को त्याग कर आँखें बंद रखना ठीक है। यहाँ 'विभ्रम' शब्द से स्त्रियों के कटाक्ष-भुजलताक्षेपादि स्वाभावज भाव सूचित होते हैं। दशरूपककार ने 'विभ्रम' का लक्षण लिखा है—'विभ्रमस्त्वरया काले भूषास्थानविपर्ययः।' अर्थात् हड़बड़ी की अवस्था में नायिकाएं जब अपने गहनों को जहां कहीं शरीर में पहन लेती हैं वही विभ्रम होता है। यद्यपि प्रस्तुत में इस प्रकार का 'विभ्रम' विवक्षित नहीं, तथापि ऐसे विभ्रमों के उल्लेख रघुवंश, कुमारसम्भव तथा कादम्बरी आदि में मिलते हैं। प्रस्तुत में विभ्रम एक प्रकार की 'शृङ्गार-चेष्टा' है। नायक को उत्तेजित करने के लिए नायिकाएँ शृङ्गार-चेष्टाएँ करती हैं। जैसा कि भरत ने कहा है—'कामौत्सुक्यकृताकारं रूपयौवनसम्पदा। अनवस्थितचित्तत्वं विभ्रमः परिकीर्तितः॥' 'नागर-सर्वस्व' में कहा है—'क्रोधं स्मितं च कुसुमाभरणादियाच्ञा तद्वर्जनं च सहसैव विमण्डनं च। आक्षिप्यकान्तवचनं लपनं सखीभिः निष्कारणोत्थितगतं बत विभ्रमं तत्' ॥ टीकाकार गंगाधर के अनुसार 'पुरुषों के नयन मुकुलित जब तक नहीं होते' यह उत्तरार्ध का अर्थ है। यह बात कामशास्त्र के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं, क्योंकि सुरतानन्द से स्त्रियों की आँखें ही मुकुलित होती हैं पुरुषों की नहीं। जैसा कि 'अनंगरंग' में आता है—'नारी विसृष्टकुसुमेपुजला रतान्ते नृत्यं करोति बहुवल्गनरोदने च। कैवल्यमेति मुकुलीकृतचारुनेत्रा शक्नोति नो किमपि सोढुमतिप्रयासम् ॥ (३।११) फिर भी इस सम्बन्ध में टीकाकारों का मतभेद है ॥ ५ ॥

णोहलिअमप्पणो किं ण मग्गसे मग्गसे कुरबअस्स ।
एअं तुह सुहग हसइ वलिआणणपंकअं जाआ ॥ ६ ॥

[दोहदमात्मनः किं न मृगयसे मृगयसे कुरबकस्य ।
एवं तव सुभग हसति वलिताननपङ्कजं जाया ॥]

'अपना दोहद क्यों नहीं खोजता कि कुरबक का दोहद खोजता फिरता है ?' इस प्रकार हे सुभग ! तेरी जाया मुख-कमल फेर कर हंसती है ।

विमर्श—नायिका-सखी का वचन नायक के प्रति। 'कविसमय' के अनुसार 'कुरबक' वृक्ष स्त्री के आलिङ्गन से पुष्पित-फलित होता है (तिलककुरबकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम्)। तात्पर्य यह कि अपने बाग में रोपे हुए फलपुष्पवन्ध्य कुरबक का दोहद (असमय में फल-पुष्प का पैदा होना) तुझे अभीष्ट है और स्वयं अपना दोहद नहीं। अर्थात् मैं बहुत समय से तेरे आलिङ्गन के लिए तरस रही हूँ, आखिर मैं भी तो बिना 'तेरे आलिङ्गन के पुष्पित-फलित नहीं हो सकती ? तुझे इतना भी ज्ञान नहीं कि अपना काम छोड़ कर व्यर्थ के कामों में लगा रहता है। इस पर तुझे अपने सौभाग्य का गर्व भी है। इस पर हंसने के सिवा और क्या हम कर सकती हैं ? सच तो यह कि यह हंसना कोई हंसना नहीं है ॥ ६ ॥

तावज्जन्ति असोएहिँ लडहवणिआओ दइअविरहम्मि ।
किं सहइ कोवि कस्स वि पाअपहारं पहुप्पन्तो ॥ ७ ॥

[ताप्यन्ते अशोकैर्विदग्धवनिता दयितविरहे ।
किं सहते कोऽपि कस्यापि पादप्रहारं प्रभवन् ॥]

प्रिय के विरह में पड़ी हुई विदग्ध वनिताओं को अशोक के वृक्ष सन्तप्त करने लग जाते हैं। क्या कोई भी समर्थ होकर किसी का पाद-प्रहार सहन करता है ?

विमर्श—नायक वसन्त काल में प्रवास की तैयारी कर रहा है। नायिका की सखी उसे रोकने के लिए उसके विरह में होने वाली नायिका की अवस्था बताती है। अथवा नायक प्रवास पर चला गया है। प्रोषितपतिका नायिका की सखी पत्र में नायिका की विरहावस्था का वर्णन करती है। कवि-समय के अनुसार अशोक वृक्ष वनिताओं के पाद-प्रहार से विकसित होता है। जब नायक नायिका के समीप था तब उसने प्रिय के कहने पर दोहद के लिए अशोक-वृक्षों को अपने पाद-प्रहार से खूब परेशान किया। उस समय इसे किस बात का भय था ! अब नायक प्रवास पर जाने वाला है अथवा चला गया है। नायिका के पाद-प्रहार से पीड़ित अशोक-वृक्षों को बदला लेने का अवसर प्राप्त है। गाथा

के 'अशोक' पद की व्यंजना के अनुसार उन्हें शोक तो बिलकुल नहीं होता, वे क्यों कसर लेने में रहम करेंगे। नायिका ऐसी मुग्धा नहीं जो प्रिय के समागम और वियोग का अनुभव ही नहीं करती। वह विदग्ध वनिता है। सखी का तात्पर्य यह है कि नायिका विदग्धा होने के कारण तुम्हारा विरह नहीं सह सकेगी। निर्दय अशोक इससे बदला लेने से कभी बाज नहीं आएँगे। तुम्हारी प्रेरणा से ही तो इसने उन पर पाद-प्रहार का अपराध सिर पर लिया? अब तू इसे छोड़ जाते हो तो इसका जीवित रहना संदिग्ध है। वसन्त में फूले हुए ये अशोक इसे मार कर ही दम लेंगे ॥ ७ ॥

अत्ता तह रमणिज्जं अह्मं गामस्स मण्डणीहूअं ।
लुअतिलवाडिसरिच्छं सिसिरेण कअं भिसिणिसण्डं ॥ ८ ॥

[श्वश्रु तथा रमणीयमस्माकं ग्रामस्य मण्डनीभूतम् ।
लूनतिलवाटीसदृशं शिशिरेण कृतं बिसिनीषण्डम् ॥]

सासुजी हमारे गांव का वैसा सुहावना और शोभा बढ़ानेवाला कमलवन पाला मार देने से कटा हुआ तिल का खेत-जैसा हो गया।

विमर्श—नायिका का संकेत स्थान पहले हरा-भरा लहराता हुआ तिल का खेत था। शिशिर काल में पक जाने पर तिल की फसल कट गई। तब नायिका उपपति को सुनाते हुए अपनी सासु से कहती है कि कमल का वन पाला मार देने से कटा हुआ तिल का खेत जैसा हो गया। तात्पर्य यह कि अब तिल का खेत संकेत के योग्य स्थान न रहा, कमल का वन जो पाला से जर गया वहीं हम और तुम मिलेंगे, क्योंकि वहां अब किसी के पहुँचने की आशंका नहीं है। पाला मारने से पूर्व कमलवन से फूल-पत्ते तोड़ने के लिए लोग जाया करते थे, परन्तु अब उधर जाने का कोई कारण नहीं। नायिका ने अपनी सासु के प्रति 'श्वश्रु' इस संबोधन द्वारा उसके प्रति आदर की भावना तथा अपने कथन की सत्यता व्यक्त करते हुए अपना अभिप्राय निवेदन किया। कुछ टीकाकारों के अनुसार गाथा की व्यंजना यह है कि शिशिर-काल में कट जाने से तिल का खेत और पाला मार जाने से कमल-वन दोनों अरक्षित स्थान हो गए—संकेत के योग्य नहीं रहे। अतः हमारा मिलन घर पर ही एकान्त में होगा। साहित्यदर्पणकार ने 'अभिसार' के आठ संकेत स्थानों का निर्देश किया है—

क्षेत्रं वाटी भग्नदेवालयो दूतीगृहं वनम् ।
मालयं (?) च श्मशानं च नद्यादीनां तटं तथा ॥
एवं कृताभिसाराणां पुंश्चलीनां विनोदने ।
स्थानान्यष्टौ ॥ ८ ॥

किं रुअसि ओणअमुही धवलाअन्तेसु सालिछित्तेसु ।
हरिआलमण्डिअमुही णडि व्व सणवाडिआ जाआ ॥ ९ ॥

[किं रोदिष्यवनतमुखी धवलायमानेषु शालिक्षेत्रेषु ।
हरितालमण्डितमुखी नटीव शणवाटिका जाता ॥]

धान के खेत पकते जा रहे हैं (यह देखकर) तू मुंह नीचा करके क्यों रो रही है ? सन की बाड़ी पीले-पीले फूल के गुच्छों से ऐसी लग रही है जैसे कोई नटी अपने मुंह में हरिताल लगा लेती है ।

विमर्श—नायिका के अपने प्रिय से मिलने का संकेत-स्थल धान का खेत था । जब धान की फसल बिलकुल पक चली तब नायिका इस शोक में मुंह नीचा करके डबडबाने लगी कि वह प्रिय से कैसे मिल पाएगी ? तब उसकी सखी ने सान्त्वना देते हुए फूली-फली सन की बाड़ी की ओर उसका ध्यान आकृष्ट किया । पीले-पीले फूलों से लदी शणवाटिका की उपमा हरितालमण्डितमुखी नटी से दी गई । तात्पर्य यह कि जिस प्रकार शणवाटिका हरितालमण्डितमुखी नटी की भांति अपने आपको फूलों से सजा रही है उसी प्रकार तू भी गहनों से अपना सिंगार-पटार कर ले और खुशी-खुशी अपने प्रिय से मिलने के लिए उसी को संकेत-स्थल बना । अथवा गाथा की दूसरी अवतरणिका यह है कि कोई सखी धान के खेतों के पकने की अवस्था में रोती हुई नायिका को देखकर उसके संकेत-स्थल को पहचान गई और परिहास करते हुए शण-वाटिका की चर्चा करती है । 'हरितालमण्डितमुखी' के स्थान पर दूसरा पाठ 'हरिजाल-मण्डितमुखी' है । हरिजाल अर्थात् वानरों के समूह से मण्डित द्वार वाली शणवाटिका निश्चय ही एकान्त होने से संकेत के योग्य स्थान है ॥ ९ ॥

सहि ईरिसिव्विअ गई मा रुव्वसु तंसवलिअमुहअन्द ।
एआणँ वालवालुङ्कितन्तुकुडिलाणँ पेम्माणं ॥ १० ॥

[सखि ईदृश्येव गतिर्मा रोदीस्तिर्यग्वलितमुखचन्द्रम् ।
एतेषां बालककेटीतन्तुकुटिलानां प्रेम्णाम् ॥]

हे सखी, तू अपने चांद-जैसे मुखड़े को फेर कर मत रो, क्योंकि नई लगी हुई ककड़ी के तन्तु-जैसे कुटिल प्रेम की गति ऐसी ही होती है ।

विमर्श—नायिका कलहान्तरिता की अवस्था में है । दशरूपक में कलहान्तरिता का लक्षण इस प्रकार है—'कलहान्तरिताऽमर्षाद् विधूतेऽनुशयार्तियुक् ।' अर्थात् किसी अपराध के कारण क्रोध से प्रिय को तिरस्कार करके पश्चात्ताप का अनुभव करने वाली नायिका 'कलहान्तरिता' कहलाती है । सखी पश्चात्ताप तथा आर्ति के कारण रुदन करती हुई तथा मुंह फेर कर बैठी हुई नायिका

को समझाती है—प्रेम ककड़ी के तन्तु के समान कुटिल होता है। अर्थात् ककड़ी की लतर में जैसे छोटे-छोटे तन्तु निकलते हैं और समीप के किसी आधार को पकड़ लेते हैं, जब उन्हें खींच कर कोई अलग हटाता है तो टूट जाते हैं। प्रेम भी ठीक इसी प्रकार का होता है। जो अपने सन्निहित होते हैं प्रेम उन्हीं के प्रति हो जाता है, फिर अगर किसी दूसरे में उस कर्कटिका-तन्तुसदृश प्रेम को ले जाने का प्रयत्न किया जाता है तब वह टूट ही जाता है। सखी के इस कथन का तात्पर्य यह है कि नायिका को प्रिय के प्रति अमर्ष का भाव नहीं रखना चाहिए। अगर वह अपने प्रिय का तिरस्कार करके अन्यत्र प्रेम करना चाहती है तो निश्चय ही उसका प्रेम टूट कर खण्ड-खण्ड हो जायगा, ठीक उस प्रकार जैसे बाल कर्कटी के कोमल-कुटिल तन्तु ॥ १० ॥

पाअपडिअस्स पइणो पुट्ठिं पुत्ते समारुहन्तम्मि।
दढमण्णुदुण्णिआएँ वि हासो घरिणीएँ णेक्कन्तो ॥ ११ ॥

[पादपतितस्य पत्युः पृष्ठं पुत्रे समारुहति।
दृढमन्युदूनाया अपि हासो गृहिण्या निष्क्रान्तः ॥]

कुपित गृह-स्वामिनी को मनाने के लिए पति पैरों पर गिर गया। पीछे से आकर उसका पुत्र उसकी पीठ पर चढ़ने लगा। पत्नी उस समय क्रोध के कारण बहुत अधिक कष्ट का अनुभव कर रही थी, फिर भी यह दृश्य देख कर वह अपनी हंसी किसी प्रकार सम्हाल न सकी।

विमर्श—किसी कारण घर की मालकिन (गेहिनी) रूठ गई। उसका रूठ जाना घर के समस्त कार्य-कलाप का ठप हो जाना है। पाद-पतन के अतिरिक्त उसके मान के अपनोदन का उपाय क्या हो सकता है? उसका पति (प्रिय नहीं) झुक कर पैर पड़ने लगा। इसी बीच उसका छोटा बालक पीछे से आकर अपने पिता की पीठ पर सवार होने का प्रयत्न करने लगा। पुत्रवती होने के कारण वह स्त्री 'गलितयौवना' हो गई थी (क्योंकि यौवन पुत्र हो जाने के बाद ढीला पड़ने लगता है, अङ्गों की वह कसावट नहीं रह जाती)। ऐसी स्थिति में भी पति का पैरों पड़कर मनावन करना व्यक्त करता है कि वह पत्नी के प्रति (चाहे दिखावटी रूप में ही) अनुरक्त है। इस प्रकार पत्नी 'स्वाधीन-पतिका' नायिका है। 'रसमञ्जरी' के अनुसार स्वाधीनपतिका का लक्षण है—'सदा साकूताज्ञाकरप्रियतमा स्वाधीनपतिका।' अर्थात् जिसका पति या प्रियतम अभिप्राय के अनुरूप आदेश-पालन में सदा तत्पर रहता है वह 'स्वाधीनपतिका नायिका' कहलाती है। प्रस्तुत गाथा की नायिका भी पति द्वारा पादपतित

होकर मनावन किए जाने के कारण स्वाधीनपतिका हुई। पति के पैर पड़ने का उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ, वह नरम न हुई ('प्रणामान्तो मानः' के अनुसार मान की स्थिति तब तक नायिका में रहती है जब तक प्रिय पैर पर गिर कर प्रणाम नहीं करता, फिर भी उसका सौभाग्यदर्प कम न हुआ)। ठीक इसी बीच उसका छोटा-सा बालक दौड़ा-दौड़ा आया और उस अवस्था में झुके हुए पिता की पीठ पर सवार होने लगा। पत्नी हंस पड़ी (अर्थात् उसका मान दूर हो गया)। अलंकारकौस्तुभकार श्री विश्वेश्वर पण्डित के अनुसार उसके मान के दूर होने का कारण-बालक की विलक्षण चेष्टा थी। टीकाकार गंगाधर का कहना है कि बालक को उस प्रकार पीठ पर चढ़ते हुए देखकर उसे विशेष प्रकार का एक रति-बन्ध याद आ गया, वह हंस पड़ी। 'समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः' इस लक्षण के अनुसार यहां समाधि नामक अलंकार है। दूसरे कारण के उपस्थित हो जाने से कार्य का सुकर हो जाना समाधि (अलंकार) होता है। प्रस्तुत गाथा में नायिका मानापनोदन का कार्य पादपतनके अतिरिक्त बालक के पृष्ठाधिरोहण रूप अन्यकारण से शीघ्र सम्पन्न हो गया है ॥ ११ ॥

सच्चं जाणइ दट्ठुं सरिसम्मि जणम्मि जुज्जए राओ।
मरउ ण तुमं भणिस्सं मरणं वि सलाहणिज्जं से ॥ १२ ॥

[सत्यं जानाति द्रष्टुं सदृशे जने युज्यते रागः।
म्रियतां न त्वां भणिष्यामि मरणमपि श्लाघनीयं तस्याः ॥]

मेरी सखी सत्य को देखकर समझ जाती है? (अर्थात् उस मुग्धा तथा प्रेमांधा को सत्यासत्य का कुछ भी विवेक नहीं)। सब प्रकार से जो जन सदृश या अनुरूप है उसमें अनुराग करना ठीक होता है (तुम तो बिलकुल प्रेम के पात्र-योग—नहीं हो—असदृश जन हो उसने तुममें प्रेम करके बड़ी ही गलती की)। वह यदि मर भी जाय तब भी (उसकी प्राण-रक्षा के लिए) तुमसे न कहूँगी—प्रार्थना न करूँगी। क्योंकि उसका मर जाना ही श्लाघनीय (प्रशंसा के योग्य) है (तुम-जैसे निष्ठुर में प्रेम करके जीने से कहीं अच्छा मर जाना है। तात्पर्य यह कि अगर तू उस विरहिणी के जीवन की रक्षा चाहता है तो उसे जाकर कृतार्थ कर, वह इस समय तेरे विरह में मर रही है)।

विमर्श—इस गाथा का सीधा अर्थ यह भी है कि वह (मेरी सखी) सत्य को देखना जानती है, अनुरूप जन में ही अनुराग ठीक होता है (तुम रूपाभिजनसम्पन्न होने के कारण सर्वथा उसके अनुरूप (सदृश) हो। अगर तुम्हारे प्रेम में मर भी जाती है तो मैं तुमसे कुछ न कहूँगी, क्योंकि उसका मर

जाना भी श्लाघनीय है (तुम जैसे सहृदजन का स्मरण करती हुई मर कर अगले जनम में तुम्हें प्राप्त ही करेगी)। भगवद्गीता का वचन है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः॥ ८।६,

अर्थात् 'हे अर्जुन, सदा जन्म भर उसी में रंगे रहने से मनुष्य जिस भाव का स्मरण करता हुआ अन्त में शरीर त्यागता है वह उसी भाव में जा मिलता है।' इस प्रमाण के अनुसार नायिका को अगले जन्म में नायक का संगम प्राप्त ही होगा। अतः दूती उसका मरना श्लाघनीय समझती है। ऊपर का अर्थ विपरीत लक्षणा द्वारा किया गया है। ताना मारते हुए दूती ने नायक के समक्ष अपना अभिप्राय व्यक्त किया। विरहकातर नायिका ने उसे नायक को अपनी दशा बताने के लिए भेजा था। जो दूती नायक-नायिका का अभिप्राय समझकर अपनी बुद्धि से ठीक-ठीक कार्य का सम्पादन करती है उसे निसृष्टार्था दूती कहते हैं। प्रकृत गाथा की दूती भी निसृष्टार्था जान पड़ती है क्योंकि नायिका ने केवल नायक को आकृष्ट करने के लिए उसे भेजा था। उसने नायक के समीप आकर खूब ताने दिए। दूती को विश्वास है कि ताने देने से उसका काम निकल जायगा, अर्थात् वह नायिका की ओर नायक को प्रवृत्त कर सकेगी। गालिब भी कहता है—

'निकाला चाहता है काम क्या तानों से तू' गालिब।
तेरे बेमेह्र कहने से वो तुम पर मेहरबां क्यों हों?' ॥ १२ ॥

घरिणीएँ महाणसकम्मलग्गमसिमलिइएण हत्थेण।
छित्तं मुहं हसिज्जइ चन्दावत्थं गअं पइणा ॥ १३ ॥

[गृहिण्या महानसकर्मलग्नमषीमलिनितेन हस्तेन।
स्पृष्टं मुखं हस्यते चन्द्रावस्थां गतं पत्या ॥]

रसोई घर के काम-काज में लगी हुई गृहिणी का कालिख लग जाने से मलिन हाथ के कारण उसका मुखड़ा स्पष्ट ही चंद्र की अवस्था को प्राप्त करता है। उसका पति उसे देखकर खूब हंसी करता है। (क्योंकि चंद्रमा से मुख की उपमा उस समय सटीक बैठ जाती है)।

विमर्श—पिता के घर से नई आई हुई वधूटी वस्त्रादि मलिन हो जाने के डर से रसोई घर के कामकाज में प्रवृत्त नहीं होती। उसे यह भी डर है कि उसका पति उसे मलिन देखकर कुपित होगा और उससे विमुख हो जायगा। इस गाथा में किसी सखी ने उसकी इस भ्रान्त धारणा को दूर करने का प्रयत्न किया है। सखी का कहना है कि महानसकर्म में संलग्न होने से निश्चय ही

हाथ में कालिख लग जाता है और जाने-अनजाने हाथ से लग कर कपड़े खराब हो जाते हैं और कभी-कभी तो मुंह में भी कालिमा लग जाती है। यह सोचना गलत है कि पति कालिख लगे मुंह को देखकर कुपित होते हैं, बल्कि मजाक करने का उनको एक अच्छा अवसर मिल जाता है और अपनी गृहकार्यरत प्रियतमा का मुख कलंकित देखकर परिहासगर्भित शब्दावली में चन्द्र के साथ उसकी तुलना करने लगते हैं। अतः 'भूषणं न तु दूषणं' के अनुसार ऐसा वैरूप्य एक अलंकार बन जाता है न कि वैमुख्य उत्पन्न करने वाला दोष ! ॥ १३ ॥

रन्धणकम्मणिउणिए मा जूरसु, रत्तपाडलसुअन्धं।
मुहमारुअं पिअन्तो धूमाइ सिही ण पज्जलइ ॥ १४ ॥
[रन्धकर्मनिपुणिके मा क्रुध्यस्व रक्तापाटलसुगन्धम्।
मुखमारुतं पिबन्धूमायते शिखी न प्रज्वलति ॥]

रसोई बनाने के कार्य में तू बड़ी चालाक है। (फिर भी अपने प्रयत्न को विफल होता हुआ देख कर अग्नि पर) तू क्रोध न कर। (फूंकने से) तेरे मुखकी निकली हुई हवा लाल पाटल के फूल की सुगन्ध से भरी है। यह अग्नि उसे पान कर रहा है और धुवां ही उगलता है, प्रज्वलित नहीं होता (क्योंकि प्रज्वलित हो जाने पर तेरे मुख की खुशबूदार हवा उसे नसीब न होगी)।

विमर्श—कामुक नायक आग जोरती हुई नायिका से अपना अभिलषित अग्नि के माध्यम से व्यक्त करते हुए कहता है। नायक उस समय नायिका के सामने पहुँचा है जब वह रन्धनकर्म में संलग्न है। उस व्यस्तता में नायिका ने उसके आगमन का अभिनन्दन तक न किया। 'रन्धनकर्मनिपुणिके' इस संबोधन में नायिका के प्रति नायक की झुंझलाहट-सी व्यक्त होती है। वह कहता है कि तू सिर्फ रन्धनकर्म में ही निपुण है और में नहीं। फिर भी अग्नि के माध्यम से वह अपना अभिलषित व्यक्त करता है कि जो अग्नि नहीं जल रहा है उसका कारण है। तू व्यर्थ ही उस पर कुपित हो रही है। तेरी सांसों में रक्तपाटला की सुगंध है, क्योंकि तेरा अधर रक्तपाटला पुष्प के समान है। अग्नि प्रज्वलित होकर उस सुगन्धि से वंचित होना नहीं चाहता है। तात्पर्य यह कि मैं तेरे मुख-मारुत के पान की इच्छा से अग्नि की भाँति धूमायित हो रहा हूँ। मेरी अभिलाषाएं धूम जैसे उठ रही हैं और विलीन हो रही हैं। मुझमें और अग्नि में अन्तर सिर्फ यही है कि वह तेरे रक्तपाटलसुगन्ध मुखमारुत को पी रहा है और मैं उससे वंचित हूँ, वह धूमायित है और मैं प्रज्वलित हूँ। महाराज भोज ने इस

गाथा को वैषयिक रतियों में गन्धरति के रूप में उद्धृत किया है ॥ १४ ॥

किं किं दे पडिहासइ सहीहिँ इअ पुच्छिआएँ मुद्धाए।
पढमुग्गअदोहणीएँ णवरं दइअं गआ दिट्ठी ॥ १५ ॥
[किं किं ते प्रतिभासते सखीभिरिति पृष्टाया मुग्धायाः।
प्रथमोद्गतदोहदिन्याः केवलं दयितं गता दृष्टिः ॥]

सखियों ने मुग्धा नायिका, जिसके गर्भ-चिह्न का उदय पहले-पहले हुआ था, से पूछा कि तुझे क्या-क्या रुचता है ? सखियों के यह पूछने पर उसकी दृष्टि केवल प्रिय की ओर पड़ी।

विमर्श—मुग्धा होने के कारण नायिका गर्भजनित अभ्यास को बिलकुल नहीं जानती है। क्योंकि उसका यौवन अभी-अभी अंकुरित हुआ है। प्रिय का समागम प्राप्त करने पर उसे प्रथम बार दोहद होता है। उसे क्या मालूम कि क्या हुआ जा रहा है ? 'दोहद' गर्भवती होने के कारण उत्पन्न होने वाली विशेष वस्तु के प्रति इच्छा को कहते हैं। सखियां गर्भ के परिचायक 'दोहद' की बराबर प्रतीक्षा में रहती हैं। पर इस मुग्धा को इसका कुछ भी पता नहीं। जब सखियों ने उसकी इच्छा को पूछा तो वह केवल अपने प्रिय पति की ओर ताकने लगी। सम्भवतः उसने यह व्यक्त करना चाहा कि मुझे प्रिय के अतिरिक्त कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती, सिर्फ वही मेरा अभिलषित है। मैं उसके सिवा कुछ नहीं चाहती। या दूसरी व्यञ्जना यह हो सकती है कि मुझे नहीं मालूम कि मुझे क्या चाहिए, मेरी अभिलाषा को प्रिय ही जानता है, वही बता सकेगा। तुम उसीसे पूछ लो कि मुझे कौन सी चीज अच्छी लगती है। तीसरी व्यंजना सपत्नियों को लक्षित करके यह हो सकती है कि यह प्रश्न सपत्नियों के सामने उचित है, मुझे तो केवल मेरा प्रिय चाहिए, अन्य वस्तु की अभिलाषा मैं नहीं करती। इस प्रकार मुग्धा ने अपने प्रिय पर दृष्टिपात करते हुए अपनी इच्छा को व्यक्त किया। 'रघुवंश' के तृतीय सर्ग में सुदक्षिणा के शरीर में दौहृदलक्षण का उदय हुआ तब राजा दिलीप सखियों से बार-बार पूछते रहते थे कि सुदक्षिणा क्या-क्या चाहती है ? 'उत्तर रामचरित' के प्रथम अंक में अष्टावक्र कठोरगर्भा सीता के सम्बन्ध में अरुन्धती आदि का संदेश देते हुए राम से कहते हैं—यः कश्चिद् गर्भदौहृदोदयो भवत्यस्याः सोऽवश्यमचिरान्मानयितव्य इति। अर्थात् गर्भ के कारण जो कोई दौहद या अभिलाष उत्पन्न हो उसे अवश्य पूर्ण करना चाहिए। उपर्युक्त गाथा का 'दोहद' शब्द दौहद का ही प्राकृत रूप है। दोनों का प्रयोग प्रायः गर्भचिह्न के अर्थ में हुआ है ॥ १५ ॥

अमअमअ गअणसेहर रअणीमुहतिलअ चन्द दे छिवसु ।
छित्तो जेहिँ पिअअमो ममं पि तेहिं विअ करेहिं ॥ १६ ॥

[अमृतमय गगनशेखर रजनीमुखतिलक चन्द्र हे स्पृश ।
स्पृष्टो यैः प्रियतमो मामपि तैरेव करैः ॥]

हे चन्द्र, तू अमृतमय है (अर्थात् तेरी किरणें अमृत की हैं), तू आकाश का मुकुट है, तू रजनीरूपी नायिका के मुख का तिलक है । तुझसे मेरी प्रार्थना है कि जिन किरणों (या हाथों) से तूने मेरे प्रियतम का स्पर्श किया है, उन्हीं से मेरा भी स्पर्श कर ।

विमर्श—नायिका का प्रियतम परदेश चला गया है, अतः वह प्रोषितपतिका की अवस्था में है । आकाश में उदित चन्द्र को देखकर उसका विरहतप्त हृदय प्रिय-मिलन के लिए अधिक उद्विग्न हो उठा है । वह कामार्त होकर चन्द्र से प्रार्थना करती है कि वह अपनी जिन अमृत किरणों से प्रियतम का स्पर्श करता है उसी से उसका भी स्पर्श करे । क्योंकि वह अमृतमय होने से जगत् का जीवनहेतु है । उसकी शिशिर किरणें सबको सुख पहुँचाती हैं । वह आकाश का मुकुट है, सब लोग उसे देखकर आनन्दित हो जाते हैं और वह रजनी के मुख का तिलक है, तात्पर्य यह कि अबलाओं के प्रति उसका पक्षपात है । अतः उस नायिका को यह दृढ़ निश्चय है कि जिन किरणों या करों से वह प्रियतम का स्पर्श करके उन्हें सुखी करता है उन्हीं से मुझे भी छूकर आनन्दित करेगा । यद्यपि चन्द्र की किरणें उसपर इस समय भी पड़ रही हैं तथापि वह उनके स्पर्श से दाह का अनुभव कर रही है । उसके प्रियतम को वे किरणें आनन्द देती हैं तभी तो वह लौटकर नहीं आता ? यदि यह चन्द्र उन्हीं किरणों से नायिका का भी स्पर्श करता तो फिर क्या बात थी । अचेतन चन्द्र के प्रति इस प्रकार किरण द्वारा स्पर्श करने की बात करनेवाली नायिका स्पष्ट ही कामार्त की स्थिति में प्रलाप कर रही है । 'मेघदूत' का यक्ष भी तो यही था । कालिदास कहते हैं—'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ।' अर्थात् काम की वेदना से पीड़ित व्यक्ति चेतन और अचेतन का भेद बिलकुल भूल जाता है । संबोधन के रूप में दिए गए चन्द्र के विशेषणों के साभिप्राय होने के कारण इस गाथा में 'परिकर' अलंकार है ॥ १६ ॥

एहिइ सो वि पउत्थो अहं अ कुप्पेज्ज सो वि अणुणेज्ज ।
इअ कस्स वि फलइ मणोरहाणँ माला पिअअमम्मि ॥ १७ ॥

[एष्यति सोऽपि प्रोषितोऽहं च कुपिष्यामि सोऽप्यनुनेष्यति ।
इति कस्या अपि फलति मनोरथानां माला प्रियतमे ॥]

'परदेश गया हुआ प्रिय आएगा, तब मैं मान करूंगी और फिर वह मेरा मनावन करेगा।' हे सखि, इस प्रकार के मनोरथों की माला किसी धन्या ही के भाग में फलवती होती है।

विमर्श—प्रिय मिलन के लिए उत्कंठित नायिका को सखी ने समझाते हुए कहा कि—'तेरा प्रियतम आज या कल आने ही वाला है। उस निर्दय को आते ही तू उसको आलिङ्गन करने के लिए उतावली न हो जाना, बल्कि मान कर बैठना—कुपित हो जाना तथा उलाहना देना। पूछना उससे कि वह क्यों प्रवास पर चला जाता है और तुझे तड़पाता रहता है? भला कहिए यह अन्याय कब तक सहा जा सकेगा? तब वह तेरा मनावन करेगा, पैरों पड़ेगा। तू अपना मान तभी छोड़ना जब वह यह स्वीकार कर ले कि अब से वह प्रवास पर नहीं जायगा। जब वह अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए शपथ खाने लगे तब तू उसे आलिङ्गन आदि द्वारा अनुगृहीत करना।' पर नायिका तो अत्यन्त उत्कण्ठित हो रही है, यह सम्भव कैसे है कि नायक के आने पर वह मान कर बैठे। इसमें उतनी धीरज कहां? वह अपनी सखी से कहती है मेरे भाग्य में मान है ही नहीं। वे धन्य हैं जो मान करने का व्रत लेती हैं और उन्हें प्रियतम के मनावन का आनन्द प्राप्त होता है। मैं तो उसे देखते ही बिलकुल विगलित हा जाती हूँ। हे सखी, तेरे उपदेश पर चलना मुझ अभागिन के लिए सम्भव नहीं। टीकाकार गंगाधर के अनुसार उत्कण्ठिता नायिका पूर्वार्ध की बातों को मनोरथमात्र समझती है। उन्हें प्रयोग में लाना उसके लिए सम्भव नहीं। 'अमरुकशतक' को एक नायिका भी सखियों द्वारा मान की शिक्षा प्राप्त करने पर भी नायक-समागम के अवसर पर अपनी असफलता व्यक्त करती है। उस नायिका में कम से कम इतना धीरज तो अवश्य रहा कि उसने प्रिय के सामने कुछ अंश में मानाभिनय किया, फिर अन्त में वह अपने कञ्चुक में शतधा सन्धियों के हो जाने के कारण अपने मान से च्युत हो जाती है—सख्यः किंकरवाणि यान्ति शतधा यत्कञ्चुके सन्धयः। प्रस्तुत गाथा की नायिका में तो उतना भी धीरज नहीं। वह मानग्रह को मनोरथ-मात्र समझती है, उसके लिए वह प्रयोग की वस्तु नहीं॥ १७॥

दुग्गअकुडुम्बअड्ढी कहँ णु मए धोइएण सोढव्वा।
दसिओसरन्तसलिलेण उअह रुण्णं व पडएण॥ १८॥

[दुर्गतकुटुम्बाकृष्टिः कथं नु मया धौतेन सोढव्या।
दशापसरत्सलिलेन पश्यत रुदितमिव पटकेन॥]

'दरिद्र परिवार की खींचातानी को धौत (धुला हुआ) होकर मैं कैसे सहन कर सकता हूँ।' यह कहकर मानों वस्त्र कोर से टपकते हुए जल के व्याज से आंसू बहाने लगा, देखो।

विमर्श—किसी मित्र ने नायक से पूछा—'इतना दुर्बल क्यों हो?' तब नायिका ने उसकी दुर्बलता का कारण बहुत महिलाओं की ओर उसके आकर्षण को बताते हुए ईर्ष्या और उपालम्भ के भावों से मिश्रित उक्ति में अन्यापदेश द्वारा गाथा में उसे सूचित किया। अन्यापदेश का तात्पर्य यह है कि जब अचेतन वस्त्र भी खींचातानी का कष्ट नहीं सहन कर सका, जिससे टपकते हुए पानी के बहाने रोने लगा तो यह विदग्ध नायक अनेक महिलाओं की ओर खींचातानी या आकर्षण से क्यों नहीं खिन्न होगा! दरिद्र के घर वस्त्र की कमी के कारण एक ही वस्त्र में कई लोग ओढ़कर गुजारा करते हैं। सोते समय एक-दूसरे अपनी ओर ओढ़न को खींचते रहते हैं। इसी प्रकार इस नायक की भी दुरवस्था अनेक महिलाओं की इच्छा-पूर्ति करते-करते हो गई है। इस गाथा की दूसरी अवतरणिका यह भी सम्भव है कि कोई वेश्या धन खर्च न करनेवाले दरिद्र ग्रामीणों की खींचातानी से क्षुब्ध होकर अपनी समय-मातृका कुट्टनी से पट की बात प्रस्तुत करते हुए अपना दुखड़ा बयान करती है। श्री दामोदर गुप्त के 'कुट्टनीमत' में भी एक ऐसा अवसर आया है, जब वेश्या ने अपनी सहेली से नगर-प्रधान के द्वारा किए गए अन्याय को सूचित करते हुए कहा—

'प्रियसखि लोकसमक्षं नगरप्रभुणा हठेन नीताऽस्मि।
एवं तु नो कदाचिद् विगुणार्थ-प्रार्थने कृतो न्यायः॥'

टीकाकार मञ्जुनाथ जी का कथन है कि असल में नीतिसूक्तिरत्न के रूप में बहुत ऐसे पद्य हाल ने इस 'कोष' में संगृहीत किया है। परन्तु हाल के टीकाकारों ने 'अमृतं प्राकृतकाव्यं' इस प्रतिज्ञा-गाथा को देखकर प्राकृत गाथाओं के श्रृङ्गारपरक ही अर्थ किए हैं। काम-शास्त्र के रहस्य का प्रतिपादन बिना 'श्रृंगार' के सम्भव नहीं ॥ १८ ॥

कोसम्बकिसलअवण्णअ-तण्णअ उण्णामिएहिँ कण्णेहिं।
हिअअट्ठिअं घरं वच्चमाण धवलत्तणं पाव ॥ १९ ॥

[कोशाम्रकिसलयवर्णक-तर्णक उन्नामिताभ्यां कर्णाभ्याम्।
हृदयस्थितं गृहं व्रजन्धवलत्वं प्राप्नुहि ॥]

कोंपल से फूटकर निकले हुए आम्र-पल्लव के समान वर्णवाले तथा उत्कण्ठावश खड़े-खड़े कानोंवाले अरे बालक, जो घर मेरे हृदय में स्थित है

अर्थात् प्रियतमा के जिस घर में मैं प्रवेश पाना चाहता हूँ, तू अभी उस घर में बेरोक-टोक घुस रहा है। तुझे आशीर्वाद देता हूं कि तू धवलता को प्राप्त कर (अर्थात् बूढ़ा या श्रेष्ठ हो, अथवा जीता रह)।

विमर्श—नायक किसी प्रकार अपनी प्रियतमा के घर में प्रवेश करने में असमर्थ है, वह अत्यन्त परवशता की स्थिति में है। वह नायिका से ऐसी दशा में भी मिलने के लिए अत्यन्त उत्सुक है, पर क्या करे ? उसी समय कोई नन्हा-सा बालक उसके सामने ही उसकी प्रियतमा के घर में प्रवेश करने लगा। वह बालक के सौभाग्य को देखकर विह्वल हो गया। उसने उसे धवलता प्राप्त करने का आशीर्वाद दिया। प्रायः लोग आशीर्वाद देते हुए कहते हैं—'जीता रह, बाल सफेद हों, आदि। नायक ने बालक को भी धवलता प्राप्त करने के लिए कहा। उसका तात्पर्य यही है कि वह बहुत दिनों तक जीवित रहे, उसके बाल सफेद हों। अथवा नायक ने बालक को अकस्मात् उसी अवसर पर नायिका के घर में प्रवेश करते हुए देखा जब कि एकान्त पाकर वह स्वयं वहां प्रवेश करना चाहता था, क्रुद्ध होकर बालक को धवलता प्राप्त करने अर्थात् नपुंसक हो जाने के लिए शाप देता है। तीसरी अवतरणिका यह भी है कि कोई नायिका अपने नायक को जो उसे छोड़कर किसी बुढ़िया की कामना करते हुए पकड़ में आ गया, क्रुद्ध होकर कहती है कि जो तू उस बुढ़िया को चाहने लगा है, क्या तुझे नहीं मालूम कि तू उसके सामने लड़का है ? अगर वही तुझे पसन्द है तो धवलता को प्राप्त कर ले ॥ १९ ॥

अलिअपसुत्तअ विणिमीलिअच्छ दे सुहअ मज्झ ओआसं।
गण्डपरिउम्बणापुलइअङ्ग ण पुणो चिराइस्सं ॥ २० ॥

[अलीकप्रसुप्तक विनिमीलिताक्ष हे सुभग ममावकाशम्।
गण्डपरिचुम्बनापुलकिताङ्ग न पुनश्चिरयिष्यामि ॥]

कपोल पर चुम्बन करते ही रोमांच से भरते-हुए तुम्हारे अङ्ग-अङ्ग को देखकर मैं समझ गई कि तुम झूठ-मूठ के आँखें झेंप कर बीच पलंग पर पड़ गए हो—जैसे सो ही रहे हो। हटो, मुझे भी जगह दो। अब देर न करूँगी।

विमर्श—नायक के प्रति नायिका की उक्ति। रात में नायक नायिका के आगमन की प्रतीक्षा देर तक करता रहा। वह घर के कार्य अथवा किसी अन्य कारण से बहुत विलम्ब के बाद पहुंची। नायक ने जब देखा कि वह पहुँच रही है तब इस प्रकार आंखें मूँद कर बीच शय्या पर पड़ गया मानों गाढ़ी नींद ले रहा हो। नायिका को भ्रम हो गया कि सचमुच सो गया है। वह प्रीतिवश प्रियतम के कपोल का चुम्बन लेने लगी। इतने में ही क्या देखती है कि उसके

शरीर के रोंगटे खड़े हो रहे हैं। अब उसके समझने में देर न लगी कि वह कृत्रिम निद्रा का अभिनय कर रहा है। उसने अलीकनिद्रित अपने प्रियतम से उसकी बनावटी नींद को लेकर मजाक करते हुए शय्या पर अपने लिये स्थान की प्रार्थना की और कहा कि फिर देर न करूँगी। नायिका के मन के भाव की जिज्ञासा से नायक ने कृत्रिम निद्रा का अभिनय किया था। अब बात स्पष्ट हो गई कि नायिका के विलम्ब का कारण घर की कार्य-व्यस्तता-मात्र थी, मान आदि नहीं। नायक के प्रति नायिका का अविकल अनुराग इस गाथा में अभिलक्षित होता है। एक टीकाकार का कहना है कि उपपति या जार के प्रति यह नायिका की उक्ति है। वह कहती है—'तेरे हृदय में जाने कितनी महिलाएं निवास करती हैं, मुझे खूब पता है। थोड़ा स्थान मुझे भी दे।' नायक द्वारा कृत्रिम स्वाप का अभिनय एवं नायिका द्वारा प्रेमवश किए गए उसके कपोल के चुम्बन का प्रसङ्ग 'अमरुक' के एक प्रसिद्ध पद्य में भी मिलता है (अम० श० ७७) नायिका मध्या है, क्योंकि वह नायक की निद्रावस्था में उसके कपोल का चुम्बन करती है और उसके रोमांच से लज्जित हो जाती है (समानलज्जा-मदना-मध्या—रसमंजरी) ॥ २० ॥

असमत्तमण्डणा व्विअ वच्च घरं से सकोउहल्लस्स ।
वोलाविअहल्लहल्लअस्स पुत्ति चित्ते ण लग्गिहिसि ॥ २१ ॥

[असमाप्तमण्डनैव व्रज गृहं तस्य सकौतूहलस्य ।
व्यतिक्रान्तौत्सुक्यस्य पुत्रि चित्ते न लगिष्यसि ॥]

हे पुत्रि, (बड़ी उत्सुकता से प्रिय तेरी प्रतीक्षा कर रहा है) अपना-सिंगार-पटार पूरा किए बिना ही उसके घर शीघ्र उसे जाना चाहिए। अगर विलम्ब करती है तो उसकी उत्सुकता (कौतूहल) समाप्त हो जायगी और तू किसी प्रकार भी उसके चित्त में घर नहीं कर सकेगी।

विमर्श—वेश्या के प्रति वेश्या-माता कुट्टनी की उक्ति। अपनी पुत्री को उपदेश देती हुई कुट्टनी ने कहा 'तेरे प्रिय का मित्र अभी-अभी उसका संदेश लाया है कि वह तेरे लिए इस समय बहुत बेचैन है। तुझे शीघ्र ही उसके समीप जाना चाहिए। साज-सिंगार में व्यर्थ समय लगाकर देर से पहुँचेगी तो उसकी उत्सुकता शायद न रहे, फिर तेरा जाना व्यर्थ होगा, क्योंकि वेश्या में अनुराग बड़ी उत्सुकता की अवस्था में ही होता है। उत्सुकता के शिथिल होते ही कामुक वेश्याओं की उपेक्षा करने लग जाते हैं।' इस प्रकार कुट्टनी ने अपना अनुभव बताया। उसने अपने जीवन में बहुत अनुभव किया है कि कामुक वेश्याओं के हाथ कैसी स्थिति में लगते हैं। प्रत्येक वेश्या को इसका अनुभव रखना

चाहिए। 'कुट्टनीमत' में श्री दामोदर गुप्त ने मालती नामक वेश्या को कुट्टनी विकराला द्वारा दिए गए इसी प्रकार के उपदेशों को कथा के रूप में विस्तार से उल्लेख किया है। कुट्टनी ने वेश्या से सिंगार में विलम्ब न करने के लिए कहा, इससे यह भी व्यक्त होता है कि उस समय कोई वेश्या कामुक भुजंग भीतर वेश्या के साथ बैठा था। कुट्टनी ने उसको छिपाते हुए विलम्ब का दूसरा कारण नायक का सन्देश लेकर आए हुए उसके सुहृद को सुनाते हुए कहा। तात्पर्य यह कि किसी अन्य कारण से उसके वहाँ पहुँचने में विलम्ब नहीं हो रहा है, बल्कि वह (वेश्या) सिंगार नहीं कर सकी है, इसीलिये वहां पहुँचने में विलम्ब कर रही है। अगर यह बात व्यक्त हो जाती कि वेश्या के समीप कोई दूसरा कामुक है इसीलिए वह देर लगा रही है तो कामुक नायक का सुहृद झट उसका प्रेम नायक पर कम समझ कर उसका परित्याग कर देता ॥ २१ ॥

आअरपणामिओट्ठं अघडिअणासं असंहअणिडालं।
वण्णघिअतुप्पमुहिए तीए परिउम्बणं भरिमो ॥ २२ ॥

[आदरप्रणामितौष्ठमघटितनासमसंहतललाटम् ।
वर्णघृतलिप्तमुख्यास्तस्याः परिचुम्बनं स्मरामः ॥]

(रजस्वला होने की स्थिति में) वर्णघृत (हरिद्रामिश्रित घृत) से लिप्त मुखवाली उस प्रेयसी के परितः चुम्बन का हम स्मरण करते हैं जिसमें उसने आदर से अपना ओठ स्वयं झुका दिया (क्योंकि मैं उस अवस्था में भी अनुरागातिशय के कारण उसका त्याग नहीं कर सका था) और नासिका एवं ललाट के भाग को इसलिए नहीं मिलाया कि उसके मुँह में लगा हुआ वर्णघृत मेरे मुंह में लगकर उसके चुम्बन को (जो रजस्वला की स्थिति में निषिद्ध है) सूचित कर देगा।

विमर्श—किसी नागरिक नायक की अपने मित्र के प्रति उक्ति। नागरिक अपनी कामुकतातिशय का वर्णन उस समय अपने मित्र को सुनाता है जब अनेक नवेलियां उसके इधर-उधर बैठी सुन रही हैं। नायक अपनी प्रियतमा के उस चुम्बन का स्मरण कर रहा है जिसे रजस्वला की अवस्था में किया था। वर्णघृत या हरिद्रा मिश्रित घृत का मुख में लेपन प्राचीनकाल में कहीं-कहीं रजस्वला होने पर स्त्रियां करती थीं। यह एक दैशिक प्रथा थी। चुम्बन करते समय नायिका के नासिका एवं ललाट का स्पर्श होना स्वाभाविक है। पर चतुर नायक, जब कि नायिका रजस्वला होने के कारण वर्णघृतलिप्तमुखी हो चुकी है तब उसके मुख का चुम्बन ऐसी कुशलता से कर लेता है कि उसके मुख में

लिप्त वर्णघृत के दाग उसके मुख में नहीं लग पाते हैं। अन्यथा उसके मुखपर वर्णघृत का चिह्न देखकर लोग रजस्वला के चुम्बन या स्पर्श का कलंक उसपर लगाते और उसकी अमर्यादित कामुकता की खिल्ली उड़ाने लगते। आश्चर्य तो इसमें है कि नायक ने ऐसी अवस्था में भी स्पर्शमात्र-रूप चुम्बन नहीं किया, बल्कि उसने पूर्ण रूप से (परितः) चुम्बन किया। इससे उसकी कुशलता और भी व्यञ्जित होती है। नायक के द्वारा पुष्पवती नायिका के वर्णघृतलिप्त मुख का अघटित नाक और असंहत ललाट परिचुम्बन और भी विलक्षण तब प्रतीत हुआ जबकि नायिका ने भी अपने अधर पुट को आदर से झुका कर दिया, जिससे यह प्रतीत होता है कि नायिका स्वयं अपनी इच्छा व्यक्त कर रही है कि नायक उसके मुख का चुम्बन अनुकूलता के साथ ले सके। रजस्वला की अवस्था में भी नायक उसका त्याग नहीं करता यह जानकर नायक के प्रति उसके मन में आदर का भाव जागरित होना स्वाभाविक भी है। इस गाथा की दूसरी अवतारणा यह भी है कि कोई प्रोषित अर्थात् परदेश गया हुआ नायक नायिका के अनुरागातिशयसूचक आलिङ्गन का स्मरण करके मन को बहला रहा है। गाथा के 'परिउम्बणं' की छाया 'परिरम्भणं' भी सम्भव है। वात्स्यायन के अनुसार नायक द्वारा किया गया यह आलिङ्गन 'स्पृष्टक' के लक्षण के अन्तर्गत आ जाता है—'सम्मुखागतायां' प्रयोज्याया मन्यापदेशेन गच्छतो गात्रेण गात्रस्य स्पर्शनं स्पृष्टकम् । (साम्प्रयोगिकमधिकरणम् अध्याय २) ॥ २२ ॥

अण्णासआइँ देन्ती तह सुरए हरिसविअसिअकवोला ।
गोसे वि ओणअमुही अह सेत्ति पिआं ण सद्दहिमो ॥ २३ ॥

[आज्ञाशतानि ददती तथा सुरते हर्षविकसितकपोला ।
प्रातरप्यवनतमुखी इयं सेति प्रियां न श्रद्दध्मः ॥]

सुरत के अवसर में हर्ष से उसके कपोल खिल जाते हैं, वह तरह-तरह की सैकड़ों आज्ञाएं देने लगती है (कि मेरे अधर को पकड़, नितम्ब, मुख और बालों को मसल आदि)। वही प्रियतमा प्रातःकाल अपना मुंह इस प्रकार लटका लेती है (जैसे उसे कुछ भी मालूम ही नहीं) कि मुझे तत्काल विश्वास नहीं होता कि यह वही (रातवाली) प्रियतमा है।

विमर्श—नायक की उक्ति मित्र के प्रति। भारतीय संस्कृति की मर्यादा के अनुसार पति-परायण वृत्ति का पालन करना प्रत्येक भारतीय नारी का धर्म है। इसलिए अपने पति की आज्ञाओं का पालन करने में ही भारतीय नारी अपना जन्म सफल मानती है। पति की सहचरी होते हुए भी वह सदा उसकी

अनुचरी या दासी होकर अपना सात्त्विक जीवन यापन करके धन्य होती है। कालिदास ने भारतीय नारी के समय-समय पर बदलते हुए आदर्श-रूपों को इस प्रकार कहा है—'गृहिणी सचिवः सखीमिथः प्रिय शिष्या ललिते कला-विधौ।' ऐसी भारतीय नारी सुरत के अवसर में कुछ भिन्न-सी हो जाती है। वह अपने आदरणीय पतिदेव को सैकड़ों आज्ञाओं के पालन में प्रवृत्त कर देती है और उन्हें उस प्रकार उसकी आज्ञाओं के पालन में तल्लीन देखकर अत्यन्त प्रसन्न होती है। प्रस्तुत गाथा में नायक ने अपनी पतिव्रता पत्नी की प्रशंसा करते हुए अपने मित्र से उसके परस्पर विरोधी द्वैविध्य-पूर्ण कार्य को सूचित किया कि जब सुरत का अवसर आता है तो उसके कपोल एक प्रकार के अनिर्वचनीय हर्ष से खिल जाते हैं और वह एक-पर-एक 'यह करो' 'यह करो' इस प्रकार सैकड़ों आज्ञाएं दे डालती है। प्रातःकाल वही इस प्रकार मेरे सामने मुंह झुकाए रहती है कि मैं क्षणभर के लिए भ्रम में पड़ जाता हूँ और सोचने लगता हूँ कि क्या यह वही है जो रात में मुझे परेशान कर चुकी थी? महाकवि माघ ने इसी को 'वैयात्यं सुरतेष्विव' अर्थात् 'सुरत के समय नारी की शोभा लज्जा से नहीं, बल्कि धृष्टता से होती है' कहा है॥ २३॥

पिअविरहो अप्पिअदंसणं अ गरुआइँ दो वि दुक्खाइं।
जीएँ तुमं कारिज्जसि तीएँ णमो आहि जाईएँ॥ २४॥

[प्रियविरहोऽप्रियदर्शनं च गुरुके द्वे अपि दुःखे।
यया त्वं कार्यसे तस्यै नम आभिजात्यै॥]

(मेरे ऋतुस्नान के अवसर पर यहां जो तुम आये हो यह तुम्हारे लिए बहुत दुःखद अवसर है, क्योंकि) प्रियजन का विरह और जो अपना प्रिय न हो उसका दर्शन दोनों ही भारी कष्ट देते हैं (अर्थात् यहां तुम्हारे आने से तुम्हारी प्रियतमा जिसे छोड़कर तुम पधारे हो उससे तुम्हारा विरह हुआ और मैं जो तुम्हारी प्रिया नहीं हूं तुम्हें देख पड़ी इन दोनों कारणों से तुम्हें बहुत कष्ट हुआ। क्योंकि यह सामान्य बात है कि प्रिय-विरह और अप्रिय दर्शन दोनों कष्टप्रद होते हैं) फिर भी मैं तुम्हारी उस कुलीनता को प्रणाम करती हूँ जिसने तुम्हें इस कष्ट का अनुभव करने के लिए विवश किया।

विमर्श—नायक के प्रति नायिका की उक्ति। नायक अपनी नवागतकुलीन नववधू को छोड़कर अन्यानुरक्त है, अपनी प्रेयसी को छोड़कर इसके समीप आना पसन्द नहीं करता। जब नायिका ऋतुस्नान से निवृत्त हुई तब नायक उसके समीप शास्त्र और गुरुजन की मर्यादा के भङ्ग होने के भय से पहुँचता है। नायिका ने ऐसे स्नेहशून्य -छली नायक को उसकी कुलीनता (आभिजात्य)

के नमस्कार के व्याज से उपालम्भ देते हुए कहा कि तुम्हारी उस कुलीनता को शत-शत प्रणाम है जो तुम्हें प्रियविरह और अप्रिय-दर्शन जैसे भारी (गुरुक) दुःख का अनुभव करने के लिए विवश कर सकी। सचमुच इससे बढ़कर दूसरा दुःख कौन होगा जब अपने प्रिय से विरह हो और अप्रिय का दर्शन हो। अगर यह तुम्हें प्रेरित नहीं करती तो निश्चय ही तुम यहां न आते। तुमने देखा कि अगर मैं इस अवसर पर नहीं जाता हूँ तो घर के लोग मुझसे नाराज हो जाते हैं, उनकी बात उठाना ठीक नहीं और साथ ही साथ धर्म की मर्यादा का भी उल्लंघन होता है। धर्म का कहना है कि ऋतुस्नान के अवसर पर पति अगर अपनी धर्मपत्नी का अभिगमन नहीं करता तो वह पाप का भागी होता है। यही कारण है तुम मेरे पास आए। मेरे प्रति तुम्हारे स्नेह ने तुम्हें यहां आने के लिए प्रेरित किया यह तो बिलकुल असम्भव बात है। यह तो तुमने एकमात्र शिष्टाचार का पालन ही किया है। इसी में तुम्हारी कुलीनता का आभास मिलता है। प्रणाम है ऐसी तुम्हारी कुलीनता को ! ॥ २४ ॥

एक्को वि कह्णसारो ण देइ गन्तुं पआहिणवलन्तो ।
किं उण बाहाउलिअं लोअणजुअलं पिअअमाए ॥ २५ ॥

[एकोऽपि कृष्णसारो न ददाति गन्तुं प्रदक्षिणं वलन् ।
किं पुनर्बाष्पाकुलितं लोचनयुगलं प्रियतमायाः ॥]

यात्रा के अवसर पर एक भी कृष्णसार मृग 'अगर दाहिनी ओर से बाईं ओर चलकर रास्ता काट देता है तो यात्रा भङ्ग हो जाती है। जब कि प्रवास के अवसर पर प्रिय घर से प्रस्थान करने लगता है उसी समय प्रियतमा की वास्पाकुलित दो-दो (कृष्णसार-सदृश) आंखें (दाएं–वाएं) चलने लगती हैं तो फिर क्यों नहीं उसकी यात्रा भङ्ग हुई, समझी जाय ?

विमर्श—किसी के यह पूछने पर कि नायक प्रवास के लिए बिलकुल तैयार होकर भी क्यों नहीं गया ? नायक के वयस्य की परिहास-गर्भित उक्ति। नायक क्योंकर प्रवास करता, जब कि यात्रा ही भङ्ग हो गई। यात्राकाल में कृष्णसार मृग को देख लेने पर यात्रा विफल समझी जाती थी। यह एक प्रकार की सामाजिक धारणा थी। कृष्णसारों का इधर-उधर मंडराना दुर्निमित्त या अपशकुन समझा जाता था। हर्षचरित में भी इसका संकेत मिलता है— 'अविप्रकृष्टाः कालदूतदृष्टय इवेतस्ततश्चेरुश्चटुलाः कृष्णसारश्रेणयः।' (षष्ठ उच्छ्वास) अर्थात् यमराज के दूतों की दृष्टि के समान काले-काले चंचल हिरन कुछ ही दूर पर चौकड़ी भरने लगे। इस गाथा में भी इसी सामाजिक विश्वास

की सूचना मिलती है। प्रस्तुत में परिहास करते हुए नायक के वयस्य ने कहा कि एक कृष्णसार मृग दाहिनी से बाईं ओर चला जाता है तो यात्रा विफल समझी जाती है। जब नायक प्रस्थान करने लगा तभी नायिका की दो-दो कृष्णसार-सदृश आंखें बाष्प से तरबतर होकर चञ्चल हो उठीं तो वह कैसे प्रस्थान करता ? फलतः उसे अपनी यात्रा स्थगित कर देनी पड़ी। यों तो यहां नायिका के बाष्प से आकुल आंखें नायक के विरहजन्य दुःख की तत्काल कल्पना करके चञ्चल हो उठीं और नायक अपनी प्रियतमा को दुःखी देखकर रुक गया लेकिन वयस्य नायक के प्रस्थान के बाधित हो जाने का कृष्णसार मृग के दर्शन रूप दूसरा ही कारण परिहास के रूप में उपस्थित करता है। यहां प्राकृत, 'वाहाउलिअं' का नेत्र के पक्ष में संस्कृत छाया 'बाष्पाकुलितं' और मृग के पक्ष में 'व्याधाकुलितं' समझनी चाहिए। प्रियतमा का स्नेह जो स्पष्टरूप में प्रवास का बाधक था उसे न कहकर कृष्णसार-चलन को बाधक रूप में उपस्थित करने से यहां 'अर्थापत्ति' नामक अलंकार है (कस्यचिदर्थस्य निष्पत्तावर्थादर्थान्तरस्यापत्तिरर्थापत्तिः) ॥ २५ ॥

ण कुणन्तो व्विअ माणं णिसासु सुहसुत्तदरविबुद्धाणं।
सुण्णइअपासपरिमूसणवेअणँ जइ सि जाणन्तो ॥ २६ ॥

[नाकरिष्य एव मानं निशासु सुखसुप्तदरविबुद्धानाम्।
शून्यीकृतपार्श्वपरिमोषणवेदनां यद्यज्ञास्यः ॥]

यदि तुम्हें उस वेदना का अनुभव होता जो रात्रियों में अपनी कान्ता के साथ सुखपूर्वक सोए हुए और बीच में कुछ जगे हुए पति के हृदय में अपनी शय्या के एक भाग को (उपपति के साथ अभिसार पर गई अपनी) कान्ता से शून्य देखने पर उत्पन्न होती है, तो तुम कभी भी मान नहीं करते।

विमर्श—अपराधी नायक पत्नी के डांटने पर अपने अपराध को ढंकने के लिए मान कर बैठा है। उसकी पत्नी उसकी इस चाल को खूब समझती है। नायक का अपराध यह था कि रात में प्रायः वह अपनी पत्नी को छोड़कर (शय्या के एक भाग को सूना छोड़कर) अपनी प्रियतमा से मिलने चला जाता है। उसकी पत्नी पतिव्रता होने के कारण किसी-किसी प्रकार उसके इस अपराध को छुपाए रही। जब उसकी वेदना असह्य हो गई तब उसने उसे फटकारा। उसके फटकारने पर वह मानकर बैठा, जैसे उसने कुछ किया ही नहीं। तब उसकी पत्नी ने अपनी वेदना को जिसे वह नायक के उसे रात में छोड़कर दूसरी नायिका से मिलने चले जाने पर पूर्णरूप से अनुभव कर चुकी है, नायक से सूचित करते हुए कहा कि अगर किसी नायक की पत्नी उसे रात

में छोड़कर अर्थात् उसकी शय्या के एक भाग को शून्य करके किसी अन्य नायक के साथ अभिसरणार्थ जाती है उस समय उसे जो वेदना होती है अगर तुम्हें उसका अनुभव होता अर्थात् मैं अगर तुम्हें छोड़कर रात में किसी दूसरे नायक से मिलने चली जाती, जैसा कि तुमने मेरे साथ किया है तो निश्चय ही अपने अपराध को छिपाने के उद्देश्य से इस प्रकार तुम मान का अभिनय नहीं करते। तुमने जो कुछ मेरे साथ किया है उसे मैं तब भूल सकती हूँ, जब कि तुम अपना अपराध स्वीकार कर लो और फिर कभी ऐसी हरकत न करने की कसम खा लो। अपराध के गोपन का जो तुम प्रयत्न कर रहे हो, वह तुम्हारा दूसरा अपराध है ॥ २६ ॥

पणअकुविआणँ दोह्ण वि अलिअपसुत्ताणँ माणइल्लाणं।
णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्णकण्णाणँ को मल्लो ॥ २७ ॥

[प्रणयकुपितयोर्द्वयोरप्यलीकप्रसुप्तयोर्मानवतोः।
निश्चलनिरुद्धनिःश्वासदत्तकर्णयोः को मल्लः ॥]

(रात्रि में शय्या पर) प्रणय-कोप के कारण मान धारण करके एक दूसरे की आवाज सुनने के लिए कान लगाए, निश्चल एवं सांस रोककर बनावटी नींद में सोये हुए (नायिका-नायक) में कौन मल्ल (तगड़ा) निकला?

विमर्श—नायिका और नायक में परस्पर किसी कारणवश अनबन हो गई है। किसी प्रकार रात में एक ही शय्या पर दोनों ने सोकर रात काटी। उनकी सखी के मन में दूसरे दिन यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि आज की रात दोनों ने किस प्रकार काटी, क्या हार मानकर दोनों में से किसी ने किसी को मनाया या नहीं? सखी ने प्रणय-कुपित नायिका-नायक की अवस्था का चित्रण करते हुए अपनी जिज्ञासा प्रकट की। साधारण कोप और प्रणय-कोप बिलकुल भिन्न स्थितियां हैं। साधारण कोप की स्थिति में एक दूसरे के मन से औत्सुक्य की भावना नष्ट हो जाती है। दोनों बिलकुल अलग-अलग हो जाते हैं। किसी प्रकार उनका एक स्थान पर मिलना सम्भव नहीं होता। प्रणय-कोप एक श्रृङ्गार की महत्वपूर्ण स्थिति है। नायिका या नायक एक दूसरे के अपराध या अन्य किसी विशेष कारण से मान कर बैठते हैं। प्रणय कोप की स्थिति में नायक नायिका के चरणों पर गिर कर भी उसका मान दूर करता है (प्रणामान्तो मानः)। प्रस्तुत गाथा के नायिका-नायक एक दूसरे से प्रणय-कुपित होने के कारण एक शय्या पर सोकर भी निश्चल भाव से सांस रोककर कृत्रिम निद्रा में सो रहे हैं। दोनों एक दूसरे के शब्द को सुनने के लिए कान लगाए रहते हैं। दोनों का आकर्षण ऐसी स्थिति में बना ही रहता है। नायिका के

मन में है—'नायक अगर मनावन करेगा तभी मान छोड़ूंगी।' नायक सोचता है—'मैं क्यों मनावन करने का? जब तक ये नहीं कुछ बोलेगी तब तक मैं भी नहीं बोलूंगा।' इस प्रकार बनावटी नींद में सोये-सोये इन दोनों ने रात गुजार दी। सखी-ने प्रश्न किया इस प्रकार प्रणय-कोप की अवस्था में सोये हुए दोनों में कौन-सा मल्ल निकला, अर्थात् किसने अपना मान अन्त तक न छोड़ा? ॥ २७ ॥

णवलअपहरं अङ्गे जेहिँ जेहिँ महइ देवरो दाउं।
रोमञ्चदण्डराई तहिं तहि दीसइ बहूए ॥ २८ ॥
[नवलताप्रहारमङ्गे यत्र यत्रेच्छति देवरो दातुम्।
रोमाञ्चदण्डराजिस्तत्र तत्र दृश्यते वध्वाः ॥]

देवर (पति का छोटा भाई) वधू (नायिका) के अङ्गों में जहां-जहां नवलता से चोट देने की चेष्टा करता है वहां-वहां उसके शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

विमर्श—कामुक के प्रति दूती की उक्ति। कोई कामुक नायिका के सम्बन्ध में दूती से पूछकर यह जान लेना चाहता है कि नायिका किस प्रकार उसे मिल सकेगी। दूती ने देवरानुरक्त नायिका को असाध्य बताते हुए कहा कि वह अपने देवर के साथ किलोलें कर रही है। उसका देवर उसके अङ्गों में जहाँ चाहता है वहां नवलता से मारता रहता है। प्रहार करने की तो बात दूर रही वह नवलता से प्रहार करने की इच्छा मात्र करता है कि उसके शरीर में वहां-वहां रोंगटों की दण्डराजि खड़ी हो जाती है। इस प्रकार नवलता से प्रहार की चेष्टा मात्र से रोमाञ्च का आविर्भाव होना निश्चय ही प्रकट करता है कि वह देवर से घर ही में फँस चुकी है, बाहर निकलने का कोई अवसर ही नहीं। ऐसी स्थिति में उसका तुम्हारे प्रति अनुरक्त होना किसी प्रकार सम्भव नहीं रोमाञ्च एक सात्विक भाव है, यह नायिका की देवरानुरक्ति सूचित करता है। सामान्यतः आजकल लोकजीवन में देवर-भौजाई का परस्पर हास-परिहास देखा जाता है। पति का छोटा भाई होने से देवर को विशेष रूप से अपनी भावज के साथ हंसी-मजाक करने की छूट मिल जाती है (लेकिन पति का बड़ा भाई अर्थात् भसुर पितातुल्य समझा जाता है, वधू से उसका स्पर्श भी निषिद्ध है, हंसी-मजाक तो कथमपि सम्भव नहीं। प्रस्तुत गाथा में भी देवर-भौजाई के परस्पर क्रीडन का उल्लेख सिद्ध करता है कि हाल सातवाहन के समय में यह प्रथा लोक में चल पड़ी थी। रामायण-काल में लक्ष्मण और सीता (देवर और भौजाई) का सम्बन्ध अकलुष एवं पवित्र था। लता से

प्रहार करते हुए परस्पर खेलने की इस क्रीडा को 'चूतलतिका' या 'नवलतिका' क्रीडा कहते थे ॥ २८ ॥

अज्ज मए तेण विणा अणुहूअसुहाइँ संभरन्तीए ।
अहिणवमेहाणँ रवो णिसामिओ वज्झपडहो व्व ॥ २९ ॥

[अद्य मया तेन विना अनुभूतसुखानि संस्मरन्त्या ।
अभिनवमेघानां रवो निशामितो वध्यपटह इव ॥]

आकाश में नये-नये छाये हुए मेघों की गड़गड़ाहट से भरे आज के दिन मुझे अकस्मात् प्रिय के साथ अपने अनुभूत-पूर्व सुख का स्मरण हो उठा (एक बार इसी तरह मेघ की गड़गड़ाहट सुनकर डर के मारे कांपती हुई मैं अपने प्रिय से जा लिपटी थी उस समय मेरा सब डर जाता रहा और प्रिय के आलिङ्गन से बहुत आनन्द मिला)। यक स्मृति उठते ही मुझे आज इन मेघों की गड़गड़ाहट वध्य-पटह (वध करने के अवसर पर बजाया जानेवाला नगाड़ा) की आवाज के समान सुन पड़ी ।

विमर्श—प्रियतम के समीप जानेवाले पथिक के प्रति अथवा सखी के प्रति प्रोषितपतिका की उक्ति । वर्षा के नये-नये मेघ आकास में आकर उमड़-घुमड़ मचाने लगे, साथ ही साथ गर्जन-तर्जन भी करने लगे । ऐसी स्थिति में प्रोषितपतिका का अपने प्रिय के लिए आकुल हो जाना स्वाभाविक है । मानों वह किसी पथिक से अपने प्रियौत्सुक्य के परिणाम के सन्देश को पहुँचाने के लिये कहने लगी कि एक दिन ऐसा था जब ये ही मेघ गड़गड़ा रहे थे, तो मैंने डरकर प्रियतम के अंक में छिपकर उसके आलिंगन का सुख अनुभव किया था, आज जब मेरा प्रियतम मुझसे बिछुड़ गया है तो मेघों की यह गड़गड़ाहट वध्यपटह की आवाज जैसी प्रतीत होती है । निश्चय ही अब मेरा वध होने जा रहा है । मैं किसी प्रकार ऐसी स्थिति में बच नहीं सकती । इस प्रकार प्रोषित-पतिका की चित्तवृत्ति का यह उद्वेलन एकमात्र मेघों के देखने से उत्पन्न हो गया । मेघदूत के विरही यक्ष ने भी जब आषाढ के प्रथम दिन रामगिरि के शिखर का आलिङ्गन करते हुए मेघ को देखा तब अत्यन्त विह्वल हो गया । कालिदास ने कौतुकाधानहेतु मेघ के दर्शन से विरहियों के अन्तःकरण की 'अन्यथावृत्ति' को ठीक ही कहा है—

'मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः ।
कण्ठाश्लेष-प्रणयिनि जने किम्पुनर्दूरसंस्थे ॥'

प्रस्तुत गाथा की नायिका भी चित्तवृत्ति की कुछ ऐसी ही अवस्था में पहुंच गई है ॥ २९ ॥

णिक्किव जाआभीरुअ दुद्दंसण णिम्बईडसारिच्छ ।
गामो गाम णिणन्दण तुज्झ कए तह वि तणुआइ ॥ ३० ॥
[निष्कृप जायाभीरुक दुर्दर्शन निम्बकीटसदृक्ष ।
ग्रामो ग्रामणीनन्दन तव कृते तथापि तनुकायते ॥]

अरे ग्रामपाल का छोकरा ! तू बड़ा निर्दय है ! अपनी जाया से डरता है, इसी लिये तो तेरा दर्शन भी दुर्लभ है ! सचमुच तूं नीम के उस कीड़े के समान है जिसे तिक्त रस में ही आनन्द मिलता है । (शायद तुझे पता नहीं) तब भी तेरे लिए सारा गांव दिन-पर-दिन कृश होता जा रहा है ।

विमर्श—विरक्त नायक के प्रति दूती की उक्ति । नायक गांव के मुखिया (ग्रामपाल) का पुत्र है, जो किसी असुन्दर स्त्री के साथ विवाहित हो गया है । सारे ग्राम की सुन्दरियों की ओर से असुन्दरजायानुरक्त ग्रामपालपुत्र को दूती ने एकान्त अवसर पाकर फटकारते हुए कहा—तूं निर्दय है, अर्थात् तूं यह जानता हुआ कि गांव की सभी सुन्दरियां तुझे अपना दिल दे चुकी हैं और तेरे लिए बेकरार हैं, कुछ भी उन पर रहम नहीं करता ! तेरे विना उन पर क्या गुजरती है कोई हमसे पूछे । इससे तो यही सिद्ध होता है कि अपनी उस पत्नी से ही इतना डरता है जो सौन्दर्य में एक कौड़ी की भी नहीं ! ग्रामपाल का पुत्र होकर डर रहा है वह भी एक अबला से ? डरपोक कहीं का ! अरे कम से कम उन विरहिनों को समय-समय पर दर्शन भी देकर तो कृतार्थ करता ? डर के मारे घर से तेरा निकलना भी मुश्किल हो गया है । तूं नीम के पेड़ के कीड़े के समान है अन्यथा उस कुरूपा को छोड़ कर अवश्य ग्राम-रमणियों के साथ यौवनोत्सव करता ! अपने स्वभाव से तू लाचार है, वह छुछुन्दरी ही तुझे भा गई है । न जाने कब तक तूं इस प्रकार निम्बकीट बना रहेगा ।' इस प्रकार दूती के ताने देने का अभिप्राय यह है कि नायक किसी प्रकार अपने कुरूप जाया के प्रति अनुराग करने से बाज आये और गांव की सुन्दरियों से अनुराग करे—अपने यौवन का सदुपयोग करे । दूसरे यह कि एक (वह भी अयोग्य) के लिए दस योग्य सुन्दरियों को अपने अनुराग का पात्र न बनाना आखिर कहाँ का न्याय है ॥ ३० ॥

पहरवणमग्गविसमे जाआ किच्छेण लहइ से णिद्दं ।
गामणिउत्तस्स उरे पल्ली उण सा सुहं सुवई ॥ ३१ ॥
[प्रहारव्रणमार्गविषमे जाया कृच्छ्रेण लभते तस्य निद्राम् ।
ग्रामणीपुत्रस्योरसि पल्ली पुनः सा सुखं स्वपिति ॥]

ग्रामणीपुत्र का वक्ष प्रहारजनित व्रणों के कारण अत्यन्त कर्कश है । अतः

उसकी पत्नी को बड़ी कठिनाई से उसके वक्ष पर नींद आती है, और सारा गांव (ग्रामणीपुत्र की वीरता पर विश्वास करके सब प्रकार के भय से उन्मुक्त होकर) सुख की नींद सोता है ।

विमर्श—भुजङ्ग को दूती का आश्वासन । भुजङ्ग नायक ग्रामणीपुत्र की पत्नी में अनुरक्त है । पर ग्रामणीपुत्र के डर से अपनी प्रियतमा से मिलने के लिए साहस छोड़ चुका है । आश्वासन देते हुए दूती ने कहा कि तुम्हारी प्रियतमा तुम्हें बड़ी सरलता से प्राप्त हो सकती है अगर तुम एकबार उससे मिलने का प्रयत्न करके देखो । तुम्हें डर है ग्रामणीपुत्र से और गांव वालों से ! पर क्यों ? ग्रामणीपुत्र के पत्थर के समान कर्कश वक्ष पर तुम्हारी प्रियतमा को निद्रा बहुत कम आती है, वह सारी रात जाग कर गुजार देती है । ऐसी स्थिति में तुम्हारे पहुँचते ही वह शीघ्र तुम्हें प्राप्त हो जायगी । रह गई गांव वालों की बात ! पर वे तो चैन से गहरी नींद सोते हैं । उनको यह विश्वास हो गया है कि ग्रामणीपुत्र के रहते उनके गांव में किसी चोर-उचक्के के घुस पड़ने की हिम्मत ही नहीं हो सकती । ऐसी स्थिति में तुम निःशंक भाव से विषम वनमार्ग के कारण प्रहर भर में पहुंचने योग्य (प्रहर वनमार्ग विषमे) ग्रामणीपुत्र के ग्राम (पुरे) में प्रवेश करो, कार्य अवश्य सिद्ध होगा ।' इस गाथा में प्रयुक्त 'पहरवणमग्गविषमे 'उरे' पद श्लिष्ट हैं । प्राकृत में 'उरे' संस्कृत' 'उरसि' और 'पुरे' दोनों अर्थों में यहां अभीष्ट है । इसी के अनुसार विशेषण 'पहरवणमग्गविसमे' को 'प्रहार-व्रणमार्ग-विषमे' और 'प्रहर-वनमार्ग-विपमे समझना चाहिए । दोनों पक्षों का अर्थ क्रमशः इस प्रकार होगा—उरस् या वक्ष के पक्ष में 'प्रहार-जनित-व्रणों के कारण कर्कश' और पुर या ग्राम के पक्ष में 'वनमार्ग ऊबड़-खाबड़ (विषम) होने के कारण एक प्रहर में पहुंचने योग्य ।' ॥ ३१ ॥

अह संभाविअमग्गो सुहअ तुए जेव्व णवरँ णिव्वूढो ।
एह्णि हिअए अण्णं अण्णं वाआइ लोअस्स ॥ ३२ ॥

[अयं संभावितमार्गः सुभग त्वयैव केवलं निर्व्यूढः ।
इदानीं हृदयेऽन्यदन्यद्वाचि लोकस्य ॥]

हे सुभग ! यह मार्ग, जिस पर श्रेष्ठ लोग ही चला करते हैं, तुमने केवल अवलम्बन किया है । क्योंकि आजकल के लोग (उस सम्भावित मार्ग को त्याग कर) हृदय में कुछ और वाणी में कुछ रखते हैं (अपने हृदय की बात वाणी द्वारा व्यक्त नहीं करते हैं) ।

विमर्श—धीरा खण्डिता द्वारा नायक को सव्यङ्ग उपालम्भ । परकीया के

साथ शयन करके प्रातःकाल लौटे हुए नायक के अङ्गों पर विशेष चिह्नों को पहचान कर नायिका कुपित हो गई। नायक ने अनुनय करते हुए संबोधन में उसका नाम न लेकर अपनी रात्रि सहचरी प्रियतमा का नाम ले लिया। संस्कृत साहित्य में नाम व्यात्यास के इस प्रसंग को 'गोत्रस्खलित' कहते हैं। नायक के द्वारा इस प्रकार गोत्रस्खलन हो जाने पर नायिका को यह स्पष्ट हो गया कि नायक का सच्चा प्रेम उसमें नहीं है। उसमें वह प्रणय का प्रदर्शन मात्र करता है। सच्चा प्रणय तो किसी दूसरी में है जिसका नाम उसके मुंह से अकस्मात् निकल पड़ा। यह स्पष्ट जानकर भी नायिका धीरप्रकृति होने के कारण नायक पर कोप प्रकट नहीं करती, वल्कि वक्रतापूर्ण ढङ्ग से सविनय उपालम्भ देती है। नायिका द्वारा प्रयुक्त सम्बोधन 'सुभग' अपनी विशिष्ट व्यंजना रखता है। संस्कृत साहित्य में उस नायक को 'सुभग' कहते हैं जिसके शरीर पर सपत्नी के नखदन्तादि चिह्न नहीं देख पड़ते और जिसे देखते ही नायिका के मान और ईर्ष्या दोनों विस्मृत हो जाते हैं।

'सपत्नीनखदन्तादिचिह्नं यस्य न दृश्यते।
विस्मार्यमाणमानेर्ष्यः सुभगः सोऽभिधीयते॥' (शारदातनय),

इस प्रकार 'सुभग' इस सम्बोधन के अपात्र नायक के प्रति नायिका के द्वारा प्रयुक्त यह संबोधन उसकी प्रकृति धीरता को व्यक्त करता है। नायिका ने नायक द्वारा किए गए गोत्र स्खलन के अपराध को सत्पुरुषों के मार्ग का आश्रयण कह कर प्रशंसा की, लेकिन उसका अभिप्राय था कि आखिर जो वात अन्तर्हित थी वह व्यक्त हो ही गई—गोपित सत्य किसी न किसी रूप में प्रकट हो ही जाता है 'मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्' की लोकोक्ति इस गाथा में बड़ी खूबी के साथ उतर आई है—

'इदानीं हृदयेऽन्यदन्यद् वाचि लोकस्य।' ॥ ३२ ॥

उह्लाइँ णीससन्तो किंति मह परम्मुहीऍ सअणद्धे।
हिअअं पलीविअ वि अणुसएण पुट्ठिं पलोवेसि॥ ३३॥

[उष्णानि निःश्वसन्किमिति मम पराङ्मुख्याः शयनार्धे।
हृदयं प्रदीप्याप्यनुशयेन पृष्ठं प्रदीपयसि॥]

शय्या के अर्धभाग में पराङ्मुख होकर (मुंह मोड़ कर) सोई हूं और तुम पश्चात्ताप के कारण उष्ण निःश्वास छोड़ते हुए हृदय को तो जला ही चुके, अव क्या पीठ को भी जला रहे हो?

विमर्श—कृतापराध नायक के प्रति प्रणयकुपित नायिका की उक्ति। नायिका को यह ज्ञात हो चुका है कि उसका पति किसी दूसरी में आसक्त है।

फलतः वह प्रणय कुपित हो अपने कृतापराध पति के साथ शयन के अवसर में पराङ्मुख होकर सोती है। प्रणयकोप की स्थिति का यह अत्यन्त स्वाभाविक चित्र है। पराङ्मुखशयन से ही व्यक्त हो जाता है 'जा, मैं तुझसे बातें न करूँगी। तुझे मेरी खबर कहां ? तू तो किसी दूसरी का बन गया है।' अपराध के शमन का मार्ग एकमात्र अनुशय या पश्चात्ताप माना जाता है। कृतापराध नायक ने नायिका के कोप को दूर करने के उद्देश्य से अपने अपराध पर पश्चात्ताप को उष्ण निःश्वास द्वारा व्यञ्जित किया। पर नायिका इतनी नासमझ नहीं जो पश्चात्ताप के इस अभिनय से अनुकूलता स्वीकार कर लेती। अब तक कोप की स्थिति आभ्यन्तर थी, पश्चात्ताप के अभिनय से तत्काल वाह्यरूप में आ गई। नायिका ने कहा—मेरे हृदय को तो तभी तुमने प्रदीप्त कर डाला जब मुझे छोड़कर अन्य नायिका में अनुराग आरम्भ किया। इतने पर भी तुमसे नहीं रहा गया जो अब उष्ण निःश्वास के द्वारा मेरी पीठ भी जला डालने पर तुले हो ? तुम बड़े ही निर्दय हो ?' ॥ ३३ ॥

तुह विरहे चिरआरअ तिस्सा णिवडन्तवाहमइलेण ।
रइरहसिहरधएण व मुहेण छाहि व्विअ ण पत्ता ॥ ३४ ॥

[तव विरहे चिरकारक तस्या निपतद्बाष्पमलिनेन ।
रविरथशिखरध्वजेनेव मुखेन च्छायैव न प्राप्ता ॥]

अरे चिरकारक ! (प्रिया से मिलन की अवधि का अतिक्रमण कर जानेवाले !) जैसे सूर्य के रथ का ध्वज कभी छाया (अनातप) को नहीं प्राप्त करता, उसी प्रकार उस प्रियतमा के मुख ने तुम्हारे विरह में निरन्तर ढरते हुए बाष्पजल से मलिन हो जाने के कारण कभी छाया (कान्ति) नहीं प्राप्त की—हमेशा मुर्झाया (छायाहीन) ही रहता है।

विमर्श—नायक के प्रति दूती की उक्ति। नायक किसी कारणवश अपनी प्रियतमा से निश्चित अवधि के दिन मिल न सका। दूती ने ऐसे अपराधी नायक को 'चिरकारक' कहकर सम्बोधित किया। नायक के अवधिकाल में न मिलने के कारण नायिका की दशा अत्यन्त दयनीय हो गई है। वह तभी से रो रही है। उसका मुख आंसुओं से मलिन हो चुका है, उसमें कान्ति बिलकुल नहीं है।' 'यहां 'छाया' शब्द श्लिष्ट है। सूर्यरथ के ध्वज के पक्ष में छाया अनातप के अर्थ में प्रयुक्त है और नायिका के विरहमलिन मुख के पक्ष में 'छाया' का अर्थ 'कान्ति' है (छाया सूर्यप्रभा कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः)। नायिका की वर्तमान दशा के इस वर्णन से दूती का अभिप्राय है कि नायक यथाशीघ्र नायिका से मिलने का प्रयत्न करे और साथ ही ऐसी गलती कभी

करने की कोशिश न करे। साहित्य में प्रतीक्षा या इन्तजार की स्थिति को बहुत ही कष्टदायक माना गया है। यह स्थिति प्रिय के वादा या किसी निश्चित समय में मिलने के लिए वचनबद्ध होकर मुकर जाने पर उपस्थित होती है। प्रेमी बड़ी उत्सुकता से अपने प्रिय का इन्तजार करता है। तत्काल उसके अनुपस्थित होने पर विकल हो जाता है ॥ ३४ ॥

दिअरस्स असुद्धमणस्स कुलवहू णिअअकुड्डलिहिआइं।
दिअहं कहेइ रामाणुलग्गसोमित्तिचरिआइं ॥ ३५ ॥

[देवरस्याशुद्धमनसः कुलवधूर्निजककुड्यलिखितानि ।
दिवसं कथयति रामानुलग्नसौमित्रिचरितानि ॥]

अपने प्रति देवर के मन को अशुद्ध (कालुष्यपूर्ण) जानकर कुलवधू सारे दिन घर की दीवाल पर राम का अनुगमन करते हुए लक्ष्मण के चरित्रों को चित्रांकित करती रही।

विमर्श—नववधू को शिक्षा। घर की किसी बड़ी-बूढ़ी ने नववधू को सतीत्व की रक्षा का उपदेश देते हुए किसी विशेष घटना को सूचित किया—'जब कुलवधू ने यह ताड़ लिया कि उसका देवर उसके प्रति बुरी भावना से अभिभूत हो चुका है तब अपने सतीत्व की रक्षा के लिए देवर को अपने पास बैठा लिया और दिनभर राम के अनुगामी लक्ष्मण के चरित्र को दीवार पर चित्रित करती रही। उस कुलाङ्गना का तात्पर्य यह था कि राम को पितासदृश मानकर जैसे लक्ष्मण ने आदर्श भ्रातृत्व की मर्यादा कायम की, उसी प्रकार तुम्हें भी ज्येष्ठ भ्राता के प्रति पितृतुल्य व्यवहार करना चाहिए। दिन भर चित्रांकन करने की व्यञ्जना यह है कि देवर कहीं रात में अपनी असद् भावना के फलस्वरूप मर्यादा के उल्लंघन की चेष्टा न करे। यह सोचकर कुलवधू ने सारा दिन इसी प्रयत्न में व्यतीत किया। नायिका कुलवधू होने के कारण ही उत्पन्न परिस्थिति को ढङ्ग से अनुकूल बनाने के लिए प्रयत्नशील है। वह यह नहीं चाहती कि इस बात को कोई दूसरा भी जाने। ऐसा करने से कुटुम्ब में विघटन की स्थिति उपस्थित हो सकती है। भाई-भाई (उसके पति और देवर) में परस्पर संघर्ष हो सकता है। उपदेशिका का प्रस्तुत में नववधू से कथन का अभिप्राय यह है कि वह भी इस प्रकार की स्थिति पहुंचने पर अपने सतीत्व की रक्षा करे ॥ ३५ ॥

चत्तरघरिणी पिअदंसणा अ तरुणी पउत्थपइआ अ।
असई सअज्झिआ दुग्गआ अ ण हु खण्डिअं सीलं ॥ ३६ ॥

[चत्वरगृहिणी प्रियदर्शना च तरुणी प्रोषितपतिका च ।

असतीप्रतिवेशिनी दुर्गता चत्वरेन खलु खण्डितं शीलम् ॥]

नगर के चौक (चत्वर) पर उसका घर था, देखने में वह सुन्दर थी और तरुणी थी, उसका पति प्रवास पर था, उसकी पड़ोसिनें कुलटा (असती) थीं, और स्वयं वह दरिद्रता से उत्पीड़ित हो चुकी थी। तब भी उसने शील (चारित्र्य) को खण्डित होने नहीं दिया।

विमर्श—यहां किसी पतिव्रता के शील की प्रशंसा की गई है। 'शील' से विशेषतः चारित्र्य की ओर संकेत है (शीलं स्वभावे सद्वृत्ते-अमर)। भगवान् बुद्ध ने पञ्चशील और दशशील का उपदेश दिया है। बुद्ध के अनुसार 'शील' गुण प्राणिहिंसा (पाणातिपाता), चोरी (अदिन्नादाना), व्यभिचार (कामेसु मिच्छाचारा), झूठ बोलना (मुसावादा) और मद्यपान आदि असत्कर्मों से विरति होने पर उत्पन्न होता है। शील का तात्पर्य उस जल से है जिससे सत्वों के मल (पाप) का विशोधन होता है। शीलपालन से ही असली शुद्धि होती है जैसा कि गाथा में स्पष्ट कहा है—

न गंगा यमुना चापि सरयू वा सरस्वती।
निम्नगा वा चिरवती मही चापि महानदी ॥
सक्कुणन्ति विसोधेतुं तं मलं इध पाणिनं।
विसोधेति सत्तानं यं वे सीलजलं मलं ॥

अर्थात् प्राणिमात्र के जिस मल को गङ्गा, यमुना, सरयू, सरस्वती, अजिरवती, मही और महानदी आदि नदियां नहीं प्रक्षालित कर सकतीं वह शील के जल से प्रक्षालित हो जाता है। तात्पर्य यह कि 'शील' ही समस्त गुणों का मूलभूत गुण है, समस्त गुण शील से ही अनुस्यूत और अनुप्राणित होते हैं। प्रस्तुत गाथा की नायिका ने शील की रक्षा के लिए ही अनेक प्रतिकूल स्थितियों का सामना करके अपनी दृढ़चित्तता का एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया है। जैसा कि नैषध में आता है—'मृणालतन्तुच्छिदुरा सतीस्थिति-र्लवादपि त्रुट्यति चापलात्किल।' अर्थात् सतीत्व की मर्यादा (अर्थात् नारी का शील) कमलनाल के तन्तु की भांति होती है जो रंचमात्र की चपलता से ही टूट जाती है। प्रस्तुत गाथा की नायिका के जीवन में चापलोत्पादक तत्त्व पदे-पदे संघटित हो चुके थे, फिर भी उसने शील की रक्षा की। गंगाधर भट्ट के अनुसार यहां 'चत्वर' का अर्थ राजमार्ग है, पर भट्ट जी का पक्ष है कि 'चत्वर' घर के आंगन के समान कोई सुनसान जगह के अर्थ में प्रयुक्त है, क्योंकि ऐसे स्थल में विट लोग के आवागमन की अनुकूलता हो सकती है। इस गाथा की दूसरी अवतरणिका यह भी है कि यह कहकर कोई नायिका अपने दोष को छिपा लेना चाहती है। शील के खण्डित होने के कारणों के विद्यमान होने पर

भी शील के खण्डित न होने से यहां विशेषोक्ति अलंकार है—सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिः—काव्यप्रकाश ॥ ३६ ॥

तालूरभमाउलखुडिअकेसरो गिरिणईएँ पूरेण ।
दरवुड्डउवुड्डणिबुड्डमहुअरो हीरइ कलम्बो ॥ ३७ ॥
[जलावर्तभ्रमाकुलखण्डितकेसरो गिरिनद्याः पूरेण ।
दरमग्नोन्मग्ननिमग्नमधुकरो ह्रियते कदम्बः ॥]

पहाड़ी नदी के भंवर में पड़कर धुना जाने से कदम्ब के फूल का पराग झड़ चुका है। उस पर चिपका हुआ भ्रमर प्रवाह के झोंक में कभी ऊपर आता है और कभी डूब जाता है, फिर भी वह कदम्ब के प्रति अपना स्नेह नहीं छोड़ता।

विमर्श—प्रिय के प्रति विप्रलब्धा की अन्योक्ति। नायिका ने सम्भवतः प्रिय से मिलन का संकेत किसी पहाड़ी नदी का तटवर्ती कदम्बकुंज निश्चित किया था। समय पर उसका प्रिय वहां नहीं पहुँचा। 'प्रिय के द्वारा संकेत स्थल पर न पहुँच कर विप्रलब्ध या प्रतारित हुई नायिका को विप्रलब्धा कहते हैं।' प्रस्तुत गाथा की नायिका भी 'विप्रलब्धा' है। जब उसका वञ्चक प्रिय उसके सामने उपस्थित हुआ तब उसने संकेतस्थल का स्मरण कराते हुए अन्यापदेश के द्वारा प्रिय को सूचित किया। 'जैसे पहाड़ी नदी के भंवर में कदम्ब के फूल के साथ गिरे हुए भौंरे ने उसके पराग झड़ जाने पर भी उसे नहीं छोड़ा और उसमें ही चिपका हुआ वह कभी ऊपर उठता और कभी डूब जाता है, उसी प्रकार तुम्हें भी सब प्रकार की स्थिति में मुझे नहीं छोड़ना चाहिए। उस दिन संकेतस्थल पर न पहुंच कर तुमने बहुत बड़ी भूल की है। उस अवसर पर पहुँच कर मैंने नदी के प्रवाह में कदम्ब के साथ बहे जाते हुए भ्रमर का यह दृश्य देखा है।' नायिका का दूसरा तात्पर्य यह भी प्रतीत होता है कि तुम ऐसा चाहे करो या न करो, पर मैं तुम्हारे प्रति-भ्रमर-जैसा ही भाव रखती हूँ ॥ ३७ ॥

अहिआअमाणिणो दुग्गअस्स छाहिं पिअस्स रक्खन्ती ।
णिअबन्धवाणँ जूरइ घरिणी विहवेण पत्ताणं ॥ ३८ ॥
[आभिजात्यमानिनो दुर्गतस्य छायां पत्यू रक्षन्ती ।
निजबान्धवेभ्यः क्रुध्यति गृहिणी विभवेनागच्छद्भ्यः ॥]

कुलीनता पर गर्व करने वाले अपने दरिद्र पति के स्वाभिमान की रक्षा करती हुई उसकी घरवाली रुपये-पैसे लेकर पहुँचने वाले अपने बन्धु-बाधवों पर बहुत कुपित होती है।

अन्यहृदये पुनर्हृदयं यद्दीयते तज्जनो हसति ॥]

सद्भाव और स्नेह से पूर्ण होकर अनुराग करनेवाले व्यक्ति में प्रेम करना तो ठीक है; परन्तु जो यह दूसरे (सद्भाव-स्नेह से शून्य) के हृदय में हृदय का अर्पण है (अर्थात् प्रेम) किया जाता है तो लोग उपहास करते हैं।

विमर्श—नायक के प्रति खण्डिता नायिका की उक्ति। कहा जा चुका है कि पर नायिका के सम्भोग-चिह्नों से युक्त नायक प्रातःकाल अपने घर उपस्थित होता है और उसे देखकर उसकी प्रिया उसके समस्त कृत्य से परिचित हो जाती है। ऐसी अवस्था में नायिका की संज्ञा 'खण्डिता' होती है। प्रस्तुत गाथा में उस नायक के प्रति खण्डिता की व्यङ्ग्योक्ति है जो अपनी प्रिया को अपने प्रति कुपित जानकर अनुनय करते हुए कहता है कि व्यर्थ तू मुझपर कुपित हो रही है, यह तेरा कोप मेरे 'सद्भाव' और 'स्नेह' के उचित नहीं। नायिका ने नायक के शब्दों को ही व्यङ्ग्य के रूप में ढालते हुए कहा कि जो सद्भाव और स्नेह से पूर्ण तथा रक्त है उसके प्रति अनुराग उचित ही है। खण्डिता का तात्पर्य है कि अपने बाल-जाल में स्नेह लगानेवाली और अलकादिराग से रक्त उस सद्भावपूर्ण नायिका में तुम (चरण-संवाहन आदि से उसका अलक्तक लग जाने से) रञ्जित हो चुके हो यह उचित ही है। जो यह सद्भाव स्नेहरहित मुझ जैसी के हृदय में अपना हृदय देते हो, सो ठीक नहीं, क्योंकि यह देखकर लोग तुम्हारी हंसी उड़ायेंगे! अतः तुम उसी में अनुराग करो जो तुम्हारे प्रति सद्भाव-स्नेह से पूर्ण तथा रक्त है, मुझे छोड़ो। दूसरी व्यञ्जना यह भी है कि जिस प्रकार स्वच्छ वस्त्र पर चढ़ा हुआ, रंग टहाका निखरता है और मलिन वस्त्र का रंग उपहसनीय हो जाता है, उसी प्रकार जिसका हृदय सद्भाव जैसे उज्ज्वल गुण से पूर्ण है अर्थात् नितान्त स्वच्छ है उसमें प्रीति की लालिमा का सम्पर्क सर्वथा उचित है और जो हृदय (अन्य) दुष्ट है, मलिन है उसमें प्रीति की लालिमा उपहसनीय नहीं तो क्या होगी? अथवा मन्जुनाथजी के अनुसार दूती ने नायिका के अनुराग को अपने पति के प्रति भङ्ग करने की चेष्टा से उसके पति में दोष की उद्भावना की है ॥ ४१ ॥

आरम्भन्तस्स धुअं लच्छी मरणं वि होइ पुरिसस्स।
तं मरणमणारम्भे वि होइ लच्छी उण ण होइ ॥ ४२ ॥

[आरभमाणस्य ध्रुवं लक्ष्मीर्मरणं वा भवति पुरुषस्य।
तन्मरणमनारम्भेऽपि भवति लक्ष्मीः पुनर्न भवति ॥]

यह निश्चय है कि कार्य का आरम्भ करते हुए लक्ष्मी प्राप्त होती

है अथवा मृत्यु। कार्य आरम्भ न करने पर भी मृत्यु तो प्राप्त हो जाती है, फिर लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती।

विमर्श—नायक के प्रति दूती की उक्ति। नायक अपनी प्रियतमा से मिलन का प्रयत्न विफल हो जाने की आशंका से नहीं कर पा रहा है। वह विचार में पड़ गया कि वह प्रयत्न करे अथवा नहीं। नायक की इस आन्दोलित स्थिति को पहचान कर दूती ने कहा कि तुम प्रयत्न से बाज़ न आओ, क्योंकि प्रयत्न के फलस्वरूप निश्चित रूप से दो ही प्राप्त होते हैं लक्ष्मी (अर्थात् साक्षात् लक्ष्मी जैसी सर्वगुण सम्पन्न तुम्हारी प्रियतमा) अथवा मृत्यु। अगर तुम प्रयत्न छोड़ देते हो तो यह निश्चित है कि लक्ष्मी (तद्रूप प्रियतमा) से तुम्हारा मिलन सम्भव नहीं और तुम्हें मृत्यु अवश्य प्राप्त होगी। तात्पर्य यह कि जब मरना ध्रुव है तो प्रयत्न करके एक बार क्यों न देख लो, सम्भव है उस प्रयत्न से तुम्हारी इष्ट-सिद्धि हो जाय? वस्तुतः यह गाथा नीति के प्रसङ्ग की है, पर गाथासप्तशती के शृङ्गारप्रधान ग्रन्थ होने के कारण प्रायः टीकाकारों का झुकाव नायक-नायिका के प्रसङ्ग की ओर रहता है। इस गाथा में प्रयुक्त 'लक्ष्मी' शब्द से नायिका का व्यञ्जित होना अस्वाभाविक नहीं है ॥ ४२ ॥

विरहाणलो सहिज्जइ आसाबन्धेण वल्लहजणस्स।
एक्कग्गामपवासो माए मरणं विसेसेइ ॥ ४३ ॥

[विरहानलः सह्यत आशाबन्धेन वल्लभजनस्य।
एकग्रामप्रवासो मातर्मरणं विशेषयति ॥]

दूर प्रवास पर गए प्रियजन के विरह का सन्ताप उसके आगमन की आशा से सह लिया जाता है, किन्तु हे मां, वह तो केवल पास के एक गांव में चला गया है, (आशाबन्ध के अभाव में) उसका यही प्रवास मृत्यु से भी बढ़ कर कष्ट दे रहा है।

विरहोत्कण्ठिता की उक्ति। किसी प्रौढ़ मध्यस्थ महिला ने प्रिय के विरह में उत्कण्ठित नायिका को सान्त्वना देते हुए कहा कि 'दूर प्रवास पर प्रिय के चले जाने पर स्त्रियां आगमन की आशा में बहुत दिन व्यतीत कर लेती हैं वह तो निकट के गांव में सिर्फ चला गया है फिर भी तूं इतनी उद्विग्न क्यों है?' विरहोत्कण्ठिता ने उत्तर में कहा, 'माना कि आशाबन्ध ही के कारण चिरप्रोषित प्रिय का विरह किसी प्रकार सह लिया जाता है लेकिन जब वह आशाबन्ध अपने में रंचमात्र भी न हो तो प्रिय का एक ग्राम प्रवास भी कैसे सह्य हो सकता है?' विरहोत्कण्ठिता के हृदय में आशाबन्ध का अभाव सूचित करता है कि वह प्रिय के अपनी सौत के यहां जाने के कारण आशंकित है। उसे यह आशा

कैसे हो सकती है कि उसका प्रिय सौत के गांव से लौटेगा ? अतः वह निराश होकर एक ग्राम प्रवसित प्रिय के विरह को मृत्यु से भी बढ़कर कष्टप्रद के रूप अनुभव कर रही है। 'मेघदूत' में कालिदास ने आशाबन्ध के द्वारा प्रोषितपतिकाओं के हृदय के रुके रहने का सरस उल्लेख किया है—'आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशोह्यङ्गनानां सद्यः पातिप्रणयि हृदये विप्रयोगे रुणद्धि' अर्थात् विरह की अवस्था में आशाबन्ध प्रणय से युक्त फूल की भांति झड़कर शीघ्र गिर जाने वाले अङ्गनाओं के हृदय को थाम लेता है। आशाबन्ध के अभाव में विरहिणी अङ्गनाएं कभी अपना अस्तित्व समाप्त कर देती हैं। प्रस्तुत गाथा की विरहोत्कण्ठिता नायिका 'आशाबन्ध' के अभाव की स्थिति में बेहद दयनीय हो रही है, यद्यपि उसका प्रिय निकट के ही गांव में प्रोषित है।

अक्खडइ पिआ हिअए अण्णं महिलाअणं रमन्तस्स।
दिट्ठे सरिसम्मि गुणे असरिसम्मि गुणे अईसन्ते ॥ ४४ ॥

[आस्खलति प्रिया हृदये अन्यं महिलाजनं रममाणस्य।
दृष्टे सदृशे गुणे असदृशे गुणे अदृश्यमाने ॥]

जब वह अन्य स्त्री के साथ विहार करता है तब उस स्त्री में (अपनी प्रिया के) समस्त सदृश गुण (सीत्कार, हसित, सौन्दर्य आदि) देख लेता है और सादृश्य न रखने वाले गुण नहीं देखता। ऐसी स्थिति में तत्काल उसके हृदय में वह प्रियतमा उतर आती है।

नायिका के प्रति दूती की उक्ति। नायिका ने अपने प्रिय की मिलनकाल में अन्यमनस्कता से शंकित होकर दूती से चिन्ता व्यक्त की। दूती ने समाधान यह दिया कि स्वाभाविक है कि उसे तुझमें अपनी प्रिया के सारे सदृश गुण देखकर और असदृश गुण न देखकर वह याद आ जाती होगी और तत्काल वह अन्यमनस्क हो जाता होगा। अब तो तुझे ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे उसे उसकी प्रियतमा याद न आवे। अर्थात् अपने आप में कोई कमाल पैदा कर ले, तब यह अड़चन जाती रहेगी। अन्य अवतरण के अनुसार किसी भुजङ्ग द्वारा कामिनियों को सुनाते हुए अपनी कामुकता का प्रकाशन, उनके चित्त के समाकर्षणार्थ ॥ ४४ ॥

णइऊरसच्छहे जोव्वणम्मि अइपवसिएसु दिअसेसु।
अणिअत्तासु अ राईसु पुत्ति किं दड्ढमाणेण ॥ ४५ ॥

[नदीपूरसदृशे यौवने अतिप्रोषितेषु दिवसेषु।
अनिवृत्तासु च रात्रिषु पुत्रि किं दग्धमानेन ॥]

यौवन नदी के प्रवाह की भांति वह कर फिर लौटने का नहीं, ये

दिन बीत कर फिर आने के नहीं और रातें भी उसी प्रकार कभी निवृत्त होने की नहीं। अतः हे पुत्रि ! इस जले मान के करने से क्या लाभ ?

विमर्श—प्रौढ़ा का वचन मानिनी नायिका के प्रति। प्रस्तुत नायिका मानवश प्रिय से मिलन के लिए राजी नहीं होती। उसका पारा इतना चढ़ा हुआ प्रतीत होता है कि वह भविष्य में कभी भी प्रिय से मिलन के लिए तत्पर नहीं। किसी अनुभवशालिनी प्रौढ़ा ने उसके इस बेतुके मान को दूर करने का प्रयत्न करते हुए यह कहा कि जो तू अभी अपनी जवानी पर बड़ी मचल रही है और मानवश प्रिय से मिलने के लिए तत्पर नहीं है यह तेरी नासमझी के सिवा और क्या है ? अरी, यह जवानी फिर नहीं आने की, जब तक है तब तक मजा ले ले। यह तो नदी के प्रवाह की तरह अनित्य है, फिर रहने की नहीं है। और ये दिन और ये रातें भी उसी प्रकार बीत जाने पर जीवन में स्वप्न बन जाती हैं फिर इनसे भेंट होने की नहीं। अब तू ही बता इस निगोड़े मान से कुछ भी होने वाला है ? मैं तुझसे उमर में बहुत बड़ी हूँ, तू मेरी पुत्री के बराबर है। मैं तेरे हित के लिए कह रही हूँ ॥ ४५ ॥

कल्लं किल खरहिअओ पवसिइहि पिओत्ति सुण्णइ जणम्मि ।
तह बड्ढ भअवइ णिसे जह से कल्लं विअ ण होइ ॥ ४६ ॥
[कल्यं किल खरहृदयः प्रवत्स्यति प्रिय इति श्रूयते जने ।
तथा वर्धस्व भगवति निशे यथा तस्य कल्यमेव न भवति ॥]

निष्ठुर हृदयवाला मेरा प्रिय कल के दिन परदेश जायगा, ऐसा लोगों से सुन रही हूँ। हे भगवती रजनी, तू इतनी बढ़ जा कि उसका कल हो न हो।

विमर्श—प्रवत्स्यत्पतिका की उक्ति। नायिका का प्रिय दूसरे दिन प्रस्थान करनेवाला है। नायिका ने ऐसे प्रिय को 'खरहृदय' अर्थात् निठुर कहा है। उसके अनुसार उसके प्रिय की निष्ठुरता इस अंश में है कि वह यह जानते हुए भी कि प्रियतमा को उसके विरह में मरणान्त कष्ट होगा और सम्भव यह भी है कि फिर बच न सके, फिर भी परदेश जाने के लिए तैयार है। उसकी निष्ठुरता इससे स्पष्ट है। प्रियतमा को उसके परदेश जाने की खबर से कष्ट होगा यह जानकर अब तक उसने इस खबर को कहा नहीं। लेकिन लोगों की बातचीत से उसे भनक मिल ही गई। वह कल निश्चित चला जायगा। अब उपाय क्या है जिससे वह रोका जा सके ? नायिका अपने प्रयत्नों से निराश हो चुकी है। अब उसका किया कोई उपाय काम आने का नहीं। ऐसी स्थिति में अब कोई दैवीशक्ति ही उसकी सहायता करे तो सम्भव है उसका प्रिय रुक जाय। नायिका ने प्रस्तुत भगवती निशा से ही अपने अभीष्ट की सिद्धि के

लिए प्रार्थना की। अगर निशा इतनी बढ़ जाती है कि कल ही न हुआ तो तब तक निश्चय ही उसका प्रिय प्रस्थान नहीं करेगा। जब मनुष्य अपने बल से निराश हो जाता है तब दैवी बल का आश्रयण लेता है। जैसे दवा के काम न करने पर 'दुआ' का प्रयोग किया जाता है। प्रस्तुत गाथा की प्रवत्स्यत्पतिका कुछ इसी सीमा में पहुँच चुकी है। अपने प्रिय को सुनाते हुए उसके कहने का तात्पर्य यह भी है कि अगर वह उसे जीवित रखना चाहता है तो अपने विघटनकारी आरम्भ से विरत हो जाय। अथवा दूसरी अवतरणिका यह भी है कि कोई स्वैरिणी नायिका अपने जार या उपपति को अपने पति के परदेश-गमन का शुभ-समाचार सुना रही है। उसका अभिप्राय है कि वह तो अब कल के दिन ही बाहर चला जानेवाला है अब तुम्हें मेरे साथ स्वच्छन्द विहार का अवसर पर्याप्त मिल जायगा। पण्डित मथुरानाथ शास्त्री ने इस गाथा का यह हिन्दी रूपान्तर उद्धृत किया है—

'सजन सकारै जायंगे, नैन मरैंगे रोय।
विधना ऐसो रैन करि, भोर कबहु ना होय' ॥ ४६ ॥

होन्तपहिअस्स जाआ आउच्छणजीअधारणरहस्सं।
पुच्छन्ती भमइ घरं घरेण पिअविरहसहिरीओ ॥ ४७ ॥
[भविष्यत्पथिकस्य जाया आपृच्छनजीवधारणरहस्यम्।
पृच्छन्ती भ्रमति गृहं गृहेण प्रियविरहसहनशीलाः ॥]

'जिसका पति परदेस जानेवाला है ऐसी पत्नी प्रिय के विरह को सहन करने में समर्थ विरहिणियों के घर जा-जाकर यह पूछती है कि प्रिय के विदा लेते समय अपने प्राणों के धारण करने (या रोक रखने) का रहस्य क्या है (जैसा तुम्हें अनुभव है) मुझे बताओ।'

विमर्श—नायक से प्रवत्स्यत्पतिका की सखी का कथन। सखी ने प्रवास पर जानेवाले नायक को उसकी प्रिया की वर्तमान स्थिति सूचित करते हुए कहा कि वह तुम्हारे जाने की खबर से विकल हो उठी है और विरहिणियों के घर जा-जाकर तुम्हारे बिदा लेते समय जीवन के धारण का रहस्य पूछा करती है। कैसी मुग्धा है वह ! सखी का अभिप्राय यह है कि तुम्हारे विदा लेते समय की स्थिति में ही अपने जीवित रहने में संशयित है। इसी से स्पष्ट है कि वह किसी प्रकार तुम्हारे विरह को सह न सकेगी और उसकी मृत्यु तो अवश्यम्भाव्य है। अगर तुम चाहते हो कि वह जीवित रहे तो बाहर न जाओ। नायिका आपृच्छन या विदा के अवसर पर जीवन धारण करना साधारण नहीं समझती। वह उसके लिए अत्यन्त दुष्कर कार्य है। हां, उसके

भी सम्पन्न कर लेने का कोई उपाय अवश्य होगा, अन्यथा अनेक विरहिणियाँ अब तक कैसे जीवित हैं। उन्हें निश्चय ही उस अवसर पर जीवित रहने का रहस्य विदित होगा। नायिका के दिल की कशाकश इस गाथा में बड़ी अपूर्वता के साथ उभर आई है। संस्कृत साहित्य में आ उपसर्गक 'प्रच्छ्' धातु का प्रयोग विदा लेने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसा कि कालिदास ने भी 'मेघदूत' में लिखा है—'आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलम्।' श्री जोगलेकर के अनुसार प्रस्तुत गाथा की अवतरणिका इस प्रकार भी सम्भव है कि कोई कुलटा नायिका है, जिसका पति प्रवास पर जानेवाला है। दूती उसके कामुक को यह खबर सुनाकर धीरज धराने का प्रयत्न करती है। अथवा नायिका पति के प्रवास पर जाने की सूचना अपने उपपतियों के घर या समानशील सखियों के घर जा-जाकर सूचितक रती है ॥ ४७ ॥

अण्णमहिलापसङ्गं दे देव करेसु अह्म दइअस्स ।
पुरिसा एक्कन्तरसा ण हु दोषगुणे विआणन्ति ॥ ४८ ॥

[अन्यमहिलाप्रसङ्गं हे देव कुर्वस्माकं दयितस्य ।
पुरुषा एकान्तरसा न खलु दोषगुणौ विजानन्ति ॥]

हे देव, दूसरी महिलाओं के साथ मेरे प्रिय का सम्बन्ध होने दे। क्योंकि जो पुरुष एकान्तरस (अर्थात् एक ही महिला में आसक्त) होते हैं उन्हें गुण और दोष समझने की सूझ नहीं होती।

विमर्श—गुणगर्विता स्वाधीनपतिका की गर्वोक्ति। अपना यह सौभाग्य, कि मुझे छोड़कर मेरा पति किसी दूसरी में अनुराग नहीं करता, व्यक्त करती हुई स्वाधीनपतिका नायिका दैव से प्रार्थना करती है कि उसका पति किसी दूसरी में सम्बन्ध करे। वह सम्बन्ध अनुराग का तो किसी प्रकार सम्भव ही नहीं, क्योंकि प्रिय अनुराग एकमात्र उसी एक में करता है। हां, अगर अदृश्य उसे प्रेरित करे तो शायद सम्बन्ध मात्र कर सकता है। नायिका को यह अभिप्रेत है। क्योंकि तभी उसका प्रिय अवगत हो सकेगा कि उसमें कितने गुण हैं और दूसरी महिलाओं में कितने दोष हैं। एकान्तरस या एकनिष्ठ होने से तो किसी प्रकार दोषगुण का विवेक सम्भव नहीं। अथवा, कोई स्वैरिणी अपने पति को अन्यासक्त होने की प्रार्थना द्वारा अवकाश पाकर अपने जार या उपपति के साथ रमण की अभिलाषा व्यक्त करती है ॥ ४८ ॥

थोअं पि ण णीसरई मज्झण्णे उह सरीरतललुक्का ।
आअवभएण छाई वि पहिअ ता किं ण वीसमसि ॥ ४९ ॥

[स्तोकमपि न निःसरति मध्याह्ने पश्य शरीरतललीना ।

आतपभयेन च्छायापि पथिक तत्किं न विश्राम्यसि ॥]

इस कड़ाके की दुपहरिया में धूप के डर से शरीर तल में विश्राम करती हुई छाया भी जब रंचमात्र भी नहीं टसकती तो हे पथिक! तूं क्यों नहीं विश्राम कर लेता?

विमर्श—पथिक के प्रति स्वयंदूती की उक्ति। नायिका स्वैरिणी और मध्याह्न में अभिसार के कारण मध्याह्नाभिसारिका भी है। किसी के अनुसार नायिका प्रपापालिका (अर्थात् पानीयशालिका पर बैठकर पथिकों को पानी पिलानेवाली है)। कोई थका-मांदा राही वृक्ष की शीतल छाया में विश्राम के लिए क्षणभर रुककर शीघ्रता के कारण तत्काल पुनः चल पड़ने को तत्पर है। नायिका ने उसे दोपहर तक रोककर अपने साथ रमण का अभिप्राय व्यक्त करते हुए कहा—'मध्याह्न के प्रखर आतप के कारण छाया भी शरीरतललीन होकर विश्राम कर रही है। छाया अचेतन है, फिर भी उसे इस चिलचिलाती धूप में बाहर कदम रखने की हिम्मत नहीं होती। हे पथिक! तूं तो सचेतन है, आखिर तूं क्यों चल पड़ने के लिए तैयार है। अरे, जरा विश्राम तो कर ले। इस प्रकार मुझे भी अपनी शरीरतललीना छाया हो जान।' एक टीकाकार के अनुसार उपर्युक्त प्रकार कहती हुई नायिका अंगुलि निर्देश के द्वारा विश्रामस्थल को सूचित करती है। इस प्रक्रिया से पथिक बड़ी स्पष्टता से उसके रताभिलाष को समझ सकता है ॥ ४९ ॥

सुहउच्छअं जणं दुल्लहं पि दूराहि अम्ह आणन्त।
उअआरअ जर जीअं पि णेन्त ण कआवराहोसि ॥ ५० ॥

[सुखपृच्छकं जनं दुर्लभमपि दूरादस्माकमानयन्।
उपकारक ज्वर जीवमपि नयन्न कृतापराधोऽसि ॥]

हे ज्वर, जो व्यक्ति खैरियत पूछने वाला है और हमारे लिए दुर्लभ है, उसे तुमने मेरे पास लाकर मेरा बहुत उपकार किया है। अगर अब तूं मेरे प्राण भी हर ले, तो तुझे मैं अपराधी नहीं समझूंगी।

प्रिय को विरहोत्कण्ठिता का उपालम्भ। विरह में बड़ी प्रतीक्षा के बाद प्रिय नायिका के पास आया। तत्काल नायिका ज्वर से पीड़ित थी। प्रिय का आगमन लोक-व्यवहार के अनुकूल मात्र था। एक रस्म अदा करने के लिए वह आया और नायिका से उसकी खैरियत पूछने लगा। ऐसी स्थिति में नायिका ने झुंझलाते हुए अपने ज्वर को सम्बोधित करके कहा—'हे ज्वर, तुम्हें धन्यवाद है। क्योंकि तूं मेरे सुखपृच्छक (खैरियत पूछने वाले) एवं दुर्लभ जन को मेरे नजदीक लाया है।' प्रिय के प्रति उपालम्भ यह है कि तुमने जब

सुना कि मैं बीमार हूं तब इस डर से कि लोग मेरे मर जाने पर तुम्हारा ही अपराध न सिद्ध करें तुम मेरे पास आये हो। मेरी खैरियत का पूछना बिलकुल कृत्रिम है। तुम्हारे मन में मेरा जरा भी खयाल रहता तो मेरी यह दशा न होती। तुम मेरे लिए जितने दुर्लभ हो औरों के लिए उतने ही सुलभ हो। तुम्हारे प्रति अतिशय स्नेह का हमें यही फल मिला। खैर, यह ज्वर न हुआ होता तो तुम्हारा दर्शन पाना मुश्किल ही था। इस ज्वर ने मेरा बहुत बड़ा उपकार किया। अब यह मुझे मृत्यु के अर्पित भी कर दे तो मैं इसे अपराधी नहीं समझूंगी। क्योंकि उपकार करनेवाला कुछ अपराध भी कर दे तो उसे अपराधी माना नहीं जाता। प्रस्तुत प्रिय के प्रति उपालम्भ के प्रतीयमान होने से अप्रस्तुत ज्वर के प्रति इस कथन में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है ॥ ५० ॥

आमजरो मे मन्दो अहव ण मन्दो जणस्स का तन्ती ।
सुहउच्छअ सुहअ सुअन्ध अन्ध मा अन्धिअं छिवसु ॥ ५१ ॥
[आमो ज्वरो मे मन्दोऽथवा न मन्दो जनस्य का चिन्ता ।
सुखपृच्छक सुभग सुगन्धगन्ध मा गन्धितां स्पृश ॥]

मेरा आमज्वर मन्द है अथवा नहीं, किसी को इसकी चिन्ता करने की क्या पड़ी है ? मेरी खैरियत पूछने वाले हे सुभग ! (दूसरी महिला के आलिङ्गन से अङ्गराग के संक्रान्त हो जाने के कारण) तुम्हारे शरीर से बड़ी सुगन्ध आ रही है। मेरे अङ्गों में ज्वर-जनित दुर्गन्ध है, मैं कहती हूं मेरा स्पर्श न करो।

विमर्श—आर्द्रापराध प्रिय के प्रति खण्डिता की उक्ति। नायक किसी दूसरी के पास रात बिताकर आमज्वर से पीड़ित अपनी नायिका से उसकी खैरियत पूछ रहा है। ईर्ष्याकलुषित नायिका उसके इस बर्ताव पर जलभुन गई और बोली—'जब कि तुम मेरे कोई होते नहीं तब यह क्यों पूछते हो कि तुम्हारा बुखार कम है अथवा नहीं, तुम उसकी चिन्ता करो जो तुम्हारी है। और हां, इस समय तुम्हारे शरीर से किसी के आलिङ्गन से संक्रान्त अंगराग की सुगन्ध आ रही है। अतः हे सुभग, (सौभाग्यसम्पन्न) तुम मेरा स्पर्श न करो। हो सकता है ज्वर के कारण मेरे शरीर की दुर्गन्ध तुम्हारे शरीर में संक्रान्त हो जाय और व्यर्थ ही तुम्हें अपनी प्रियतमा का कोपभाजन बनना पड़े।' इस प्रकार खण्डिता नायिका ने नायक के अपराध की ओर संकेत नहीं करते हुए उपालम्भ दिया। श्री जोगलेकर के अनुसार आम शब्द पृथक् है जो खण्डिता नायिका की ईर्ष्या का सूचक है। नायक की प्रतीक्षा में रात भर

नायिका को जागरण करना पड़ा। यही कारण था कि उसे ज्वर हो आया, अथवा पण्डित मथुरानाथ शास्त्री के अनुसार जागरण के कारण अजीर्ण हो जाने से वह आमज्वर से आक्रान्त हो गई ॥ ५१ ॥

सिहिपिच्छलुलिअकेसे वेवन्तोरु विणिमीलिअद्धच्छि ।
दरपुरिसाइरि विसुमरि जाणसु पुरिसाणँ जं दुःखं ॥ ५२ ॥

[शिखिपिच्छलुलितकेशे वेपमानोरु विनिमीलितार्धाक्षि ।
ईषत्पुरुषायिते विश्रामशीले जानीहि पुरुषाणां यद्दुःखम् ॥]

अरी, थोड़े से इस पुरुषायित में तेरे बाल मयूर-पिच्छ की भांति बिखर गए, तेरे दोनों ऊरु थर-थर कांपने लगे, आयास के कारण तेरी आंखें आधी मुंद गईं और थककर तूं विश्राम करने लगी। इससे तूं स्वयं कल्पना कर ले कि पुरुषों को कितना कष्ट होता है ?

विमर्श—नायक की उक्ति। नायिका ने नायक के थोड़े ही आयास में थक जाने से पुरुषायित आरम्भ किया और वह भी लरज गई। अवसर पाकर नायक ने उस पर रोब जमाते हुए उसकी श्रान्त अवस्था का चित्र उपस्थित किया। रतिजनित कम्प के कारण मयूरपिच्छ की भांति उसके केशपाश का बिखर जाना, स्तन, नितम्ब आदि के भार से ऊरुद्वय का थर-थर कांपना एवं आंखों का अर्धनिमीलित होना आदि से सिद्ध हो जाता है कि नायिका बिलकुल विश्राम करने की अवस्था में पहुंच गई। उसे अब यह विदित हो जाना चाहिए कि पुरुषों को कितना श्रम करना पड़ता है। यह नायिका के सौकुमार्य की प्रशंसा में नायक का हासगर्भित उद्‌गार है ॥ ५२ ॥

पेम्मस्स विरोहिअसंधिअस्स पच्चक्खदिट्ठविलिअस्स ।
उअअस्स व ताविअसीअलस्स विरसो रसो होइ ॥ ५३ ॥
[प्रेम्णो विरोधितसंधितस्य प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकस्य ।
उदकस्येव तापितशीतलस्य विरसो रसो भवति ॥]

पहली बार बिगाड़ हो जाने पर अपराध इतना प्रत्यक्ष रहता है कि पुनः जोड़े गये प्रेम का रस उस जल के समान, जिसे गरमा कर ठंढा कर देते हैं, फीका पड़ जाता है।

विमर्श—माता के प्रति वेश्या की उक्ति। जब कामुक धनवान् था तब वेश्या ने अपना स्नेह पूर्ण रूप से उस पर व्यक्त किया। शनैः शनैः उसकी समस्त सम्पत्ति निचोड़ कर उसे दरिद्र बना घर से बाहर निकाल दिया। इस बीच उसके पास पुनः सम्पत्ति हो गई। वेश्या की माता ने पुनः अपनी पुत्री को उस कामुक पर प्रेम-भाव प्रदर्शित करके वश में करने के लिए कहा। माता

के इस प्रस्ताव पर उसने इस गाथा में अपना उत्तर दिया कि अब किसी प्रकार हमारा प्रेम-भाव उस कामुक पर काम नहीं करने वाला है। क्योंकि हमने दरिद्र हो जाने पर उसे घर से निकाल कर एक अपराध कर दिया है। वह अपराध उसे प्रत्यक्ष अनुभूत है अतः वह प्रेम कदापि सरस नहीं होगा, गरमा कर ठंढा किए हुए जल के समान फीका ही रहेगा। तात्पर्य यह कि अब उस कामुक पर हमारा प्रेम-प्रदर्शन व्यर्थ होगा। लगता है वेश्या अपनी समस्त कलाओं से परिचित नहीं है, अभी उसके वेश-जीवन की शुरुआत ही है। यही कारण है कि वह अपनी माता से कामुक के पुनराकर्षण में अपने को असमर्थ सिद्ध करती है। अन्यथा निपुण गणिका के लिए पुनः प्रेम-प्रदर्शन की युक्ति से कोपित कामुक को वश में करना बहुत दुष्कर नहीं है। इन्हीं युक्तियों की शिक्षा उसे कुट्टनी से प्राप्त होती है। जैसा कि आचार्य दामोदर गुप्त के 'कुट्टनी-मत' में उल्लेख है कि विकराला नामक कुट्टनी के पास वाराणसी की मालती नामक वेश्या कामुकों के वञ्चन के उपाय सीखने जाती है॥ ५३॥

वज्जवडणाइरिक्कं पइणो सोऊण सिञ्जिणीघोसं।
पुसिआइं करिमरिए सरिसवन्दीणं पि णअणाइं ॥ ५४॥

[वज्रपतनातिरिक्तं पत्युः श्रुत्वा शिञ्जिनीघोषम्।
प्रोञ्छितानि बन्द्या सदृशबन्दीनामपि नयनानि॥]

वन्दीगृह में पड़ी हुई युवती ने अपने पति के द्वारा किए गए 'वज्रपात' के समान धनुष की टंकार सुनकर वन्दीगृह की अन्य सदृश युवतियों के आंसू पोंछ दिए।

विमर्श—गाथा की नायिका अपनी अनेक सदृश युवतियों के साथ शत्रु द्वारा वन्दीगृह में डाल दी गई है। उसका पति अपने अनेक सहचरों के साथ शत्रु को समाप्त करने की योजना में संलग्न है। वन्दीगृह की समस्त युवतियां विकल होकर रो रही हैं। इसी अवसर में नायिका के पराक्रमी पति ने अपने धनुष की टंकार की। नायिका ने वज्रपतन का अनुकरण करनेवाली इस टंकार से अपने पति के आगमन का अनुमान करके अपने सदृश युवतियों के आंसू पोंछे। उसका तात्पर्य था कि अब हम लोग वन्दीगृह से शीघ्र ही मुक्त होनेवाली हैं, क्योंकि मेरे पति अब पहुँच चुके हैं। सम्भवतः किसी व्यक्ति ने अपनी इस बात के कि उदात्त चरित वाले लोग जब शक्ति एकत्र कर लेते हैं तब पहले के अपने सहचरों के भी कष्ट दूर करने के लिए प्रयत्न करते हैं, निदर्शन के रूप में प्रस्तुत वन्दीगृह की युवती द्वारा अपनी सदृश युवतियों के आंसू पोंछने का वृत्तान्त सुनाया है।

सहइ सहइ त्ति तह तेण रामिआ सुरअदुव्विअड्ढेण ।
पम्माअसिरीसाइँ व जह से जाआइँ अंगाइं ॥ ५५ ॥
[सहते सहत इति तथा तेन रमिता सुरतदुर्विदग्धेन ।
प्रम्लानशिरीपाणीव यथास्या जातान्यङ्गानि ॥]

सुरत में दुर्विदग्ध उस (कामुक) ने जब यह समझ लिया कि यह सहन करती जा रही है तब इसके साथ इतना उपभोग किया कि इसके अङ्ग-अङ्ग मुर्झाए हुए शिरीष के फूल के समान लरज गए ।

विमर्श—कामुक के प्रति वेश्यामाता की उक्ति । कामुक प्रथम बार कुट्टनी से मिला है । कुट्टनी किसी अन्य भुजङ्ग की निन्दा के व्याज से अपनी पुत्री के कामशास्त्र में निर्दिष्ट प्रकारों में नैपुण्य और सौकुमार्य की प्रशंसा के द्वारा अपने जाल में कामुक को आवेष्टित करने का प्रयत्न कर रही है । उसका कथन है कि पहले आए हुए सुरत-दुर्विदग्ध कामुक ने मेरी पुत्री को बहुत कष्ट दिया । बात यह हुई कि मेरी पुत्री शास्त्रीय प्रकारों को उसके साथ सम्पन्न करने में तत्पर हो जाती थी । उसने उसकी सुकुमारता का तनिक भी खयाल न किया और शिरीष के मुर्झाए हुए फूल के समान इसके अङ्ग-अङ्ग बना दिये । कुट्टनी का तात्पर्य है कि तुम सुरत में दुर्विदग्ध नहीं हो । अतः उसकी सुकुमारता को ध्यान में रखकर उसके साथ नरम व्यवहार करना । उसने अपनी पुत्री के सुरतदुर्विदग्ध भुजङ्ग द्वारा सम्मर्दित अङ्गों को प्रम्लान शिरीष से सन्तुलित करके अङ्गों के अतिशयित सौकुमार्य को सूचित किया है । कालिदास ने भी सौकुमार्यातिशय के वर्णन में शिरीष पुष्प को स्मरण किया है—शिरीष-पुष्पाधिक सौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः । (कुमारसम्भव) । कुट्टनी के प्रस्तुत कथन से यह भी सूचित होता है कि उसकी पुत्री के परिश्रम और समय दोनों संक्षेप में प्राप्त हो सकते हैं, अतः उसके साथ अधिक देर न लगाना ॥ ५५ ॥

अगणिअसेसजुआणा बालअ वोलीणलोअमज्जाआ ।
अह सा भमइ दिसामुहपसारिअच्छी तुह कएण ॥ ५६ ॥
[अगणिताशेषयुवा बालक व्यतिक्रान्तलोकमर्यादा ।
अथ सा भ्रमति दिशामुखप्रसारिताक्षी तव कृतेन ॥]

अरे बालक, तुझे छोड़ वह किसी तरुण को नहीं गिनती, तेरे लिए वह लोक-लाज भी खो चुकी है । चारो ओर आंखें फैलाकर तुझे ही ढूँढती हुई टक रही है ।

विमर्श—अपरक्त नायक के प्रति दूती की उक्ति । दूती ने नायिका की

वर्तमान अवस्था के दुष्परिणाम पर विचार न करनेवाले नायक को 'बालक' कह कर सम्बोधित किया। नायक के बालक अर्थात् बालबुद्धि होने में सन्देह नहीं। क्योंकि वह एक अबला के वध का अपराध करने जा रहा है, फिर भी उसे अपने हित-अहित का बिलकुल विवेक नहीं। दूती के कथनानुसार नायिका काम की नवीं दशा जड़ता तक पहुँच चुकी है। तत्पश्चात् उसका मरण ही अवशेष है। इतने पर भी जब नायक उसके लिए उत्कंठित नहीं हो रहा है तो वह बालक नहीं तो क्या है? काम की दस दशाएँ क्रमशः इस प्रकार हैं— अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण। लोकमर्यादा के अतिक्रमण का तात्पर्य लज्जा का त्याग देना है, क्योंकि नारी का नारीत्व लज्जा से ओतप्रोत है। उसका त्याग करते ही वह किसी अतिरिक्त भूमिका में पहुँच जाती है। लज्जा-त्याग उन्माद या जड़ता की स्थिति में ही सम्भव है। दिशाओं में आँखें प्रसारित करने से उसकी यह स्थिति प्रतीत होती है। नायक के प्रति नायिका की अनन्य आस्था समस्त युवकों की उपेक्षा कर देने से व्यक्त होती है। दूती का तात्पर्य है कि अगर वह चाहे तो किसी युवक को अपना बना सकती है, क्योंकि संसार में उसके चाहनेवालों की कमी नहीं। फिर भी वह तुम्हारे लिए इस शोचनीय अवस्था तक पहुँच गई है। कम से कम अब भी उसे दर्शन देकर अनुगृहीत तो करो ॥ ५६ ॥

करिमरि अआलगज्जिरजलआसणिपडनपडिरवो एसो।
पइणो धणुरवकङ्खिरि रोमञ्चं किं मुहा वहसि ॥ ५७ ॥

[बन्दि अकालगर्जनशीलजलदाशनिपतनप्रतिरव एषः।
पत्युर्धनूरवाकाङ्क्षणशीले रोमाञ्चं किं मुधा वहसि ॥]

अरी बन्दी! असमय में पहुँच कर गर्जन-तर्जन करनेवाले मेघ के वज्रपात करने से उत्पन्न यह प्रतिध्वनि है, न कि तेरे पति के धनुष का टंकार सुनाई पड़ रहा है। धनुष के टंकार के श्रवण के भ्रम से व्यर्थ ही तू रोमाञ्च धारण कर रही है।

विमर्श—बन्दिनी नायिका के प्रति चोर युवक की उक्ति। बन्दीगृह में पड़ी हुई वनिता धनुष का टंकार सुनकर अपने पराक्रमी पति के आगमन की कल्पना से रोमाञ्चित हो उठी है। इसी अवसर पर उसके प्रति आकृष्ट बन्दीगृह के किसी चोर युवक ने उसका उत्साह भंग करने के लिए धनुष के टंकार को असमय में पहुँचे हुए मेघ द्वारा किये गए वज्रपात की प्रतिध्वनि में बदल दिया। चोर युवक का तात्पर्य यह है कि बन्दिनी उत्साहहीन होकर मेघ के आकालिक आगमन का अनुमान कर उसे अनुगृहीत करेगी ॥ ५७ ॥

अज्ज च्चेअ पउत्थो उज्जाअरओ जणस्स अज्जे अ ।
अज्ज अ हलिद्दापिञ्जराइँ गोलाणइतडाइं ॥ ५८ ॥

[अद्यैव प्रोषित उज्जागरको जनस्याद्यैव ।
अद्यैव हरिद्रापिञ्जराणि गोदानदीतटानि ॥]

आज ही पति प्रवास पर गये, और आज ही गाँव के लोग रातभर जागरण करने लगे, तथा आज ही गोदावरी नदी के तट हल्दी के रंग से रंग गए।

विमर्श—श्वश्रू के प्रति वधू की उक्ति। नायिका का पति प्रवास पर गया है। अपने पति की शूरता का वर्णन करते हुए वह अपनी सास से कहती है कि वे आज ही प्रवास पर गये और आज ही गाँव के लोगों की नींद हराम हो गई। अभिप्राय यह कि गाँव के लोग उनकी उपस्थिति में रातभर निश्चिन्त होकर सोते थे। क्योंकि उनके डर से चोर या डाकू गाँव की सीमा में प्रवेश नहीं कर पाते थे। उनके जाते ही लोग रात भर जाग कर अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने लगे। दूसरी व्यञ्जना यह भी सम्भव है कि पति ने प्रवास पर जाने का बहाना मात्र किया है; वे कहीं बाहर नहीं गये हैं। क्योंकि गाँव के लोग (अर्थात् उसकी सपत्नियाँ) उनके जाते ही रात भर जागरण करने लगीं। यह अभिसरण का अच्छा अवसर उन्हें प्राप्त हो गया है। शौर्य निवेदन के पक्ष में गोदावरी नदी के तटों का हल्दी के रंग से रंग जाने का तात्पर्य यह है कि उनकी उपस्थिति में बदमाश औरतों को अपने कामुकों के साथ अभिसरण करने का साहस ही नहीं होता था। उनके जाते ही गोदावरी नदी के तट पर वे अभिसार करने लगीं। यही कारण है कि उनके द्वारा हल्दी के उबटन के धोने से नदी के तट रंग गए हैं। दूसरी व्यंजना के अनुसार मेरे बहुवल्लभ पति की प्रियतमाओं द्वारा अपने हरिद्रोद्वर्तित अंग के प्रक्षालन से तटों की यह स्थिति है। श्री जोगलेकर ने कौतूहल कवि के लीलावई काव्य से एक गाथा उद्धृत की है, जिससे मराठी स्त्रियों के द्वारा गोदावरी में अपने हरिद्रोद्वर्तित स्तनों के प्रक्षालन का उल्लेख है—

'मरहट्ठिया पओहर हलिद्द परिपिंजरं जुवाईए।
धुव्वंति जत्थ गोलाणईए तद्दियसियं पाव ॥'

असरिसचित्ते दिअरे सुद्धमणा पिअअमे विसमसीले ।
ण कहइ कुडुम्बविहडणभएण तणुआअए सोण्हा ॥ ५९ ॥

[असदृशचित्ते देवरे शुद्धमनाः प्रियतमे विषमशीले ।
न कथयति कुटुम्बविघटनभयेन तनुकायते स्नुषा ॥]

वधू को यह विदित हो चुका कि देवर का मन उसके प्रति काम-विकार

से दूषित है। तब उसने अपने उलटे स्वभाववाले पति से इस बात की चर्चा नहीं की। क्योंकि वह डर गई कि ऐसा करने से सारे परिवार का विघटन हो जायगा (सब एक दूसरे से नाता तोड़कर अलग हो जायेंगे) और वह दिन पर दिन कृश होने लगी।

विमर्श—प्रौढ़ा द्वारा नववधू को उपदेश। परिवार में संघटन और विघटन का कारण विशेष रूप से स्त्रियां होती हैं। विघटन उत्पन्न करनेवाली स्त्री सम्मान के योग्य नहीं होती। अतः प्रौढ़ा ने नववधू को उपदेश देते हुए किसी घटित घटना को उद्धृत किया कि देवर को दूषित मन जानकर भी वधू ने अपने पति से कुछ नहीं कहा, क्योंकि वह अपने पति के विषम शील से परिचित थी। उसे डर हो गया कि ऐसा करने पर कुटुम्ब में विघटन होने की सम्भावना है। इस बात को मन में ही रख लिया और मानसिक दुःख के संगोपन से दिनानुदिन कृश होने लगी। उपदेश का तात्पर्य है कि इस प्रकार से किसी अवसर के उपस्थित होने पर स्वयं कष्ट सह लेना अच्छा है पर कुटुम्ब के विघटन का कारण बनना ठीक नहीं।

चित्ताणिअदइअसमागमम्मि कअमण्णुआइँ भरिऊण।
सुण्णं कलहाअन्ती सहीहिँ रुण्णा ण ओहसिआ ॥ ६० ॥
[चित्तानीतदयितसमागमे कृतमन्युकानि स्मृत्वा।
शून्यं कलहायमाना सखीभी रुदिता नोपहसिता ॥]

जब उसने प्रिय को ध्यान में लाकर समागम का अनुभव किया तभी उसके किए गए अपराधों का स्मरण होते ही वह अकेले में झगड़ने लगी। उसकी इस दशा को देख सखियाँ रो पड़ीं। उसका उपहास नहीं किया।

विमर्श—नायक के प्रति सखी की उक्ति। नायक के यह पूछने पर कि वर्तमान में नायिका की स्थिति क्या है? सखी ने उत्तर में कहा कि वह जब एकान्त में बैठी तब अकस्मात् उसके ध्यान में तुम आ गए। तत्काल उसे तुम्हारे अपराध स्मृत हो उठे। उसी समय वह जैसे तुमसे कलह करने लगी। (नायक के अपराध यही है कि उसने नायिका से छुपाकर उसकी सपत्नियों में अनुराग करता है यही सोचकर नायिका व्यथित हो रही है) सखियाँ उसकी इस स्थिति से दुखी होकर रोने लगीं जबकि उन्हें उसका उपहास करना चाहिए, तब भी करुणावश उन्होंने रुदन ही किया, उपहास नहीं। सखी ने नायक को यह सूचित किया कि उसकी प्रिया सर्वदा उसी के ध्यान में डूबी रहती है। उसकी तन्मयता इतनी सीमा तक पहुँच चुकी है कि दूसरे लोग भी उसकी अवस्था से घबड़ा जाते हैं। अतः उसे यथाशीघ्र अनुगृहीत करना चाहिए ॥ ६० ॥

हिअअण्णएहिँ समअं असमत्ताइं पि जह सुहावन्ति ।
कज्जाइँ मणे ण तहा इअरेहिँ समाविआइं पि ॥ ६१ ॥
[हृदयज्ञैः सममसमाप्तान्यपि यथा सुखयन्ति ।
कार्याणि मन्ये न तथा इतरैः समापितान्यपि ॥]

हृदय की बात बूझ जाने वाले विदग्धों के साथ यदि कार्य (समागम) न भी हुए तब भी उनसे जो मजा मिल जाता है वह इतर लोगों (अविदग्धों) के साथ कार्य के सफल होने पर भी नहीं मिलता ।

विमर्श—नागरिक नायक के प्रति विदग्धा की उक्ति । नागरिक नायक नायिका से प्रच्छन्न रत की अभिलाषा प्रकट करता है । वह भी कुलीन होने के नाते प्रच्छन्न समागम ही अच्छा समझती है । नायिका के हृदय की बात नागरिक नायक ने पहले कह दी । इस पर प्रसन्न होकर विदग्धा नायिका ने अपने हृदयाभिज्ञ प्रिय के प्रति अपना सद्भाव प्रकट करते हुए कहा कि यदि हम दोनों का समागम किसी आकस्मिक विघटन से न भी सिद्ध हो सका तब भी मजा किरकिरा नहीं होगा, क्योंकि तुम मेरे हृदयाभिज्ञ हो । अर्थात् मेरे हृदय में जो विचार उत्पन्न होता है तुम्हें उसका पता पहले ही मिल जाता है । इतर जन, जो हृदय की बात बूझ नहीं पाते उनके समागम के सिद्ध हो जाने पर भी कोई मजा नहीं । टीकाकार गंगाधर के अनुसार गाथा की नायिका विदग्धा एवं कुलजाभिसारिका है तथा नायक सदभिरुचिसम्पन्न एवं प्रच्छन्न रताभिलाषी नागरिक है । अथवा नायिका अपने पामर पति के प्रति विराग एवं अपने हृदयाभिज्ञ जार या उपपति (यार) के प्रति अनुराग प्रकट करती है । तीसरी अवतरणिका यह भी सम्भव है कि सखी अधम नायक में अनुरक्त नायिका को रोक रही है ॥ ६१ ॥

दरफुडिअसिप्पिसंपुडणिलुक्कहालाहलग्गछेप्पणिहं ।
पक्कम्बट्ठिविणिग्गअकोमलमम्बुङ्कुरं उअह ॥ ६२ ॥
[ईषत्स्फुटितशुक्तिसम्पुटनिलीनहालाहलाग्रपुच्छनिभम् ।
पक्काम्रास्थिविनिर्गतकोमलमाम्राङ्कुरं पश्यत ॥]

सीप के कुछ फूटे हुए सम्पुट में छिपे हालाहल सर्प की पूँछ के अग्रभाग के समान पके आम की गुठली में से फूट कर निकले हुए इस अंकुर को देखो ।

विमर्श—नायक के प्रति प्रवत्स्यत्पतिका की उक्ति । वर्षाकाल सन्निहित है और नायक प्रवास पर जाने के लिए तैयार है । नायिका ने पके आम की गुठली में से फूटकर निकलते हुए अंकुर की ओर प्रिय का ध्यान आकर्षित किया और यह सूचित किया कि यदि वह इस अवसर पर बाहर चला जायगा

तो ईषत्स्फुटित शुक्ति सम्पुट में निलीन हालाहल सर्प के पुच्छाग्र की भाँति यह आम्राङ्कुर निश्चय ही उसके प्राण हर लेगा। सर्वथा रुक जाने में ही भला है। श्री मथुरानाथ शास्त्री ने हालाहल सर्प की पहचान ब्रह्मसर्प या वहमनिया नामक प्रसिद्ध जन्तुविशेष से की है जिसे राजस्थान में 'बिलब्राह्मणी' भी कहते हैं ॥ ६२ ॥

उअह पडलन्तरोइण्णणिअअतन्तुद्धपाअपडिलग्गं ।
दुल्लक्खसुत्तगुत्थेक्कबउलकुसुमं व मक्कडअं ॥ ६३ ॥
[पश्यत पटलान्तरावतीर्णनिजकतन्तूर्ध्वपादप्रतिलग्नम् ।
दुर्लक्षसूत्रग्रथितैकबकुलकुसुममिव मर्कटकम् ॥]

इस मकड़े को देखो, जो छान्ह से लटकते हुए अपने तन्तु में अपने पैरों को फंसाकर महीन सूत में गुँथे गए मौलसिरी के एक पुष्प की भाँति पड़ा है।

विमर्श—जार के प्रति कुलटा की उक्ति। कुलटा नायिका ने मकड़े के स्वभाव का वर्णन करते हुए घर के बिलकुल वीरान होने की सूचना दी। अतः यहां रतोत्सव निर्मक्षिक भाव से सम्पन्न होगा यह उसका तात्पर्य अभिव्यञ्जित होता है। श्री जोगलेकर के अनुसार कामशास्त्र में निर्दिष्ट 'बन्ध-विशेष' की ओर सम्भवतः इस गाथा में सूचना है, किसी टीकाकार ने ऐसा उल्लेख नहीं किया है ॥ ६३ ॥

उअरि दरदिट्ठथण्णुअणिलुक्कपारावआणँ विरुएहिं ।
णित्थणइ जाअवेअणँ सूलाहिण्णं व देअउलं ॥ ६४ ॥
[उपरीषद्दृष्टशंकुनिलीनपारावतानां विरुतैः ।
निस्तनति जातवेदनं शूलाभिन्नमिव देवकुलम् ॥]

पुराने देवमन्दिर के टूटे हुए कलश का कील थोड़ा-सा निकला दिखाई पड़ रहा है। उसके पास ही कबूतर घुटरकूं की करुण ध्वनि में चीख रहे हैं, मानो शूली पर चढ़ा हुआ यह देव मन्दिर ही उनकी आवाज में वेदना से चिल्ला रहा है।

विमर्श—जार के प्रति कामुकी की उक्ति। नायिका ने जीर्ण देवमन्दिर की वर्तमान स्थिति शूली पर चढ़े हुए की भाँति सूचित करके मन्दिर के सूनापन की ओर संकेत किया और साथ ही यह भी सूचित किया कि कबूतरों की आवाज में और सुरत काल के भणित में कोई अन्तर नहीं होता। अतः किसी प्रकार हम लोगों के यहां होने का पता किसी को नहीं चल सकेगा। नायिका ने शूलाभेद की उत्प्रेक्षा द्वारा जीर्ण मन्दिर के नगर से बाहर होने की ओर भी

संकेत किया है, क्योंकि प्राचीन काल में यह दण्ड नगर के बाहर ही दिया जाता था। इस प्रकार जीर्ण मन्दिर के दीर्घरत के योग्य संकेत स्थान का होना व्यञ्जित होता है। इस प्रसङ्ग में गङ्गाधर ने कामशास्त्र के इस श्लोक को उद्धृत किया है—

'कल्लोलिनीकाननकन्दरादौ दुःखाश्रये चार्पितचित्तवृत्तिः।
मृदुर्मुतारम्भमभिन्नधैर्यः श्लथोऽपि दीर्घं रमते रतेषु ॥'

जैसा कि श्रीजोगलेकर ने लिखा है एक टीकाकार के अनुसार जीर्णावस्था एक दिन को प्राप्त होती है, यह सोचकर धर्माचरण की ओर प्रवृत्त होना चाहिए, प्रस्तुत गाथा का तात्पर्य है ॥ ६४ ॥

जइ होसि ण तस्स पिआ अणुदिअहं णीसहेहिँ अङ्गेहिं।
णवसूअपीअपेऊसमत्तपाडि व्व किं सुवसि ॥ ६५ ॥
[यदि भवसि न तस्य प्रियानुदिवसं निःसहैरङ्गैः।
नवसूतपीतपीयूषमत्तमहिषीवत्सेव किं स्वपिषि ॥]

यदि तू उसकी प्रिया नहीं होती तो नई ब्याई हुई, दूध पीकर ऊंघती पाड़ी (भैंस) की भांति थकी-हारी क्यों पड़ जाती है ?

विमर्श—परकीया सपत्नी के प्रति नायिका की उक्ति। सपत्नी यह कह रही थी कि 'मैं उसकी प्रिया हूँ और न मुझमें वह अनुरक्त है' फिर भी नायिका ने उसके सुरत श्रम क्लान्त शरीर को देखकर ताड़ ही लिया और नई ब्याई हुई दूध पीकर ऊंघती पाड़ी की भाँति शिथिल होकर पड़ जाने के द्वारा अपना अभिप्राय व्यक्त किया। स्पष्ट ही इस उपमा में नायिका द्वारा सपत्नी के प्रति ईर्ष्या व्यक्त होती है ॥ ६५ ॥

हेमन्तिआसु अइदीहरासु राईसु तं सि अविणिद्दा।
चिरअरपउत्थवइए ण सुन्दरं जं दिआ सुवसि ॥ ६६ ॥
[हैमन्तिकास्वतिदीर्घासु रात्रिषु त्वमस्यविनिद्रा।
चिरतरप्रोषितपतिके न सुन्दरं यद्दिवा स्वपिषि ॥]

अरी ! तेरा पति बहुत दिनों से बाहर गया है। इस समय जो तू जाड़े की बड़ी रातों में जगी रहती है और दिन में सो जाती है, यह तेरे लिये ठीक नहीं।

विमर्श—अन्यासक्त नायिका के प्रति बन्धु-वधू की उक्ति। पति के बाहर चले जाने से स्वच्छन्द होकर अतिरिक्त पुरुष के साथ विहार करने वाली नायिका को अपनी चाल सुधारने के लिए परिवार की बहू ने चेतावनी देते हुए कहा कि तू जाड़े की बड़ी रातों में जगी रहती है और दिन में सो जाती है,

इससे सिद्ध है तेरी चाल-चलन बिगड़ चुकी है। अवश्य तू किसी के साथ रात भर जगी रहती है नहीं तो दिन में आजकल कौन सोता है? अगर दुनिया को यह तेरी चाल मालूम हो गई तो तेरे साथ सारे कुटुम्ब की नाक कट जायगी। कम से कम लोकापवाद से तो डर ॥ ६६ ॥

जइ चिक्खल्लभउप्पअपअमिणमलसाइ तुह पए दिण्णं।
ता सुहअ कण्टइज्जन्तमंगमेण्हिं किणो वहसि ॥ ६७ ॥
[यदि कर्दमभयोत्प्लुतपदमिदमलसया तव पदे दत्तम्।
तत्सुभगकण्टकितमङ्गमिदानीं किमिति वहसि ॥]

हे सुभग! यदि वह पंक लग जाने के भय से तेरे पदचिह्नों पर उछल कर पैर रखती हुई चली तो फिर तेरे अङ्ग में स्पष्ट रूप से रोमाञ्च कैसे हो गया है।

विमर्श—प्रणय-गोपन करते हुए नायक के प्रति किसी की उक्ति। नायिका उसके प्रति अनुरक्त है। यह बात तभी स्पष्ट हो गई कि जब वह चलने लगा तो उसके पदस्थान में ही अपने पैर रखती हुई वह चल रही थी। किसी अतिरिक्त महिला के पूछने पर नायक ने उसके प्रणय का गोपन यह कह कर किया कि मेरे प्रति अनुराग से वह इस प्रकार पैर से पैर मिलाकर नहीं चल रही थी, बल्कि पंक लग जाने के भय से उसने ऐसा किया था ॥ ६७ ॥

पत्तो छणो ण सोहइ अइप्पहा एण्व पुण्णिमाअन्दो।
अन्तविरसो व्व कामो असंपआणो अ॰परिओसो ॥ ६८ ॥
[प्राप्तः क्षणो न शोभते अतिप्रभात इव पूर्णिमाचन्द्रः।
अन्तविरस इव कामोऽसम्प्रदानश्च परितोषः ॥]

जैसे प्रभात हो जाने पर चन्द्र फीका पड़ जाता है उसी प्रकार बीत जाने पर उत्सव भी मजा नहीं देता, तथा वह परितोष, जिसमें ठीक तरह से प्रदान नहीं होता, कुछ दिया नहीं जाता, अन्त में वैरस्य उत्पन्न कर देने वाले काम की भांति नहीं रुचता।

विमर्श—कामुक एवं अपनी पुत्री के प्रति वेश्यामाता की उक्ति। कामुक अनुराग-मात्र का ही प्रकाशन करता था और कुट्टनी की भोली-भाली पुत्री उसके अनुराग में फँसी जा रही थी। गणिका ने दोनों को समझाते हुए कहा कि प्रभात में चन्द्र के समान बीत जाने पर उत्सव का मजा नहीं रहता। अर्थात् हे पुत्रि! यह जो तेरे प्रति अनुराग का प्रदर्शन कर रहा है, इसे तू बिलकुल व्यर्थ समझ, इसे तू अपने आनन्द का उपकरण न मान। क्योंकि यह तभी तक अपना रंग-ढंग दिखा रहा है जब तक इसका काम पूरा नहीं हो रहा है।

कामुक को लज्जित करते हुए उसने कहा कि ठीक तरह से प्रदान के होने पर ही परितोष होता है। वह कामना जो अन्त में वैरस्य उत्पन्न कर देती है, किसी को क्या रुचती है? अगर तू हमारा परितोष चाहता है तो प्रदान कर अर्थात् पर्याप्त धन अर्पित कर। अन्यथा इस अनुराग-प्रदर्शनमात्र से यहाँ काम नहीं चलता ॥ ६८ ॥

पाणिग्गहणे व्विअ पव्वईएँ णाअं सहीहिँ सोहग्गं ।
पसुवइणा वासुइकङ्कणम्मि ओसारिए दूरं ॥ ६९ ॥
[पाणिग्रहण एव पार्वत्या ज्ञातं सखीभिः सौभाग्यम् ।
पशुपतिना वासुकिकङ्कणेऽपसारिते दूरम् ॥]

पार्वती के पाणिग्रहण के अवसर पर ही जब शिव ने अपने हाथ से सर्प का कंकण दूर हटाया, तभी सखियों ने पार्वती का सौभाग्य समझ लिया।

विमर्श—कामुक नायक के प्रति दूती की उक्ति। कामुक ने किसी स्वाधीनभर्तृका पर आसक्त होकर दूती से उसकी प्राप्ति का उपाय पूछा। दूती ने उसकी आशा व्यर्थ करते हुए अन्यापदेश द्वारा पार्वती और शिव के प्रणय-सम्बन्ध की चर्चा की और कहा कि विवाह के अवसर में जब शिव ने देखा कि मैं अपने भुजंगवलयित हाथ से पार्वती का पाणिग्रहण करता हूँ तो वह डर जायगी और मंगल के अवसर पर अमंगल रूप सर्प का दर्शन भी ठीक नहीं। यह सोचकर तत्काल उन्होंने अपने हाथ से भुजगवलय उतार दिया। वहां खड़ी पार्वती की सखियों ने पार्वती के सौभाग्य को समझ लिया कि पार्वती को अनुकूल एवं स्वाधीन वर मिला है, यह सौभाग्यवती है। इस प्रसङ्ग के उल्लेख से दूती का तात्पर्य यह है कि नायिका का पति इसी प्रकार बहुत अनुकूल एवं स्वाधीन है। वह सौभाग्यवती है, अब उसे दूसरे की अपेक्षा बिलकुल नहीं। जैसा कि प्रस्तुत गाथा में शिव के द्वारा अपना 'भुजगवलय' पार्वती के डर जाने के भय से उतार देने का उल्लेख है। मेघदूत में भी कालिदास ने लिखा है (१.६२)। गङ्गाधर के अनुसार किसी का यह निदर्शन करते हुए वचन है कि विज्ञ लोग आरम्भ में ही भद्र और अभद्र को जान लेते हैं ॥ ६९ ॥

गिह्मे दवग्गिमसिमइलिआइँ दीसन्ति विञ्झसिहराइं ।
आससु पउत्थवइए ण होन्ति णवपाउसब्भाइं ॥ ७० ॥
[ग्रीष्मे दवाग्निमषीमलिनितानि दृश्यन्ते विन्ध्यशिखराणि ।
आश्वसिहि प्रोषितपतिके न भवन्ति नवप्रावृडभ्राणि ॥]

अयि प्रोषितपतिके! गर्मी के दिनों में विन्ध्याचल के शिखर जंगल की

की आग से मलिन दिखाई पड़ते हैं। वर्षा के नये मेघ ये नहीं हैं, धीरज धर।

विमर्श—सखी द्वारा प्रोषितपतिका को आश्वासन। गर्मी के समाप्त होते-होते नायक के आने की अवधि थी। विन्ध्य के शिखरों पर वर्षा के नये मेघ झुण्ड के झुण्ड आकर लदने लगे। अब तक नायक घर नहीं लौटा। सम्भव है वह किसी दूसरी में आसक्त हो गया हो। इस आशंका से घबराई हुई नायिका को आश्वासन देते हुए सखी ने कहा कि तेरा भ्रम है जो इन्हें वर्षा के नये मेघ समझ रही है। अरी, अभी गर्मी समाप्त कहां हुई? विन्ध्य के जंगल में लगी हुई दावाग्नि के धुएँ से मलिन हो जाने के कारण ये शिखर मेघ के सदृश काले-काले दिखाई पड़ रहे हैं। अभी अवसर है, तेरा प्रिय अवश्य आयगा; तूं धीरज धारण कर। यहां सखी ने स्पष्ट प्रतीत होते हुए मेघ का दावाग्नि के धूम से शिखरों का मलिन होना कह कर अपह्नव किया। अतः यहां 'अपह्नुति अलंकार है ॥ ७० ॥

जेत्तिअमेत्तं तीरइ णिव्वोढुं देसु तेत्तिअं पणअं।
ण अणो विणिअत्तपसाअदुक्खसहणक्खमो सव्वो ॥ ७१ ॥

[यावन्मात्रं शक्यते निर्वोढुं देहि तावन्तं प्रणयम्।
न जनो विनिवृत्तप्रसाददुःखसहनक्षमः सर्वः ॥]

उतना ही प्रणय कर जितना तू निभा सके; क्योंकि सब लोग प्रणय के खण्डित हो जाने की पीड़ा सहने में समर्थ नहीं होते।

विमर्श—बहुवल्लभ प्रिय के प्रति नायिका की उक्ति। नायक अनेक नायिकाओं में आसक्त हो जाने की आदत से लाचार है। एक को छोड़ दूसरी को अपनाता रहता है। प्रस्तुत नायिका उसके इस स्वभाव से अवगत होकर एकरस प्रणय की उससे याचना करती है। उसे नायक का प्रणय उतनी ही मात्रा में अभीष्ट है जितनी मात्रा में वह उसका एकरसता से निर्वाह कर सकता है। उसे उसके सीमातिक्रान्त प्रणय की आकांक्षा बिलकुल नहीं, जो दूसरी के प्राप्त होते ही विलीन हो जाता है। प्रणय के खण्डित हो जाने पर प्रणयी की, जो अपने प्रिय के लिए अपना सब कुछ लुटा बैठता है, अवस्था शोचनीय हो जाती है। नायिका भी अपने प्रणय के खण्डित होने की स्थिति में पहुँच कर मृत्यु के गर्त में गिर जाने से बचने के लिए नायक से पहले ही उसके प्रणय की एकरसता चाहती है। ऐसे प्रिय को जो प्रणय को भङ्ग कर देता है और गैरों से नाता जोड़ता है, उर्दू-साहित्य में 'बेवफा' या 'काफिर' आदि कहते हैं। महाकवि गालिब को भी अपने काफिर प्रिय से कुछ इसी तरह की शिकायत है, जैसाकि वे पछताते हुए कहते हैं—

दिल दिया जान के क्यों उसको वफादार 'असद' ।
गलती की कि जो काफिर को मुसलमा समझा ॥ ७१ ॥

वहुवल्लहस्स जा होइ वल्लहा कह वि पञ्च दिअहाइं ।
सा किं छट्ठं मग्गइ कत्तो मिट्ठं व बहुअं अ ॥ ७२ ॥

[बहुवल्लभस्य या भवति वल्लभा कथमपि पञ्च दिवसानि ।
सा किं षष्ठं मृगयते कुतो मृष्टं च बहुकं च ॥]

जो स्त्री वहुत वल्लभाओं में प्रेम करने वाले की प्रिया होती है वह किसी प्रकार पांच दिन देख पाती है, फिर क्या वह छठें दिन की प्रतीक्षा करती है ? अरी ! जो चीज अनुकूल है वह कहीं बहुत भी होती है ?

विमर्श—बहुवल्लभ नायक के प्रति मानिनी नायिका की उक्ति । नायक के द्वारा अपना स्थिर न रहने वाला प्रणय जताने पर मानवती नायिका ने कहा कि मैंने सिर्फ पांच दिन के मिलन के लिए ही तुमसे प्रणय किया था, क्योंकि मुझे यह मालूम था कि तुम्हारे प्रियजन बहुत हैं । ऐसी स्थिति में छठें दिन की प्रतीक्षा ही मैं कब करती हूँ । तूं जिससे चाहो अनुराग करो; मेरे प्रति अनुराग की अवधि अब समाप्त हो गई । लोक में प्रचलित यह उक्ति है—'कुतो मृष्टं (मिटं च बहुकं च' अर्थात् अनुकूल या मधुर वस्तु भी बहुत कहां होती है ! तात्पर्य यह कि मेरा प्रणय तुम्हारे प्रति अब भी अविच्छिन्न है । लेकिन तुम्हारी इस चाल को देखकर मुझे तुम्हारी प्रतीक्षा नहीं । दूसरी अवतरणिका के अनुसार अपने अभिमत प्रिय का निरन्तर प्राप्त होने वाले मिलन सौख्य से वञ्चित होकर खिन्न होती हुई नायिका के प्रति सखी की उक्ति है । भोज के अनुसार जो न रहने पर भी अपनी शोभा में अक्षुण्ण रहता है ऐसे प्रस्तुत नायिका ने इस अनुराग को 'कुसुम्भराग' कहते हैं ॥ ७२ ॥

जं जं सो णिज्झाअइ अङ्गोआसं महं अणिमिसच्छो ।
पच्छाएमि अ तं तं इच्छामि अ तेण दीसन्तं ॥ ७३ ॥

[यद्यत्स निध्यायत्यङ्गावकाशं ममानिमिषाक्षः ।
प्रच्छादयामि च तं तमिच्छामि च तेन दृश्यमानम् ॥]

प्रिय मेरे जिस-जिस अङ्ग को एकटक दृष्टि से देखने लगता है, (शर्म के मारे) उस-उसको मैं ढंक लेती हूँ और यह भी चाहती हूँ कि वह उसे देखता रहे ।

विमर्श—सखी के प्रति नायिका की उक्ति । स्वाधीन-भर्तृका नायिका ने अपने सौभाग्य पर इतराते हुए सखी से कहा कि मेरे जिस-जिस अनावृत अंग को प्रिय एकटक देखने लगता है उसे मैं ढँक लेती हूँ । तात्पर्य यह है कि

मेरे प्रति प्रिय का आकर्षण इतना है कि वह मुझे बराबर अतृप्त निगाहों से देखते रहना चाहता है। ऐसी स्थिति में जब वह आँखें गड़ाकर मेरे खुले अङ्गों को निहारता है तब शर्म के मारे मैं उन्हें तत्काल ढक लेती हूँ। मेरा यह तात्पर्य नहीं रहता कि वह उस प्रकार मुझे न देखा करे। बल्कि मैं तो यह चाहती हूँ कि वह बराबर मुझे उसी तरह निहारता रहे, लेकिन यह निगोड़ी शर्म मेरी यह इच्छापूर्ण होने नहीं देती। मैं इससे परेशान हूँ। नायिका का तात्पर्य उर्दू के इस पद्यार्थ से व्यक्त हो जाता है—'पर्दा भी उठाया जाता है सूरत भी छिपाई जाती है।' अर्थात् पर्दा इसलिए उठाया जाता है कि प्रिय दृष्टि से बभुक्षु देखे और तत्काल सूरत इसलिए छिपा दी जाती है कि शर्म ऐसा होने नहीं देती ॥ ७३ ॥

दिढमण्णुदूणिआएँ वि गहिओ दइअम्मि पेच्छह इमाए।
ओसरइ बालुआमुट्ठि व्व माणो सुरसुरन्तो ॥ ७४ ॥

[दृढमन्युदूनयापि गृहीतो दयिते पश्यतानया।
अपसरति बालुकामुष्टिरिव मानः सुरसुरायमाणः ॥]

प्रिय के प्रति मन में अतिशय क्रोध से खिन्न होकर उसने जो मान को बहुत कसकर पकड़ा था, वह बालू की तरह सुरसुरा कर धीरे-धीरे उसकी मुट्ठी से निकल रहा है।

विमर्श—नायक के प्रति सखी की उक्ति। नायक के अपराध पर उसकी प्रिया उससे कलह कर बैठी और मानवती होकर उसे पृथक् कर दिया। धीरे-धीरे जब उसका मान घटने लगा तब वह अपने किए पर पश्चात्ताप करने लगी। इस प्रकार नायिका को 'कलहान्तरिता' की अवस्था में प्राप्त जानकर उसकी सखी ने नायक को उत्साहित किया कि अब उसका कस कर पकड़ा हुआ मान बालू की मूठ की तरह सुरसुरा कर कम होता जा रहा है। यही मौका है अनुनय के द्वारा उसे अनुकूल करने का ॥ ७४ ॥

उअ पोम्मराअमरगअसंवलिआ णहअलाओ ओअरइ।
णह सिरिकण्ठब्भट्ठ व्व कण्ठिआ कीररिञ्छोली ॥ ७५ ॥

[पश्य पद्मरागमरकतसंवलिता नभस्तलादवतरति।
नभःश्रीकण्ठभ्रष्टेव कण्ठिका कीरपंक्तिः ॥]

देखो, आकाश से नीचे की ओर उतरती हुई यह शुक-पंक्ति ऐसी लग रही है मानो पद्मराग और मरकत मणियों की बनी हुई कण्ठिका (कण्ठाभरण) नभःश्री के कण्ठ से छूटकर गिरी आती हो।

विमर्श—नायिका के प्रति नायक की उक्ति। उद्यानविहार के प्रसङ्ग में

नायिका के मन में कामभाव को उद्दीप्त करने के लिए नायक ने आकाश से शुक-पंक्ति के अवतरण के दृश्य की ओर प्रियतमा का ध्यान आकृष्ट किया। प्राकृतिक दृश्य रति के उद्दीपन विभाव माने जाते हैं। सुग्गों का साम्य हरिद्-वर्ण वाले मरकत से और उनके चन्चुपुट का साम्य रक्तवर्ण के पद्मराग से मानकर यह नभःश्री के कण्ठाभरण के आकाश से गिरने की उत्प्रेक्षा की गई है। टीकाकार गंगाधर के अनुसार सुरतासक्त किसी नायिका ने चिररमणार्थ अपने प्रिय को अन्यमनस्क करने के लिए तत्काल उसका ध्यान शुक-पंक्ति की ओर आकृष्ट किया है ॥ ७५ ॥

ण वि तह विएसवासो दोग्गच्चं मह जणेइ संतावं।
आसंसिअत्थविमणो जह पणइजणो णिअत्तन्तो ॥ ७६ ॥

[नापि तथा विदेशवासो दौर्गत्यं मम जनयति सन्तापम्।
आशंसितार्थविमना यथा प्रणयिजनो निवर्तमानः ॥]

प्रियजन का विदेश में रहना और दारिद्रय उतना मुझे कष्ट नहीं देते जितना उनके निराश मन होकर, उनका लौट जाना कष्ट देता है।

विमर्श—दूती के प्रति नायिका की उक्ति। जार ने नायिका को निर्दिष्ट संकेत स्थान में पहुँचाने के लिए दूती को भेजा। नायिका के पति ने दूती के साथ बाहर जाने की अनुमति नहीं दी। तब नायिका ने अन्योक्ति की शैली में मनस्वी के व्यपदेश से दूती के सम्मुख विवशताजन्य खेद प्रकट करते हुए कहा कि ऐसी जगह में रहना जहां पदे-पदे नियन्त्रण हो और दौर्गत्य अर्थात् गति-निरोध (कहीं बाहर जाने पर रोक) हो, इन दोनों से उतना मुझे आज कष्ट नहीं हुआ है जितना मिलन की आशा से आकर निराश हो लौटे जाते हुए प्रियजन को देखकर हुआ है। दूसरी अवतरणिका के अनुसार जार के प्रति कुलटा नायिका का यह कथन है कि इस समय अभिसार का अवसर नहीं ॥ ७६ ॥

खन्धग्गिणा वणेसु तणेहिँ गामम्मि रक्खिओ पहिओ।
णअरवसिओ णडिज्जइ साणुसएण ब्व सीएण ॥ ७७ ॥

[स्कन्धाग्निना वनेषु तृणैर्ग्रामे रक्षितः पथिकः।
नगरोषितः खेद्यते सानुशयेनेव शीतेन ।]

वनों में लकड़ी के खुत्थ जलाकर और गांव में तृण जलाकर किसी प्रकार पथिक की ठंढक से रक्षा की, अब जब यह शहर में रहने आया तब यहां भी जाड़ा मानो क्रोधवश उसे सता रहा है (शहर में न लकड़ी के खुत्थ हैं और न तृण ही)।

विमर्श—नायिका के प्रति दूती की उक्ति। जाड़े की रात में ठंढ के मारे बेचारा पथिक बहुत कष्ट में था। वनों में पथिक ने लकड़ी की अग्नि से और गांव में तृण की अग्नि से किसी प्रकार अपनी रक्षा की। शहर में जब वह आया तब उसे जाड़े के कष्ट से बचने का तत्काल कोई साधन प्राप्त नहीं हुआ; क्योंकि यहां उसे न लकड़ी के खुंथ ही मिले और न खर-पात ही। दूती ने तरस खाकर नायिका से उसके प्राणों की रक्षा के उपाय के लिए प्रार्थना की। दूती का तात्पर्य यह था कि नायिका उस शीतार्त पथिक को इस एकान्त रात्रि में अपने शयनीय पर ले जाकर स्तनों की गर्मी से इसकी रक्षा करे। यह अवसर भी बड़ा अनुकूल है, क्योंकि जाड़े के भय से घर के सब लोग अपनी-अपनी कोठरी में कील लगाकर सो गये हैं। गंगाधर के अनुसार स्वयंदूती नायिका पथिक के प्रति अपनी कामना प्रकट कर रही कि तत्काल इस शहर में जाड़े से बचने के लिए न लकड़ी मिल सकेगी और न तृण ही। बचने का सिर्फ एक ही उपाय है, अगर चाहो तो मेरे शयनीय पर चले चलो ॥ ७७ ॥

भरिमो से गहिआहरधुअसीसपहोलिरालआउलिअं।
वअणं परिमलतरलिअभमरालिपइण्णकमलं व ॥ ७८ ॥

[स्मरामस्तस्या गृहीताधरधुतशीर्षप्रघूर्णनशीलालकाकुलितम्।
वदनं परिमलतरलितभ्रमरालिप्रकीर्णकमलमिव ॥]

जब मैंने चुम्बन के लिए उसका अधर पकड़ा, तब उसने अपना सिर इस प्रकार कम्पित किया कि उसके घूर्णनशील बाल बिखर गए। परिमल से चंचल हुए भौंरों से व्याप्त कमल के समान उसका मुख याद आता है।

विमर्श—सखा के प्रति नायक की उक्ति। नायक अपने स्नेह की दृढ़ता एवं अपना कामकलाचातुर्य कामिनी को सुनाते हुए मित्र से कहता है कि मैंने अधरपान के लिए ज्यों ही उसका अधर पकड़ा त्यों ही उसने अपना सिर कम्पित कर दिया और उसके बाल बिखर गए। उसका मुख तत्काल परिमल-तरलित भौंरों से व्याप्त कमल की भाँति लगने लगा। नायक के कथन का तात्पर्य यह है कि मैं चुम्बन की शास्त्रीय शैली का परिचय रखता हूँ और साथ ही मेरे साथ मिलन का सुख कभी विस्मृत नहीं होता ॥ ७८ ॥

हल्लफलण्हाणपसाहिआणँ छणवासरे सवत्तीणं।
अज्जाएँ मज्जणाणाअरेण कहिअं व सोहग्गं ॥ ७९ ॥

[उत्साहतरलत्वस्नानप्रसाधितानां क्षणवासरे सपत्नीनाम्।
आर्यया मज्जनानादरेण कथितमिव सौभाग्यम् ॥]

उत्सव के दिन बड़े उत्साह से सौतों ने स्नान करके, सिंगार-पटार से अपने

को प्रसाधित किया, लेकिन आर्या ने स्नान का अनादर करके अपना सौभाग्य स्पष्ट कर दिया।

विमर्श—नायिका के प्रति सखी की उक्ति। उत्सव के दिन नायक को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए नायिका की सपत्नियों ने बड़े उत्साह से अपने को खूब प्रसाधित किया। लेकिन नायिका ने प्रसाधन की तो बात दूर रही स्नान तक का अनादर कर दिया। सखी के कथनानुसार नायिका ने अपना सौभाग्य व्यक्त किया कि जब नायक उसके गुणों पर स्वतः मुग्ध है तब उसे आकृष्ट करने के लिए स्नान और प्रसाधन की कोई आवश्यकता नहीं। सपत्नियाँ भले ही बनें ठनें पर वह इसके कायल नहीं। नायिका द्वारा गर्व के कारण प्रदर्शित इस प्रकार के अनादर के भाव को बिव्वोक कहते हैं, जैसा कि 'साहित्यदर्पण' में आता है—'बिव्वोकस्त्वतिगर्वेण वस्तुनीष्टेऽप्यनादरः।' गंगाधर की अवतरणिका के अनुसार विट ने कामुकनायक को फँसाने के लिए किसी नवेली के सौभाग्यगर्वसूचक 'बिव्वोक' की चर्चा की है॥ ७९॥

ण्हाणहलिद्दाभरिअन्तराइँ जालाइँ जालवलअस्स।
सोहन्ति किलिञ्चिअकण्टएण कं काहिसी कअत्थं॥ ८०॥
[स्नानहरिद्राभरितान्तराणि जालानि जालवलयस्य।
शोधयन्ती क्षुद्रकण्टकेन कं करिष्यसि कृतार्थम्॥]

हल्दी को अंग में उबट कर नहाने से जो तेरे जालीदार कंगन (जाल-वलय) में मैल बैठ गई है उसे सीक से छुड़ाती हुई आज तू किसे कृतार्थ करनेवाली है?

विमर्श—नायिका के प्रति विदग्ध नायक की उक्ति। रजोदर्शन के चौथे दिन नायिका ने हल्दी का उबटन लगाकर स्नान किया और तत्काल अपने कंगन के छोटे-छोटे छिद्रों में बैठी हुई हल्दी की मैल को सींक से छुड़ाने लगी। विदग्ध नायक ने ऐसे अवसर पर पहुँच कर अभिलाषा प्रकट करते हुए पूछा कि आज तू किसे कृतार्थ करनेवाली है, अर्थात् जो आज के दिन तेरे साथ रमण करेगा उसका जन्म सफल हो जायगा। दूसरी अवतरणिका के अनुसार हल्दी आदि स्थानीय द्रव्य से स्नान करके कंकतिका या कंघी द्वारा केशसंमार्जन में बाहुमूल ऊपर उठाकर संलग्न नायिका के प्रति किसी साभिलाप नागरिक का यह उद्गार है। गंगाधर के अनुसार काकु द्वारा नायक के इस कथन में 'क्या किसी को कृतार्थ नहीं करेगी?' इस प्रकार कंघी-चोटी में ही समय बीत जायगा तो क्या किसी को तू कृतार्थ कर सकेगी? नागरिक के इस कथन से प्रतीत होता है कि नायिका स्वैरिणी है। क्योंकि नायिका ही अपने कृतार्थनीय कान्त का निश्चय कर सकती है॥ ८०॥

अद्दंसणेण पेम्मं अवेइ अइदंसणेण वि अवेइ ।
पिसुणजणजम्पिएण वि अवेइ एमेअ वि अवेइ ॥ ८१ ॥

[अदर्शनेन प्रेमापैत्यतिदर्शनेनाप्यपैति ।
पिशुनजनजल्पितेनाप्यपैत्येवमेवाप्यपैति ॥]

दर्शन नहीं होने से प्रेम बना नहीं रहता और बार-बार के दर्शन से भी प्रेम उखड़ जाता है। धूर्त की बात से और बिना किसी कारण के भी प्रेम नष्ट हो जाता है।

विमर्श—नायक के प्रति विदग्ध नायिका की उक्ति। नायक परदेश जाने के लिए तत्पर है। नायिका ने उसके अदर्शन से अपने प्रेम के न रहने की सम्भावना से कहा कि कुछ लोगों का प्रेम प्रिय के अदर्शन होने की अवस्था में नहीं रहता, कुछ लोगों का प्रेम बार-बार के दर्शन से समाप्त हो जाता है। धूर्त की बात से और बिना किसी कारण के भी प्रेम नष्ट हो जाता है। दूसरी अग्रिम गाथा में इन चारो प्रकार के लोगों का निर्देश किया गया है। यहाँ नायिका का तात्पर्य है कि तुम प्रवास पर जाओगे तो तुम्हारे अदर्शन से मेरा प्रेम फिर नहीं रहेगा और फिर यह भी बात नहीं कि तुम्हारे बार-बार के दर्शन से मेरे प्रणय में कोई कमी आती है। ऐसे लोग दूसरे ही होते हैं ॥ ८१ ॥

अद्दंसणेण महिलाअणस्स अइदंसणेण णीअस्स ।
मुक्खस्स पिसुणअणजम्पिएण एमेअ वि खलस्स ॥ ८२ ॥

[अदर्शनेन महिलाजनस्यातिदर्शनेन नीचस्य ।
मूर्खस्य पिशुनजनजल्पितेनैवमेवापि खलस्य ॥]

प्रिय के दर्शन न होने से स्त्रियों का प्रेम नष्ट हो जाता है, नीच का प्रेम बार-बार के दर्शन से बना नहीं रहता और धूर्त की बात से मूर्ख लोग प्रेम छोड़ देते हैं तथा खल प्रकृति के लोगों का प्रेम बिना किसी कारण के नष्ट हो जाया करता है।

विमर्श—नायक के प्रति नायिका की उक्ति। जब प्रिय प्रवास पर चला जाता है तब उसके अदर्शन से लघु हृदयवाली स्त्रियाँ किसी प्रकार अपने प्रेम का संरक्षण नहीं कर पातीं। नीच व्यक्ति का प्रेम बार-बार के दर्शन से इसलिए चला जाता है कि नीचजन सदा प्रयोजन ढूंढा करते हैं। बार बार के आगमन से उनकी उत्कण्ठा समाप्त हो जाती है और उनका प्रेम भी बना नहीं रहता। मूर्ख लोग धूर्त की बात से प्रेम छोड़ देते हैं क्योंकि उन्हें स्वयं विवेक नहीं रहता तथा दुष्ट प्रकृति के लोग तो बिना कारण ही प्रेम-भाव छोड़ बैठते हैं। पर तुम इन चारों प्रकार के लोगों में से नहीं हो। तुम्हारा प्रेम सदा

अविच्छिन्न रहता है। तुम अपने प्रियजनों के सर्वदा अनुकूल रहते हो। तात्पर्य यह कि तुम प्रवास पर जाने की प्रतिकूलता कभी नहीं कर सकते, यह तुम्हारे स्वभाव के विरुद्ध है। तुम्हारा प्रेम कभी घटता नहीं, बल्कि प्रतिदिन बढ़ता ही रहता है ॥ ८२ ॥

पोट्टपडिएहिँ दुःखं अच्छिज्जइ उण्णएहिँ होऊण।
इअ चिन्तआणँ मण्णे थणाणँ कसणं मुहं जाअं ॥ ८३ ॥

[उदरपतिताभ्यां दुःखं स्थीयत उन्नताभ्यां भूत्वा।
इति चिन्तयतोर्मन्ये स्तनयोः कृष्णं मुखं जातम् ॥]

इस प्रकार उन्नत रहने के बाद उदर पर झुक जाने से बड़ा कष्ट होगा, मानो इस चिन्ता से उसके स्तनों के मुख काले पड़ गए।

विमर्श—नायक के प्रति सखी की उक्ति। नायिका आसन्न प्रसवा की स्थिति में थी। उसकी सखी ने इस डर से कि प्रसव के बाद स्तनों के झुक जाने पर नायक कहीं उसके प्रति अपना अनुराग कम न कर दे, नायक को समझाते हुए कहा कि उसके स्तनों के मुख काले पड़ते जा रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें उन्नत रहने के बाद झुक जाने की स्थिति में पहुँचने पर बहुत कष्ट की सम्भावना हो रही है। बात भी ठीक है; लोक में ऐसा देखा ही जाता है कि उन्नत जीवन-यापन करने के बाद उदर पूर्त्यर्थ जीवन व्यतीत करने वालों को अरुन्तुद पीड़ा होती ही है। (यहां 'उदरपतित' का अर्थ स्तनों के पक्ष में उदर पर शिथिल होकर झुक जाना है और व्यक्ति के पक्ष में केवल पेट भरने की स्थिति में जीवन-यापन है। इस प्रकार की चिन्ता और लज्जा के मारे स्तनों के मुख कृष्ण वर्ण के होते जा रहे हैं। गर्भिणी स्त्री के स्तनों के मुख स्वभावतः काले पड़ने लगते हैं। सखी ने उदरपतित हो जाने की चिन्ता को उनके कृष्ण वर्ण होने की उत्प्रेक्षा की। नायक के प्रति सखी का वक्तव्य यह है कि तुम्हीं उसके स्तनों की चिन्ता दूर कर सकते हो अर्थात् स्तनों के झुक जाने पर भी नायिका के प्रति अनुराग पूर्ववत् रखना) ॥ ८३ ॥

सो तुज्झ कए सुन्दरि तह छीणो सुमहिला हलिअउत्तो।
जह से मच्छरिणीऍ वि दोच्चं जाआएँ पडिवण्णं ॥ ८४ ॥

[स तव कृते सुन्दरि तथा क्षीणः सुमहिलो हालिकपुत्रः।
यथा तस्य मत्सरिण्यापि दौत्यं जायया प्रतिपन्नम् ॥]

हे सुन्दरी! तेरे लिए वह किसान का छोकरा अपनी रूपवती भार्या के होने पर भी इतना क्षीण हो गया है कि सपत्नी से डाह की भावना रखने-वाली उसकी जाया भी दूती का काम स्वीकार कर चुकी है।

विमर्श—नायिका के प्रति दूती की उक्ति। दूती ने नायिका को उसके चाहनेवाले हालिक पुत्र से संघटित करने की इच्छा से कहा कि वह तेरे लिए बहुत क्षीण हो चुका है। वह हालिक पुत्र है, अर्थात् उसका पिता हालिक अभी जीवित है। अतः स्वच्छन्द रूप से तेरे साथ उसके दिन कटेंगे। उसकी रूपवती भार्या वर्तमान है, फिर भी वह तेरे लिए तड़प रहा है। उसकी क्षीणता इतनी बढ़ गई है कि उसकी जाया भी उसके अनुराग-पात्र से उसे मिला देने के लिए अपने मन में सपत्नी के ईर्ष्या भाव को दबाकर दूतीकर्म के लिए तत्पर है। अब तू स्वयं समझ सकती है कि हालिक पुत्र पर तेरे बिना क्या गुजरती होगी ॥ ८४ ॥

दक्खिण्णेण वि एन्तो सुहअ-सुहावास अम्ह हिअआइं।
णिक्कइअवेण जाणं गओसि का णिव्वुदी ताणं ॥ ८५ ॥

[दाक्षिण्येनाप्यागच्छन्सुभग सुखयस्यस्माकं हृदयानि।
निष्कैतवेन यासां गतोऽसि का निर्वृतिस्तासाम् ॥]

हे सुभग, समान पक्षपात (दाक्षिण्य) के कारण जब तुम आकर हमारे हृदयों को सुख देते हो तो जिनके समीप बिना किसी कैतव के (एकमात्र अनुराग से) तुम्हारा जाना होता है उनके सुख का क्या कहना ?

विमर्श—बहुवल्लभ नायक के प्रति विदग्धा नायिका की उक्ति। नायक बहुत दिनों के बाद किसी प्रकार आ गया है। नायिका ने उपालम्भ के साथ अपना प्रणय भाव निवेदन करते हुए कहा कि तुम्हारा इस तरह का आगमन भी जिसमें तुम्हारा दाक्षिण्य ही एकमात्र कारण हो सकता है हमारे लिए सुखकर है। तात्पर्य यह कि तुम्हारे प्रियजनों की कमी नहीं, तुम्हारा समान पक्षपात सब पर है। इसलिए इस प्रकार का तुम्हारा आगमन भी हमारे लिए बहुत अंश में सुखकर है ही। पर हम तो उनके सुख की थाह नहीं लगा सकते जिनके समीप तुम बिना किसी कैतव के केवल अनुराग से प्रेरित होकर जाते होगे। वे प्रमदाएँ धन्य हैं जो तुम्हारे कैतवहीन अनुराग के पात्र बनी हैं। न जाने वे कितनी होंगी जिनसे तुम्हारा अनुराग सच्चा होगा। मैं तो इतने दिनों से तुम्हारी होकर भी अब तक कैतवहीन अनुराग का पात्र नहीं बन सकी। गंगाधर के अनुसार यह विलम्ब करके पहुँचे हुए प्रिय के प्रति किसी कलहान्तरिता नायिका की उक्ति है ॥ ८५ ॥

एक्कं पहरुव्विण्णं हत्थं मुहमारुएण वीअन्तो।
सो वि हसन्तीएँ मए गहिओ बीएण कण्ठम्मि ॥ ८६ ॥

[एकं प्रहारोद्विग्नं हस्तं मुखमारुतेन वीजयन्।
सोऽपि हसन्त्या मया गृहीतो द्वितीयेन कण्ठे ॥]

जब वह ताड़न से झनझनाए मेरे एक हाथ को मुँह की हवा देने लगा तब हँस कर मैंने अपने दूसरे हाथ से उसका कण्ठालिङ्गन किया।

विमर्श—सखी के प्रति स्वाधीनपतिका की उक्ति। सखी ने नायक के सम्बन्ध में इतर नायिकासक्ति की सम्भावना की, तब उसका उत्तर देते हुए स्वाधीनपतिका ने कहा कि जब वह ताड़न करने पर भी मेरे उपचार में सदा तत्पर रहता है तब ऐसा सन्देह करना निर्मूल है। उदाहरण के लिए एक बार जब मैंने उसे ताड़न किया तो मेरे हाथ में उत्पन्न उद्विग्नता का अनुमान करके झट वह मुँह से फूँककर पीड़ा शान्त करने में तत्पर हो गया। उस समय मैंने अपना सारा क्रोध भूल कर उसका दूसरी बाहु से कण्ठालिङ्गन कर लिया॥ ८६॥

अवलम्बिअमाणपरम्मुहीएँ एन्तस्स माणिणि पिअस्स।
पुट्ठपुलउग्गमो तुह कहेइ संमुहट्ठिअं हिअअं॥ ८७॥
[अवलम्बितमानपराङ्मुख्या आगच्छतो मानिनि प्रियस्य।
पृष्ठपुलकोद्गमस्तव कथयति सम्मुखस्थितं हृदयम्॥]

अरी मानिनी, मान अवलम्बन करके पराङ्मुख हो जो तू चली जा रही है तेरे पीछे आते हुए प्रियतम को तेरे पीठ का रोमाञ्च सूचित कर रहा है कि तेरा हृदय उसके सम्मुख (अर्थात् अनुकूल) है।

विमर्श—नायिका के प्रति सखी की उक्ति। नायक के साथ प्रणय-कलह करके नायिका केलिगृह से बाहर निकल आई, उसके पीछे-पीछे नायक भी चला। इस स्थिति को देखकर सखी ने नायिका के मान को सर्वथा कृत्रिम व्यक्त करते हुए कहा कि तू मान अवलम्बन करके नायक से पराङ्मुख होकर चल पड़ी है लेकिन तेरा हृदय नायक के सम्मुख है। अर्थात् यह तेरा मान हार्दिक नहीं, कृत्रिम है। यह सूचित करनेवाला तेरे पृष्ठ का रोमाञ्च है। इसी से व्यक्त है कि तू अलीक रोष कर बैठी है, तेरे मन में नायक के प्रति उत्कण्ठा अब भी वर्तमान है। यह अधीरा प्रकृति की नायिका है, क्योंकि थोड़े में ही तुनक गई॥ ८७॥

जाणइ जाणावेउं अणुणअविद्दविअमाणपरिसेसं।
अइरिक्कम्मि वि विणआवलम्बणं सच्चिअ कुणन्ती॥ ८८॥
[जानाति ज्ञापयितुमनुनयविद्रावितमानपरिशेषम्।
विजनेऽपि विनयावलम्बनं सैव कुर्वती॥]

प्रिय के द्वारा अनुनय करके मान के कम किए जाने पर भी एकान्त में मिलन के समय विनय का अवलम्बन करके वही मानिनी अपने बचे हुए मान को जताना खूब जानती है।

विमर्श—मानिनी नायिका के प्रति सखी की उक्ति। मानिनी नायिका मान धारण द्वारा अपने प्रिय को बार-बार व्यग्र कर देती है। उपदेशिका सखी का कथन है कि यह प्रकार ठीक नहीं; क्योंकि इस प्रकार प्रिय के विशेष उद्विग्न होने से हानि की सम्भावना है। सखी ने किसी गूढ़मानधारिणी नायिका के कृत्य का उल्लेख करते हुए नायिका को गूढ़मानधारण का प्रकार समझाया। गूढ़मानधारिणी नायिका पति के किञ्चित् अनुनय पर वह तुरत उसके अनुकूल हो जाती है। अर्थात् व्यक्त नहीं होने देती कि उसके हृदय में अब भी मान अवशिष्ट है। जब वह प्रिय के साथ एकान्त में मिलती है तब धाष्ट्र्य के स्थान पर विनय का अवलम्बन कर लेती है। इसीसे उसका मान भी व्यक्त हो जाता है और प्रिय को विशेष उद्विग्नता भी नहीं होती। सुरतकाल में नारी का ढीठ व्यवहार ही उसका आभूषण माना गया है, जैसा कि महाकवि माघ ने भी कहा है—

'अन्यदा भूषणं पुंसः क्षमा लज्जेव योषितः।
पराक्रमः परिभवे वैयात्यं सुरतेष्विव॥'

(द्वितीय सर्ग, शिशुपाल०) वैयात्य अर्थात् धृष्टता, ढीठ व्यवहार ॥ ८८ ॥

मुहमारुएण तं कण्ह गोरअं राहिआएँ अवणेन्तो।
एताणँ वल्लवीणं अण्णाण वि गोरअं हरसि॥ ८९॥

[मुखमारुतेन त्वं कृष्ण गोरजो राधिकाया अपनयन्।
एतासां वल्लवीनामन्यासामपि गौरवं हरसि॥]

हे कृष्ण, गायों के खुरों से उड़ती हुई धूल के कन को राधा की आँख से फूँक कर निकालते हुए तुम इन गोपियों और इतर महिलाओं के गौरव एवं गौरता दोनों का हरण कर रहे हो।

विमर्श—एकानुरक्त बहुवल्लभ नायक के प्रति कृष्ण के व्याज नायिका की उक्ति। सायंकाल घर लौटती हुई गायों के खुर से उड़ी धूल के कण के राधा की आंख में पड़ जाने का बहाना बनाकर कृष्ण उसे मुँह से फूँक कर निकालने लगे। वे तत्काल इस बहाने राधिका के मुँह के पास अपना मुँह करके चुम्बन कर लेना चाहते थे। इस प्रकार उन कृष्ण ने साथ की गोपियों और इतर स्त्रियों के गौरव एवं गौरता दोनों को हर लिया। इस प्राकृत गाथा में एक के 'गोरअ' का हरण करते हुए दूसरी के 'गोरअ को हरण करते हो' इस प्रकार का विरोध स्पष्ट प्रतीत होता है। उसका परिहार दूसरे 'गोरअ' अर्थात् गौरव या गौरता करने से हो जाता है। गंगाधर के अनुसार यहां 'गोरअ' शब्द गौरता के अर्थ में प्रयुक्त है। तात्पर्य यह है कि राधा को तुम्हारे द्वारा इस प्रकार सम्मानित देखकर

गोपवधूटियों और इतर महिलाओं के मुँह पर कालिमा छा गई, अर्थात् उनकी वह गौरता या कान्ति तत्काल न रही। प्रस्तुत में नायिका ने अपने बहुवल्लभ एकानुरक्त प्रिय से कहा कि कृष्ण के समान तुमने भी राधा जैसी उस सुभगा को अपने एकमात्र अनुराग का आश्रय बना कर हम सभी के गौरव को कम कर दिया है। अपने प्रियजनों को इस प्रकार हेठ कर देना उचित नहीं॥ ८९॥

किं दाव कआ अहवा करेसि कारिस्सि सुहअ एत्ता हे।
अवराहाणँ अलज्जिर साहसु कअए खमिज्जन्तु॥ ९०॥
[किं तावत्कृता अथवा करोषि करिष्यसि सुभगेदानीम्।
अपराधानामलज्जाशील कथय कतरे क्षम्यन्ताम्॥]

हे सुभग, तुमने जो अपराध किए हैं, वर्तमान में कर रहे हो अथवा भविष्य में करोगे उनमें कोई क्या क्षमा के योग्य है? तुम अपनी शर्म तो खो बैठे हो, अब तुम्हीं इसका उत्तर दो।

विमर्श—बहुवल्लभ नायक के प्रति खण्डिता की उक्ति। नायिका के बार-बार मना करने पर भी नायक अपनी अन्य प्रेयसी के पास पहुँच ही जाता है। उसने आज भी वही अपराध करके आए हुए नायक को पुनः अपराध न करने की कसम खाने पर कहा कि हे सुभग, तुम्हारे अपराध सिर्फ आज के होते तो कदाचित् क्षन्तव्य थे पर तुम्हारी यह चाल सिद्ध कर रही है कि भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों में तुम इसी प्रकार अपराध करने से बाज नहीं आवोगे। तुम्हें डांट-डपट की लज्जा होती तो आज फिर ऐसा नहीं करते। अब तुम्हीं कहो तुम्हारे अपराध क्या क्षमा के योग्य हैं? लगता है तुम्हें अपने सौभाग्य पर गर्व हो गया है, क्योंकि तुम्हें चाहनेवाली एक नहीं कई हो गई हैं॥ ९०॥

णूमेन्ति जे पहुत्तं कुविअं दासा व्व जे पसाअन्ति।
ते व्विअ महिलाणँ पिआ सेसा सामि व्विअ वराआ॥ ९१॥
[गोपायन्ति ये प्रभुत्वं कुपितां दासा इव ये प्रसादयन्ति।
त एव महिलानां प्रियाः शेषाः स्वामिन एव वराकाः॥]

जो अपने स्वामित्व को प्रकट होने नहीं देते और कुपित होने पर सेवक की भाँति अनुनय करते हैं वे ही महिलाओं के प्रिय होते हैं। दूसरे बेचारे तो केवल कहने के 'स्वामी' बने रहते हैं।

विमर्श—दुर्विदग्ध नायक को दूती का उपदेश। नायक अपनी कुपित प्रियतमा को दण्डप्रयोग द्वारा अपने स्वामी होने का रोब जमाकर अनुकूल करने के लिए प्रयत्नशील है। इससे उसकी दुर्विदग्धता सूचित होती है। भय और ताड़न से किसी प्रकार अनुकूल करके भी कोई उसके प्रेम का पात्र

बन नहीं सकता। दूती के अनुसार प्रियतमा के कुपित होने पर उसके प्रेम की आकांक्षावाले नायक को सेवक की भाँति मनावन करना चाहिए। क्योंकि इसी में उसकी सफलता है। ऐसे अवसर में किसी प्रकार अपने स्वामित्व को प्रकट नहीं होने देना चाहिए। अन्यथा लाख अनुनय करने पर भी उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जो वराक नायक अनुनय से पराङ्मुख होकर दण्डप्रयोग करते हैं वे सिर्फ नाम के 'स्वामी' बने रहते हैं। तात्पर्य यह कि तुम भी अगर उसका प्रियतम बनना चाहते हो तो अनुनय के द्वारा उसे अनुकूल करो। इसमें अपना अपमान न समझो। 'सरस्वती कण्ठाभरण' में राजा भोज ने इस गाथा के प्रथम चरण को 'दूनेन्ति ये मुहुत्तं'—'दूनयन्ति ये मुहूर्तम्' पाठ के रूप में मानकर कहा है कि नायक अपनी प्रिया के प्रेम की परीक्षा लेने के लिए 'गोत्रस्खलन' करता है, अर्थात् अपनी प्रिया को कुपित करने के लिए किसी दूसरी नायिका का नाम अकस्मात् कह डालता है और उसके कुपित होने पर सेवक की भाँति अनुनय करता है। इस गाथा का समानार्थी सुभाषित 'अमरुक शतक' एवं 'सुभाषितावली' में इस प्रकार मिलता है—

"आश्लिष्टा रभसाद्विलीयत इवाक्रान्ताऽप्यनङ्गेन या,
यस्याः कृत्रिमचण्डवस्तु करणाकूतेषु खिन्नं मनः।
कोऽयं काऽहमिति प्रवृत्तसुरता जानाति या नान्तरं,
रन्तुः सा रमणी स एव रमणः शेषौ तु जायापती" ॥ ९१ ॥

तइआ कअग्घ महुअर ! ण रमसि अण्णासु पुप्फजाईसु ।
बद्धफलभारगुरुइँ मालइँ एण्हि परिच्चअसि ॥ ९२ ॥

[तदा कृतार्घ मधुकर न रमसेऽन्यासु पुष्पजातिषु ।
बद्धफलभारगुर्वीं मालतीमिदानीं परित्यजसि ॥]

'रे भौंरे, उन दिनों जब मालती विकसित हुई थी तब तू उसी की अर्चना किया करता था और अन्य पुष्प जातियों में नहीं रमता था। अब वही मालती फलभार से बोझिल हो चुकी है तो उसे छोड़ रहा है ?'

विमर्श—अन्यापदेश द्वारा नायक के प्रति दूती की उक्ति। नायक प्रणय में पहले बड़े अभिनिवेश से प्रवृत्त हुआ, जब उसकी प्रियतमा गर्भिणी हुई तो उससे उदासीन हो गया। दूती ने उसके औदासीन्य पर उपालम्भ देते हुए भ्रमर के व्याज से कहा कि 'रे भौंरे जब मालती में मकरन्द छाया हुआ था तब तू उसे खूब चाहता था, प्रस्तुत में, जब वह अपने समस्त गुणों से पूर्ण थी तब तू दूसरी महिलाओं को छोड़ उसी में तल्लीन रहता था। आज मालती में मकरन्द समाप्त हो गया और वह फलभारगुर्वी हो गई, प्रस्तुत में तेरी प्रिया को गर्भ हो गया तो अब उसे छोड़ रहा है ?' गाथा में 'कअग्घ' के स्थान पर

'किअग्घ' पाठ स्वीकार करने पर रूपान्तर 'कृतघ्न' होगा। इस समय तू उसके समस्त उपकार भूल बैठा है, निश्चय ही ऐसा करने से तू 'कृतघ्न' है। गाथा में 'रम' धातु का प्रयोग भूतकाल के अनुकूल था, फिर भी गाथाकार ने उसे वर्तमान में प्रयुक्त करके भ्रमर या नायक का भूतकाल में किया हुआ अपराध अब भी आँखों के सामने नाच रहा है, यह भाव व्यञ्जित किया है। दूसरी अवतरणिका के अनुसार 'गर्भ धारण की अवस्था में वह उपभोग के अयोग्य, तथा विपरीत रतादि में इस समय असमर्थ है, यह जार के प्रति दूती की सूचना है ॥ ९२ ॥

अविअण्हपेक्खणिज्जेण तक्खणं मामि ! तेण दिट्ठेण ।
सिविणअपीएण व पाणिएण तण्ह च्चिअ ण फिट्टा ॥ ९३ ॥

[अवितृष्णप्रेक्षणीयेन तत्क्षणं मातुलानि तेन दृष्टेन ।
स्वप्नपीतेनेव पानीयेन तृष्णैव न भ्रष्टा ॥]

अरी मातुलानी, उस पर दृष्टि पड़ते ही ऐसी इच्छा होती है कि देखते ही रह जायँ। उस क्षण जब मैंने उसे देखा तो जैसे कोई स्वप्न में पानी पीता है और उसे तृप्ति नहीं होती: उसी प्रकार मेरी देखने की तृष्णा गई ही नहीं।

विमर्श—मामी के प्रति नायिका की उक्ति। नायक की ओर से मामी के सिफारिश पर नायिका ने अपना अनुराग व्यक्त करते हुए कहा कि मैं तो स्वयं उसे देखकर तृप्त नहीं होती। दूसरी अवतरणिका के अनुसार समीप में स्थित अपने जार को यह सूचना देती है कि तुझे देखने की और भी इच्छा है फिर किसी अनुकूल अवसर में मिलना। इस प्रकार किसी दूसरे नायक के अपदेश से यह नायिका की उक्ति है ॥ ९३ ॥

सुअणो जं देसमलंकरेइ, तं विअ करेइ पवसन्तो ।
गामासण्णुम्मूलिअमहावडट्ठाणसारिच्छं ॥ ९४ ॥

[सुजनो यं देशमलंकरोति तमेव करोति प्रवसन् ।
ग्रामासन्नोन्मूलितमहावटस्थानसदृशम् ॥]

अच्छे लोग जिस स्थान को अपने निवास से अलंकृत करते हैं उस स्थान को गांव के समीप उन्मूलित हुए बरगद के पेड़वाले स्थान की तरह बना देते हैं।

विमर्श—भुजङ्ग के प्रति कुलटा की सूचना। भुजङ्ग ने गांव के समीप स्थित किसी विशाल वटवृक्ष को अपनी प्रिया से मिलने का संकेत पहले निश्चित किया था। किसी कारण वश उस वृक्ष के उन्मूलित हो जाने पर

उसका पूर्व निश्चित संकेत भङ्ग हो गया। कुलटा नायिका ने उसे चिन्तित देखकर सुजन की प्रशंसा के व्याज से किसी दूसरे संकेत स्थान के निश्चय करने की सूचना दी। उसका तात्पर्य है कि वट वृक्ष के समान ही कोई घन-च्छाय सुखद एकान्त संकेतस्थान फिर होना चाहिए। जिस प्रकार सुजन के चले जाने पर उसके परिचित लोगों को कष्ट होता है उसी प्रकार तुम्हारे मिलन के अनुकूल स्थान के न रहने पर मुझे भी बहुत कष्ट है ॥ ९४ ॥

सो णाम संभरिज्जइ पब्भसिओ जो खणं पि हिअआहि ।
संभरिअव्वं च कअं गअं च पेम्मं णिरालम्बं ॥ ९५ ॥

[स नाम संस्मर्यते प्रभ्रष्टो यः क्षणमपि हृदयात् ।
स्मर्तव्यं च कृतं गतं च प्रेम निरालम्बम् ॥]

स्मरण तो इसका किया जाता है, जो क्षण भर भी हृदय से दूर हट जाता है। जो प्रेम प्रिय के स्मरण के योग्य कर दिया जाता है वह बिना आधार का हुआ नहीं बना रहता।

विमर्श—प्रिय के प्रति नायिका की उक्ति। नायक ने परदेश जाते हुए अपनी प्रिया से जब यह कहा 'मुझे स्मरण करना' तब नायिका ने अपना उत्कट स्नेह व्यक्त करते हुए कहा। उसका तात्पर्य है कि जो व्यक्ति क्षण भर भी मेरे हृदय से दूर नहीं होता उसके विरह में मेरी अवस्था क्या होगी? प्रवास पर जाने वाले नायक को उसकी स्थिति पर ध्यान देना चाहिए।

णासं व सा कवोले अज्ज वि तुह दन्तमण्डलं बाला ।
उब्भिण्णपुलअवइवेढपरिगअं रक्खइ वराई ॥ ९६ ॥

[न्यासमिव सा कपोलेऽद्यापि तव दन्तमण्डलं बाला ।
उद्भिन्नपुलकवृतिवेष्टपरिगतं रक्षति वराकी ॥]

तुमने उस बाला के कपोल पर अपने दन्तक्षत का जो चिह्न न्यास (थाती) की भाँति रख छोड़ा है उसे वह बेचारी आज भी अपने रोमाञ्च की गठरी में बाँधकर उसकी रक्षा कर रही है ॥ ९५ ॥

विमर्श—नायक के प्रति दूती की उक्ति। नायक ने अपना अतिशय प्रेम जताकर मुग्धप्रकृति नायिका को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। जब उसे कोई दूसरी मिल गई तो पहली को भूल गया। दूती ने ऐसे मन्दस्नेह विरल-दर्शन नायक को अनुकूल करते हुए कहा कि वह बाला जो पुरुषों के चरित्र को ठीक-ठीक अनुभव न कर सकने के कारण तुम्हारे अनुराग में फँस गई, आज तक तुम्हारे द्वारा कपोल पर किए गए तुम्हारे दन्तक्षत की उस प्रकार रक्षा कर रही है जिस प्रकार कोई अन्यत्र जाते हुए किसी विश्वासी को

अपनी सम्पत्ति दे जाता है और वह जी-जान से बढ़कर उसकी रक्षा करता है। तुम तो ऐसे हो कि ऐसी अनुरक्त प्रिया को एकदम भूल बैठे। न्यास की भाँति उस दन्तक्षत की रक्षा भी वह अपने रोमाञ्च से बाँधकर करती है। तात्पर्य यह कि जब कभी वह दर्पण में अपना मुखमण्डल निहारती है तब तुम्हारा स्मरण होते ही उसके कपोल रोमाञ्च से भर जाते हैं ॥ ९६ ॥

टिट्ठा चूआ, अग्घाइआ सुरा, दक्खिणाणिलो सहिओ।
कज्जाइं व्विअ गरुआइँ, मामि ! को वल्लहो कस्स ? ॥ ९७ ॥

[दृष्टाश्चूता आघ्राता सुरा दक्षिणानिलः सोढः।
कार्याण्येव गुरुकाणि मातुलानि को वल्लभः कस्य ॥]

अरी मातुलानी, (काम को उद्दीप्त करने वाले) आम के अंकुर मैंने इस वसन्त में देखे, (प्रिय की प्रतीक्षा में पानगोष्ठी के लिए सुसज्जित) सुरा की गन्ध भी मैंने ली और दक्खिनी बयार का भी अनुभव किया (अब भी वह प्रवास से नहीं लौटा)। ये कार्य ही मेरे जीवन के महान बन गए। हन्त, इस दुनिया में कौन किसका प्रिय होता है (अर्थात् कौन किसकी प्रिया होती है)।

विमर्श—मामी के प्रति नायिका की उक्ति। नायिका का प्रिय प्रवास की अवधि की समाप्ति के दिन भी आ नहीं सका। वह समग्र सामग्री को एकत्र करके उसकी प्रतीक्षा करती रही। कारण पूछने पर उसकी मामी ने आश्वासन दिया कि किसी विशेष कार्यवश वह नहीं पहुँच सका है। कार्य के समाप्त होते ही वह आ जायगा। इस पर नायिका ने अपना उद्वेगोद्गार प्रकट किया। उपर्युक्त अर्थ टीकाकार 'गङ्गाधर' के अनुसार है। वस्तुतः नायिका का तात्पर्य इस प्रकार होना चाहिए कि विदेश पर गए प्रिय ने आम्राङ्कुर देखे और वसन्तागम में दुःखी होकर सुरा न पी होगी तो कम से कम उसकी गन्ध तो अवश्य सूंघ ली होगी। मलयानिल भी सहा ही होगा। ऐसी स्थिति में भी जब वह नहीं लौटा तब यही लगता है कि द्रव्योपार्जन के ही कार्य उसकी दृष्टि में मुझसे अधिक महत्त्व रखते हैं। दुनिया में कौन किसका प्रिय होता है ? यदि वह मुझे चाहता तो सब कुछ छोड़कर अवश्य चला आता। अथवा ऐसा प्रतीत होता है कि उसे दूसरी जब वहीं प्राप्त हो गई तो दूरस्थित मेरे लिए वह इतना क्यों परेशान होता ? दूसरी अवतरणिका के अनुसार समीप स्थित पथिक को आकृष्ट करने के लिए स्वयंदूतीप्रोषितभर्तृका नायिका का इस प्रकार अपने नायक में वैराग्य का प्रदर्शन है ॥ ९७ ॥

रमिऊण पअं पि गओ जाहे उवऊहिउं पडिणिउत्तो।

अहअं पउत्थपइआ व्व तक्खणं सो पवासि व्व ॥ ९८ ॥
[रन्त्वा पदमपि गतो यदोपगूहितुं प्रतिनिवृत्तः ।
अहं प्रोषितपतिकेव तत्क्षणं स प्रवासीव ॥]

रमण करने के पश्चात् वह एक कदम भी मुझसे दूर हटकर फिर मुझे आलिङ्गन करने के लिए लौटता है, उसी क्षण मैं प्रोषितपतिका के समान हो जाती हूँ और वह प्रवासी के समान हो जाता है ।

विमर्श—सखी के प्रति स्वाधीनपतिका की उक्ति । सखी ने नायिका को एक क्षण भी प्रिय से वियुक्त न देख कर प्रियसमागमार्थ उत्कण्ठित जीवन के अनुभव के लिए प्रिय को प्रवास पर भेज देने की सलाह दी तब नायिका ने कहा कि वह एक क्षण भी मुझसे दूर हट जाता है, उतने ही में मैं उसके लिए उत्कण्ठित जीवन यापन करनेवाली प्रोषितपतिका (के समान) बन जाती हूँ और वह मेरे लिए प्रवासी (के समान) हो जाता है । इतने में ही जब हमें उत्कण्ठा-पूर्ण समागमसुख सिद्ध हो जाता है तब उसे विदेश जाने की अनुमति मुझसे किसी प्रकार नहीं दी जायगी । किसी के अनुसार दूसरी अवतरणिका यह है कि सखी के मानधारणार्थ कथन पर नायिका ने अपना असामर्थ्य प्रकट करते हुए इस प्रकार कहा है ॥ ९८ ॥

अविइण्हपेच्छणिज्जं समसुहदुःखं विइण्णसब्भावं ।
अण्णोण्णहिअअलग्गं पुण्णेहिँ जणो जणँ लहइ ॥ ९९ ॥
[अवितृष्णप्रेक्षणीयं समसुखदुःखं वितीर्णसद्भावम् ।
अन्योन्यहृदयलग्नं पुण्यैर्जनो जनं लभते ॥]

जिसे दिन-रात देखते रहो देखने की उत्कण्ठा कम ही न हो, जो बराबर सुख-दुःख में साथ देता है, सद्भाव रखता है और जो हृदय में हृदय मिला देता है ऐसे व्यक्ति को बहुत पुण्यों वाला ही प्राप्त करता है (मेरा यह भाग्य कहां ?) ।

विमर्श—सखी के प्रति कुलटा की उक्ति । अपना पति न उतना सुन्दर ही है, न सुख-दुख में साथ रहता है, न सद्भाव एवं अनुराग ही प्रगट करता है लेकिन मेरे उस प्रिय में ये समस्त गुण एकत्र प्राप्त होते हैं । इस प्रकार कुटला ने अपने पति के प्रति वैराग्य एवं अपने जार के प्रति अनुराग सूचित किया । अथवा दूसरी अवतरणिका के अनुसार अपने मन्दस्नेह पति को अनुकूल करने के लिए नायिका की उक्ति ॥ ९९ ॥

दुःखं देन्तो वि सुहं जणेइ जो जस्स वल्लहो होइ ।
दइअणहदूणिआणं वि वड्ढइ थणाणँ रोमञ्चो ॥ १०० ॥

[दुःखं ददद‌पि सुखं जनयति यो यस्य वल्लभो भवति ।
दयितनखदूनयोरपि वर्धते स्तनयो रोमाञ्चः ॥]

जो जिसका प्रिय होता है वह उसे दुःख देता हुआ भी सुख पहुँचाता है। प्रिय के नखक्षत से कष्ट पाये हुए भी प्रिया के स्तनों में रोमाञ्च हो जाता है।

विमर्श—दूती के प्रति पतिव्रता की उक्ति। दूती के इस कथन पर कि जब तेरा पति तुझे दिन-रात दुख देता रहता है फिर तू उसे छोड़ क्यों नहीं देती? कब तक इस प्रकार उसके साथ रहेगी? नायिका ने अपने पति के प्रति अपना अतिशय अनुराग प्रकट करते हुए ऐसी स्थिति में भी अपने सुखी रहने को युक्ति से सिद्ध किया। जिस प्रकार प्रिय के नखक्षत होने पर कष्ट होता है और साथ ही रोमाञ्च भी होने लगता है इसी से स्पष्ट है कि दुःख देनेवाला भी प्रिय सुख देता है। मुझे उसी की सेवा में रह कर अपना जीवन सफल करना है। श्री जोगलेकर के अनुसार नायिका ने दुःख के साथ सुख की इस युक्ति से 'कामशास्त्र' के सिद्धान्त को अनादि सिद्ध और अबाधित प्रकट करते हुए तामस नखक्षत, राजस प्रेम और सात्त्विक रोमाञ्च इन तीनों के परस्पर सम्मिश्रण-जनित सौख्य की सीमा तक इसी अवस्था में अपने को पहुँची हुई व्यक्त करके दूती के प्रस्ताव का खण्डन किया है ॥ १०० ॥

रसिअजणहिअअइए कवइच्छलपमुहसुकइणिम्मविए ।
सत्तसअम्मि समत्तं पढमं गाहासअं एअं ॥ १०१ ॥

[रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविनिर्मिते ।
सप्तशतके समाप्तं प्रथमं गाथाशतकमेतत् ॥]

कविवत्सल (हाल) के प्रमुख सुकवियों द्वारा निर्मित रसिकजनों के हृदय को प्रिय लगनेवाले इस 'सप्तशतक' में यह प्रथम गाथाशतक समाप्त हुआ ॥ १०१ ॥

द्वितीयं शतकम्

धरिओ धरिओ विअलइ उअएसो पिअसहीहिँ दिज्जन्तो ।
मअरद्धअबाणपहारजज्जरे तीएँ हिअअम्मि ॥ १ ॥

[धृतो धृतो विगलत्युपदेशः प्रियसखीभिर्दीयमानः ।
मकरध्वजबाणप्रहारजर्जरे तस्या हृदये ॥]

प्रिय के सामने आनेपर मान धारण करने का उपदेश सहेलियाँ बार-बार देती हैं, पर उस नायिका का हृदय इस प्रकार कामदेव के बाण-प्रहार से छलनी हो चुका है कि उपदेश बार-बार धारण करने पर भी ठहर नहीं पाता ।

विमर्श—सखी के प्रति सखी की सपरिहासोक्ति । नायिका के लिए प्रिय के प्रति मान धारण करना कोई विशेष सकारण हो, ऐसी बात नहीं । प्रिय विलम्ब से आया, नहीं आ सका, या किसी दूसरी स्त्री का नाम ले लिया आदि कारणों के न रहने पर भी वे मान करके प्रिय को सदा अपने अनुकूल देखना चाहती हैं । प्रस्तुत गाथा की नायिका सखियों द्वारा मान धारण के प्रकारों से अवगत होकर भी काम की विवशता से प्रिय के सामने मानाभिनय करने में असमर्थ हो जाती है । उसकी सखी ने उसकी असमर्थता का कारण यही कहा कि उसका हृदय कामदेव के बाण-प्रहार से छलनी हो गया है जिससे किसी प्रकार हम लोगों का उपदेश टिक नहीं पाता । यहाँ हिन्दी की प्रकृति के अनुसार 'जर्जर' की व्यञ्जना छलनी से समझनी चाहिए । जिस प्रकार शतच्छिद्र छलनी में अगर कोई घड़ों से पानी उड़ेल दे और पानी उसमें नहीं ठहरे उसी प्रकार नायिका के शतच्छिद्र हृदय से उपदेश बार-बार धारण करने पर भी विगलित ही हो जाता है । 'दीयमानः' के शानच् और 'धृतो धृतो' के 'क्त' से यह प्रकट होता है कि उपदेश दिया ही जाता है कि गिर पड़ता है, अर्थात् उपदेश के दान और विगलन में क्षणभर का भी विलम्ब नहीं होता । इस प्रकार सखी ने परस्पर बातचीत में नायक के प्रति नायिका का अनुराग प्रकट किया । सम्भव है उसने नायिका के प्रति कम अनुराग करनेवाले नायक को सुनाते हुए यह कहा हो ॥ १ ॥

तडसंठिअणीडेक्कन्तपीलुआरक्खणेक्कदिण्णमणा ।
अगणिअविणिवाअभआ पूरेण समं वहइ काई ॥ २ ॥

[तटसंस्थितनीडैकान्तशावकरक्षणैकदत्तमनाः ।
अगणितविनिपातभया पूरेण समं वहति काकी ॥]

तट पर के घोंसले में कौवी (काकपत्नी) एकाग्र मन से अपने बच्चों को पाल रही थी, अकस्मात् नदी में बाढ़ आ जाने से आश्रय-वृक्ष गिर गया और प्रवाह के साथ वह भी अपनी मृत्यु की परवाह न करके (बच्चों को बचाने के लिए) बहने लगी।

विमर्श—सखी के प्रति नायिका की उक्ति। जार ने नदी के तट पर मिलने के लिए संकेत निश्चित किया था और समय पर नहीं पहुँचा। उसे सुनाते हुए नायिका ने नदी तट पर स्थित काकपत्नी के वृत्तान्त को अपनी सखी से कहा। उसका तात्पर्य यह था कि मैं उस अवसर पर नदी तट पर गई थी और जाकर यह दृश्य देखा। अगर तुम्हें इसमें सन्देह हो तो, तुम जाकर देख सकते हो, तट वाला पेड़ गिर गया है और उसमें घोंसला बनाकर रहनेवाली काकपत्नी भी बेचारी अपने बच्चों के साथ बह गई है। जिसके प्रति जिसका सहज अनुराग होता है वह उसे अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी प्राप्त करना चाहता है। खासकर यह स्वभाव स्त्रियों में देखा जाता है, तुम जैसे पुरुषों में नहीं। तुमसे मिलने के लिए जब नदी में भीषण बाढ़ आई थी तब मैं वहां पहुंची हूँ क्या इससे तुम्हारे प्रति उस प्रकार का मेरा अनुराग नहीं व्यक्त होता? लेकिन सब कुछ भूल कर तुमने मुझे धोखा दिया। इस प्रकार नायक के द्वारा संकेत स्थल पर न पहुँच कर वञ्चित हुई नायिका को नायिका भेद के आचार्यों ने 'विप्रलब्धा' कहा है ॥ २ ॥

बहुपुप्फभरोणामिअभूमीगअसाह सुणसु विण्णत्तिं ।
गोलातडविअडकुडङ्ग महुअ सणिअं गलिज्जासु ॥ ३ ॥

[बहुपुष्पभरावनामितभूमीगतशाख शृणु विज्ञप्तिम् ।
गोदातटविकटनिकुञ्जमधूक शनैर्गलिष्यसि ॥]

अरे गोदावरी तट के विकट कुञ्ज के निवासी मधुर महुए का वृक्ष! बहुत से विकसित पुष्पों के भार से तेरी शाखाएं जमीन तक झुक गई हैं, तुझसे मेरी यह एक विनती है कि अपने फूल जरा रह-रह कर टपका।

कुलटा की जार को सूचना। स्वैरिणी नायिका ने मधूक वृक्ष को सम्बोधित करते हुए कहा कि तू रह-रह कर अपने फूल टपका। फूलों के बहुत अधिक झड़ जाने से मैं सबको शीघ्र चुन नहीं पाती हूँ और वे धूल में पड़कर नष्ट हो जाते हैं। टपकते ही चुन लिए जाने से उनकी कांति बनी रहती है। अतः धीरे धीरे टपका। जार के प्रति सूचना यह व्यक्त हो रही है कि तुम्हारा मिलन बहुत

दिनों से नहीं हो पा रहा है। गोदावरी के घने मधूक वृक्ष के नीचे तत्काल मिलने का अच्छा अवसर है। महुआ चुनने के व्याज से मैं वहाँ आ जाऊँगी। मधूक वृक्ष के 'मधुर' विशेषण से नायिका की अतिशय उत्कण्ठा व्यक्त होती है। पं० मथुरानाथ-शास्त्री के अनुसार नायक को सूचना के पक्ष में 'बहुपुष्प-भार नामित' की व्यञ्जना बहुत दिनों से रमण के अभाव में शुक्र के अधिक संचित हो जाने के अर्थ में प्रतीत होती है॥ ३॥

णिप्पच्छिमाइँ असई दुःखालोआइँ महुअपुप्फाइं।
चीए बन्धुस्स व अठ्ठिआइँ रुअई समुच्चिणइ॥ ४॥
[निष्पश्चिमान्यसती दुःखालोकानि मधूकपुष्पाणि।
चितायां बन्धोरिवास्थीनि रोदनशीला समुच्चिनोति॥]

दुःशील स्त्री महुए के बचे हुए फूलों को बहुत दुःख से देख-देखकर रोती हुई चिता में से अपने बान्धव की हड्डियों की भाँति चुनती जा रही है।

विमर्श—मित्र के प्रति किसी रसिक की उक्ति। महुए के वृक्ष के नीचे फूल चुनती हुई नायिका की स्थिति को देख कर किसी ने अपने मित्र का उस ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा कि यह नायिका जो महुए के कुछ फूलों को चुन रही है, क्या कारण है कि ऐसे अवसर में रो रही है इससे स्पष्ट है कि इसके प्रिय से मिलने का यह संकेत-स्थान है और यह महुए के फूल चुनने के बहाने अपने प्रिय से मिला करती थी। धीरे धीरे फूल अब समाप्त हो रहे हैं, अब वह किसी प्रकार इस बहाने प्रिय से मिल नहीं सकती यही कारण है कि तत्काल महुए के बचे हुए फूल उसे कष्ट दे रहे हैं और उन्हें धीरे धीरे इस प्रकार चुन रही है जैसे ये फूल चिता में जले हुए उसके बान्धव की हड्डियाँ हों॥ ४॥

ओ हिअअ मडहसरिआजलरअहीरन्तदीहदारु व्व।
ठाणे ठाणे व्विअ लग्गमाण केणावि डज्झिहसि॥ ५॥
[हे हृदय स्वल्पसरिज्जलरयह्रियमाणदीर्घदारुवत्।
स्थाने स्थाने एव लगत्केनापि धक्ष्यसे॥]

अरे हृदय, छोटी नदी के प्रवाह में बहे जाते हुए बड़े काठ की भांति जो तू जगह-जगह पर लगता चल रहा है, तुझे कोई जला डालेगा।

विमर्श—नायिका के विश्वासार्थ नायक की हृदय के प्रति उक्ति। प्रणय की याचना करते हुए बहुवल्लभ नायक पर जब नायिका ने अविश्वास प्रकट किया, तब विदग्ध वह नायक अपने हृदय से कहता है कि जिस प्रकार स्वल्प जलवाली नदी के प्रवाह में बहनेवाला बड़ा काठ जगह-जगह पर लगता चलता

है और बड़ी सहूलियत से लोग उसे निकाल कर जला डालते हैं, उसी प्रकार स्वल्प आशयवाली नायिकाओं में यह मेरा हृदय पदे-पदे उदकता रहता है, अतः सम्भव है अगर अधिक आशयवाली तू इसे नहीं प्राप्त होती है तो तेरे विना यह अवश्य विरह में जल जायगा। इसकी यही दशा अब होनेवाली है। तात्पर्य यह कि तेरा हृदय विशाल है तू मुझे आश्रय दे। तेरे प्राप्त होने पर मेरी यह चंचलता सर्वथा नहीं रहेगी। इस प्रकार विदग्ध नायक अनुनय द्वारा प्रियतमा को अनुकूल करने का प्रयत्न करता है ॥ ५ ॥

जो तीएँ अहरराओ रत्तिं उव्वासिओ पिअअमेण ।
सो च्चिअ दीसइ गोसे सवत्तिणअणेसु संकन्तो ॥ ६ ॥

[यस्तस्या अधररागो रात्रावुद्वासितः प्रियतमेन ।
स एव दृश्यते प्रातः सपत्नीनयनेषु संक्रान्तः ॥]

रात्रि में प्रियतम ने उस सुभगा के अधर का जो राग (निरन्तर चुम्बन के द्वारा) हटा दिया वही राग प्रातःकाल उसकी सौतों की आँखों में संक्रान्त दिखाई पड़ता है।

विमर्श—सखी द्वारा नायिका के सौभाग्य का वर्णन। प्रियतम ने रात्रि में निरन्तर चुम्बन के द्वारा नायिका के अधर का राग समाप्त कर दिया। प्रातःकाल नायिका की सपत्नियों ने जब उसके अधर को विगतराग देखा तब वे ईर्ष्या से जल उठीं, उनकी आँखें लाल हो गईं। प्रियतम के द्वारा विसर्जित नायिका के अधर का राग उनकी आँखों में पहुँच आया। सपत्नियों ने अनुमानतः समझ लिया कि आज की रात प्रिय ने इसी के यहाँ व्यतीत की है। उनकी स्वाभाविक ईर्ष्या कारण पाकर क्रोध के रूप में धधक उठी। सौतों की आँखों ने अपना गुण छोड़ नायिका-अधर का गुण ग्रहण किया, (तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युज्ज्वल गुणग्रहः) इस प्रकार 'तद्गुण' नाम के अलंकार द्वारा अनेक सपत्नियों में वही एक प्रियतम के अनन्य अनुराग के पात्र होने का कारण सुभगा है, यह व्यञ्जित होता है। राजा भोज के अनुसार यहां परिवृत्ति अलंकार है, क्योंकि यहाँ नायिका के अधर का राग सौतों की आंखों में और उनकी आंखों की धवलता उसके अधर में चली गई है, दोनों का विनिमय हुआ है (परिवृत्तिर्विनिमयः) ॥ ६ ॥

गोलाअडट्ठिअं पेच्छिऊण गहवइसुअं हलिअसोण्हा ।
आढत्ता उत्तरिउं दुःखुत्ताराएँ पअवीए ॥ ७ ॥

[गोदावरीतटस्थितं प्रेक्ष्य गृहपतिसुतं हलिकस्नुषा ।
आरब्धा उत्तरीतुं दुःखोत्तारया पदव्या ॥]

हलवाहे की बहू ने जब देखा कि किसान का लड़का गोदावरी नदी के तीर पर खड़ा है तब वह ऐसे मार्ग से उतरने लगी जिस ओर से नदी पार करना दुष्कर था।

विमर्श—विदग्धा सखी द्वारा नायिका को शिक्षा। प्रणय करनेवाली को हमेशा युक्ति से नायक के अनुराग की थाह लगाते रहना चाहिए। जैसा कि एक प्रसंग है, हलवाहे की बहू ने जब किसान (गृहपति) के पुत्र से प्रणय किया तब वह नदी पार उससे मिलने जाया करती थी। उस समय जब कि उसने देखा कि वह किसान का लड़का गोदावरी के तीर पर उस पार खड़ा है तब उस ओर से नदी पार करने लगी जिस ओर डूब जाने की आशंका थी। ऐसा करके उसने उसके प्रणय की परीक्षा की। उसने सोचा कि अगर किसान के लड़के में उसके प्रति अनुराग अकृत्रिम है तो वह निश्चय ही डूबती हुई उसे बचाने के लिए नदी में कूद पड़ेगा। अगर उसने बचाने की नहीं कोशिश की तो उसका कृत्रिम अनुराग स्पष्ट हो जायगा और वह तैरना तो जानती है किसी प्रकार निकल ही जायगी। उस विदग्धा का दूसरा तात्पर्य यह भी था कि जब वह बचाने के लिए उसे पकड़ेगा तो उसके अङ्गों के स्पर्श का भी तत्काल आनन्द कम न मिलेगा। तात्पर्य यह कि तुम्हें भी अपने प्रिय का अनुराग इसी प्रकार आजमाते रहना चाहिए। राजा भोज के अनुसार यहां भाव अलंकार है, क्योंकि नायिका अपने अभिलाष के अनुकूल प्रवृत्त होती है ('अभिलाषानुकूल्येन प्रवृत्तिर्भाव उच्यते' सरस्वती-कण्ठाभरण) ॥ ७ ॥

चलणोआसणिसण्णस्स तस्य भरिमो अणालवन्तस्स।
पाअङ्गुट्ठावेट्ठिअकेसदिढाअड्ढणसुहेल्लिं ॥ ८ ॥

[चरणावकाशनिषण्णस्य तस्य स्मरामोऽनालपतः।
पादाङ्गुष्ठावेष्टितकेशदृढाकर्षणसुखम् ॥]

हे सखी, मैं वह सुख अब तक नहीं भूलती, जब वह मेरे पैरों पर सिर रखकर पड़ा हुआ था और मैं उसके बालों को पैर के अंगूठे में लपेट कर खींचने लगी थी।

विमर्श—सखी के प्रति नायिका की उक्ति। अपने मनोभिलषित नायक को सुनाते हुए नायिका ने सखी से विगत काल की घटना का स्मरण किया कि एक समय उसका पति उसके पैरों पर अपना सिर रखकर पड़ गया और वह उसके बालों को अपने अंगूठे में लपेट कर खींचने लगी। उस समय का आनन्द बराबर उसे याद रहता है। नायिका का तात्पर्य सुनते हुए जार के

वृत्तान्त के सुनने से घर के किसी काम में नहीं लगता। वह अलसाई दिन भर पड़ी रहती है, जैसे उसके अङ्गों में विष असर कर गया हो। इस गाथा में विभिन्न अवतरणिकाएं हैं। किसी के अनुसार उस वधू को चाहने वाले किसी कामुक के प्रति यह दूती की सूचना है कि वधू अपने पति के प्रवास पर जाने की खबर से इस प्रकार हो गई है। इससे स्पष्ट है कि वह अपने पति में सर्वात्मना अनुराग करती है। अतः तुम्हारे लिये किसी प्रकार साध्य नहीं हो सकती। अथवा जार या उपपति के प्रवास की सूचना से वधू की इस अकर्मण्यवृत्ति पर सास का यह उपालम्भोद्गार है (गङ्गाधर) ॥ ११ ॥

अज्जवि बालो दामोअरो त्ति इअ जम्पिए जसोआए।
कह्णमुहपेसिअच्छं णिहुअं हसिअं वअवहूहिं ॥ १२ ॥
[अद्यापि बालो दामोदर इति इति जल्पिते यशोदया।
कृष्णमुखप्रेषिताक्षं निभृतं हसितं व्रजवधूभिः ॥]

दामोदर आज भी बालक ही हैं, यशोदा के यह कहने पर गोपियां कृष्ण के मुख की ओर निहारते हुए छिपे-छिपे हँस पड़ीं।

विमर्श—किसी के द्वारा सखी को रहस्यगोपन की शिक्षा। अगर किसी ऐसे अवसर में प्रसंगतः अपने रहस्य के स्फुट हो जाने की स्थिति उपस्थित हो जाय तब चतुर लोग प्रकट होते हुए रहस्य को इङ्गित द्वारा छिपा लेते हैं। उपदेशिका ने सखी को समझाते हुए कृष्ण और गोपियों का वृत्तान्त उदाहरणार्थ कहा। यशोदा ने तरुण कृष्ण को बालकों की भाँति अब भी गोपियों के साथ शरारत करते देखकर कृष्ण के लड़कपन के अब भी वर्तमान रहने की बात कही तो गोपियों को हँसी आ गई। वे कृष्ण की ओर तत्काल देखकर छिपे-छिपे हँस पड़ीं। उनका तात्पर्य था कि अरे माता जी! तुम क्या इनको बालक समझ रही हो, ये कितने पहुँचे हुए हैं, ये तो हम जानती हैं। लेकिन यह भाव चतुर गोपियों ने तत्काल किसी प्रकार यशोदा के सामने व्यक्त न होने दिया। रहस्य की बात कृष्ण और गोपियों तक ही रह गई। कमाल की चतुराई इसे कहते हैं। अपना भाव भी जाननेवाला जान जाय और किसी दूसरे को खबर तक न लगे ॥ १२ ॥

ते विरला सप्पुरिसा जाण सिणेहो अहिण्णमुहराओ।
अणुदिअह वड्ढमाणो रिणं व पुत्तेसु संकमइ ॥ १३ ॥
[ते विरलाः सत्पुरुषा येषां स्नेहोऽभिन्नमुखरागः।
अनुदिवसवर्धमान ऋणमिव पुत्रेषु संक्रामति ॥]

ऐसे सत्पुरुष संसार में कम होते हैं, जिनका स्नेह मुखराग (प्रसन्नता) में

किसी प्रकार की विकृति उत्पन्न होने नहीं देता, और ऋण की तरह अनुदिन बढ़ता हुआ पुत्रों तक पहुँच जाता है।

विमर्श—नायक के प्रति नायिका की उक्ति। अपने प्रति नायक के अनुराग के मन्द पड़ने की सम्भावना से सम्भवतः गर्भिणी ने सज्जनों की प्रशंसा के व्याज से अपना अभीप्सित प्रकट करते हुए कहा कि सज्जन लोग (अर्थात् तुम जैसे) इस स्वार्थपरायण संसार में बहुत कम होते हैं, क्योंकि यहाँ विशेष वे लोग मिलते हैं जिनका स्नेह प्रारम्भ में अधिक अवश्य होता है, लेकिन क्रमशः दिनानुदिन घटता ही जाता है और उनके मुखवर्ण में नानाविध विकृतियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। जब तक स्वार्थ सिद्ध होता है तभी तक वे साथ देते हैं, फिर कौन पूछता है? पर सज्जनों की प्रकृति इन लोगों से भिन्न होती है। उनके मुखराग में विकृति रंचमात्र भी नहीं होती, चाहे उनका स्वार्थ सधे या न सधे। यहाँ तक कि उनका अनुराग दिन पर दिन ऋण की भाँति बढ़ता हुआ पुत्रों तक पहुँच जाता है। जैसा कि संसार में देखा जाता है, पिता द्वारा ऋण के रूप में लिया हुआ धन पुत्रों तक पहुँच जाता है उसी प्रकार सज्जनों का स्नेह बढ़ता जाता है (ऋण के साथ सज्जनों के स्नेह का यह साम्य होते हुए भी इतना वैषम्य भी अवश्य है कि ऋण में व्याज की संभावना रहती है और सज्जनों का स्नेह सर्वथा निर्व्याज होता है)। प्रस्तुत नायिका का तात्पर्य है कि तुम्हारा स्नेह भी मेरे प्रति सर्वदा की भाँति प्रसव के बाद भी बना रहेगा और सन्तति को भी अपनी समझ कर स्वीकार करोगे। प्रायः यहाँ देखा जाता है कि प्रसव के बाद स्त्री के स्तनादि झुक जाने के कारण पुरुष अपना स्नेह मन्द कर डालते हैं। ऐसे लोग खल होते हैं। तात्पर्य यह कि तुमसे इस प्रकार की खलवृत्ति की सम्भावना नहीं की जा सकती॥ १३॥

णच्चणसलाहणणिहेण पासपरिसंठिआ णिउणगोवी।
सरिसगोँविआणँ चुम्बइ कवोलपडिमागअं कण्हं॥ १४॥

[नर्तनश्लाघननिभेन पार्श्वपरिसंस्थिता निपुणगोपी।
सदृशगोपीनां चुम्बति कपोलप्रतिमागतं कृष्णम्॥]

समीप में खड़ी चालाक गोपी अन्य सदृश गोपियों के गालों को, जिनमें कृष्ण प्रतिबिम्बित हो रहे हैं, उन (गोपियों) के नृत्य की प्रशंसा करते हुए चूम लेती है।

विमर्श—सखी को नैपुण्योपदेश। किसी ऐसे अवसर में जब प्रिय एकत्र बहुत लोगों के बीच आ जाय तब निपुणता से अपना प्रणयभाव प्रकट करना चाहिए जिससे प्रिय के सिवा कोई उस रहस्य को समझ न पाये। इस प्रकार

उपदेशिका ने प्रसंगतः इस गाथा में किसी चालाक गोपी द्वारा निपुणता से प्रणय-भाव के प्रकटन का एक चमत्कारक उदाहरण उपस्थित किया। अपने समान ही अनेक गोपियाँ एकत्र होकर नृत्य कर रही हैं। उस अवसर में प्रियतम कृष्ण भी उपस्थित हैं। चालाक गोपी ने जब देखा कि दूसरी गोपियां नृत्य से विरत हुई और उनके कपोलों पर कृष्ण के मुख की झलक पड़ने लगी तब उसने उन गोपियों के नृत्य की प्रशंसा करते हुए उनके कपोलों पर चुम्बन किया। बहाना भी कमाल का है, प्रशंसा किसी की और चुम्बन किसी का! उपदेशिका का तात्पर्य है कि तत्काल उस गोपी के द्वारा बार-बार चुम्बन के इस उपक्रम का रहस्यभङ्ग बिल्कुल नहीं हुआ। चालाकी इसे कहते हैं ॥ १४ ॥

सव्वत्थ दिसामुहपसॉरिएहिँ अण्णोण्णकडअलग्गेहिं ।
छल्लिं व्व मुअइ विञ्झो मेहेहिँ विसंघडन्तेहिं ॥ १५ ॥

[सर्वत्र दिशामुखप्रसृतैरन्योन्यकटकलग्नैः ।
छल्लीमिव मुञ्चति विन्ध्यो मेघैर्विसंघटमानैः ॥]

विन्ध्याचल के नितम्ब भाग में संलग्न मेघ अब दिशाओं में एक दूसरे से अलग होकर इस प्रकार फैल रहे हैं मानो विन्ध्याचल अपनी छाल (वल्कल) छोड़ रहा है।

विमर्श—नायक के प्रति प्रवत्स्यत्पतिका की उक्ति। इस अवसर में, जब कि मेघ पर्वत पर एकत्र होकर वहाँ से दिशाओं में बरसने चल पड़े हैं तब प्रिय का परदेश जाना कहाँ तक उचित है? इस तात्पर्य को मन में रखकर नायिका ने प्रवास पर जाने के लिए तैयार अपने प्रिय के समक्ष प्रथमागत मेघ के दृश्य का वर्णन किया। नायिका की दृष्टि में मेघ का इस प्रकार विन्ध्याचल के नितम्ब भाग को छोड़कर दिशाओं में फैलना मया विन्ध्याचल को अपना वल्कल परित्याग कर नवीन होना होना है। भाव यह कि प्रिय को इस सुहावने अवसर में प्रस्थान करना ठीक नहीं। एक तो वर्षा का समय और विन्ध्याचल का यह नवीनतम दृश्य दोनों उसके चले जाने पर किसी काम के न होंगे ॥ १५ ॥

आलोअन्ति पुलिन्दा पव्वअसिहरट्ठिआ धणुणिसण्णा ।
हत्थिउलेहिँ व विञ्झं पूरिज्जन्तं णवब्भेहि ॥ १६ ॥

[आलोकयन्ति पुलिन्दाः पर्वतशिखरस्थिता धनुर्निषण्णाः ।
हस्तिकुलैरिव विन्ध्यं पूर्यमाणं नवाभ्रैः ॥]

धनुर्धारी शबर शिखर पर खड़े होकर हाथी के झुण्ड के समान मेघ जिस पर एकत्र हो रहे हैं ऐसे विन्ध्य को देखते हैं।

विमर्श—पूर्व गाथा की भांति यहाँ भी नायिका प्रिय को मेघों के आगमन की ओर संकेत कर रही है। उसका तात्पर्य भी सम्भवतः प्रवास पर जानेवाले प्रिय को रोकना है। दूसरे टीकाकार के अनुसार विन्ध्याटवी में अभिसार करने के लिए तत्पर प्रिय को नायिका का संकेत (अथवा नायक को नायिका का) संकेत है कि पर्वत के शिखर पर धनुर्धारी शवर खड़े हैं, तत्काल अभिसार उचित नहीं। धनुर्निषण या धनुष लेकर तैयार कहने का तात्पर्य यह है कि वे इस दृश्य को देखने के बाद ही विन्ध्याटवी में प्रवेश करके आखेट करेंगे। अतः ऐसे अवसर में पकड़े जाने की सम्भावना है। पुलिन्द और शवर सम्भवतः भिन्न-भिन्न वन्य जातियाँ थीं, फिर भी टीकाकारों ने एक लिखा है। आजकल भी कोल और भील आदि वन्य जातियाँ विन्ध्य के जंगलों में पाई जाती हैं जिनका जीवन एकमात्र आखेट पर आश्रित होता है। इस प्रकार धनुर्धारी शवरों द्वारा पर्वत के शिखर पर खड़े होकर मेघों के देखने का यह वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है ॥ १६ ॥

वणदवमसिमइलङ्गो रेहइ विञ्झो गणेहिँ धवलेहि ।
खीरोअमन्थणुच्छलिअदुद्धसित्तो व्व महुमहणो ॥ १७ ॥

[वनदवमषीमलिनाङ्गो राजते विन्ध्यो धनैर्धवलैः ।
क्षीरोदमथनोच्छलितदुग्धसिक्त इव मधुमथनः ॥]

वनाग्नि की स्याही से मलिन अङ्गों वाला विन्ध्याचल उजले-उजले मेघों से क्षीरसागर के मंथन से छलके हुए दूध से सिक्त अङ्गोंवाले कृष्ण की भाँति शोभ रहा है।

विमर्श—नायिका के प्रति सखी की उक्ति। प्रोषितपतिका नायिका ने वर्षाभर प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा में यापन किया। वर्षा के बाद शरद् ऋतु का आगमन हुआ। सखी ने सान्त्वना देते हुए विन्ध्याचल में वनाग्नि लगाये जाने की चर्चा करके मार्गविघ्न के दूर हो जाने के कारण प्रिय के शीघ्र आगमन की ओर संकेत किया। विन्ध्य का वर्ण काला, तत्सदृश कृष्ण का भी वर्ण क्षीरसागर के मंथन से छलके हुए दूध के छींटे के साथ शरत्कालीन रिक्ततोय मेघ के उज्ज्वल खण्डों का साम्य ॥ १७ ॥

वन्दीअ णिहअबन्धवविमणाइ वि पवलो त्ति चोरजुआ ।
अणुराएण पलोइओ, गुणेसु को मच्छरं वहइ ॥ १८ ॥

[वन्द्या निहितबान्धवविमनस्कयापि प्रवीर इति चोरयुवा ।
अनुरागेण प्रलोकितो गुणेषु को मत्सरं वहति ॥]

वह कैद में पड़ गई, उसके बांधव मार डाले गए, अतः उसका मन नहीं

लग रहा था, फिर भी उसने चोर युवक को 'प्रवीर' समझकर गुणानुराग की दृष्टि से देखा। आखिर गुणों में किसे मात्सर्य होता है ?

विमर्श—नायक के प्रति सखी की उक्ति। जब कोई नवेली अपनी सरस दृष्टि से एक बार भी ताक देती है तब प्रायः पुरुष भ्रम में पड़ जाते हैं कि वह उनके प्रति बिलकुल अनुरक्त हो गई। यह भ्रम उनके मन में तत्काल उस नायिका के साथ समागम की आकांक्षा को प्रबल कर देता है। प्रस्तुत नायक कुछ ऐसा ही भ्रमित प्रतीत होता है। सखी ने बन्दी नायिका के द्वारा 'प्रवीर' समझकर अनुराग से देखे गए चोर युवक का वृत्तान्त कहकर समझाया कि गुणों में ऐसी ही कुछ विचित्र आकर्षण शक्ति है कि चित्त उनकी ओर स्वतः आकृष्ट हो जाता है। इस प्रकार गुणानुराग जनित चित्त के आकर्षण तथा स्निग्ध दृष्टि का यह अर्थ नहीं कि कोई किसी के प्रति बिलकुल आसक्त ही हो गया। तात्पर्य यह कि उस नवेली ने तुम्हें स्निग्ध दृष्टि से केवल तुम्हारे गुणों के कारण देखा है, इससे यह नहीं समझना कि वह तुम पर आसक्त हो गई है ॥ १८ ॥

अज्ज कइमो वि दिअहो वाहवहू रूवजोव्वणुम्मत्ता।
सोहग्गं धणुरुम्पच्छलेण रच्छासु विक्किरइ ॥ १९ ॥

[अद्य कतमोऽपि दिवसो व्याधवधू रूपयौवनोन्मत्ता।
सौभाग्यं धनुस्तष्टत्वक्छलेन रथ्यासु विकिरति ॥]

अभी कितने ही दिन बीते कि रूप और यौवन से उन्मत्त व्याध की पत्नी धनुष के छीले हुए छिलकों के रूप में घर के बाहर गलियों में अपना सौभाग्य बिखेर रही है ॥ १९ ॥

उक्खिप्पइ मण्डलिमारुएण गेहङ्गणाहि वाहीए।
सोहग्गधअवडाअ व्व उअह धणुरुम्परिञ्छोली ॥ २० ॥

[उत्क्षिप्यते मण्डलीमारुतेन गेहाङ्गणाद्व्याधस्त्रियाः।
सौभाग्यध्वजपताकेव पश्यत धनुः सूक्ष्मत्वक्पङ्क्तिः ॥]

यह देखो, व्याध-पत्नी के घर के आँगन से मण्डलाकार हवा धनुष के छोटे-छोटे छिलकों को उसकी सौभाग्य-पताका के रूप में उड़ाये जा रही है।

विमर्श—कामुक नायक के प्रति दूती की उक्ति। पूर्वगाथा में व्याध अपनी नायिका में इतना अनुरक्त है कि विवाह के कुछ ही दिन बीते कि वह अत्यन्त क्षीण हो गया। अब वह अपना धनुष उठाने में भी असमर्थ है। उसकी रूपयौवनोन्मत्ता पत्नी उसके धनुष को हल्का करने के लिए छीले हुए छिलकों को गलियों में फेंककर (उन छिलकों के रूप में) मानो अपना

सौभाग्य बिखेर रही है। तात्पर्य यह कि वह स्वसौभाग्यगर्विता सर्वथा असाध्य है। इसी प्रकार दूसरी गाथा में भी धनुष के छिलकों को मण्डलाकार हवा घर के आँगन से व्याधपत्नी की सौभाग्यपताका के रूप में उड़ाये जा रही हैं। तात्पर्य यह कि ऐसी स्थिति में उसे तुम्हारे प्रति उसे आकृष्ट करना सम्भव नहीं। किसी के अनुसार प्रथम गाथा अनवरत सुरत में आसक्त मित्र के प्रति किसी सहचर की उक्ति है और दूसरी गाथा मित्र के प्रति अपनी समझदारी के प्रकाशन के प्रसंग में किसी नागरिक की उक्ति है॥ २०॥

गअगण्डत्थलणिह्सणमअमइलीकअकरञ्जसाहाहिं।
एन्तीअ कुलहराओ णाणं वाहीअ पइमरणं॥ २१॥
[गजगण्डस्थलनिघर्षणमदमलिनीकृतकरञ्जशाखाभिः।
आगच्छन्त्या कुलगृहाज्ज्ञातं व्याधस्त्रिया पतिमरणम्॥]

मैके से आती हुई व्याध पत्नी ने करञ्ज की शाखाओं को गण्डस्थल की रगड़ करने से हाथियों के मद से मलिन देखकर यह अनुमान कर लिया कि उसका पति अब जीवित नहीं रहा।

विमर्श—सखी को इङ्गित चातुर्य का उपदेश। उपदेशिका का कहना है कि चतुर स्त्री के लिए यह आवश्यक नहीं कि उससे सब बातें कह दी जायँ, बल्कि वह किसी के बिना कुछ कहे ही चिह्नों द्वारा सब कुछ समझ लेती है। जैसा कि प्रस्तुत गाथा की व्याधपत्नी ने अपने मैके से आते हुए जब करञ्ज वृक्ष की शाखाओं को हाथियों के मद से मलिन देखा तभी अपने पति के जीवित न रहने का अनुमान कर लिया। क्योंकि उसके पराक्रमी पति जीवित रहते हुए हाथी ऐसा उपद्रव नहीं कर सकते थे। यहाँ तक हाथियों का पहुँच जाना ही सिद्ध करता है कि उसका प्रिय नहीं रहा। किसी दूसरे टीकाकार की कल्पना यह है कि व्याधपत्नी ने यह अनुमान किया कि उसका पति अवश्य इन दिनों किसी दूसरी में आसक्त होकर हाथी का आखेट नहीं कर रहा है। ऐसी स्थिति में वह दुर्बल होकर पुनः हाथियों के आखेट में उनके द्वारा अवश्य मारा जायगा और मुझे वैधव्य का असह्य कष्ट भुगतना पड़ेगा॥ २१॥

णववहुपेम्मतणुइओ पणअं पढमघरणीअ रक्खन्तो।
आलिहिअदुप्परिल्लं पि णेइ रण्णं धणुं वाहो॥ २२॥
[नववधूप्रेमतनूकृतः प्रणयं प्रथमगृहिण्या रक्षन्।
तनूकृतदुराकर्षमपि नयत्यरण्यं धनुर्व्याधः॥]

व्याध नई आई हुई बहू के प्रेम में आसक्त होकर दुबला हो गया है, तब

भी उसे पहली गृहिणी का प्रेम भूलता नहीं। वह छील कर हल्का बनाए गए (फिर भी) कठिनाई से खींचे जानेवाले धनुष को लेकर वन में भटकता है।

विमर्श—नायक के प्रति दूती की उक्ति। नायक मन में पहली प्रियतमा के प्रति प्रणयभाव उत्पन्न करते हुए दूती ने प्रस्तुत गाथा में उस व्याध का वृत्तान्त प्रस्तुत किया जो नई आई हुई अपनी वधू के प्रेम में दुर्बल हो जाने पर भी अपनी पहली प्रियतमा की याद दिलाने वाले धनुष को छीलकर हल्का करके वन में शिकार खेलने ले जाता है। दूती का तात्पर्य है कि जब जङ्गली लोग इस प्रकार अपने पूर्वराग का विस्मरण नहीं करते तब सहृदय नागरिक को तो अवश्य अपने पूर्वराग के पात्र को नहीं भूलना चाहिए। गङ्गाधर के अवतरण के अनुसार अपने सहचर को पहली प्रिया के प्रेम की अनुवृत्ति के के लिए शिक्षा देते हुए किसी नागरिक की उक्ति है। किसी दूसरे के अनुसार दूती की जार के प्रति यह सूचना है कि पति इन दिनों नई आई हुई वधू में अधिक आसक्त है, ऐसी स्थिति में उसकी पहली गृहिणी अवश्य फँसाई जा सकती है ॥ २२ ॥

हासाविओ जणो सामलीअ पढमं पसूअमाणाए।
वल्लहवाएण अलं मम त्ति बहुसो भणन्तीए॥ २३॥

[हासितो जनःश्यामया प्रथमं प्रसूयमानया।
वल्लभवादेनालं ममेति बहुशो भणन्त्या॥]

पहली वार जब वह सुभगा प्रसव कर चुकी तब बार-बार यह कहने लगी कि मुझे प्रिय का नाम लेना भी पसंद नहीं। उसकी इस हरकत को देखकर लोग हँस पड़े।

विमर्श—नायक के प्रति सपत्नी की उक्ति। नायक अपनी प्रियतमा से किसी कारणवश रुष्ट होकर सपत्नी के सामने उससे पुनः न मिलने की बार-बार प्रतिज्ञा करने लगा। सपत्नी ने प्रस्तुत गाथा में उसकी खिल्ली लेते हुए कहा कि प्रसव करने पर सुभगा पति का नाम लेना तक नहीं चाहती, फिर भी पुनः उसके साथ समागम करके जिस प्रकार वह हास का पात्र बनती है उसी प्रकार हँसने योग्य बातें कर रही है। जभी तुम्हारा यह कोप समाप्त हुआ तभी तुम उसके पास चले जाओगे। अभी तो वह बुरी बन ही रही है। ठीक है प्रसव के कष्ट का अनुभव करके हर स्त्री यह प्रतिज्ञा करती है कि पुनः वह अपने पति का संग न करेगी, लेकिन कुछ ही दिनों के बाद सब कुछ भूल कर पूर्ववत् प्रवृत्त हो जाती है। श्री जोगलेकर के अनुसार यह गाथा प्राचीन कौटुम्बिक विनोद का एक उत्कृष्ट नमूना है ॥ २३ ॥

कइअवरहिअं पेम्मं ण त्थि व्विअ मामि माणुसे लोए ।
अह होइ कस्स विरहो विरहे होत्तमि को जिअइ ॥ २४ ॥

[कैतवरहितं प्रेम नास्त्येव मातुलानि मानुषे लोके ।
अथ भवति कस्य विरहो विरहे भवति को जीवति ॥]

अरी मामी, इस मनुष्य-लोक में निश्छल प्रेम कहीं है ही नहीं। किसी से किसी का यहाँ विरह भी होता है ? अगर सचमुच विरह हो तो फिर कौन जीवित रह सकता है ?

विमर्श—मामी के प्रति प्रोषितभर्तृका की उक्ति। प्रिय परदेश चला गया और अवधि का दिन कभी बीत गया। तब भी वह विलम्ब कर रहा है, निश्चय ही उसका प्रेम कृत्रिम है। बार-बार आश्वासन देती हुई मामी से नायिका ने अपने व्यक्तिगत अनुभव के बल पर समस्त मनुष्य-जगत को छलिया सिद्ध करते हुए कहा। उसका यह कथन प्रिय के लिए उसके चित्त में होनेवाली उद्विग्नता का परिचायक है। एक उसका प्रिय ही नहीं बल्कि सारा संसार छलिया है। यहाँ कोई किसी से निष्कपट प्रेम नहीं करता। तात्पर्य यह कि मैं उसके प्रति अलौकिक प्रेम करती हूँ और वह न जाने किससे फँस गया जो अब तक नहीं लौटा। उसका प्रेम मेरी तरह होता तो अब तक वह अवश्य आ गया होता ॥ २४ ॥

अच्छेरं व णिहिं विअ सग्गे रज्जं व अमअपाणं व ।
आसि म्ह तं मुहुत्तं विणिअंसणदंसणं तीए ॥ २५ ॥

[आश्चर्यमिव निधिमिव स्वर्गे राज्यमिवामृतपानमिव ।
आसीदस्माकं तन्मुहूर्त्तं विनिवसनदर्शनं तस्याः ॥]

जिस क्षण उस सुन्दरी को हमने (स्नान के समय) बिलकुल नग्न अवस्था में देखा, उस क्षण आश्चर्य से जैसे भर गए। ऐसा लगा कि कोई निधि मिल गई, स्वर्ग का मानो राज्य मिल गया और ऐसा भी मालूम हुआ कि अमृत की घूँट ले रहे हैं।

विमर्श—किसी उचक्के द्वारा अपनी कामुकता का प्रकाशन। कामुक ने नग्नावस्था में किसी सुन्दरी के देखने के पश्चात् अपने हुए आनन्दोल्लास की स्थिति को क्रमशः वर्णन किया है। जिस प्रकार निधि एकान्त स्थान पर किसी को मिल जाती है तो सब से पहले वह आश्चर्य से भर जाता है। फिर उसे प्राप्त कर स्वर्ग के राज्य की प्राप्ति समझने लगता है और फिर उस निधि को अपनाकर आनन्द अनुभव करता है। यहाँ कामुक भी नग्नावस्था में सुन्दरी को

देखकर गुप्त धन की प्राप्ति के अवसर समस्त प्रभावों को अपने पर आरोपित करता है। वह उस अवस्था में सुन्दरी को देखता हुआ ही अमृतपान का आनन्द अनुभव करने लगता है। इस प्रकार वह अपनी कामुकता के वर्णन द्वारा कामिनियों को फँसाने के लिए प्रयत्नशील है ॥ २५ ॥

सा तुज्झ वल्लहा तं सि मज्झ वेसो सि तीअ तुज्झ अहं।
बालअ फुडं भणामो पेम्मं किर बहुविआरं त्ति ॥ २६ ॥

[सा तव वल्लभा त्वमसि मम द्वेष्योऽसि तस्यास्तवाहम्।
बालक स्फुटं भणामः प्रेम किल बहुविकारमिति ॥]

वह तुम्हारी प्रियतमा है, तुम मेरे प्रियतम हो, तुमसे वह द्वेष करती है (क्योंकि उसका प्रेमपात्र कोई दूसरा है) और मुझसे तुम्हारा द्वेष है ! अरे भोले बालक ! साफ बात कहती हूँ, प्रेम के इस धंधे में बहुत से विकार होते हैं।

विमर्श—अस्थिर-प्रेम नायक के प्रति नायिका की उक्ति। नायिका ने दूसरी में आसक्त नायक के मन में अपनी सपत्नी के प्रति द्वेष उत्पन्न करते हुए और अपने प्रति अनुराग उत्पन्न करते हुए यह कहा है। तुम जिसे चाहते हो वह तुम्हें नहीं चाहती, बल्कि उसका प्रिय कोई दूसरा है। सच्चा अनुराग करनेवाली तो मैं हूँ जो अब तक तुम्हारा द्वेष्य बनी हूँ। ऐसा करते हुए तुम अवश्य लड़कपन कर रहे हो, क्योंकि अब तक तुम यह नहीं समझे कि कौन तुमसे प्रेम करती है और कौन द्वेष ! द्वेष करनेवाली को ही अपनी प्रियतमा समझ बैठे हो। जो तुम अब तक नहीं समझ सके कि यह प्रेम विकारों से कितना भरा है, यह एकमात्र कारण है।

अहअं लज्जालुइणी तस्स अ उम्मच्छराइँ पेम्माइं।
सहिआअणो वि णिउणो अलाहि किं पाअराएण ॥ २७ ॥

[अहं लज्जालुस्तस्य चोन्मत्सराणि प्रेमाणि।
सखीजनोऽपि निपुणोऽपगच्छ किं पादरागेण ॥]

मुझे बड़ी लाज लगती है, उसका प्रेम उत्कट है, मेरी सहेलियाँ बड़ी चालाक हैं (उनसे कुछ छिप नहीं सकता), इस लिए तू जा, पैर में आलते से क्या होगा ?

विमर्श—प्रसाधिका के प्रति स्वाधीनभर्तृका की उक्ति। पैर में आलता लगाने के लिए उद्यत प्रसाधिका को मना करते हुए नायिका ने कहा कि मेरे प्रिय का प्रेम उत्कट है। वह निश्चय ही मुझे पुरुषायित के लिए बाध्य करेगा। फलतः मेरे पैर का आलता सेज की चादर में लग ही जायगा और मेरी चालाक

सहेलियाँ मुझे लजवाने लगेंगी। ऐसी स्थिति में तू आलता न लगा तो अच्छा है। नायिका ने इस प्रकार कहकर अपने पति का वैदग्ध एवं अपना सौभाग्य प्रकट किया। 'अलंकाररत्नाकर' के लक्षण के अनुसार 'उद्भेद प्रच्छादन रूप' व्याजोक्ति नामक अलंकार है ॥ २७ ॥

महुमासमारुअआहअमहूअरझंकारणिब्भरे रण्णे ।
गाअइ विरहक्खरॉबद्धपहिअमणमोहणं गोवी ॥ २८ ॥

[मधुमासमारुताहतमधुकरझंकारनिर्भरेऽरण्ये ।
गायति विरहाक्षराबद्धपथिकमनोमोहनं गोपी ॥]

वसन्त के पवन से आहत भौंरों की गुञ्जार से भरे जङ्गल में गोपी विरह के गीत इस प्रकार गा रही है कि राह चलते लोग मोहित होकर सुनने लगे हैं।

विमर्श—जार के प्रति दूती की उक्ति। नायिका जङ्गल में, जहाँ वसंत के पवन से आहत भौंरे गुञ्जार रहे हैं, विरह के गीत गा रही है। भौंरों की मधुर गुञ्जार और उसके विरह-गीत का यह प्रभाव तत्काल उत्पन्न करता है कि पथिक मुग्ध होकर उसके गीत सुनने लगे हैं। उनके मनोमोह का कारण यह है कि वे भी अपनी विरहिणी प्रियतमा की ऐसी स्थिति की चिन्ता करते हैं। तात्पर्य यह कि नायिका तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है; तुम्हें तत्काल उससे मिलना चाहिए। दूसरे अवतरण के अनुसार पथिकों के प्रति उसे घर जाने के लिए शीघ्र प्रवृत्त करते हुए किसी पथिक की यह उक्ति है ॥ २८ ॥

तह माणो माणधणाएँ तीअ एमेअ दूरमणुबद्धो ।
जह से अणुणीअ पिओ एक्कग्गाम च्चिअ पउत्थो ॥ २९ ॥

[तथा मानो मानधनया तया एवमेव दूरमनुबद्धः ।
यथा तस्या अनुनीय प्रिय एकग्राम एव प्रोषितः ॥]

मान पर मचलने वाली उसने विना किसी कारण यों ही इतना मान कर दिया कि उसके अनुनय करने के बाद भी प्रिय उसे छोड़कर बगल के गाँव में चला गया।

विमर्श—सखी द्वारा नायिका को मान के विषय में शिक्षा। प्रिय के प्रति मान करना एक शोभा है, पर वह मान अतिशय होकर कदाचित् प्रेम कम भी कर देता है। जैसा कि एक 'कलहान्तरिता' ने मान इतना कर दिया कि उसके मनाने पर भी प्रिय दूसरे गाँव में चला गया। इस प्रकार कलुषित मन होकर प्रिय का निकट के दूसरे गाँव में भी चला जाना प्रवास हो जाता है। तात्पर्य यह कि अकारण मान नहीं करना चाहिए और मान की अतिशयता से तो बचना ही

चाहिए। गंगाधर के अवतरण के अनुसार निष्कारण मानग्रह करके बैठी हुई नायिका के प्रति मानग्रह की निन्दा के व्याज से जार के आगमन की यह सूचना है। अर्थात् इस समय तुम्हारा चहेता आ रहा है, मानग्रह करने से पछताओगी ॥ २९ ॥

सालोएँ व्विअ सूरे घरिणी घरसामिअस्स घेत्तूण।
णेच्छन्तस्स वि पाए धुअइ हसन्ती हसन्तस्स ॥ ३० ॥

[सालोक एव सूर्ये गृहिणी गृहस्वामिनो गृहीत्वा।
अनिच्छतोऽपि पादौ धावति हसन्ती हसतः ॥]

सूर्यास्त होने के पहले ही हँसती हुई गृहिणी हँसते हुए घर के मालिक के पैर पकड़ कर उसकी इच्छा के न होने पर भी धो डालती है।

विमर्श—नायिका को सखी की शिक्षा। प्रायः अचतुर नायिकाएँ अपने पति को दूसरी में आसक्त जानकर उससे झगड़ पड़ती हैं। पर जैसा कि एक चतुरा ने अपने परवनितासक्त पति के साथ व्यवहार किया वह पक्ष सर्वथा उत्तम है। उसने सूर्यास्त के पहले ही पति का पैर धोकर शय्या पर कर दिया जिससे उसके खिसकने का कोई प्रसङ्ग ही न रह जाय। इस प्रसङ्ग में दोनों के हँसने का संकेत यह है कि दोनों एक दूसरे के अभिप्राय से अवगत हो जाते हैं। पति समझ जाता है कि उसकी गृहिणी असमय में पैर धोकर मुझे दूसरी से मिलने जाने का निषेध कर रही है और गृहिणी यह अपने इस अभिप्राय को प्रियतम के द्वारा अवगत जानकर हँस रही है ॥ ३० ॥

वाहरउ मं सहीओ तिस्सा गोत्तेण किं त्थ भणिएण।
थिरपेम्मा होउ जहिं तहिं पि मा किं पि णं भणह ॥ ३१ ॥

[व्याहरतु मां सख्यस्तस्या गोत्रेण किमत्र भणितेन।
स्थिरप्रेमा भवतु यत्र तत्रापि मा किमप्येनं भणत ॥]

री सखियाँ! जो यह मेरी सौत के नाम से मुझे पुकारता है तो पुकारे, यहाँ कुछ कहने से क्या? तुम लोग भी इसे कुछ मत कहो। (मुझमें न सही) जिस किसी में भी यह कम से कम अपना प्रेम तो स्थिर रखे।

विमर्श—सहेलियों से वाग्विदग्धा की उक्ति। नायक किसी दूसरी के प्रेम में आसक्त हो जाने के कारण अपनी उसी प्रियतमा के नाम से पहली को भी पुकारने लगता है। साहित्य में इसे 'गोत्रस्खलित' कहते हैं। इससे व्यक्त हो जाता है कि नायक का आभ्यन्तर अनुराग प्रस्तुत नायिका की अपेक्षा दूसरी में अधिक है। नायिका कि सहेलियों ने उसकी यह हरकत देखकर कुछ सुनाना चाहा पर तत्काल उस वाग्विदग्धा ने उन्हें रोकते हुए कहा कि यह जो करे इसे

करने दो। कम से कम जहाँ कहीं भी स्थिर प्रेम तो करे। तात्पर्य यह कि इसका प्रेम कभी एक में नहीं रहता। क्योंकि पहले मुझमें अनुराग करता था अब मुझे छोड़कर दूसरी में इतना आसक्त हो चुका है कि बात-बात में उसी का नाम इसके मुँह से निकल जाता है। ठीक है यही हो, फिर भी इसके प्रेम में स्थिरता की सम्भावना व्यर्थ है। मेरी तरह उसे भी एक दिन छोड़ देगा। नायक के प्रति इस कथन का व्यंग्य यह है कि जब इस प्रकार तेरा प्रणय स्थिर नहीं तो तुझे उपालम्भ ही देकर क्या होगा? किसी के स्वभाव को कैसे बदला जा सकता है? ॥ ३१ ॥

रूअं अच्छीसु ठिअं फरिसो अङ्गेसु जम्पिअं कण्णे।
हिअअं हिअए णिहिअं विओइअं किं त्थ देव्वेण ॥ ३२ ॥

[रूपमक्ष्णोः स्थितं स्पर्शोऽङ्गेषु जल्पितं कर्णे।
हृदयं हृदये निहितं वियोजितं किमत्र दैवेन ॥]

जब कि (परदेश गए) प्रियतम का रूप मेरी आँखों में स्थिर रहता है, उसका स्पर्श मेरे अङ्गों में और उसकी बातें मेरे कानों में तथा हृदय हृदय में रहता है, फिर तो दैव ने उसका और मेरा वियोग कहाँ किया है?

विमर्श—दूती के प्रति प्रोषितभर्तृका की उक्ति। किसी कामुक के द्वारा फाँसने के उद्देश्य से भेजी हुई दूती के प्रति प्रोषितभर्तृका ने प्रोषित नायक के प्रति अपना अनन्य अनुराग प्रकट करते हुए कहा कि यह समझना बिलकुल भूल है कि मेरा प्रियतम मुझसे दूर है, और मैं प्रोषितभर्तृका होने के कारण विरहिणी हूँ। बल्कि मैं निरन्तर उसी के ध्यान में जो रहा करती हूँ तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसका रूप मेरी आँखों में समा गया है, उसका स्पर्श मेरे अङ्ग-अङ्ग में हो रहा है, उसकी रसमयी बातें कानों में गूंजती रहती हैं तथा उसका हृदय मेरे हृदय में निहित है। फिर ऐसी स्थिति में मेरे और उसके वियोग की बात नहीं रहती। इस प्रकार मुझे प्रिय के विरह का रंचमात्र भी अनुभव नहीं। दैव में भी यह सामर्थ्य नहीं कि मेरे प्रिय को वह मुझसे दूर कर दे। तात्पर्य यह कि ऐसी स्थिति में तेरी दाल यहाँ नहीं गलेगी, जो तू मुझमें प्रिय के प्रति अविश्वास उत्पन्न कराने चली है! समझी? ॥ ३२ ॥

सअणे चिन्तामइअं काऊण पिअं णिमीलिअच्छीए।
अप्पाणो उवऊढो पसिठिलवलआहिँ बाहाहिँ ॥ ३३ ॥

[शयने चिन्तामयं कृत्वा प्रियं निमीलिताक्ष्या।
आत्मा उपगूढः प्रशिथिलवलयाभ्यां बाहुभ्याम् ॥]

परदेश गए प्रियतम की चिन्ता करते-करते वह सो गई, निद्रा से उसकी

आँखें बन्द हो गईं। तत्काल उसने प्रिय के आलिङ्गन की भावना से शिथिल वलय वाली बाँहों में अपने आपको ही कस लिया।

विमर्श—पथिक के प्रति प्रोषितभर्तृका की सखी की उक्ति। पथिक वहीं जा रहा है जहाँ नायिका का प्रिय गया है। नायिका के विरह की वर्तमान अवस्था का चित्रण करते हुए सखी ने कहा कि वह रात-दिन, सोते-जागते उसी की चिन्ता में मग्न रहती है। शयन करती हुई चिन्तानीत प्रिय को आलिंगन करते हुए अपने आपको ही भुजाओं में कस लेती है। उसकी यह अवस्था मुझसे देखी नहीं जाती, तात्पर्य यह कि तुम जाकर इसके प्रिय को यथाशीघ्र वापस लौटाने के लिए बाध्य करना, अन्यथा एक दिन अनर्थ हो जायगा। क्योंकि यह उन्माद की सीमा तक पहुँच चुकी है। जब तक यह काम की दशम अवस्था को नहीं प्राप्त करती तब तक उसे लौट आना चाहिए। सखी के इस कथन में नायिका के शिथिल वलय बाँहों में स्वयं प्रिय की भावना से कस लेने का अभिप्राय यह है कि विरह के कारण वह इतनी क्षीण हो गई है कि उसकी बाँहों के वलय शिथिल हो गए हैं। इस क्षीणता में भी वह नायक की प्राप्ति की भावना होते ही कहीं पुनः बिछुड़ न जावे इस आशंका से बहुत जोर लगा कर आलिंगन करती है। इससे उसकी विरहजन्य वेदना की तीव्रता का पता लगाया जा सकता है ॥ ३३ ॥

परिहूएण बि दिअहं घरघरभमिरेण अण्णकज्जम्मि।
चिरजीविएण इमिणा खविअह्मो दड्ढकाएण ॥ ३४ ॥

[परिभूतेनापि दिवसं गृहगृहभ्रमणशीलेनान्यकार्ये।
चिरजीवितेनानेन क्षपिताः स्मो दग्धकायेन ॥]

इस जले शरीर से हम तो तंग आ गए, क्योंकि लोग अपमान करते हैं—दुरदुराते हैं फिर भी दूसरे के काम के लिए घर-घर घूमा करता है। इस तरह इसने बहुत दिन गुजार दिए। (श्लेष से काकपक्ष में—लोग तिरस्कार करते हैं, ढेले से मार-मार कर उड़ा देते हैं, फिर भी चिरकाल तक जीवित रहने वाला यह दुष्ट काक अन्न के लिए घर-घर घूमा करता है और परेशान करता है)।

विमर्श—दूती द्वारा आत्मनिन्दा। दूती कभी नायिका के पास, कभी नायक के पास एक दूसरे को अनुकूल करने के लिए दौड़-धूप कर हार चुकी है। अपने सारे प्रयत्न को व्यर्थ देखकर स्वयं को कोस रही है, शायद इस युक्ति से कि वे अपना मान कुछ कम कर दें। गाथा में प्रयुक्त 'अण्णकज्जम्मि और 'दड्ढकाएण' दोनों पद श्लेष से 'काक' के अर्थ में भी संगत होते हैं। इस श्लेष

से दूती का तात्पर्य है कि दोनों के कार्य के लिए मेरी हालत कौए की सी हो गई है। लोगों का मानामान सब कुछ सहकर घर-घर घूमती रहती हूँ और अब तक जिन्दा हूँ। लानत है मुझ पर। कम से कम अब भी तो मेरी इस हालत पर तरस खाओ। कब से परेशान हो रही हूँ अर्थात् तुम दोनों मान छोड़कर मुझे इस परेशानी से मुक्त करो॥ ३४॥

वसइ जहिं चेअ खलो पोसिज्जन्तो सिणेहदाणेहिं।
तं चेअ आलअं दीअओ व्व अइरेण मइलेइ॥ ३५॥

[वसति यत्रैव खलः पोष्यमाणः स्नेहदानैः।
तमेवालयं दीपक इवाचिरेण मलिनयति॥]

दुष्ट स्वभाव का मनुष्य स्नेह द्वारा पोषण प्राप्त करता हुआ जिस घर में निवास करता है उसी घर को दीपक की भाँति शीघ्र ही मलिन कर देता है।

विमर्श—मित्र के प्रति मित्र का उपदेश। दुर्जन का ऐसा स्वभाव ही होता है कि वह जो आश्रय पाता है उसे ही अपवाद आदि द्वारा दूषित करता है। यहाँ 'स्नेह' के श्लिष्ट अर्थ प्रणय और तेल दोनों हैं। दीया जिस घर में स्नेह अर्थात् तेल पाकर रहता है उसी घर को॰ अपने कालिख से मलिन कर देता है। दुर्जन का भी ठीक यही स्वभाव है। तात्पर्य यह कि उसे अपने यहाँ आश्रय नहीं देना चाहिए, उससे स्नेह अर्थात् प्रेम का सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिए, अन्यथा एक न एक दिन वह जरूर अपने आश्रयदाता और प्रेमी महाशय को मुँह दिखाने योग्य भी नहीं रहने देता॥ ३५॥

होन्ती वि णिप्फलच्चिअ धणरिद्धी होइ किविणपुरिसस्स।
गिह्माअवसंतत्तस्स णिअच्छाहि व्व पहिअस्स॥ ३६॥

[भवन्त्यपि निष्फलैव धनऋद्धिर्भवति कृपणपुरुषस्य।
ग्रीष्मातपसंतप्तस्य निजकच्छायेव पथिकस्य॥]

जिस प्रकार ग्रीष्मकाल के आतप से पीड़ित पथिक की अपनी ही छाया उसके स्वयं उपयोग में नहीं आती उसी प्रकार कंजूस आदमी की धन-ऋद्धि बहुत होने पर भी बेकार हो जाती है।

विमर्श—वेश्या कामुक भुजङ्ग के प्रति कुट्टनी की उक्ति। कुट्टनी ने भुजङ्ग से पैसा ऐंठने के उद्देश्य से कृपण को निन्दा की कि कृपण लोग जिस सुख के लिए धन-समृद्धि एकत्र करके रखते हैं वह उनके सुख का साधन बिलकुल नहीं बन पाती। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार ग्रीष्मकाल की चिलचिलाती धूप में पीड़ित सन्तप्त पथिक की छाया उसके सन्तापहरण का साधन नहीं बनती। तात्पर्य यह कि यह अवसर कृपण बनने का नहीं। अगर मजा लूटना चाहते

हो तो दिल खोलकर खर्चो, फिर देखो। यहाँ कृपण बने रहने से काम नहीं चलेगा ॥ ३६ ॥

फुरिए वामच्छि तुए जइ एहिइ सो पिओ ज्ज ता सुइरं
संमीलिअ दाहिणअं तुइ अवि एहं पलोइस्सं ॥ ३७ ॥
[स्फुरिते वामाक्षि त्वयि यद्येष्यति स प्रियोऽद्य तत्सुचिरम् ।
संमील्य दक्षिणं त्वयैवैतं प्रेक्षिष्ये ॥]

हे वाम नेत्र, तेरे फड़कने पर यदि आज प्रिय आ जायगा तो दाहिने को बन्द करके तुझसे ही देर तक उसे देखती रहूँगी।

विमर्श—प्रोषितपतिका की उक्ति। स्त्रियों के वाम नेत्र का फड़कना शुभ-शकुन माना जाता है। प्रस्तुत नायिका प्रोषितपतिका होने के कारण अपने फड़कते हुए वामनेत्र से पति के आगमन की सम्भावना करके कहती है कि अगर उसका प्रियतम आज बाहर से आ गया तो जरूर उसी (वामनेत्र) से उसके दर्शन करेगी और उसके आगमन में स्फुरित होकर विघ्न उत्पन्न करनेवाले दक्षिण नेत्र को बिलकुल बन्द कर देगी ॥ ३७ ॥

सुणअपउरम्मि गामे हिण्डन्ती तुह कएण सा बाला ।
पासअसारिव्व घरं घरेण कइआ वि खज्जिहिइ ॥ ३८ ॥

[शुनकप्रचुरे ग्रामे हिण्डमाना तव कृतेन सा बाला ।
पाशकशारीव गृहं गृहेण कदापि खादिष्यते ॥]

इस गाँव में कुत्ते बहुत हैं, वह बाला तेरे लिए चौपड़ की गोटी की तरह घर-घर में घूमती रहती है, तू अगर जल्दी नहीं करता तो हो सकता है उसे कोई खा (मार ले) जाय।

विमर्श—नायक के प्रति दूती की उक्ति। दूती नायक के सम्मुख नायिका पर आसक्त हुए गाँव के अन्य युवकों की चर्चा करके नायक को अनुरक्त नायिका से मिलने के लिए प्रेरित कर रही है। गाथा में प्रयुक्त 'पाशकशारी' पद श्लिष्ट है। एक अर्थ में पाशक अर्थात् फांस, सारी अर्थात् मैना। दूसरे अर्थ में पाशक अर्थात् चौपड़ एक प्रकार का जुआ और शारी अर्थात् गुटिका या गोटी। यहाँ अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार चौपड़ की गोटी फलक पर बनाए गए एक घर से दूसरे घर में घूमा करती है और चाल चलने-वाले खिलाड़ी (द्यूतकर अथवा आक्षिक) की असावधानी से मार खा जाती है उसी प्रकार वह अल्हड़ बाला तुझे घर-घर ढूँढती फिरती है, वह तेरे विरह में सुध-बुध खो चुकी है। अगर तू जल्दी नहीं करता तो जाल में फँसी हुई (पोसुआ) उस 'मैना' को गाँव के कुत्ते जिन्दा नहीं छोड़ेंगे, अवश्य मारकर

खा जायँगे। गाँव के कुत्तों का यह स्वभाव है कि ऐसे अवसर में लूझ पड़ते हैं और अपने खाद्य पदार्थ को समाप्त करके ही दम लेते हैं। यहाँ 'गाँव के कुत्ते' से कामुकों की ओर संकेत है, अर्थात् तेरे सामने वे कामुक कुत्ते सदृश हैं। इससे सिद्ध है कि वह बाला उन कुत्तों से कितना भय खाती होगी। नायिका को चौपड़ की गोटी की उपमा देकर गाथाकार ने गाँव के कामुक के जीवन और चरित्र को पूरा चित्रित कर दिया है। जैसा कि स्पष्ट है, गाँव के सारे जुआड़ी उस 'मैना' पर लट्टू हो रहे हैं और उनमें प्रत्येक इस चाल में है कि वह उस 'गोटी' को मारकर ही दम लेगा। सब अपनी-अपनी चाल चल रहे हैं। 'मैना' की जो उपमा व्यञ्जित हो रही है उससे कामुकों के शुनकभाव का विशेष पोषण होता है और उनकी क्रूरता सिद्ध होती है। दूती की प्रार्थना है कि नायक यथाशीघ्र चौपड़ की उस गोटी को मात होने से बचा ले, एवं उस पोसुआ 'मैना' की 'कुत्तों' के पंजों की नोच-चोथ से रक्षा करे॥ ३८॥

अण्णण्णं कुसुमरसं जं किर सो महइ महुअरो पाउं।
तं णिरसाणँ दोसो कुसुमाणं णेअ भमरस्स॥ ३९॥

[अन्यमन्य कुसुमरसं यत्किल स इच्छति मधुकरः पातुम्।
तन्नीरसानां दोषः कुसुमानां नैव भ्रमरस्य॥]

भौंरा जो दूसरे-दूसरे फूलों का रसपान करना चाहता है तो इसमें उस भौंरे का कोई दोष नहीं, दोष तो उन फूलों का है जो बिलकुल नीरस हैं।

विमर्श—सखी के प्रति स्वाधीनपतिका की उक्ति। सखी ने जब यह कहा कि नायक ने अब तक कई नायिकाओं में प्रणय किया लेकिन कहीं स्थिर नहीं हुआ। अब जो तुझमें प्रणय कर रहा है, अवश्य तुझे भी एक दिन धोखा देकर चला जायगा। सखी की इस बात पर निहायत ऐंठ के साथ नायिका ने भौंरे की चर्चा करके उत्तर दिया कि भौंरा का इसमें कुछ दोष नहीं जो वह एक फूल को छोड़ दूसरे पर दौड़ता रहता है, बल्कि उन फूलों का दोष है जो नीरस होने के कारण भौंरे को आकृष्ट नहीं कर पाते। क्योंकि भौंरा को 'मधुप' कहते हैं अर्थात् मधुपान करना उसका स्वभाव है। जहाँ उसे पर्याप्त 'रस' मिलेगा वहीं स्थिर होगा। प्रस्तुत में उसी प्रकार अब तक उस नायक को कोई भी मुझ-जैसी 'रसभरी' नहीं मिली। फिर क्यों न उन्हें वह छोड़ देता! देख लेना, अब वह मुझे छोड़कर कहीं नहीं जायगा, किसी में अनुराग नहीं करेगा। आखिर वह तो 'रसिया' ठहरा! मेरे होते उसका चाञ्चल्य शान्त होकर ही रहेगा। प्रस्तुत नायिका सौभाग्य-गर्विता स्वाधीनपतिका है॥ ३९॥

रत्थापइण्णणअणुप्पला तुमं सा पडिच्छए एन्तं।
दारणिहिएहिँ दोहिँ वि मङ्गलकलसेहिँ व थणेहि ॥ ४० ॥
[रथ्याप्रकीर्णनयनोत्पला त्वां सा प्रतीक्ष्यते आयान्तम्।
द्वारनिहिताभ्यां द्वाभ्यामपि मङ्गलकलशाभ्यामिव स्तनाभ्याम्॥]

वह सुन्दरी गलियों में अपने नेत्रों के कमल बिखेर कर तेरे आगमन की प्रतीक्षा कर रही है। उसने मङ्गल-कलश के रूप में अपने दोनों स्तन तुम्हारे स्वागत के लिए द्वार पर रख दिए हैं।

विमर्श—नायक के प्रति दूती की उक्ति। नायक मन्द-स्नेह है और दूती उसके प्रति नायिका के अतिशय प्रणय को सूचित करती है। जिस प्रकार किसी विशिष्ट पुरुष या प्रियजन के स्वागत में पाँवड़े बिछाकर फूल बिखेर दिए जाते हैं और द्वार पर मङ्गल-कलश स्थापित कर दिए जाते हैं उसी प्रकार नायक के आगमन की प्रतीक्षा में उसने नेत्रों के कमल बिखेर दिए हैं और मंगल-कलश के रूप में स्तन द्वारदेश पर निहित कर दिए हैं। अथवा तुम्हें बुलाने के लिये मुझे भेजकर वह तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। किसी पुस्तक में 'तुमं सा पडिच्छए एन्तं' के स्थान पर 'तुमं पुत्ति कं पलोएसि' पाठ है। इस पाठ के अनुसार अर्थ यह होगा कि 'हे पुत्रि! तू इस प्रकार लाज-शरम छोड़कर किसकी प्रतीक्षा कर रही है? अगर तू कहे तो मैं उसे लाने का प्रयत्न करूँ।' इस गाथा का समानार्थी श्लोक अमरुक शतक में यह मिलता है—

'दीर्घा वन्दनमालिका विरचिता दृष्ट्यैव नेन्दीवरैः।
पुष्पाणां प्रकरः स्मितेन रचितो नो कुन्दजात्यादिभिः॥
दत्तः स्वेदमुचा पयोधरभरेणार्घो न कुम्भाम्भसा।
स्वैरेवावयवैः प्रियस्य विशतस्तन्व्या कृतं मङ्गलम्॥'

ता रुण्णं जा रुव्वइ ता छीणं जाव छिज्जए अङ्गं।
ता णीससिअँ वराइअ जाव अ सासा पहुप्पन्ति ॥ ४१ ॥
[तावद्रुदितं यावद्रुद्यते तावत्क्षीणं यावत्क्षीयतेऽङ्गम्।
तावन्निःश्वसितं वराकया यावत् [च] श्वासाः प्रभवन्ति॥]

उस बेचारी से जितना रोते बना, उतना रोई, उसके अङ्ग जितना क्षीण हो सकते थे, उतने हुए; जितनी साँस वह ले सकती थी, उतनी ले चुकी।

विमर्श—नायक के प्रति दूती की उक्ति। नायक को फिर अनुनय करने से पराङ्मुख जानकर जब नायिका का मान कुछ कम हुआ तो अपने किए पर पश्चात्ताप के स्वरूप रोना-धोना, अङ्गों को कृश कर देना और निरन्तर श्वासोच्छ्वास लेते रहना शुरू कर दिया और विरह की उस स्थिति तक पहुँच गई कि अब उसके

इतनी शक्ति नहीं कि रो भी सके, तथा क्षीण भी उतनी हद तक हो चुकी कि उससे अधिक क्षीण भी होना सम्भव न था और उच्छ्वास की सम्पत्ति भी उसके पास कुछ शेष न रह गई। इस प्रकार दूती द्वारा कलहान्तरिता नायिका की इस विरहदशा के वर्णन का तात्पर्य यह है कि वह निश्चय ही आसन्नमरणा है। उसने तुम्हारे अनुनय को नहीं स्वीकार कर जो गलती की उसका फल भी वह खूब भोग चुकी। अब तो उस पर कुछ रहम करो, जिससे उसके प्राण कम से कम न निकलें। निश्चय ही उससे अब फिर ऐसी गलती न होगी ॥ ४१ ॥

समसोक्खदुक्खपरिवड्ढिआणँ कालेण रूढपेम्माणं।
मिहुणाणँ मरइ जं तं खु जिअइ इअरं मुअं होइ ॥ ४२ ॥
[समसौख्यदुःखपरिवर्धितयोः कालेन रूढप्रेम्णोः।
मिथुनयोम्रियते यत्तत्खलु जीवति इतरन्मृत भवति ॥]

पति और पत्नी एक भाव से सुख और दुःख का अनुभव करते हुए बढ़ते हैं और उनका स्नेह क्रमशः दृढ़ हो जाता है। ऐसी स्थिति में उस जोड़ी में से अगर एक मर जाता है तो वह जीवित ही रहता है, पर दूसरा मृत हो जाता है।

विमर्श—नायक द्वारा समीपस्थित नायिका को अपने स्थिर-प्रेम होने की सूचना। प्रिय और प्रियतमा की जोड़ी जब पति और पत्नी के रूप में हो जाती है उस समय दोनों के सुख और दुःख में अन्तर नहीं रह जाता है और समय से उन दोनों का प्रेम दृढ़ होता है, क्योंकि प्रेम तो दो हृदयों का बन्धन या ग्रन्थि है। समय से वह और भी मजबूत हो जाता है। प्रेम की इस दृढ़ता तक पहुँच कर जब उन दोनों में से कोई एक मृत्यु के आकस्मिक आक्रमण से अपना लौकिक अस्तित्व खो देता है अर्थात् मर जाता है तब भी वह जीवित ही रहता है, कारण कि उसे दूसरे के विरहजन्य दुःख का अनुभव शायद मर कर नहीं करना पड़ता और दूसरा जो अपने प्रिय के विरहजन्य दारुण कष्ट का अनुभव करते हुए जीवित रहता है एक प्रकार से मर ही जाता है। नायक का तात्पर्य है कि तू भी अगर मुझमें उसी प्रकार दृढ़ प्रेम करेगी तो मैं भी तुझे पहली ही जैसी चाहूँगा। मैं जब भी किसी से प्रेम करता हूँ, दृढ़ प्रेम करता हूँ, उसमें विचलित नहीं होता ॥ ४२ ॥

हरिहिइ पिअस्स णवचूअपल्लवो पढममञ्जरिसणाहो।
मा रुवसु पुत्ति पत्थाणकलसमुहसंठिओ गमणं ॥ ४३ ॥
[हरिष्यति प्रियस्य नवचूतपल्लवः प्रथममञ्जरीसनाथः।

मा रोदीः पुत्रि प्रस्थानकलशमुखसंस्थितो गमनम् ॥]

हे पुत्रि ! तू मत रो, क्योंकि प्रस्थान-कलश के मुख पर रखा हुआ, प्रथम मञ्जरी से सनाथ आम्र का नया पल्लव निश्चय ही तेरे प्रिय को परदेश जाने न देगा।

विमर्श—चतुर सखी के द्वारा कुलवधू को सान्त्वना। प्रिय परदेश जाने की तैयारी कर रहा है। ऐसे अवसर में उसके रोकने का कोई उपाय न देख कुलवधू रोने-रोने को आ पहुँची है। सखी ने सान्त्वना देते हुए कहा कि वह ज्यों ही घर से प्रस्थान करेगा मेरे द्वारा द्वार के प्रस्थान-कलश पर रखे हुए पहली मौंजर से युक्त आम्र के नये पल्लव पर उसकी दृष्टि पड़ेगी, तब निश्चय उसे तत्काल वसन्त के आगमन की सूचना मिल जायगी और अपने असामयिक प्रवास को स्थगित कर देगा। उपाय को न देख, तू इस प्रकार विह्वल मत हो, यह काम चुटकी में सिद्ध हो जायगा। वसन्त में प्रियतमा को छोड़ने के लिए कोई भी प्रेमी प्रवृत्त नहीं होता। यही तो एक ऐसा अवसर है जब यौवन के सच्चे सुख का पूर्ण रूप से अनुभव होता है। फिर वह क्यों जा सकेगा ? ॥ ४३ ॥

जो कहँ वि मह सहीहिं छिद्दं लहिऊण पेसिओ हिअए।
सो माणो चोरिअकामुअ व्व दिट्ठे पिए णट्ठो ॥ ४४ ॥

[यः कथमपि मम सखीभिश्छिद्रं लब्ध्वा प्रवेशितो हृदये।
स मानश्चोरकामुक इव दृष्टे प्रिये नष्टः ॥]

सखियों के प्रोत्साहन से प्रणय-कलह के छिद्र द्वारा जो मान मेरे हृदय में प्रवेश कर सका वह प्रिय के देखते ही चोरकामुक की भाँति ठहर नहीं पाया।

विमर्श—सखियों के प्रति चतुर नायिका की उक्ति। सखियों ने बड़े प्रयत्न से प्रणय-कलह करने की शिक्षा देकर नायिका को प्रिय के समीप भेजा था, पर नायिका का मान प्रिय के देखते ही चोरकामुक की भाँति भाग गया। सखियों के पूछने पर नायिका ने इस प्रकार अपने मान के नष्ट होने की स्थिति को परिहास के साथ सूचित किया। तात्पर्य यह कि मान तभी तक ठहरता है जब तक प्रिय सामने नहीं होता। उसके सामने होने पर तो फिर वह ऐसा भाग ही जाता है। नायिका ने इस उक्ति के द्वारा प्रिय के प्रति अपना अतिशय अनुराग सूचित किया। टीकाकार गङ्गाधर के अनुसार कोई कलहान्तरिता अनुनय के लिए पहुँचे हुए प्रिय को देखकर उसको सुनाते हुए अपना अनुराग सूचित करती है। श्री मथुरानाथ शास्त्री का कहना है कि अभी तक नायक ने अनुनय ही नहीं किया और नायिका का मान दूर हो गया ऐसी स्थिति में वह

कलहान्तरिता कैसे हुई ? अस्तु, यहाँ मान का चोरकामुक की भाँति पलायन बड़ी ही मार्मिक उपमा है। ठीक इसी प्रकार चोरकामुक भी नायक को देखकर झट से टसक जाता है ॥ ४४ ॥

सहिआहिँ भण्णमाणा थणए लग्गं कुसुम्भपुप्फं त्ति ।
मुद्धवहुआ हसिज्जइ पप्फोडन्ती णहवआइं ॥ ४५ ॥

[सखीभिर्भण्यमाना स्तने लग्नं कुसुम्भपुष्पमिति ।
मुग्धवधूर्हस्यते प्रस्फोटयन्ती नखपदानि ॥]

सखियों ने जब यह कहा कि अरी, तेरे स्तन में कुसुम्भ का फूल लगा है तब वह मुग्धा प्रिय के द्वारा स्तनों पर किए गए नखक्षतों को छिपाने लगी, तभी सखियाँ हँस पड़ीं।

विमर्श—सपत्नी द्वारा नायिका के शीलखण्डन की सूचना। नायिका सखियों से कुसुम्भ के फूल तोड़ने का बहाना करके अपने प्रिय से मिल कर लौटी है। एक टीकाकार के अनुसार फूल बेचने के बहाने अपने प्रिय के यहाँ जाकर अपने घर लौटी है। उसकी चतुर सखियों ने उसके स्तनों पर प्रिय के नखों के खरोंच देख कर सब कुछ अनुमान कर लिया और नायिका को छकाने के उद्देश्य से बोलीं कि तेरे स्तन पर कुसुम्भ का फूल लगा है। नायिका अकस्मात् यह समझ गई कि सचमुच उसके स्तनों पर कुसुम्भ वन के फूल उलझ कर आ गए हैं और वह तत्काल अपने हाथों से झाड़ने लगी। सखियों ने अपने प्रयोग को सफल देखते ही हँसना शुरू किया। उनके इस प्रकार हँसने की व्यञ्जना यह है कि कमाल की तू मुग्धा है जो अब तक यह न समझ पाई कि तेरे स्तनों पर कुसुम्भ के फूल हैं अथवा प्रिय के नख के खरोंचों के चिह्न हैं जो जगह-जगह 'शशप्लुत' के रूप में तेरे स्तन पर दिखाई दे रहे हैं। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि जैसे खरहे के पैरों की छाप हो। टीकाकारों ने कल्पना की है कि नायिका के स्तन पर के नख-चिह्न कामशास्त्र में वर्णित 'शशप्लुत' के अनुकूल हैं जैसा कि कहा है—'शशप्लुतं पञ्चनखव्रणानि सान्द्राणि तच्चूचुकचिह्न माहुः।' श्री गोवर्धन ने भी 'आर्या सप्तशती' में किसी मुग्धा के द्वारा कुसुम्भ वन में की गई प्रिय के साथ 'आरभटी' का उल्लेख किया है—'अस्याः पुनरारभटीं कुसुम्भवाटीं विजानाति' ॥ ४५ ॥

उम्मूलेन्ति व हिअअं इमाइँ रे तुह विरज्जमाणस्स ।
अवहीरणवसविसंठुलवलन्तणअणद्धदिट्ठाइं ॥ ४६ ॥

[उन्मूलयन्तीव हृदयं इमानि रे तव विरज्यमानस्य ।
अवधीरणवशविसंष्ठुलवलन्नयनार्धदृष्टानि ॥]

अरे प्रेमहीन ! इस प्रकार तू मुझसे विरक्त हुआ जा रहा है कि उस विराग की सूचना देने वाले, तिरस्कारवश बिना लक्ष्य के पड़नेवाले, वलनशील, अध खुले तेरे नेत्रों के अवलोकन मेरे हृदय को उखाड़े जा रहे हैं।

विमर्श—नायक के प्रति नायिका की उक्ति। नायक मन्दस्नेह हो चुका है और नायिका उसे अभिमुख करने का प्रयत्न कर रही है। नायक द्वारा तिरस्कारवश बिना लक्ष्य के वलनशील अधखुले नैनों द्वारा दृष्टिपात करना उसकी परम विरक्ति को सूचित करता है। ऐसी स्थिति में नायिका का हृदय मानो उन दृष्टिपातों द्वारा उखाड़ा जा रहा है। तात्पर्य यह कि नायक के विराग की सूचना देनेवाले चिह्न जब उस नायिका को इस स्थिति तक पहुँचा रहे हैं तो वह उसके विराग का साक्षात् अनुभव करके किसी प्रकार जीवित न रह सकेगी। इस प्रकार नायिका ने नायक को 'रे' ईर्ष्यात्मक सम्बोधन द्वारा यह सूचित किया कि अब भी तुझे यह क्या मालूम नहीं कि मैं तेरे प्रेममात्र के बदौलत जी रही हूँ और तू है कि इसी तरह लापरवाह नजरों से देखता ही जा रहा है ! तू ही बता, अगर इस प्रकार मुझसे खिचा-खिंचा रहेगा तो फिर मैं कैसे जीवित रहूँगी ? ॥ ४६ ॥

ण मुअन्ति दीहसासं ण रुअन्ति चिरं ण होन्ति किसिआओ।
धण्णाओ ताओ जाणं बहुवल्लह वल्लहो ण तुमं ॥ ४७ ॥

[न मुञ्चन्ति दीर्घश्वासान्नरुदन्ति चिरं न भवन्ति कृशाः।
धन्यास्ता यासां बहुवल्लभ वल्लभो न त्वम् ॥]

हे बहुवल्लभ (बहुतों में प्रेम करनेवाला) ! तू जिनका वल्लभ (प्रिय) नहीं है वे ही स्त्रियाँ धन्य हैं, क्योंकि वे लम्बी साँसें तो नहीं छोड़तीं, देर तक नहीं रोतीं, और तेरे विरह में क्षीण भी नहीं होतीं।

विमर्श—बहुवल्लभ नायक के प्रति नायिका की उक्ति। नायक अनेक सुन्दरियों में आसक्त होने के कारण अपेक्षित समय में नायिका से मिल नहीं पाता। वह उसके सामने अपनी विरह-विकलता व्यक्त करके अपना स्वाभाविक प्रेम प्रकट कर रही है। नायिका ने उन स्त्रियों को 'धन्य' कहा जो उसके बहुवल्लभ प्रिय के प्रेमपाश में नहीं फँसीं। क्योंकि ऐसा न होने पर वे बहुत प्रकार के कष्टों का विषय न बनीं अन्यथा उन्हें भी इसी की तरह उसके विरह में दीर्घश्वास छोड़ते, देर तक जार-जार रोते और क्रमशः क्षीण होते दिन के दिन और रात की रात गुजार देने होते। नायिका का तात्पर्य यह है कि जिन बहुतों से वह प्रेम करता है वे क्या इसी प्रकार उसके विरहजन्य कष्ट का अनुभव करती हैं ? फिर भी उन्हीं के पास पड़ा रहता है, यद्यपि उसे यह

मालूम है कि उसके विरह का असाधारण कष्ट मुझे होता है ! अर्थात् हमने तुझमें प्रेम नहीं किया, बल्कि खूब फँसे ! ॥ ४७ ॥

णिद्दालसपरिघुम्भिरतंसवलन्तद्धतारआलोआ ।
कामस्स वि दुव्विसहा दिट्ठिणिआवा ससिमुहीए ॥ ४८ ॥
[निद्रालसपरिघूर्णनशीलतिर्यग्वलदर्धतारकालोकाः ।
कामस्यापि दुर्विषहा दृष्टिनिपाताः शशिमुख्याः ॥]

नींद से अलसाये, परिघूर्णनशील, तिरछे चलते हुए, अधमुँदे तारों वाले उस चन्द्रमुखी के दृष्टिपात काम के धैर्य को भी तत्काल च्युत कर देने वाले होते हैं।

विमर्श—सहचर के प्रति नायक की उक्ति। नायक अपने शयनागार से प्रातःकाल निकलती हुई प्रियतमा के द्वारा एक बार पीछे मुड़ कर तिरछी नजरों से अपने देखे जाने का सौभाग्य-वर्णन कर रहा है। उस समय उसकी प्रियतमा की आँखें सुरतजागर के कारण निंदियाई रहती हैं तथा उनमें एक विचित्र प्रकार का घूर्णन भी होता रहता है। मुड़ कर देखने और एक प्रकार की अकथनीय उथल-पुथल के भावात्मक संवेदन के प्रभाव से तिरछी खिंची हुई होने के कारण और भी जानमार हो जाती हैं। फिर उनके तारों का उस समय अधखुले रहना तो और भी उनकी अजेयता पुष्ट कर देता है। ठीक ही, ऐसी स्थिति में उन दृष्टिपातों को सहन करने में कामदेव क्या समर्थ हो सकता है ? जब ऐसी अवस्था उसकी तत्काल सम्भव है तो हम कामातुरों की क्या अवस्था होगी यह स्वयं कल्पनीय है। तात्पर्य यह कि उस समय उसकी तिरछी नजरों में क्या-क्या नहीं दिखाई देता ? तृप्ति, अतृप्ति, अपेक्षा, चञ्चलता और जड़ता के परस्पर विरोधी भाव एक अपूर्व सामञ्जस्य के साथ एक ही क्षण में उलझ पड़ते हैं ॥ ४८ ॥

जीविअसेसाइ मए गमिआ कहँ कहँ वि पेम्मदुद्दोली ।
एह्निं विरमसु रे डड्ढहिअअ मा रज्जसु कहिं पि ॥ ४९ ॥
जीवितशेषया मया गमिता कथं कथमपि प्रेमदुर्दोली ।
इदानीं विरम रे दग्धहृदय मा रज्यस्व कुत्रापि ॥]

प्रिय के विरह में मैंने किसी-किसी प्रकार जीव-धारण किया और प्रेम की गाँठ को खुलने नहीं दिया। अरे ओ मेरे जले हुए हृदय ! तू ने तो सब कुछ देख ही लिया, अब रुक जा और फिर कहीं अनुरक्त न हो।

विमर्श—जार को सुनाते हुए विरहिणी नायिका की उक्ति। नायिका

अपने प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा में यहाँ तक विरह में घुलती रही कि अब केवल उसके शरीर में प्राण बच गए हैं। इस सीमा तक पहुँच कर तो उसने प्रिय के आगमन की प्रत्याशा से सखियों की सान्त्वना आदि से अपने प्रणय की गाँठ को खुलने नहीं दिया। अब उसमें यह सामर्थ्य ही कहाँ कि उस गाँठ को वह किसी प्रकार कायम रख सके। फिर अब तो उसकी यह ग्रन्थि खुलनेवाली ही है। ऐसी स्थिति में उसने अपने जले हुए हृदय को सम्बोधित करते हुए उसे सचेत करने का प्रयत्न किया कि वह अपने प्रिय के प्रति प्रेम की गाँठ के टूट जाने या खुल जाने के पश्चात् भी अगर जीवित रहे तो उसका हृदय पुनः किसी के प्रेम के जाल में फिर न फँस जाय, क्योंकि उस जाल में फँसने का फल अभी-अभी वह भुगत चुकी है। पहले ही सचेत कर देने का मतलब यह है कि अगर उसका हृदय फिर किसी में अनुरक्त हो गया तो उसका निवृत्त होना मुश्किल है और फिर परेशानियाँ अब जैसी फिर बढ़ जायँगी। ठीक ही, प्रेम कुछ ऐसा बन्धन है कि फिर उसको खोलते बनता है। जैसा कि उर्दू के महाकवि गालिब की यह प्रसिद्ध पंक्ति है—इश्क पर जोर नहीं है ये वो आतिश 'गालिब'। कि लगाए न लगे और बुझाये न बने॥ सुनते हुए जार के प्रति नायिका का तात्पर्य यह व्यञ्जित होता है कि मैं जिससे प्रेम करती हूँ इसी तरह करती हूँ, प्रेम करने के बाद मेरा प्रेमी भले ही मुझसे मुकर जाय पर मैं अपनी शक्ति भर उसके प्रणयबन्धन को खुलने नहीं देती। गंगाधर के अनुसार प्रस्तुत नायिका का अनुराग अपने प्रिय के प्रति दृढ़ न होने के कारण व्यभिचारी हो गया है, क्योंकि पति-पत्नी का सम्बन्ध धर्म का भावात्मक सम्बन्ध है वह थोड़ा भी विचलित होते ही समाप्त हो जाता है॥ ४९॥

अज्जाएँ णवणहक्खअणिरीक्खणे गरुअजोव्वणुत्तुङ्गं।
पडिमागअणिअणअणुप्पलच्चिअं होइ थणवट्टं॥ ५०॥
[आर्याया नवनखक्षतनिरीक्षणे गुरुयौवनोत्तुङ्गम्।
प्रतिमागतनिजनयनोत्पलार्चितं भवति स्तनपृष्ठम्॥]

विशाल और यौवन के कारण ऊँचे अपने स्तनों पर (कामुक के) ताजे नखक्षतों को जब वह देखने लगती है तब उसकी नीली-नीली आँखों के प्रतिबिम्ब उसके स्तनों पर उभर आते हैं और तब ऐसा लगता है मानो नीले कमलों द्वारा उनकी पूजा हुई हो।

विमर्श—नायक के प्रति दूती की उक्ति। दूती ने नायक को नायिका के प्रति अभिमुख करने के लिए नायिका द्वारा नखक्षतों के अवलोकन का दृश्य शब्दों

में चित्रित किया है। उसका तात्पर्य यह है कि पूर्ण यौवनवाली उस सुन्दरी को कामुक द्वारा उपभुक्त जानकर तुम कैसे सह लेते हो? धन्य हो तुम! स्तनों का विशाल होना और यौवन के कारण ऊँचा होना फिर उसकी आँखों की नीलिमा, सारे के सारे उसके यौवन की पूर्णता को व्यक्त कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में उसका कामुक द्वारा उपभुक्त हो जाना कोई अस्वाभाविक नहीं। वह अपने स्तनों पर कामुक के नखों के खरोंचों को किस प्रकार देखती है! तात्पर्य यह कि यह अवसर तुम्हारे लिए बड़ा ही अनुकूल है, व्यर्थ ही दूसरे उपयोग में ला रहे हैं॥ ५०॥

तं णमह जस्स वच्छे लच्छिमुहं कोत्थहम्मि संकन्तं।
दीसइ मअपारहीणं ससिबिम्बं सूरबिम्ब व्व ॥ ५१॥

[तं नमत यस्य वक्षसि लक्ष्मीमुखं कौस्तुभे संक्रान्तम्।
दृश्यते मृगपरिहीनं शशिबिम्बं सूर्यबिम्ब इव॥]

जिनके वक्षःस्थल की कौस्तुभ-मणि में प्रतिबिम्बित होता हुआ लक्ष्मी का मुख मानो सूर्य के मण्डल में निष्कलंक चन्द्रमा का मण्डल पहुँच गया हो, ऐसा प्रतीत होता है, उन्हें प्रणाम करो।

विमर्श—नायक-नायिका के प्रति दूति की उक्ति। गङ्गाधर के अवतरण के अनुसार दूती नायिका से विमुख नायक को अभिमुख करने के लिये और विपरीत सुरत की प्रक्रिया से अनभिज्ञ नायिका को उसकी कला से परिचित करने के उद्देश्य से लक्ष्मी के विपरीत-रत का वर्णन किया है। श्री जोगलेकर ने इस टीका को गाथा के विपरीत कहा है। उनका तात्पर्य है कि जबकि इस गाथा में एकमात्र किसी भावुक की देवविषया रतिमात्र व्यञ्जित हो रही है, इसे नायिका-नायक के शृंगारिक वातावरण तक पहुँचाने का प्रयत्न आकर्षण की दृष्टि से सफल नहीं कहा जा सकता॥ ५१॥

मा कुण पडिवक्खसुहं अणुणेहि पिअं पसाअलोहिल्लं।
अइगहिअगरुअमाणेण पुत्ति रासि व्व छिज्जिहिसि॥ ५२॥

[मा कुरु प्रतिपक्षसुखमनुनय प्रियं प्रसादलोभयुतम्।
अतिगृहीतगुरुकमानेन पुत्रि राशिरिव क्षीणा भविष्यसि॥]

हे पुत्रि! अतिशय मान मत कर क्योंकि इससे तेरी सौतों को प्रिय से मिलने का अवसर प्राप्त हो जाता है, और वे आनन्दित होती हैं। अपने प्रिय को अनुनय के द्वारा अपने अधीन कर ले, क्योंकि वह तेरी प्रसन्नता का इतना लोलुप है कि अनुनय करते ही तेरा हो जायगा। अगर तू अधिक मान करेगी तो जिस प्रकार धान की रास (ढेर) भारी वजन वाले तौल से तौले जाने पर

क्षीण हो जाती है (कम हो जाती है) उसी प्रकार तू भी क्षीण हो जायगी— यह मान तेरे कुछ काम न आयगा।

विमर्श—नायिका के प्रति प्रौढ़ा दूती की उक्ति। नायिका प्रिय से कलह करके पछता रही है, अतः 'कलहान्तरिता' है। ऐसी स्थिति में प्रिय को अधीन करने का एकमात्र साधन अनुनय है, परन्तु मानातिशय के कारण नायिका यह करने में असमर्थ है। दूती ने कहा कि अगर इस प्रकार मान करती बैठी रह जायगी तो तेरी सौतें ही अवसर पाकर आनन्दित होंगी, अतः मान को छोड़ और कलह-कुपित प्रिय को मना ले। इस गाथा में 'मान' शब्द श्लिष्ट है। इसका पहला अर्थ नायिका-पक्ष में 'कोप' और दूसरा धान्य-राशिपक्ष में तौलने का साधन 'बाट' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। दूती का तात्पर्य है कि बड़ी से बड़ी रास (= धान की ढेर) गुरुक मान अर्थात् भारी तौल से तौले जाने पर जिस प्रकार जल्दी ही क्षीण हो जाती है उसी प्रकार गुरुक मान अर्थात् प्रिय पर अतिशय कोप करनेवाली नायिका भी हृदय की जलन से क्षीण हो जायगी। अतः मान का परित्याग ही उसके लिए श्रेयस्कर है॥ ५२॥

विरहकरवत्तदूसहफालिज्जन्तम्मि तीअ हिअअम्मि।
अंसू कज्जलमइलं पमाणसुत्तं व्व पडिहाइ॥ ५३॥

[विरहकरपत्रदुःसहपाट्यमाने तस्या हृदये।
अश्रु कज्जलमलिनं प्रमाणसूत्रमिव प्रतिभाति॥]

उसका विरह उससे सहा नहीं जाता। ऐसा प्रतीत होता है कि विरह के आरे (करपत्र) से उसके हृदय का जो विदारण होने जा रहा है उसी की सन्धि में उसकी आँखों से ढरके हुए कज्जल-मलिन आँसू चीरने का सूत्र (प्रमाण-सूत्र) बन रहे हैं।

विमर्श—नायक के प्रति दूती की उक्ति। नायक को त्वरित करने के लिए नायिका की विरह-वेदना का वर्णन। देखा जाता है कि बढ़ई लोग काष्ठखण्ड को आरा से चीरने के पहले कोयले के रंग में सूत को भिगोकर उस लकड़ी पर सीधी रेखा खींच देते हैं, ताकि सीधा चीरने में सुविधा हो। प्रस्तुत गाथा इसी व्यवहार पर आधृत है। नायिका के हृदय का दो खण्ड विरह के आरा से होने जा रहा है, इसी लिए उसकी आँख कज्जल-मलिन आँसू प्रमाण-सूत्र के रूप में ढरक रहे हैं। तात्पर्य है कि तेरी प्रतीक्षा में वह जार-जार रो रही है, जल्दी कर नहीं तो विरह का आरा उसके हृदय पर चलने ही वाला है॥ ५३॥

दुण्णिक्खेवअमेअं पुत्तअ मा साहसं करिज्जासु।

एत्थ णिहिताइँ मण्णे हिअआइँ पुण्णे ण लब्भन्ति ॥ ५४ ॥

[दुर्निक्षेपकमेतत्पुत्रक मा साहसं करिष्यसि।
अत्र निहितानि मन्ये हृदयानि पुनर्न लभ्यन्ते ॥]

हे पुत्र ! तू उसके पास अपने हृदय को जो न्यास के रूप में रख रहा है, ऐसा साहस न करना। तू निश्चय जान, यहाँ न्यास के रूप में रखे हुए हृदय फिर वापस नहीं लौटते।

विमर्श—नायक के प्रति दूती की उक्ति। नायक किसी विदग्धा को अपना दिल दे डालने के लिए उत्कण्ठित हो रहा है। दूती ने निषेध के द्वारा उसकी प्रवृत्ति को और भी उभाड़ने का प्रयत्न करते हुए कहा कि तेरे प्रति मेरा पुत्र-जैसा स्नेह है, अतः तुझे कह रही हूँ कि तू अपना हृदय उसे न दे, नहीं तो उसको दिए हुए हृदय को फिर वापस लेना मुश्किल है। गाथा में 'दुर्नि-क्षेपक' शब्द उस न्यास या थाती के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जो फिर नहीं प्राप्त होता। दूती का तात्पर्य है कि वह तेरा दिल जो ले लेगी फिर कभी ऐसा अवसर ही नहीं आएगा कि तुझे अपना दिल उससे लेना पड़े। अतः वह दिल देने अर्थात् प्रणय करने योग्य है; तू जरूर उसे अपना दिल दे। यहाँ 'हृदय' शब्द में बहुवचन से यह द्योतित होता है कि बड़े चतुर लोग भी अगर इसे अपने हृदय दें तो वह भी इसके अधीन हो जायेंगे, फिर तू कहाँ का है ? वह अतिशय विदग्धा एवं दृढ़ अनुराग करने वाली है। उसे अपना दिल देता है तो दे ही डाल। इस गाथा का व्यङ्ग्य निषेध रूप वाच्य के द्वारा विधि रूप में प्रतीत होता है ॥ ५४ ॥

णिव्वुत्तरआ वि वहू सुरअविरामट्ठिइं अआणन्ती।
अविरअहिअआ अण्णं पि किं पि अत्थि त्ति चिन्तेइ ॥ ५५ ॥

[निवृत्तरतापि वधूः सुरतविरामस्थितिमजानंती।
अविरतहृदयान्यदपि किमप्यस्तीति चिन्तयति ॥]

स्वयं तो वह समागम से तृप्त हो चुकी, लेकिन उस मुग्धा को सुख के विराम की स्थिति का जो अब तक अनुभव नहीं है, इसी कारण वह तुम्हें तृप्त करने की इच्छा से अब दूसरा क्या होना चाहिए, यह सोच रही है।

विमर्श—नायक के प्रति दूती की उक्ति। रत के समाप्त होने पर नायिका को शून्य की भाँति देखकर नायक संशय में पड़ गया कि क्या यह इस सुख से सन्तुष्ट नहीं हुई ? इस प्रकार संशय में पड़े और अपनी अक्षमता पर लज्जित नायक का सन्देह मिटाते हुए दूती ने कहा सच बात तो यह है कि नायिका स्वयं मुग्धा है, नासमझ है—उसे जीवन में पहली बार ऐसा अवसर प्राप्त

हुआ है। अतः स्वयं सन्तुष्ट होकर भी तुम्हारी सन्तुष्टि के लिए वह तत्काल सोच में पड़ गई कि अब आगे क्या करना चाहिए। तात्पर्य यह कि समझकर वह सन्तुष्ट नहीं हुई, तुम उसे विशेष श्रान्त करने की कोशिश न करना। अब तुम समझ गए होगे कि यह मुग्धा तुम्हारे प्रति कितना अनुरक्त है और तुम्हें कितना सुख देना चाहती है ॥ ५५ ॥

णन्दन्तु सुरअसुहरसतह्णावहराइँ सअललोअस्स।
बहुकैअवमग्गविणिम्मिआइँ वेसाणँ पेम्माइं ॥ ५६ ॥

[नन्दन्तु सुरतसुखरसतृष्णापहराणि सकललोकस्य।
बहुकैतवमार्गविनिमितानि वेश्यानां प्रेमाणि ॥]

सब प्रकार के लोगों की सुरत-सुख की तृष्णा को दूर करने वाले और बहुत-बहुत छल कपट के मार्गों से बने हुए वेश्याओं के प्रेम विजयी हों।

विमर्श—कुट्टनी द्वारा वेश्या के प्रेम की प्रशंसा ॥ ५६ ॥

अप्पत्तमण्णुदुक्खो किं मं किसिअत्ति पुच्छसि हसन्तो।
पावसि जइ चलचित्तं पिअं जणं ता तुह कहिस्सं ॥ ५७ ॥

[अप्राप्तमन्युदुःख किं मां कृशेति पृच्छसि हसन्।
प्राप्स्यसि यदि चलचित्तं प्रियं जनं तदा तव कथयिष्यामि ॥]

तू हँसते हुए मेरी कृशता के बारे में क्यों पूछ रहा है ? ठीक है, प्रिय के अपराध पर उत्पन्न होनेवाले चित्त के क्षोभ का कष्ट तुझे हुआ ही कहाँ ? यदि तू भी चंचल चित्त वाले प्रियजन को प्राप्त करेगा तभी मैं तुझे अपनी कृशता का कारण बताऊँगी।

विमर्श—नायक के प्रति विरहोत्कण्ठिता की सोपालम्भ उक्ति। स्वयं विलम्ब करके (बहुत दिनों के बाद) नायिका के पास पहुँचा हुआ (अपराधी) नायक नायिका से उसकी कृशता का कारण पूछता है। इसके उत्तर में नायिका का कहना है कि जिसे जिस बात का कुछ भी अनुभव नहीं रहता वह उस बात को किसी प्रकार नहीं समझता। नायक को ऐसा अवसर नहीं मिला कि उसका प्रिय उससे पृथक् हो अथवा उसके प्रिय ने कोई अपराध किया हो। ऐसी स्थिति में वह किसी प्रकार दूसरे की कृशता को नहीं समझ सकता। तात्पर्य यह कि तुम किसी दूसरी में अनुराग करते हो और अपराधी हो और तुमसे अनन्य अनुराग करनेवाली मैं इसी कारण क्षुभित रहती हूँ। तुम्हारी भी जब वह स्थिति आएगी जब तुम्हारी प्रेयसी तुम्हें न चाहेगी तभी तुम्हारे इस सवाल का जवाब दूँगी और तभी तुम समझ सकोगे कि मेरे कृश होने का कारण क्या है ? दूसरे, यह कि मेरी तकलीफ

का कारण पूछते हुए जो तुम हँस रहे हो, इसी से स्पष्ट है, कि मेरे प्रति तुम्हारा अनुराग सिर्फ बनावटी है, अगर तुममें जरा भी सहानुभूति होती तो इस तरह नहीं हँस कर पूछते ! ॥ ५७ ॥

अवहत्थिऊण सहिजम्पिआइँ जाणं कएण रमिओसि ।
एआइँ ताइँ सोक्खाइँ संसओ जेहिँ जीअस्स ॥ ५८ ॥
[अपहस्तयित्वा सखीजल्पितानि येषां कृते न रमितोऽसि ।
एतानि तानि सौख्यानि संशोय यैर्जीवस्य ॥]

सखियों की बातें न मानकर जिन सङ्गम-सुखों के लिए मैंने तुम्हारे साथ रमण किया वह तो दूर रहें, आज उन्हीं के कारण मेरे जीवित रहने में संशय उपस्थित हो गया है ।

विमर्श—जार के प्रति विरहोत्कण्ठिता का वचन । नायिका ने सखियों के मना करने पर भी यह सोचकर नायिका से अनुराग किया कि उसके साथ वह निरन्तर सङ्गम-सुख का अनुभव करती रहेगी । अनुराग हो जाने के पश्चात् नायक की प्रवृत्ति कुछ बदल गई और नायिका की सुखाशा को गहरा आघात पहुँचा । अब तो वह उसके अनुराग में पड़ ही चुकी और इस तरह उसके विरह में पीड़ित होने लगा कि उसे सङ्गम-सुख तो दूर रहे, जीवित रहने में भी संशय होने लगा है । ऐसी स्थिति में नायिका से जब नायक मिलता है तब वह निर्वेद के साथ अपना उद्वेजन प्रकट करती हुई प्रस्तुत गाथा कहती है । उसकी शुभेच्छु सखियों ने बार-बार मना करते हुए यह कहा था कि तू इसमें अनुराग मत कर, यह वञ्चक है, कभी तुझे सन्तुष्ट नहीं करेगा । तब उसे उनकी बातें इतनी बुरी लगी थीं कि तत्काल उसने उन बातों को जबर्दस्ती अपने कानों से निकाल दिया, अनुसुनी कर दी । गाथा में प्रयुक्त 'अवहत्थिऊण' अर्थात् 'अपहस्तयित्वा' की व्यञ्जना है कि जिस प्रकार कोई व्यक्ति बलात् घर के भीतर पहुँचे हुए किसी अनपेक्षित व्यक्ति को गर्दन पकड़ कर (गर्दनिया दे कर) बाहर निकाल देता है उसी प्रकार नायिका ने सखियों की बातों को अपने कानों में से निकाल दिया, अर्थात् उन पर बिलकुल ध्यान न दिया । नायिका का तात्पर्य यह कि नायक उसे इस प्रकार अब विरहाग्नि में उबल-उबल कर मरने से बचाए, फलतः वह निरन्तर उसके समीप रहकर सङ्गम-सुख को विघटित न होने दे ॥ ५८ ॥

ईसालुओ पई से रत्ति महूअं ण देइ उच्चेउं ।
उच्चेइ अप्पण च्चिअ माए अइउज्जुअसुहाओ ॥ ५९ ॥
[ईर्ष्याशीलः पतिस्तस्या रात्रौ मधूकं न ददात्युच्चेतुम् ।
उच्चिनोत्यात्मनैव मातरतिऋजुकस्वभावः ॥]

हे मतवा, उसका मरद इतना छुनकमिजाज है कि उसे रात में महुआ के फूल चुनने के लिए घर से बाहर जाने नहीं देता, किन्तु वह भोला आदमी खुद चला जाता है।

विमर्श—पड़ोसिन से बातचीत के बहाने दूती की नायक के प्रति उक्ति। जार को यह विदित था कि नायिका का मिलन मधूकपुष्प तोड़ने के बहाने मधूक-निकुञ्ज में होगा, लेकिन परिस्थिति कुछ दूसरी है। दूती ने अपनी पड़ोसिन से बात करते हुए यह सूचना दी कि रात में नायिका का ईर्ष्यालु अर्थात् छुनकमिजाज पति उसे मधूक-कुञ्ज में फूल तोड़ने जाने की अनुमति नहीं देता है। उसे डर है कि वह बाहर जाने पर किसी न किसी से फँस जायगी। पर वह कितना भोला है कि इस डर से खुद मधूक-निकुञ्ज में चला जाता है। तात्पर्य है कि रात मे नायिका से तुम्हारा मिलन मधूक-निकुञ्ज में नहीं, अपितु उसके घर ही में होगा। गाथाकवि ने 'स्वयमेव' (अप्पण च्चिअ) का प्रयोग करके यह व्यञ्जित किया है कि नायिका का पति 'स्वयं ही' चला जाता है और किसी दूसरे की सहायता फूल तोड़ने में नहीं लेता। अतः उसके वापस लौटने में पर्याप्त विलम्ब भी होगा, तुम्हें अपनी प्रियतमा के साथ स्वच्छन्द रमण का पर्याप्त अवसर प्राप्त होगा ॥ ५९ ॥

अच्छोडिअवत्थद्धन्तपत्थिए मन्थरं तुमं वच्च।
चिन्तेसि त्थणहराआसिअस्स मज्झस्स वि ण भङ्गं ॥ ६० ॥

[बलादाकृष्टवस्त्रार्धान्तप्रस्थिते मन्थरं त्वं व्रज।
चिन्तयसि स्तनभरायासितस्य मध्यस्यापि न भङ्गम् ॥]

मेरे हाथ से दामन झटककर (छुड़ाकर) तू चली जा रही है तो जा (मैं नहीं रोकता), (लेकिन मेरी एक बात तो सुन), जरा धीरे चल, नहीं तो स्तनों का बोझ ढोते-ढोते थका हुआ तेरा दुबला-पतला मध्यभाग अगर कहीं लचक गया, तो क्या होगा? जरा सोच तो!

विमर्श—मानवती नायिका के प्रति नायक की चाटूक्ति। नायिका नायक के किसी अपराध पर मान कर बैठी है। वह उसका वस्त्र पकड़कर रोकना चाहता है, लेकिन वह झटक कर चल पड़ती है। चतुर नायक अपने अनुरोध का इस प्रकार भङ्ग देखकर चाटूक्ति द्वारा नायिका को अनुकूल करना चाहता है। उसका कहना है कि उसे इसका कष्ट नहीं है कि नायिका ने उसका अनुरोध भङ्ग कर दिया, हां अगर उसका मध्यभाग कहीं उसके स्तनभार से भङ्ग हो गया तो क्या होगा? तात्पर्य यह कि तेरे स्तन अति गुरु हैं तथा मध्यभाग अति क्षीण है, तेरे इस सौकुमार्य का क्या कहना? ॥ ६० ॥

उद्धच्छो पिअइ जलं जह जह विरलङ्गुली चिरं पहिओ।
पावालिआ वि तह तह धारं तणुइं पि तणुएइ॥ ६१॥
[ऊर्ध्वाक्षः पिबति जलं यथा यथा विरलाङ्गुलिश्चिरं पथिकः।
प्रपापालिकापि तथा तथा धारां तनुकामपि तनूकरोति॥]

(पनसाले पर पानी पीने के लिए पहुँचा हुआ (पथिक आँखें ऊपर उठाकर ताकते हुए जैसे-जैसे अपनी उँगलियों को छितरा कर पीता है वैसे-वैसे वहाँ पर पानी पिलानेवाली (प्रपापालिका) भी पानी की धार को पतली करके गिराती है।

विमर्श—पथिक और प्रपापालिका का वृत्तान्त। सम्भवतः कोई नागरिक इस वृत्तान्त के द्वारा यह सिद्ध करना चाहता है कि प्रेमी और प्रेमिका दोनों में एक बार साथ ही प्रेम का अंकुर उत्पन्न होने पर उनके परस्पर सकाम हाव-भाव अच्छे लगते हैं। प्रस्तुत गाथा में पथिक मार्ग की श्रान्ति से उत्पन्न पिपासा के उपशमार्थ प्रपा पर आकर प्रपापालिका के द्वारा अर्पित जल पीने लगता है। उसकी दूसरी पिपासा जो प्रपापालिका को देखने की उत्पन्न हुई वह पानी से नहीं, अपितु उसका मुख निरन्तर देखने से ही सम्भवतः शान्त हो सकती है। पथिक की जल की आनुषंगिक पिपासा तो थोड़े ही में बुझ गई लेकिन वह अपनी दूसरी पिपासा को शान्त करने के उद्देश्य से ऊर्ध्वाक्ष होकर अपनी उँगलियों को छितरा देता है, जिससे प्रपापालिका द्वारा गिराया हुआ जल पूरा का पूरा नीचे गिरता जाय और वह विलम्ब करके उसके मुखलावण्य का पान करता रहे। इधर प्रपापालिका भी कुछ इसी तरह पथिक को विलम्ब से देखने के लिए पानी की बारीक धार को और भी बारीक करती जा रही है। इस प्रकार दोनों का परस्पर अनुराग व्यंजित हो रहा है। अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द में इस गाथा को इस प्रकार संस्कृत रूप में प्रस्तुत किया है—

यथोर्ध्वाक्षः पिबत्यम्बु पथिको विरलाङ्गुलिः।
तथा प्रपापालिकाऽपि धारां वितनुते तनुम्॥

(गाथा में प्रयुक्त 'चिरं' शब्द को दीक्षित जी ने इसलिए हटा दिया कि व्यंग्य रूप में ही विरलाङ्गुलीकरण तथा धारातनूकरण द्वारा व्यञ्जित होनेवाला विलम्ब अधिक चमत्कारी होता है, 'चिरं' शब्द के द्वारा अभिहित हो जाने पर उसका वह चमत्कार जाता रहता है।) ॥ ६१॥

भिच्छाअरो पेच्छइ णाहिमण्डलं सावि तस्स मुहअन्दं।
तं चडुअं अ करङ्कं दोह्ण वि काआ विलुम्पन्ति॥ ६२॥

[भिक्षाचरः प्रेक्षते नाभिमण्डलं सापि तस्य मुखचन्द्रम् ।
तच्चटुकं च करङ्कं द्वयोरपि काका विलुम्पन्ति ॥]

भिक्षुक भिक्षा देने वाली का नाभिमण्डल (जो वसनग्रन्थि के शिथिल हो जाने के कारण नीचे खिसक जाने से दिखाई दे रहा है) देख रहा है और वह उसके मुखचन्द्र को निहार रही है। (उन दोनों को जड़ीभूत देखकर) कौए एक की कठदुलती (चटुक) से और एक के चंमरव (भिक्षा करङ्क) से दाने ले भागते हैं।

विमर्श—किसी प्रेमी और प्रेमिका के प्रसंग में किसी नायिका द्वारा चुगली। प्रेमी नायक अपनी प्रियतमा से किसी प्रकार मिलने के बहाने भिक्षुक का वेष धारण करके उसके द्वार पर जाकर पुकारता है। वह स्वयं उसे भीख देने के लिए द्वार पर आ जाती है। नायिका के मन में भावोदय होने से उसकी वसनग्रन्थि शिथिल होकर नाभि के नीचे सरक जाती है प्रेमी उसे स्पष्ट देखता है तथा वह अपने प्रिय का मुखचन्द्र (चकोरी की भाँति) निहारती है। इस प्रकार दोनों अपने-अपने सुख में इतना विभोर हो जाते हैं कि यह उन्हें विदित नहीं होता कि उनके हस्तस्थित पात्र से कौए दाने ले भागते हैं। इस बात को उन दोनों के मिलन को न सहन कर पाने वाली सपत्नी अपनी सास-ननदों को सुना कर पोल खोल रही है। इसी गाथा का भिन्न पाठ इस प्रकार मिलता है—

सा तस्स पेच्छइ मुहं भिक्खयरोणाहिमण्डलं तिस्सा।
दोण्हं पि करङ्कं चटूडुअं च काया विलुप्पंति ॥ ६२ ॥

जेण विणा ण जिविज्जइ अणुणिज्जइ सो कआवराहो वि।
पत्ते वि णअरदाहे भण कस्स ण वल्लहो अग्गी ॥ ६३ ॥
[येन विना न जीव्यतेऽनुनीयते स कृतापराधोऽपि।
प्राप्तेऽपि नगरदाहे भण कस्य न वल्लभोऽग्निः ॥]

अरी, जिसके विना जीना सम्भव नहीं, अगर वह अपराध भी कर दे तब भी उसे माफ कर देते हैं; कह न, नगर को जलाकर चौपट कर देनेवाले भी अग्नि को कौन नहीं प्यार करता?

विमर्श—सखी द्वारा कलहान्तरिता को उपदेश। नायक अगर कई बार अपराध भी कर दे तो अनुनय के द्वारा ही अपनाना चाहिए, न कि उसे दुत्कार देना चाहिए क्योंकि जो जीवन का एकमात्र आधार है, जिसके विना जीना मुश्किल है उसे कैसे छोड़ा जा सकता है? उदाहरण के लिए अग्नि को लें, वह क्या नहीं अपराध कर डालता है, लेकिन फिर भी कोई उसे छोड़ भी देता

है ? तात्पर्य यह कि उसे किसी प्रकार अनुनय करके पुनः अनुकूल कर ले, अन्यथा तेरा जीना मुश्किल हो जायगा ॥ ६३ ॥

वक्कं को पुलइज्जउ कस्स कहिज्जउ सुहं व दुक्खं वा ।
केण समं व हसिज्जउ पामरपउरे हअग्गामे ॥ ६४ ॥

[वक्रं कः प्रलोक्यतां कस्य कथ्यतां सुखं वा दुःखं वा ।
केन समं वा हस्यतां पामरप्रचुरे हतग्रामे ॥]

क्षुद्रजनों से भरे इस मुए गाँव में किसका मुँह देखें, किसे अपना सुख-दुःख सुनावें और किसके साथ हँसें ?

विमर्श—कामुक के प्रति स्वच्छन्दचारिणी नायिका की विदग्धोक्ति। अचानक पूर्वपरिचित कामुक के मिलने पर अपना कुशल सुनाते हुए नायिका ने ग्रामनिन्दा के बहाने अपना तात्पर्य कहा कि इस गाँव में सबके सब लोग क्षुद्र हैं; अर्थात् सिर्फ एक ही तुम हो जो क्षुद्र नहीं। (तुम्हें छोड़कर) इस किसका मुँह देखें, किससे अपना सुख-दुःख कहें और किसके साथ बैठकर हँसी-मजाक करें ? दूसरे यह कि नायिका इस प्रकार ग्रामनिन्दा के बहाने अपने वैदग्ध्य का भी ख्यापन करती है ॥ ६४ ॥

फलहीवाहणपुण्णाहमङ्गलं लङ्गले कुणन्तीए ।
असईअ मणोरहवब्भिणीअ हत्था थरहरेन्ति ॥ ६५ ॥

[कार्पासीक्षेत्रकर्षणपुण्याहमङ्गलं लाङ्गले कुर्वत्याः ।
असत्या मनोरथगर्भिण्या हस्तौ थरथरायेते ॥]

शुभ दिन में कपास की खेती का समहुत होने लगा, छिनाल (असती) हल के ऊपर ऐपन आदि लगाकर मंगल कर रही है और उस समय कपास के *बढ़ जाने पर वह अपने प्रिय के साथ उसमें छिपकर रमण करेगी, यह सोच* रही है और उसके हाथ थर-थर काँप रहे हैं।

विमर्श—नागरिक की अपने सहचर के प्रति उक्ति ॥ ६५ ॥

पहिउल्लूरणसङ्काउलाहिँ असईहिँ बहलतिमिरस्स ।
आइप्पणेण णिहुअं वडस्स सित्ताइँ पत्ताइं ॥ ६६ ॥

[पथिकच्छेदनशङ्काकुलाभिरसतीभिर्बहलतिमिरस्य ।
आलेपनेन निभृतं वटस्य सिक्तानि पत्राणि ॥]

राहियों द्वारा तोड़ दिए जाने की शङ्का से घबराई छिनाल स्त्रियों ने घने छायादार बरगद के पत्तों को ऐपन से खूब सींच दिया।

विमर्श—सखी का सखी के प्रति उपदेशवचन, कि चालाक लोग

चालाकी से अपना काम साध लेते हैं। जब छिनालों ने देखा कि बरगद का पेड़ पत्तों से गदरा कर धुन्ध बन गया है तो उन्होंने सोचा कि यह स्थान प्रिय-मिलन के उपयोग में लाने योग्य है। फिर वे इस शङ्का से घबरा उठीं कि राह चलते लोग बड़े ही ऊटपटांग होते हैं, स्वभावतः इसकी छाया में ठहरेंगे और लुभाकर इसके पत्तों को पत्तल बनाने के लिए या बिछाने के लिए तोड़-ताड़ कर चौपट कर देंगे। यह सोचकर उन्होंने उन पत्तों को चावल पीस कर बनाए ऐपन से खूब सींच दिया ताकि कौओं का गन्दा किया समझ कर राही उन्हें न तोड़ सकें ॥ ६६ ॥

भञ्जन्तस्स वि तुह सग्गगामिणो णइकरञ्जसाहाओ।
पाआ अज्ज वि धम्मिअ तुह कहँ धरणिं विह छिवन्ति ॥ ६७ ॥

[भञ्जतोऽपि तव स्वर्गगामिनो नदीकरञ्जशाखाः।
पादावद्यापि धार्मिक तव कथं धरणीमेव स्पृशतः ॥]

स्वर्ग जाने वाले तथा नदीतट के करंजों की डालियाँ तोड़ते हुए भी, हे धार्मिक! तुम्हारे पैर कैसे अब भी जमीन पर ही टिके हैं?

विमर्श—किसी असच्चरिता नायिका का धार्मिक के प्रति सोपालम्भ वचन। धार्मिक ने दन्तधावन के निमित्त अथवा शिवस्थान से झुरमुटों को हटाने के निमित्त करंज की शाखायें तोड़ना आरम्भ किया। नायिका ने अपना सङ्केत-स्थान भग्न होता हुआ देख कर उपालम्भ की भाषा में कहा कि इस कार्य से तो तू जरूर स्वर्ग चला जाने वाला है। उचक-उचक कर तेरा तोड़ना तेरे स्वर्ग जाने का लक्षण है। अब भी तू स्वर्ग क्यों नहीं गया अर्थात् अब तक तो तुझे स्वर्ग चला जाना चाहिए अर्थात् तू मरता क्यों नहीं। अभिप्राय यह कि तेरे मर जाने से यह मेरा संकेतस्थल सुरक्षित रहेगा। किसी टीकाकार का अनुमान है कि वह धार्मिक पुरुष नदीतट के पवित्र स्थान में स्त्री-पुरुषों की रंग-रेलियों का व्यापार सहन न करके उस करंज-वन को उजाड़ देने के लिए तुल गया था जिसे देख कर नायिका ने प्रस्तुत बात कही ॥ ६७ ॥

अच्छउ दाव मणहरं पिआइ मुहदंसणं अइमहग्घं।
तग्गामछेत्तसीमा वि झत्ति दिट्ठा सुहावेइ ॥ ६८ ॥

[अस्तु तावन्मनोहरं प्रियाया मुखदर्शनमतिमहार्घम्।
तद्ग्रामक्षेत्रसीमापि झटिति दृष्टा सुखयति ॥]

प्यारी के मुखड़े का मनोहर बेशकीमती दर्शन तो दूर रहे, उसके गाँव के खेतों का सीवान भी दीख पड़ने पर तुरंत मजा ला देता है।

विमर्श—सहचर के प्रति नागरिक का वचन। नागरिक प्रियतमा के प्रति अपना अतिशय प्रेम प्रकट करते हुई सुनती हुई अन्य नायिका के प्रति अपने को प्रेमी और अतिशय कामुक व्यक्त करता है, जिसे विदित करके उसका भी मन इसके प्रति ललच जाय ॥ ६८ ॥

णिक्कम्माहिँ वि छेत्ताहिँ पामरो णेअ वच्चए वसइं।
मुअपिअजाआसुण्णइअगेहदुःक्खं परिहरन्तो ॥ ६६ ॥
[निष्कर्मणोऽपि क्षेत्रात्पामरो नैव व्रजति वसतिम्।
मृतप्रियजायाशून्यीकृतगेहदुःखं परिहरन् ॥]

प्यारी पत्नी के मर जाने से सूने घर का दुःख भूल जाने के लिए हलवाहा काम-काज न होने पर भी खेत से बस्ती में नहीं जाता है।

विमर्श—नायिका का वचन मन्दस्नेह नायक के प्रति। गाथा में प्रयुक्त 'पामर' शब्द 'निरा बेवकूफ' के अर्थ को व्यक्त करता है जिसका हालिक या 'हलवाहा' अनुवाद है। अर्थात् निरा बेवकूफ भी पत्नी के मर जाने पर बस्ती में इस डर से नहीं आता कि उसे पत्नी से सूना अपना घर नहीं देखा जायगा, वह इस कष्ट को नहीं सह पायेगा और समझदार होकर भी तुम जीवित भी मुझे छोड़कर भटक रहे हो ॥ ६९ ॥

जञ्झावाउत्तिणिअघरविवरपलोट्टसलिलधाराहिँ।
कुड्डलिहिओहिअहं रक्खइ अज्जा करअलेहिँ ॥ ७० ॥
[झञ्झावातोत्तृणीकृतगृहविवरप्रपतत्सलिलधाराभिः।
कुड्यलिखितावधिदिवसं रक्षत्यार्या करतलैः ॥]

आँधी से उजड़े घर के छेदों से झरते जल की धाराओं से भीत पर लिखे हुए (तुम्हारे लौटने के) अवधि दिन की रक्षा आर्या अपने हाथों से (ढँक कर) करती है।

विमर्श—प्रवासी प्रियतम के समीप जाने वाले पथिक के प्रति प्रोषित-पतिका की सखी का संदेशवचन। तात्पर्य यह कि तुम्हारे प्रति उसका अनुराग कितना अधिक है जो अपनी परवाह न करके तुम्हारी प्रतीक्षा किए जा रही है। अवधि दिन तक तुम्हारा लौटना अत्यन्त आवश्यक है। श्री जोगलेकर के अनुसार देहली पर फूल रख-रख कर अवधि दिन की गणना करनेवाली 'मेघदूत' में उल्लिखित (२-२७) कालिदास की यक्षिणी गाथासप्तशती की इस नायिका से, जो लिखना तक नहीं जानती, अधिक सुशिक्षित और उत्तर-कालीन है ॥ ७० ॥

गोलाणइए कच्छे चक्खन्तो राइआइ पत्ताइं।

उप्फडइ मक्कडो खोक्खएइ पोट्टं अ पिट्टेइ ॥ ७१ ॥

[गोदावरी नद्याः कच्छे चर्वयन्राजिकायाः पत्राणि ।
उत्पतति मर्कटः खोक्खशब्दं करोत्युदरं च ताडयति ॥]

गोदावरी नदी के कछार में राई के पत्ते चबाता हुआ बन्दर उपटता है, खौखियाता है और पेट पीटता है ।

विमर्श—प्रतीक्षा करते हुए नायक की अवस्था का दूती द्वारा अन्यापदेश से वर्णन, कुलटा नायिका के प्रति। तात्पर्य यह कि तेरी प्रतीक्षा करता हुआ वह उद्विग्न होता है, कुपित होता है और अपने शरीर की दुर्गति कर रहा है। अन्य सुनने वालों के प्रति यह व्यञ्जित किया कि कछार के राई के खेतों में जो कोई गया उसे बन्दर बिना काटे नहीं छोड़ेगा ॥ ७१ ॥

गहवइणा मुअसैरिहडुण्डुअदामं चिरं वहेऊण ।
वग्गसआइं णेउण णवरिअ अज्जाघरे बद्धं ॥ ७२ ॥

[गृहपतिना मृतसैरिभडुण्ढुण्टादाम चिरमूढ्वा ।
वर्गशतानि नीत्वानन्तरमार्यागृहे बद्धम् ॥]

जमींदार ने भैंसे के मर जाने पर उसकी घंटमाल को बहुत दिनों तक रखा और सैकड़ों गोठों में ले गया, बाद में चण्डिका के मन्दिर में बाँध दिया।

विमर्श—नायिका की सखी का वचन नायक के प्रति। नायक अपनी पूर्व-पत्नी के गहने दूसरी को देना चाहता है, जो उनके धारण के योग्य नहीं है। पूर्वपत्नी की सखी का कथन है कि जमींदार ने जब देखा कि मरे भैंसे की टक्कर का कोई भैंसा अब तक किसी गोठ में न मिला तो उसने उस भैंसे की घण्टमाल को चण्डिका के मन्दिर में बाँध दिया। प्रस्तुत में तात्पर्य यह कि तुम तो अपनी जीवित पत्नी के गहने किसी नाकाबिल के अर्पित कर देने के लिए तुले हो। तुम्हें, योग्यायोग्य का कोई विवेक नहीं ! जमींदार या गृहपति द्वारा मृत भैंसे की घण्टमाल को चण्डिकायतन में बाँधना नियमतः धर्म के अनुरूप है। क्योंकि मरे हुए व्यक्ति का अलङ्कार आदि या तो ब्राह्मण को दान कर देते हैं या किसी मन्दिर में लगा देते हैं। 'डुण्डुअ' या 'डुण्डुभ' शब्द घण्टमाल के अर्थ में देशी है ॥ ७२ ॥

सिहिपेहुणावअंसा बहुआ वाहस्स गव्विरी भमइ ।
गअमोत्तिअरइअपसाहणाणं मज्झे सवत्तीणं ॥ ७३ ॥

[शिखिपिच्छावतंसा वधूर्व्याधस्य गर्विता भ्रमति ।
गजमौक्तिकरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम् ॥]

मोरपंख के कनफूल पहने बहेलिया की पत्नी गजमुक्ताओं से सिंगार करने वाली सौतों के बीच गर्वीली होकर घूमती है।

विमर्श—सखी का उपदेशवचन, उस नवपरिणीता सुभगा नववधू के प्रति जो अपनी सौतों के बहुमूल्य साज-सिंगार को देखकर दुःखी हो रही है। नवपरिणीता व्याध वधू का कितना बड़ा सौभाग्य है कि उसके साथ विलास में उसका बहेलिया पति इतना क्षीण हो गया कि अब मोरों के सिवा और किसी का शिकार नहीं कर पाता, फलतः अपनी प्रिय पत्नी को मोरपंख ही कान में पहनाता है। और वे चिरपरिणीत सौतें जिन्हें वह हाथियों को मार कर उनके मौक्तिक दिया करता था स्पष्ट है उसे अपने विलासों से क्षीण न कर पाई थीं। तात्पर्य यह कि जिस पर पिया रीझे वही सुहागिन। इस गर्व से नवपरिणीता व्याधवधू सिर्फ चलती नहीं, बल्कि घूमती है, अँकड़ कर चक्कर काटती है। ध्वन्यालोक में इस गाथा को इस प्रकार पढ़ा गया है—

'सिहिपिच्छकण्णऊरा वहुआ वाहस्स गव्विरी भमई।
मुत्ताफलरहिअपसाहणाणँ मज्झे सवत्तीणम्' ॥ ७३ ॥

वङ्कच्छिपेच्छिरीणं उङ्कल्लविरीणँ वङ्कभमिरीणं।
उङ्कुहसिरीणँ पुत्तअ पुण्णेहिँ जणो पिओ होइ ॥ ७४ ॥

[वक्राक्षिप्रेक्षणशीलानां वक्रोल्लपनशीलानां वक्रभ्रमणशीलानाम्।
वक्रहासशीलानां पुत्रक पुण्यैर्जनः प्रियो भवति ॥]

बेटा! निगाहें टेढ़ी करके देखने वालियों, घुमावदार बातचीत करने वालियों, कतराई चाल से चलने वालियों, ऐंठ भरी मजाक की बातें करने वालियों का प्यारा बड़े भाग से आदमी होता है।

विमर्श—कुट्टनी का वचन भुजंग (विटजन, कामुक) के प्रोत्साहनार्थ। प्रस्तुत गाथा का प्रत्येक विशेषण वेश्या के सार्वभौम चित्र को प्रस्तुत करने में पर्याप्त सफल है और गाथाकार का चरम साफल्य सूचित करता है। गाथाकार ने प्रत्येक विशेषण में 'वक्र' शब्द का प्रयोग किया है जो अनुवाद में अपने विभिन्न रूपों में गाथा के तात्पर्य को प्रस्फुटित करने के उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया है। सचमुच जो अपने जीवन की प्रत्येक चेष्टा में एक प्रकार की वक्रता का पुट लिये रहती हैं उनके साथ सम्पर्क में आने का भी कुछ दृष्टि से कारण पुण्य न हो तब भी एक प्रकार का सौभाग्य अवश्य है। देखा गया है, बहुत लोग राजमहल के सुख-सौविध्य को छोड़ सामाजिक अपमानों के बावजूद भी ऐसियों के प्रिय बनकर जीवन के एक दूसरे ही रस के भागी बनते हैं। अस्तु हम इस गाथा के काव्यात्मक औचित्य से अधिक मुग्ध हैं ॥ ७४ ॥

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण ।
गोलाअडविअडकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥ ७५ ॥
[भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदातटविकटकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥]

हे धार्मिक ! निश्चिन्त होकर घूमो, गोदावरी तट के बीहड़ कुञ्जों में रहनेवाले उस गर्वीले सिंह ने उस कुत्ते को मार डाला ।

विमर्श—संकेतस्थान के विघ्नकारी धार्मिक के त्रासनार्थ किसी नायिका का वचन । इस गाथा को काव्यशास्त्र के आचार्यों ने विशेष रूप से ध्वनि के उदाहरण में प्रस्तुत किया है । ध्वन्यालोक में आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ की सम्पुष्टि के लिए इस गाथा को उद्धृत किया है । उनका तात्पर्य है कि स्त्री का 'घूमो' यह कथन डरपोक धार्मिक के प्रति 'न घूमो' इस बिलकुल विपरीत अर्थ में अवगत होता है । इस गाथा के अन्य विशेष भी साभिप्राय हैं, 'धार्मिक' शब्द में यह अभिप्राय निहित है कि तुम कैसे 'धार्मिक' हो जो दूसरों के कार्य में बाधा डालते हो, अथवा 'निरे बाबा जी' हो । निश्चिन्त होकर इसलिए घूमो कि वह कुत्ता जो तुम्हें घूमने नहीं देता था, आज ही उसे उस सिंह ने मार डाला, किस सिंह ने ? अरे वही जो गोदावरी के बीहड़ झङ्खाड़ों-कुञ्जों में रहता है, कब पीछे से दबोच ले, कोई पता नहीं, और साथ ही बड़ा गर्वीला है उसे 'मार डालना' ही सिर्फ आता है वरना वह कुत्ते जैसे निरीह पर क्यों वार करता ? तात्पर्य यह कि यहाँ तुम्हारा घूमना खतरे से खाली नहीं ! ध्वनिप्रस्थान के विरोधी और अनुमान के पक्षपाती आचार्य महिम ने 'व्यक्तिविवेक' में इस गाथा को अनुमान द्वारा लगाया है जिसका खण्डन ध्वनिप्रस्थान के परम समर्थक आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में विभिन्न तर्कों से किया है । यह विषय उन्हीं ग्रन्थों से सविस्तर ज्ञातव्य है ॥ ७५ ॥

वाएरिएण भरिअं अच्छिं कणऊरउप्पलरएण ।
फुक्कन्तो अविइह्णं चुम्बन्तो को सि देवाणं ॥ ७६ ॥
[वातेरितेन भृतमक्षि कर्णपूरोत्पलरजसा ।
फूत्कुर्वन्नवितृष्णं चुम्बन्कोऽसि देवानाम् ॥]

हवा से उड़ी कनफूल कमल की धूल से आँख के भर जाने पर फूँकते हुए और अवितृष्ण भाव से चुम्बन करते हुए तुम देवताओं में कौन हो ?

विमर्श—सहचर का उस नायक के प्रति परिहास-वचन जो आँख में पड़ी पुष्पधूलि के निवारणार्थ फूँकते हुए नायिका का मुख चूम लेता है । सहचर का तात्पर्य यह कि यह सौभाग्य तो देवताओं को ही मिला करता होगा, तुम धन्य हो जो मनुष्य होकर इस देवसुलभ सौभाग्य के भाजन हो ॥ ७६ ॥

सहि दुम्मेन्ति कलम्बाइं जह मं तह ण सेसकुसुमाइं ।
णूणं इमेसु दिअहेसु वहइ गुडिआधणुं कामो ॥ ७७ ॥
[सखि व्यथयन्ति कदम्बानि यथा मां तथा न शेषकुसुमानि ।
नूनमेषु दिवसेषु वहति गुटिकाधनुः कामः ॥]

हे सखी, कदम्ब मुझे जिस प्रकार कष्ट देते हैं उस प्रकार अन्य पुष्प नहीं; निश्चय ही इन दिनों में कामदेव गोलीवाला धनुष (गुलेल) रखने लगा है ।

विमर्श—प्रोषितभर्तृका का वचन सखी के प्रति । गुटिकाधनुष अर्थात् गोली रखकर मारने का काम देनेवाला धनुष, आज उसे 'गुलेल' की संज्ञा दी जा सकती है यद्यपि गुलेल धनुष के आकार का नहीं होता । कदम्ब के फूल गोली जैसे होते हैं और वर्षाकाल में फूलते हैं । नायिका ने वर्षाकाल की असह्यता का सूचन किया है । यह प्रसिद्धि नहीं कि कामदेव का धनुष गुलेल भी होता है, इसमें गाथाकार की उत्प्रेक्षा ही प्रतीत होती है । कुछ 'टीकाकार' श्लेष से प्राकृत 'कलम्ब' शब्द का अर्थ 'बाण' भी निकालते हैं ॥ ७७ ॥

णाहं दूई ण तुमं पिओ त्ति को अम्ह एत्थ वावारो ।
सा मरइ तुज्झ अअसो तेण अ धम्मक्खरं भणिमो ॥ ७८ ॥
[नाहं दूती न त्वं प्रिय इति कोऽस्माकमत्र व्यापारः ।
सा म्रियते तवायशस्तेन च धर्माक्षरं भणामः ॥]

मैं न दूती हूँ और न तू प्रिय है, फिर हमारा यहाँ व्यापार कैसा ? वह मर रही है और तेरी बदनामी है, इसलिए धरम की बात कहती हूँ ।

विमर्श—दूती का वचन नायक के प्रति । नायिका विरहोत्कण्ठिता है, नायक उसकी उपेक्षा करता है । दूती बड़े कायदे से उसे मिलाने के प्रयत्न करती है । इसका तात्पर्य यह कि मैं दूती इसलिए नहीं हूँ कि तू जाय या न जाय इससे मुझे कुछ लेना-देना नहीं, और तू प्रिय इसलिए नहीं कि तुझमें उसकी इस स्थिति में भी दया का सञ्चार नहीं । मैं तो सिर्फ इतनी धरम की बात कहती हूँ कि वह मर रही है और कहीं मर गई तो बदनामी तेरी होगी, तू बदनामी से बचे, बस मैं यही जानती हूं । यहाँ 'आक्षेप' नामक अलङ्कार है ॥ ७८ ॥

तीअ मुहाहिं तुह मुहँ तुज्झ मुहाओ अ मज्झ चलणम्मि ।
हत्थाहत्थीअ गओ अइदुक्करआरओ तिलओ ॥ ७९ ॥
[तस्या मुखात्तव मुखं तव मुखाच्च मम चरणे ।
हस्ताहस्तिकया गतोऽतिदुष्करकारकस्तिलकः ॥]

यह तिलक बड़ा विकट काम करनेवाला है, उसके मुख से तुम्हारे मुख पर, फिर तुम्हारे मुख से मेरे चरण पर हाथों-हाथ पहुँच गया।

विमर्श—खण्डिता नायिका का उपालम्भ-वचन, अन्यसम्भोग-चिह्नित नायक के प्रति। अनुमानतः विदित होता है कि नायक ने 'ललाटिका' नाम का कामशास्त्रोक्त आलिङ्गन किसी दूसरी के कर चुका है, जैसा कि लक्षण है 'मुखे मुखमासज्याक्षिणी अक्ष्णोर्ललाटेन ललाटमाहन्यात् सा ललाटिका' (वात्सायन) अर्थात् जब नायक नायिका के मुख में मुख, आँखों में आँखें और ललाट में ललाट सटाकर आहनन करे तब 'ललाटिका' नामक एक प्रकार का आलिङ्गन होता है। प्रस्तुत गाथा का नायक नायिका के ललाटस्थित तिलक से चिह्नित है। उक्तिचतुरा नायिका ने उसके तिलक पर ही कटाक्ष करते हुए उसके रतिलाम्पट्य की निन्दा की है॥ ७९॥

सामाइ सामलिज्जइ अद्धच्छिपलोइरीअ मुहसोहा।
जम्बूदलकअकण्णावअंसभरिए हलिअपुत्ते॥ ८०॥
[श्यामायाः श्यामलायतेऽर्धाक्षिप्रलोकनशीलाया मुखशोभा।
जम्बूदलकृतकर्णावतंसभ्रमणशीले हलिकपुत्रे॥]

जामुन के पत्ते को कान में खोंसे हलवाहे का छोकरा घूमने लगा तब आँख के कोने से (उसे) देखनेवाली सांवरी की मुखाकृति मलिन पड़ने लगी।

विमर्श—हलिकपुत्र में नायिका के अनुराग के सूचनार्थ नागरिक का वचन सहचर के प्रति। पहले से जामुन की बाढ़ में दोनों का मिलनसंकेत तय हो चुका था। भूलकर अथवा अन्य किसी कारणवश नायिका नहीं पहुँच सकी। संकेतस्थल पर अपने पहुँचने के चिह्न जामुन के पत्ते को हलिकपुत्र के कान में लगा देखकर कोई दोनों का अनुराग ताड़ न जाय इस डर से तिरछी आँखों से देखते ही सांवरी का मुखड़ा मलिन हो गया, मुरझा गया। इस गाथा की समच्छाय संस्कृत आर्या प्राचीन अलंकार ग्रन्थों में इस प्रकार मिलती है—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरी सनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया॥

'अलंकार रत्नाकर' में इसे 'गूढ़' अलङ्कार का उदाहरण और 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में आकारलक्ष्य प्रतीयमान 'सूक्ष्म' अलंकार माना है। भोज ने गाथा को इस प्रकार पढ़ा है—

सामाइ सामलीए अद्धच्छिप्पलोअमुहसोहा।
जम्बूदलकअकण्णावअंसे भमिरे हलिअउत्ते॥ ८०॥

दूइ तुमं विअ कुसला कक्खमउआइँ जाणसे वोल्लुं।
कण्डुइअपण्डुरँ जह ण होई तह तं करेज्जासु॥ ८१॥

[दूति त्वमेव कुशला कर्कशमृदुकानि जानासि वक्तुम्।
कण्डूयितपाण्डुरं यथा न भवति तथा तं करिष्यसि॥]

हे दूती, तू ही चालाक है जो कड़ी और मुलायम बोलना जानती है, खुजान से जहाँ तक लाल न हो वैसा उसे करना।

विमर्श—कलहान्तरिता नायिका का वचन नायक के अनुनयार्थ दूती के प्रति। कलह के पश्चात् नायक के रुष्ट हो जाने से नायिका अपने किए पर पश्चात्ताप करती है और दूती को अपनी बेवकूफी का परिणाम बताते हुए नायक के मनावन के लिए तैयार करती है। ऐसी बात जो कर्कश भी हो और मृदु भी, चालाक ही बोल सकते हैं। खुजान उतनी ही करनी चाहिए जहाँ तक कि लाली न आ जाय, अन्यथा वह असह्य हो जाता है। तात्पर्य यह कि बात उतनी ही कड़ी हो जिससे कि वह कुपित न हो जाय और उतनी मृदु हो कि वह अनुनय स्वीकार कर ले, ऐसी कहना॥ ८१॥

महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुअह सा अमाअन्ती।
दिअहं अणण्णकम्मा अङ्गं तणुअं पि तणुएइ॥ ८२॥

[महिलासहस्रभृते तव हृदये सुभग सा अमान्ती।
दिवसमनन्यकर्मा अङ्गं तनुकमपि तनूकरोति॥]

हे सुभग, तेरे हृदय में हजारों स्त्रियाँ भर गई हैं, उसके अँट पाने की जगह नहीं, इसलिए प्रतिदिन वह कोई दूसरा काम नहीं करती और दुबले-पतले अंगों को भी दुबले कर रही है।

विमर्श—दूती का वचन बहुवल्लभ नायक के प्रति। तात्पर्य यह कि वह तेरे अनुराग में क्षीण हुई जा रही है और तू है कि हजारों के पीछे पड़ा रहता है। हजारों स्त्रियाँ भर गई हैं इसलिए वह अँट नहीं पाती और इसीलिए वह अंगों को दुबले कर रही है इस प्रकार कारणों के अभिधान से 'काव्यलिंग' है और कृश करने पर भी नहीं अँट रही है इस प्रकार 'विशेषोक्ति' है। 'अलङ्कार-रत्नाकर' में यहाँ 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार माना है॥ ८२॥

खणमेत्तं पि ण फिट्टइ अणुदिअहविइण्णगरुअसंतावा।
पच्छण्णपावसङ्क व्व सामली मज्झ हिअआओ॥ ८३॥

[क्षणमात्रमपि नापयात्यनुदिवसवितीर्णगुरुकसंतापा।
प्रच्छन्नपापशङ्केव श्यामला मम हृदयात्॥]

प्रतिदिन भारी सन्ताप देने वाली वह साँवरी मेरे हृदय से प्रच्छन्न पाप की शङ्का की भाँति क्षणमात्र भी नहीं हटती।

विमर्श—नायक का वचन सहचर के प्रति। जिस प्रकार प्रच्छन्न में किए हुए पाप की शङ्का आदमी के हृदय से बाहर नहीं होती, अगर हो जाय तो बड़े अनर्थ की सम्भावना हो जाती है और हृदय में पड़ी-पड़ी वह काँटे की तरह कसकती रहती है, उसी प्रकार वह साँवरी भी हृदय से नहीं दूर होती। तात्पर्य यह है कि तुम मेरे इतने अभिन्न हो कि तुमसे मैंने ऐसी बात कह भी दी वरन् यह तो उस प्रच्छन्न पाप की शङ्का जैसी है ॥ ८३ ॥

अज्जअ णाहं कुविआ अवऊहसु किं मुहा पसाएसि।
तुह मण्णुसमुप्पाअएँण मज्झ माणेण वि ण कज्जं ॥ ८४ ॥

[अज्ञ नाहं कुपिता उपगूह किं मुधा प्रसादयसि।
तव मन्युसमुत्पादकेन मम मानेनापि न कार्यम् ॥]

नासमझ, मैं कुपित नहीं हूँ, आलिङ्गन कर, व्यर्थ क्यों फुसला रहा है, तुझे रुष्ट कर देनेवाले मान से मुझे मतलब नहीं।

विमर्श—प्रणयकुपित नायिका की वक्रोक्ति आर्द्रापराध नायक के प्रति। नायक आलिंगन द्वारा उसे प्रसन्न करना चाहता है जिससे कि वह मान न करे और उसका अपराध क्षमा कर दे। प्रगल्भ नायिका उसके इस मानापनोदन को ताड़ कर प्रस्तुत गाथा कहती है। इस गाथा को 'मान में विसंवादन' का उदाहरण देते हुए 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में राजा भोज लिखते हैं कि यहाँ मानिनी नायिका पहले आलिंगन आदि का निषेध करके पश्चात् दूसरे ढंग से नायक को अर्पित करती है, जैसे कोई 'आठ सौ दूँगा' यह वादा करके 'आठ अधिक सौ' दे न कि आठ सौ। इस प्रकार यह आलिंगन आदि का निराकरण दूसरे ढंग से अर्पित करने के कारण 'विसंवादन' कहा जाता है ॥ ८४ ॥

दीहुण्हपउरणीसासपआविओ बाहसलिलपरिसित्तो।
साहेइ सामसवलं व तीएँ अहरो तुह विओए ॥ ८५ ॥

[दीर्घोष्णप्रचुरनिःश्वासप्रतप्तो बाष्पसलिलपरिसिक्तः।
साधयति श्यामशबलमिव तस्या अधरस्तव वियोगे ॥]

तुम्हारे वियोग में उसका अधर लम्बे, गरम और भारी निःश्वासों से तप्त और वाष्पजल से परिसिक्त होकर मानों श्यामशबल व्रत साध रहा है।

विमर्श—दूती का वचन नायक के प्रति। अधर का गरम निःश्वासों से तप्त होना और वाष्पजल से परिसिक्त होना मानों 'श्यामसबल' व्रत का साधन है। इस व्रत में अग्नि में प्रवेश कर जल में प्रवेश किया जाता है, इसी को

'अग्निपानीय' भी कहते हैं। इसका ३।११ गाथा में भी निर्देश है। तात्पर्य यह कि तेरे अधर का समागम ही उसके अधर के इस व्रत का पारण है जो तेरे अधीन है ॥ ८५ ॥

सरए महद्धदाणं अन्ते सिसिराइँ वाहिरुह्णाइं ।
जाआइँ कुविअसज्जणहिअअसरिच्छाइँ सलिलाइं ॥ ८६ ॥

[शरदि महाह्रदानामन्तः शिशिराणि बहिरुष्णानि ।
जातानि कुपितसज्जनहृदयसदृक्षाणि सलिलानि ॥]

शरत्काल में महासरोवरों के जल कुपित सज्जन के हृदय के सदृश भीतर से शीतल और बाहर से उष्ण हो गए हैं।

विमर्श—विशुद्ध सुभाषित। परन्तु टीकाकार गंगाधर के अनुसार सज्जन की प्रशंसा के बहाने मध्याह्नाभिसारिका का वचन जार के प्रति। तात्पर्य यह कि मैं सरोवर के तट पर गई, पर तुम नहीं आए ॥ ८६ ॥

आअस्स कि णु करिहिम्मि किँ वोलिस्सं कहं णु होइहि इमिति ।
पढमुग्गअसाहसआरिआइ हिअअं थरहरेइ ॥ ८७ ॥

[आगतस्य किं नु करिष्यामि किं वक्ष्यामि कथं नुम विष्यति [इदम्] इति ।
प्रथमोद्गतसाहसकारिकाया हृदयं थरथरायते ॥]

उसके आने पर क्या करूँगी, क्या बोलूँगी, यह कैसे होगा ? इस प्रकार पहली बार उत्पन्न साहस करनेवाली का हृदय थरथराता रहता है।

विमर्श—दूती का वचन प्रथमाभिसारिका के प्रति। पहली बार अभिसार के समय प्रियमिलन के लिए साहस करने वाली के मन में इस प्रकार के प्रश्न उत्पन्न होते हैं, फलतः उसके हृदय की धड़कन बढ़ जाती है ॥ ८७ ॥

णेउरकोडिविअग्गं चिउरं दइअस्स पाअपडिअस्स ।
हिअअं पउत्थमाणं उम्मोअन्ती व्विअ कहेइ ॥ ८८ ॥

[नूपुरकोटिविलग्नं चिकुरं दयितस्य पादपतितस्य ।
हृदयं प्रोषितमानमुन्मोचयन्त्येव कथयति ॥]

पैर पर पड़े प्रिय के नूपुर के अग्रभाग में उलझे केश को छुड़ाते हुए ही उसने अपने हृदय को मानरहित कह दिया।

विमर्श—दूती का वचन नायक के प्रति। नायक यह समझे हुए है कि नायिका इतनी ढोठ है कि मेरे पैर पड़ने पर भी ऐंठी ही रही। तात्पर्य यह है कि जब तुम उसके पैरों पर गिर गए तब तुम्हारे केश को जो उसके नूपुर में फँस गया था उसने छुड़ा दिया, ताकि तुम्हें तकलीफ न हो। इतने पर भी तुम

नहीं समझे कि उसने अपने हृदय को मानरहित व्यक्त किया? चतुर लोग चेष्टाओं से अपने हृदय का भाव प्रकट करते हैं, वचन से नहीं। परन्तु तुम इतने अविदग्ध हो जो उसकी इस चेष्टा को भी नहीं समझ सके और अब तक उससे नाराज हो! धन्य हो तुम !॥ ८८ ॥

तुज्झङ्गराअसेसेण सामली तह खरेण सोमारा।
सा किर गोलाऊले ह्लाआ जम्बूकसाएण ॥ ८९ ॥
[तवाङ्गराग शेषेण श्यामला तथा खरेण सुकुमारा।
सा किल गोदाकूले स्नाता जम्बूकषायेण ॥]

साँवली सुकुमार उसने गोदावरी के तट पर तुम्हारे अंगराग के समान तीखे तथा जामुन की भाँति कषाय (जल से) स्नान किया ।

विमर्श—दूती का वचन नायक के प्रति । वह तुझमें इतना अनुरक्त है कि तुम्हारे सम्पर्क से होने वाले अंगराग के स्पर्श की कल्पना करके उस साँवली सुकुमार ने (अर्थात् जबकि उसके शरीर के लिए कतई अनुकूल नहीं तथापि) तीखे तथा जम्बू कषाय जल से गोदावरी के तट पर स्नान किया है। अब तुम्हें आलिंगन द्वारा उसकी कल्पना साकार करनी चाहिए ॥ ८९ ॥

अज्ज व्वेअ पउत्थो अज्ज व्विअ सुण्ण आइँ जाआइं।
रत्थामुहदेउलचत्तराइँ अह्मं च हिअआइँ ॥ ९० ॥
[अद्यैव प्रोषितोऽद्यैव शून्यकानि जातानि।
रथ्यामुखदेवकुलचत्वराण्यकस्माकं च हृदयानि ॥]

(उन्होंने) आज ही प्रवास किया और आज ही गलियाँ, मन्दिर, चौतरे और हमारे हृदय सूने हो गए।

विमर्श—प्रोषितभर्तृका का वचन सखी के प्रति। वे थे तो सारे गाँव की रौनक बनी थी और उनके जाते ही चारों ओर मुर्दा-सा छा गया। 'अलङ्कार-कौस्तुभ' के अनुसार 'समुच्चय' का उदाहरण ॥ ९० ॥

चिरडिं पि अआणन्तो लोआ लोएहिँ गोरवब्भहिआ।
सोणारतुले व्व णिरक्खरा वि खन्धेहिँ उब्भन्ति ॥ ९१ ॥
[वर्णावलीमप्यजानन्तो लोका लोकैर्गौरवाभ्यधिकाः।
सुवर्णकारतुला इव निरक्षरा अपि स्कन्धैरुह्यन्ते ॥]

सोनार की परियानी (तराजू) की भांति निरक्षर भी, वर्णमाला को भी न जानने वाले लोगों को लोग अधिक गौरव के साथ कन्धों पर उठाये रहते हैं।

विमर्श—गुणगर्विता गणिका का वचन अन्य गुणहीन गणिका के प्रशंसक भुजङ्ग के प्रति। यह एक प्रकार से समाज पर गाथाकार का आक्षेप रूप सुभाषित भी है। 'अस्तु, इस गाथा का 'निरक्षर' शब्द बड़ा ही विवादास्पद है। व्यक्ति के पक्ष में अर्थ होगा, जिन्हें अक्षर का संस्कार प्राप्त नहीं है अर्थात् लिख लोढ़ा, पढ़ पत्थर! परन्तु सोनार की तुला जिसे सोनारी भाषा में तगड़ी, परियानी या निकती कहते हैं, के पक्ष में 'निरक्षर' का अर्थ क्या होना चाहिए? गङ्गाधर 'अक्षरेखारहित' और कुलबालदेव 'अङ्करेखारहित' लिखते हैं। श्री मथुरानाथ शास्त्री लिखते हैं कि सोनारों को पारियानियां या निकातियाँ 'अक्ष' की मात्रा से अधिक का तोलन नहीं करतीं (निरक्षं रान्तीति निरक्षराः) तथापि उन्हें गौरव देकर कन्धों पर उठा रखते हैं। 'अमर' के अनुसार 'अक्ष' सोलह माषाओं से होता है और आयुर्वेद के अनुसार दो तोले के बराबर होता है। इस प्रसङ्ग में श्री जोगलेकर ने 'कर्पूरमञ्जरी' (सं० डॉ० मनमोहन घोष, कलकत्ता युनिवर्सिटी पृ. ८७) का उल्लेख उद्धृत किया है 'जदो तुवं णारावो विअ निरक्खरो वि रअणतुलाए णि उञ्जीअसि। अहं पुण तुल व्व लद्धक्खरा वि ण सुवण्णतोलणे णिउज्जिआमि'। डॉ० घोष ने सम्पादकीय टिप्पणी (पृ० १५४) में लिखा है 'णाराओ वि णिरक्खरो—As unlettered as jeweller's apparatus in which are used small gunjas and no weight pieces marked with letters'; 'तुल व्व लद्धक्खरा—one who has got tetters like a *big weighing machine which uses big pieces of* store marked with figures indicating weights.' उस प्रकार इस स्थल में उन्होंने इस गाथा को भी उद्धृत किया है और 'निरक्षर' शब्द का तुलापक्ष में न करके 'वजन' के अर्थ में लगाया है। अर्थात् वे सोनारी तागड़ियाँ या परियानियाँ जो गुञ्जा आदि अक्षरहीन वजनों से तौलने के काम आती हैं और जिन वजनों पर अक्षर होते हैं अर्थात् जिन पर उनका भारीपन अङ्कित रहता है उन वजनों से नहीं तोलने के काम में आतीं। इस प्रकार 'अक्ष' के आधार पर तुला के पक्ष में और 'अक्षर' के आधार पर वजन पक्ष में अर्थ में कोई निर्णय की बात अवगत नहीं होती। अस्तु, गाथा में प्रयुक्त 'चिरढि' शब्द 'सिद्धि हो' इस वर्णमाला के अर्थ में देशी है॥ ९१॥

आअम्बरन्तकवोलं खलिअक्खरजम्पिरिं फुरन्तोट्ठिं।
मा छिवसु त्ति सरोसं समोसरन्तिं पिअं भरिमो॥ ९२॥
[आताम्रान्तः कपोलां स्खलिताक्षरजल्पशीलां स्फुरदोष्ठीम्।
मा स्पृशेति सरोषं समपसर्पन्तीं प्रियां स्मरामः॥]

गाल लाल हो गए, बोलने में आवाज टूटने लगी, ओंठ फड़फड़ाने लगे,

इस प्रकार कोप से 'मुझे मत हाथ लगाओ' (यह कहकर) सिसकती हुई प्रिया को हम याद करते हैं।

विमर्श— नायक का वचन सहचर के प्रति। यहाँ नायिका को कलहान्तरिता माननेवाले टीकाकर ने शायद उसके लक्षण का स्मरण नहीं किया कि कलहान्तरित को प्रिय के साथ कलह के पश्चात् स्वयं को पश्चात्ताप होता है कि उसने क्या कर डाला, उसके मनावन के बाद भी वह क्यों न मान गई ? एक टीकाकार के अनुसार प्रस्तुत नायिका रजस्वला है। दूसरे का विचार है कि वह कोई पराई है जो इस प्रकार कामुक के प्रयत्नशील होते ही तमतमा गई ॥ ९२ ॥

गोलाविसमोआरच्छलेण अप्पा उरम्मि से मुक्को।
अणुअम्पाणिद्दोसं तेण वि सा आढमुवऊढा ॥ ६३ ॥
[गोदावरी विषमावतारच्छलेनात्मा उरसि तस्य मुक्तः।
अनुकम्पानिर्दोषं तेनापि सा गाढमुपगूढा ॥]

गोदावरी की ऊँच-खाल में उतरने के बहाने (नायिका ने) अपने को उसकी छाती पर छोड़ दिया और उसने भी दया से निर्दोष होकर उसे कसकर आलिङ्गन किया।

विमर्श—नागरिक का वचन सहचर के प्रति। नायिका ने खाल भूमि में उतरने का बहाना बनाया और अपने शरीर को उसकी छाती पर रख दिया और उसने आलिङ्गन करते हुए यह बहाना बनाया कि डरने की कोई बात नहीं, मैं जो हूँ। ऐसे प्रसङ्ग की गाथा पहले २।७ आ चुकी है 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में इसे प्रतीयमानाभिधान रूप उभयात्मक 'अन्योन्य' अलङ्कार का उदाहरण माना है, तथा प्रत्यभियोग से प्रेम की परीक्षा में भी उद्धृत किया है ॥ ९३ ॥

सा तुइ सहत्थदिण्णं अज्ज वि रे सुहअ गन्धरहिअं पि।
उव्वसिअणअरघरदेवदे व्व ओमालिअं वहइ ॥ ९४ ॥
[सा त्वया स्वहस्तदत्तामद्यापि रे सुभग गन्धरहितामपि।
उद्वसितनगरगृहदेवतेव अवमालिकां वहति ॥]

हे सुभग, जो तुमने उसे अपने हाथ से गन्धरहित भी और सूखी (अवमर्दित) माला दी थी वह उद्वासित नगरदेवता की भाँति आज भी उसे धारण कर रही है।

विमर्श—दूती का वचन मन्दानुराग नायक के प्रति। एक तो तुमने उसकी इतनी उपेक्षा की कि माला भी दी तो बिना गन्ध की, इसके बावजूद भी उसका तुम पर इतना गहरा अनुराग है। उस माला को उसी प्रकार वह धारण किए हुए है, जैसे किसी उजाड़ में पड़े नगर या गृह के देवता को माला

पहना देने पर बहुत दिनों तक वह उसी रूप में सूखी हुई वहीं पड़ी रहती है, वही स्थिति इसकी है। तात्पर्य यह कि वह तुम्हारे विरह में बुत बन गई है, निश्चेष्ट हो गई है। एक टीकाकार के अनुसार इस गाथा से किसी देवालय के संकेतस्थान निश्चित होने की सूचना है। नायिका को 'नगरदेवता' और नायक को 'सुभग' कहने से यह तात्पर्य भी व्यञ्जित होता है कि उसे चाहनेवालों की शहर में अब कमी नहीं है, तुम्हारा सौभाग्य है कि वह तुम्हारे लिए ही अपने को अर्पित कर चुकी है।॥ ९४ ॥

केलीअ वि रूसेउं ण तीरए तम्मि चुक्कविणअम्मि।
जाइअएहिँ व माए इमेहिँ अवसेहिँ अङ्गेहिं ॥ ९५ ॥
[केल्यापि रुषितुं न शक्यते तस्मिच्युतविनये।
याचितकैरिव मातरेभिरवशैरङ्गैः ॥]

इया जी, विनयरहित उसके प्रति इन मँगनी के मिले पराये अङ्गों से मजाक से भी मान नहीं किया जा सकेगा।

विमर्श—नायिका का वचन मानोपदेशिनी प्रौढ़ा के प्रति। नायक रतिलौल्य के कारण विगलितलज्ज हो जाता है और विनय छोड़ देता है। ऐसी स्थिति में मेरे अंग मेरे नहीं रह जाते बल्कि सर्वथा उसके हो जाते हैं। फिर मैं यदि अपने पराधीन अङ्गों को किसी प्रकार प्रयत्न करूँ कि मजाक या परिहास से भी मान के योग्य कर लूं यह मेरी सामर्थ्य से बाहर है, क्योंकि मेरे अङ्ग मेरे तो नहीं, बल्कि याचितक अर्थात् मँगनी के जो ठहरे! भला मँगनी की चीज को भी अपने स्वार्थ के काम में लगाया जा सकता है? फिर दूर की बात है कि मैं अपने अभीष्ट के लिए मान करूँ ॥ ९५ ॥

उप्फुल्लिआइ खेल्लउ मा णं वारेहि होउ परिऊढा।
मा जहणभारगरुई पुरिसाअन्ती किलिम्मिहिइ ॥ ९६ ॥
[उत्फुल्लिकया खेलतु मैनां वारयत भवतु परिक्षामा।
मा जघनभारगुर्वी पुरुषायितं कुर्वती क्लमिष्यति ॥]

'घुघुआ घू' का खेल खेले, इसे मत मना करो, दुबली हो जाय, जिससे कि पुरुषायित करती हुई, जघनभार से बोझिल होकर नहीं थकेगी।

विमर्श—अपनी विपरीतरताभिज्ञता प्रकट करती हुई किसी नायिका का कामुकजनों के अनुरञ्जनार्थ वचन। छोटी बच्ची को पैरों पर उठाकर घुघुआमाना का खेल करती हुई किसी बालिका को खेल से रोकती हुई किसी अङ्गना के प्रति। 'घुघुआ घू' के लिए 'उत्फुल्लिका' शब्द गाथा में प्रयुक्त है, 'पादोपविष्टानां बालानां मुहुः पतनोत्पतनरूपा क्रीडा उत्फुल्लिकेत्युच्यते।' लड़कों को

पैरों पर उठाकर नीचे-ऊपर गिराने-उठाने का यह खेल भोजपुरी इलाकों में 'घुघुआमाना' (मिथिला में 'घुघुआ घू') कहा जाता है। एक टीकाकार के अनुसार यह 'फूदाफुदिका' के नाम से प्रसिद्ध है ॥ ९६ ॥

पउरजुवाणो गामो महुमासो जोअणं पई ठेरो।
जुण्णसुरा साहीणा असई या होउ किं मरउ ॥ ९७ ॥

[प्रचुरयुवा ग्रामो मधुमासो यौवनं पतिः स्थविरः।
जीर्णसुरा स्वाधीना असती मां भवतु किं म्रियताम् ॥]

गाँव में जवान बहुत हैं, वसन्त का महीना है, जवानी है, मरद बूढ़ा है, पुरानी शराब अपने कब्जे में है, फिर बदचलन न हो तो क्या करे ?

विमर्श—किसी प्रौढ़ा का समाश्वासनवचन खण्डितशीला कुलवधू के संकोच के निवारणार्थ तथा विरोधियों के मुखमुद्रणार्थ। आखिर जबकि एक-एक यह कारण उसके स्वैरिणी या बदचलन होने में पर्याप्त है और जहाँ समस्त कारण संघटित हो चुके, ऐसी स्थिति में फिर वह स्वभावतः बदचलनी पर न उतरे तो क्या मर जाय, जान दे ? तात्पर्य यह कि यह इसमें इसका कोई दोष नहीं (दोष तो उस समाज का है जिसने गलितवयस्क बूढ़ंठ से इसका गठबन्धन किया, क्या यह उचित था ? और फिर समाज के ही मनचले लोग अपने विविध मोहक इशारों से इसे गलत रास्ते से चलने के लिए विवश करते हैं। जब्त का भी कोई हद होता है, आखिर वह भी कमजोर इंसान है। यह कहना अनुचित नहीं कि वह यकीनन बेगुनाह है। यहाँ 'फ़ानी' का एक शेर मुलाहजा हो—'वो है मुख्तार सज़ा दे कि जज़ा दे 'फ़ानी'। दो घड़ी रोश में आने के गुनहगार हैं हम' । 'किं मरउ' के प्रयोग ने गाथा में जान डाल दी है। 'अलङ्कारकौस्तुभ' के अनुसार तुल्ययोगिता और 'सरस्वती-कण्ठाभरण' के अनुसार आक्षेप (रोध) अलङ्कार का यह उदाहरण है। 'प्रतिकूलोऽनुकूलश्च विधौ रोधोऽपिधीयते' ॥ ९७ ॥

बहुसो वि कहिज्जन्तं तुह वअणं मज्झ हत्थसंदिट्ठं।
ण सुअं त्ति जम्पमाणा पुणरुत्तसअं कुणई अज्जा ॥ ९८ ॥

[बहुशोऽपि कथ्यमानं तव वचनं मम हस्तसंदिष्टम्।
न श्रुतमिति जल्पन्ती पुनरुक्तशतं करोत्यार्या ॥]

मेरे हाथोंहाथ तेरी बात के बहुत तरीके से कहे जाने पर भी भार्या 'नहीं सुनी' यह कहती हुई सैकड़ों बार दुहरवाती है।

विमर्श—दूती का वचन नायक के प्रति नायिका के अतिशय अनुराग के प्रकाशनार्थ। बात को स्वयं बहुत तरीके से (बहुशः) कहती हूँ कि जिससे

उसे समझने में कोई दिक्कत न हो और साथ ही इस डर से कि कोई अस्पष्टता न रह जाय स्वयं आकर कहती हूँ, किसी अन्य को नहीं भेजती इस तात्पर्य से गाथाकार ने 'हस्तसन्दिष्टं' का प्रयोग किया है अर्थात् हाथों-हाथ घात पहुँचाने पर भी। यह लोकभाषा के बहुत निकट का प्रयोग है जो गाथा के औचित्य के सर्वथा अनुकूल है। इस पर उसे कुछ ऐसा तुम्हारी बातों में मजा मिलता है कि वह 'अनसुनी' कर देती है और बार-बार दुहरवाती है। तात्पर्य यह कि तुम्हें इस प्रकार की अनुरक्ता के प्रति आर्द्र होना चाहिए। 'अलङ्काररत्नाकर' के अनुसार यह 'विनोद' का उदाहरण है 'अन्यासङ्गात्कौतुकविनोदो विनोदः' ॥ ९८ ॥

पाअडिअणेहसब्भावणिब्भरं तीअ जह तुमं दिट्ठो।
संवरणवावडाए अण्णो वि जणो तह व्वेअ ॥ ९९ ॥

[प्रकटितस्नेहसद्भावनिर्भरं तया यथा त्वं दृष्टः।
संवरणव्यापृतया अन्योऽपि जनस्तथैव ॥]

अपने प्रेम और सद्भाव को पूरा प्रकट करते हुए जिस प्रकार उसने तुम्हें देखा उसी प्रकार (कोई ताड़ न ले इस डर से रहस्य को) छिपाने में लगी उसने औरों को भी उसी प्रकार (उसी नजर से) देखा।

दूती का वचन नायक के प्रति प्रोत्साहनार्थ। नायिका किन्तु बहुत चतुर है वह यह किसी तरह जाहिर नहीं होने देना चाहती कि उसका चहेता लोगों की पहचान में आ जाय और लोगों में उसकी खिल्ली उड़े। बड़े कैंड़े से काम लेती है। वह जिस स्नेह और सद्भावना की नजर से तुम्हें निहारती है उसी नजर से औरों को भी देखती है। 'संवरणव्यापृत' अर्थात् छिपाने में लगी हुई, इस कथन से यह जाहिर किया गया है कि तुम डरो नहीं, किसी प्रकार उसकी ओर से इस कार्य में कोई असावधानी होने वाली नहीं, जिससे पर्दाफाश होने का नतीजा पेशेनजर हो। सरस्वतीकण्ठाभरण के अनुसार मीलित का एक 'पिहित' रूप भेद है, जो 'तद्गुण' है—

'वस्त्वन्तरतिरस्कारी वस्तुना मीलितं स्मृतम्।
पिहितापिहिते चैव तद्गुणातद्गुणौ च तत् ॥ ९९ ॥

गेह्णह पलोअह इमं पहसिअवअणा पइस्स अप्पेइ।
जाआ सुअपढमुब्भिण्णदन्तजुअलङ्किअं बोरं ॥ १०० ॥

[गृहीत प्रलोकयतेदं प्रहसितवदना पत्युरर्पयति।
जाया सुतप्रथमोद्भिन्नदन्तयुगलाङ्कितं बदरम् ॥]

लो, देखो (यह कहकर) हंसती हुई पत्नी ने पति को लड़के के पहले-पहल निकले हुए दाँतों से चिह्नित बेर दिया।

विमर्श—पति के प्रति पत्नी द्वारा अपनी सुरतयोग्यता का ज्ञापन। पति नवजात बच्चे को अभी दुधमुँहा समझ कर पत्नी को सुरत के अयोग्य समझता है और पत्नी कायदे से पुत्र को प्रौढ़ सिद्ध करती हुई प्रकट करती है कि इस ऋतु को व्यर्थ मत करो, अथवा पुत्र के पालन से भी सुरत का सुख श्रेष्ठ है, अथवा अनुपभुक्त बेर के फल की भाँति मेरा यौवन हो चला है, इसे सफल करो, अथवा अपने ही दाँतों से बेर को क्षत करके 'पुत्र ने क्षत किया' यह प्रकट किया, यह उसके 'प्रहसितवदना' होने के कारण ध्वनित होता है। इस प्रकार विभिन्न टीकाकारों की यह कल्पनाएँ हैं। गंगाधर ने अन्तिम व्यङ्ग्य को 'प्रसहितवदना' पर विशेष रूप से जोर देकर निकाला है। यहाँ श्री जोगलेकर ने 'अत्रिस्मृति' का यह श्लोक उद्धृत किया है—

'षण्मासान् कामयेन् मर्त्यो गर्भिणीमेव च स्त्रियम्।
आदन्तजननादूर्ध्वमेवं धर्मो विधीयते॥'

इस धर्मशास्त्र के वचन के अनुसार प्रसव के पश्चात् जबतक लड़के के दाँत नहीं निकल आवें तबतक सम्भोग वर्ज्य है। प्रस्तुत में पत्नी ने इस चेष्टा से अपने सुरतयोग्य होने का प्रकाशन किया, यह प्रमाणित हो जाता है। सामान्य दृष्टि से यह कह सकते हैं कि यह गाथा लोकजीवन में पति-पत्नी के स्वाभाविक प्रणयभाव को चित्रित करती है और एक घटना मात्र की ओर संकेत करती है। किसी प्रति में 'वदरं' के स्थान पर 'वदनं' पाठ है जो इस स्वाभाविक अर्थ में अधिक 'सूट' करता है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में 'प्रहसितवदना' के स्थान पर 'विकसितनयना' पाठ है। जिसके अनुसार इस गाथा को वहाँ (सोद्भेद) भाव अलङ्कार का उदाहरण माना है—

अभिप्रायानुकूल्येन प्रवृत्तिर्भाव उच्यते।
सोद्भेदोऽथ निरुद्भेदश्चैकतश्चाभितश्च सः॥ १००॥

रसिअजणहिअअदइए कइवच्छलपमुहसुकइणिम्मइए।
सत्तसअम्मि समत्तं बीअं गाहासअं एअं॥ १०१॥

[रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविनिर्मिते।
सप्तशतके समाप्तं द्वितीयं गाथाशतकमेतत्॥]

रसिकजनों के हृदय के प्रिय, कविवत्सल (हाल) के प्रमुख सुकवियों द्वारा निर्मित 'सप्तशतक' में यह द्वितीय शतक समाप्त हुआ॥ १०१॥

तृतीयं शतकम्

अच्छउ ता जणवाओ हिअअं विअ अत्तणो तुह पमाणं।
तह तं सि मन्दणेहो जह ण उवालम्भजोग्गो सि ॥ १ ॥

[अस्तु तावज्जनवादो हृदयमेवात्मनस्तव प्रमाणम्।
तथा त्वमसि मन्दस्नेहो यथा नोपालम्भयोग्योऽसि ॥]

लोकप्रवाद कुछ भी हो, तेरा अपना दिल खुद प्रमाण मौजूद है, तेरा स्नेह (मेरे प्रति) इतना कम हो गया है कि अब तू (मेरे) उपालम्भ के योग्य न रहा।

विमर्श—मन्दस्नेह नायक से मानिनी नायिका का वचन। नायक ने नायिका से यह कह कर बार-बार अनुनय करने की कोशिश की कि नायिका के प्रति जो उसका मन्दस्नेह होना लोगों में जाहिर हो गया है, वह बात बिल्कुल गलत है। वह तो पहले जैसा ही उसमें अनुरक्त है। लोग तो बिना समझे-बूझे मत-भेद उत्पन्न करने लग जाते हैं। पर मानवती नायिका उसकी इस अनुनय-कला से पूर्ण परिचित है। उसने तो लोगों की बातों को परे रखकर खुद नायक के दिल को ही प्रमाण ठहराया, क्योंकि दिल कभी झूठ नहीं बोलता, भले ही दूसरे से वह झूठ बोल जाय पर जिसका दिल होता है उससे वह कभी छल नहीं करता। इतने पर भी नायिका से न रहा गया, वह झट से बोल ही पड़ी कि तुम तो इतने मन्द-स्नेह हो कि उलाहना के भी पात्र नहीं हो, क्योंकि उलाहना तो उसे देते हैं जिसमें स्नेह का कुछ अंश मौजूद हो; और जिसमें स्नेह ही नहीं, उसे उलाहना कैसे दिया जा सकता है? उपालम्भ देने के बावजूद भी उपालम्भ का निषेध होने से यहाँ आक्षेप नाम का अलंकार है ॥ १ ॥

अप्पच्छन्दपहाविर दुल्लहलम्भं जणं वि मग्गन्त।
आआसपहेहिँ भमन्त हिअअ कइआ वि भज्जिहिसि ॥ २ ॥

[आत्मच्छन्दप्रधावनशील दुर्लभलम्भं जनमपि मृगयमाण।
आकाशपथैर्भ्रमद्हृदय कदापि भङ्क्ष्यसे ॥]

हे हृदय! मनमाना दौड़-धूप करनेवाला, जिसकी प्राप्ति दुर्लभ है ऐसे जन की तलाश करता हुआ और थकान पहुँचाने वाले मार्गों पर घूमता हुआ तू कभी-न-कभी टुकड़े-टुकड़े होकर रहेगा!

विमर्श—किसी युवक को सुनाते हुए नायिका द्वारा अपने हृदय के प्रति

उपालम्भ। नायिका का हृदय प्रियजन की तलाश में स्वच्छन्दता से घूमता है, इस कथन से व्यञ्जित होता है कि हृदय पर तो गुरुजनों की कोई परतंत्रता नहीं है, वह चाहे जहाँ और जिसे भी अपना सकता है और साथ की उसका हृदय उस जन की तलाश में भटक रहा है जो बड़ी मुश्किल से मिलता है। तात्पर्य यह कि नायिका की इच्छा कोई ऐसी-वैसी नहीं, वह बड़ी ख्वाहिश रखती है। ऐसी से भला कौन प्रेम न करेगा? फिर नायिका का हृदय उन मार्गों पर चल रहा है जो थका देनेवाले हैं, अथवा आकाश के मार्ग पर बिना किसी अवलम्ब के चल रहा है, अर्थात् दूती आदि किसी अवलम्ब की सहायता के बिना ही वह प्रिय की तलाश में लगा हुआ है। प्राकृत का 'आआस' संस्कृत 'आयास' और 'आकाश' दोनों में गतार्थ हो जाता है। सुनते हुए नायक के प्रति यह व्यञ्जित होता है कि इस प्रकार के हृदयवाली मुझको प्राप्त करके तुम बहुत लाभवान् होगे। गङ्गाधर के अनुसार नायिका के कथन का तात्पर्य यह है कि हे हृदय! तुम्हारे इस भ्रमण को कौन सुभग होगा, जो शमन करेगा? ॥ २ ॥

अहव गुणव्विअ लहुआ अहवा गुणअणुओँ ण सोँ लोओ।
अहव ह्मि णिग्गुणा वा बहुगुणवन्तो जणो तस्स ॥ ३ ॥

[अथवा गुणा एव लघवोऽथवा गुणज्ञो न स लोकः।
अथवास्मि निर्गुणा वा बहुगुणवाञ्जनस्तस्य ॥]

दुनिया में क्या गुन ही कदर के जोग न रहे, या वही गुन पहचान नहीं रहा है, या खुद मुझमें ही कोई गुन नहीं है या उसका आदमी (मुझसे) ज्यादा गुनों वाला है?

विमर्श—गुणगर्विता गणिका का कामुक द्वारा अपनी उपेक्षा पर उद्गार। जगह-जगह गणिकाओं में उन गुणों का भी उल्लेख पाया जाता है जो विशेष-रूप से कुलाङ्गनाओं में होते हैं। 'मृच्छकटिक' में दरिद्र चारुदत्त के गुणों में अनुरक्त गणिका वसन्तसेना से हम परिचित ही हैं। अथवा किसी प्रकार के आभ्यन्तर गुणों के अभाव में भी प्रदर्शन का गुण सामान्यतः गणिकाओं में कम नहीं है जिनके कारण ये पुरुष के मन में विश्वास पैदा कर देती हैं (विश्वासयन्ति पुरुषं न तु विश्वसन्ति—मृच्छकटिक)। प्रस्तुत गाथा की नायिका कुछ इसी प्रकार की गणिका प्रतीत होती है, जो अपने गुणों के द्वारा कामुक नायक को आकृष्ट न करने से सन्देह में पड़ गई है। गाथा का यह प्रयोग कि 'बहुगुणवन्तो जणो तस्स', बड़ा ही मार्मिक है, इसका शब्दार्थ है अथवा उसका आदमी ही बहुत गुणोंवाला है (जिससे वह मुझसे अनुराग नहीं करता है?)। 'उसका आदमी' इस प्रकार का पुंव्यञ्जक प्रयोग 'उसकी घरवाली'

इस अर्थ के व्यञ्जक होने के कारण अतिशय चमत्कार उत्पन्न करता है ॥ ३ ॥

फुट्टन्तेण ठिव हिअएण मामि कह णिव्वरिज्जए तम्मि ।
आदंसे पडिबिम्बं ठिव ज्जम्मि दुःखं ण संकमइ ॥ ४ ॥

[स्फुटितापि हृदयेन मातुलानि कथं निवेद्यते तस्मिन् ।
आदर्शे प्रतिम्बिमिव यस्मिन्दुःखं न संक्रामति ॥]

री मामी ! कैसे मैं टूटे हुए हृदय से अपना दुखड़ा उसे निवेदन करूँगी ? जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब ऊपर ही रह जाता है उसी प्रकार जिसमें अपने दुःख का कोई असर नहीं होता ।

विमर्श—मातुलानी के प्रति नायिका की उक्ति । मातुलानी के यह पूछने पर कि इन दिनों नायक जो अन्यासक्त हो गया है क्यों नहीं तू अपना दुखड़ा सुनाकर उसे अनुकूल कर लेती है ? आखिर इन्सान है, पसीज ही जायेगा । इस पर नायिका ने दर्पण की उपमा देते हुए इस बात की पुष्टि की कि वह तो बड़ा ही कठोर है मामी ! सिर्फ ऊपर से ही चकमक करता है, उस पर किसी का दुखड़ा असर नहीं करने का । किसी का दुख तब असर करता है, जब किसी दूसरे के हृदय में संक्रान्त होता है ॥ ४ ॥

पासासङ्की काओ णेच्छदि दिण्णं पि पहिअघरणीए ।
ओअन्तकरअलोगलिअवलअमज्झट्ठिअं पिण्डं ॥ ५ ॥

[पाशाशङ्की काको नेच्छति दत्तमपि पथिकगृहिण्या ।
अवनतकरतलावगलितवलयमध्यस्थितं पिण्डम् ॥]

परदेश गए राही की घरवाली के झुके हुए करतल से (खिसक कर) गिरे कंगने के बीच में पड़े, दिए हुए बलिपिण्ड को भी कागा जाल की आशंका से नहीं लेना चाहता ।

विमर्श—परदेश जाने के लिए तैयार नायक के प्रति नायिका की सखी द्वारा नायिका की होनेवाली विरहवेदना को सूचित करने के उद्देश्य से किसी पथिकगृहिणी के वृत्तान्त का कथन । अथवा टीकाकार गङ्गाधर के अनुसार दूती द्वारा अन्यापदेश से उस नायक को प्रोत्साहन, जो बहुत प्रयत्न से तैयार हुई भी नायिका के पास पकड़ जाने की आशंका से पहुँचना नहीं चाहता । प्रथम अवतरण के अनुसार विरह के दिनों में किसी प्रकार के अकुशल के अपगमन की कामना से जैसे पथिक की (परदेश में गए हुए नायक की) दुबली घरवाली जब काकबलि देने लगती है तब उसका कंगन उसके हाथ से गिर जाता है और बलिपिण्ड उसके बीच में पड़ जाता है और कौआ उसे फंदे के साथ समझ कर डर के मारे नहीं ग्रहण करता । इस

अवतरण में गाथाकार की दृष्टि को एकमात्र नायिका की दुर्बलता पर ही केन्द्रित समझा गया है क्योंकि हाथ से वलय के खिसक जाने से उसकी कृशता ही व्यंजित होती है। 'मेघदूत' के यक्ष की भी कृशता को व्यञ्जित करने के लिए कालिदास ने 'कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः' इस विशेषण का प्रयोग किया है। तात्पर्य यह कि यदि नायक परदेश जायगा तो उसकी घरवाली उसके विरह के कारण बहुत क्षीण हो जायगी। दूसरा अवतरण इस आशय से है कि दूती ने नायिका को बड़े प्रयत्न से जब नायक के लिए तैयार किया तब वह उससे मिलने में आशंका व्यक्त करने लगा। इस दूती के कथन का अभिप्राय है कि जिस प्रकार पथिक वधू द्वारा अर्पित बलिपिण्ड को, जिसके चारो ओर उसके हाथ का खिसका हुआ वलय पड़ा है, कौआ डर के मारे स्वीकार नहीं करता उसी प्रकार तू भी मेरे द्वारा प्रयत्नसाधित उस नायिका को पकड़ जाने की आशंका से जो नहीं स्वीकार कर रहा है, वह व्यर्थ है। अर्थात् तू निर्भीक होकर उसके निकट जा ॥ ५ ॥

ओहिदिअहागमासंकिरीहिँ सहिआहिँ कुड्डलिहिआओ।
दोतिण्णि तहिँ विअ चोरिआएँ रेहा पुसिज्जन्ति ॥ ६ ॥

[अवधिदिवसागमाशङ्किनीभिः सखीभिः कुड्यलिखिताः।
द्वित्रास्तत्रैव चोरिकयारेखाः प्रोञ्छ्यन्ते ॥]

परदेश गए नायक के अवधि-दिन की आशङ्का से (कि कहीं वह दिन शीघ्र न आ जाय) सखियां (नायिका द्वारा) भीत पर लिखी रेखाओं में से दो-तीन को वहीं चोरी से मिटा दिया करती हैं।

विमर्श—प्रवासी नायक के समीप जाते हुए पथिक से सखी द्वारा नायिका की स्थिति की सूचना के बहाने नायक को शीघ्र पहुंचने के उद्देश्य से कथन। प्रवास पर जाते हुए नायक ने जो अपने आने के दिन की अवधि दे रखी है, उसकी गणना नायिका बीते हुए दिनों को रेखाङ्कित करके प्रतिदिन करती है। इससे नायिका की विशेष उत्कण्ठा सूचित होती है। पर उसकी सखियां इस बात से डरकर कि अगर नायक अवधि के दिन किसी कारणवश परदेश से नहीं लौटा तो निश्चय ही यह अधिक उत्पीड़ित हो उठेगी और सम्भवतः प्राणत्याग भी कर देगी, चोरी से जाकर भीत पर लिखी रेखाओं में से दो-तीन को मिटा दिया करती हैं। इस प्रकार अवधि दिन कुछ आगे टल जाता है। सखियों का निर्णय यह है कि अगर नायक ठीक अवधि के दिन ही आ गया तो नायिका को परिगणित दिन के पूर्व ही उसके पहुँच जाने की बड़ी ही खुशी होगी अगर विलम्ब से लौटा तो भी इसे अवधि-दिन की प्रतीक्षा रहेगी। इस

प्रकार सखियों के इस कथन की व्यञ्जना यह है कि नायक को तुम यथाशीघ्र अवधि दिन के पूर्व ही भेजने की कोशिश करना। यहां हम लोग अपनी ओर से नायिका को जीवित रखने की पूरी कोशिश में हैं। गाथा में सूचित भित्ति-लेखन द्वारा प्रतीक्षा प्राचीन काव्यों में विभिन्न प्रकार से मिलती है। मेघदूत की यक्षी देहली पर फूल रख-रख कर अपने प्रियतम यक्ष के शापान्त के दिन की प्रतीक्षा कर रही थी ॥ ६ ॥

तुह मुहसारिच्छं ण लहइ त्ति संपुण्णमण्डलो विहिणा।
अण्णमअं व्व घडइउं पुणो वि खण्डिज्जइ मिअङ्को ॥ ७ ॥

[तवमुखसादृश्यं न लभत इति संपूर्ण मण्डलो विधिना।
अन्यमयमिव घटयितुं पुनरपि खण्ड्यते मृगाङ्कः ॥]

विधाता (यह सोचकर कि) पूनम का चांद तेरे मुख का सादृश्य नहीं पा रहा है, दूसरे प्रकार का चांद मानों बनाने के लिए बार-बार उसे टुकड़े-टुकड़े कर डालता है।

विमर्श—नायिका के प्रति नायक की चाटूक्ति। नायक ने चाँद को घटते-बढ़ते बार-बार देखकर कल्पना की कि विधाता नायिका के मुख जैसा इसे निर्माण कर पाने में असमर्थ होकर ही एकबार पूरा बना लेता है और फिर उसे तोड़-फोड़ कर फिर बनाना शुरू करता है। न जाने उसने यह कितने बार किया और कितने बार ही नायिका के मुख के सदृश सुन्दर बनाने में असमर्थ रहा। तात्पर्य यह कि चन्द्र कभी भी नायिका के मुख का सादृश्य प्राप्त नहीं कर सकता। यहा उपमान चन्द्र के तिरस्कार के कारण 'प्रतीप' नाम का अलङ्कार है ॥ ७ ॥

अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति गणरीए।
पढम व्विअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहिँ चित्तलिओ ॥ ८ ॥

[अद्य गत इत्यद्य गत इत्यद्य गत इति गणनशीलया।
प्रथम एव दिवसार्धे कुड्यं रेखाभिश्चित्रितम् ॥]

प्रिय के गए आज का दिन गया, आज का दिन गया, आज का दिन गया। इस प्रकार गिनने वाली नायिका ने पहले दिनार्ध में ही भीत को रेखाओं से चित्रित कर डाला।

विमर्श—दूती द्वारा प्रवास पर चले नायक के प्रति नायिका की अवस्था की सूचना। नायक आज ही के दिन अपने घर से प्रवास पर चला और अभी दिन का अर्धभाग ही व्यतीत हुआ कि नायिका ने एक-एक क्षण को एक-एक दिन के प्रमाण का मानकर भीत को रेखाओं से चित्रित कर डाला। मतलब

यह कि अभी दिनों की गणना पूरी भी न हो पाई कि भीत रेखाओं से भर गई, जब कि उसने रेखाओं को यों ही लिखकर भर नहीं दिया था, बल्कि भीत के शीघ्र भर जाने के डर से 'चित्रित' अर्थात् एक कतार से सावधान होकर चित्रित किया था। इस प्रकार दूती ने नायक से नायिका के द्वारा विरह-वेदना के सहन न कर सकने की स्थिति को व्यक्त किया, जिससे वह अपने प्रवास पर जाने का उपक्रम रोक दे और वापस लौट जाय ॥ ८ ॥

ण वि तह पढमसमागमसुरअसुहेपाविएवि परिओसो।
जह बीअदिअहसविलक्खलक्खिए वअणकमलम्मि ॥ ९ ॥

[नापि तथा प्रथमसमागमसुरतसुखे प्राप्तेऽपि परितोषः।
यथा द्वितीय दिवससविलक्षलक्षिते वदनकमले ॥]

प्रथम बार के समागम में जो सुरत-सुख मिलता है उसमें उस तरह का मजा नहीं मिलता जिस तरह का दूसरे दिन (नायिका के) लज्जा का भाव लिए दृष्टिपात वाले मुखकमल (को देखने में) मिलता है।

विमर्श—नायक का अपनी सहृदयता के सूचनार्थ अपने सहचर के प्रति कथन। अथवा गङ्गाधर के अनुसार अपने गुणों से गर्वित नायक का सहचर के प्रति कथन। इस गाथा में नायक ने जो प्रथम बार के समागम में प्राप्त भी सुरत-सुख के मजे से बढ़कर दूसरे दिन नायिका के सलज्ज दृष्टिपातवाले नायिका के मुखकमल में मजा का अनुभव किया, वह इसलिए कि प्रथम समागम में नायिका स्वभावतः किसी प्रकार तत्पर नहीं होती, प्रत्येक प्रार्थना का उत्तर 'नहीं' के सिवा कुछ नहीं मिलता और प्रार्थना की स्थिति जब प्रणाम तक पहुँच जाती है तब वह किसी प्रकार स्वीकार कर भी लेती है तो विमनस्क नायक कहाँ तक समागम का परितोष अनुभव कर पाता है? फिर दूसरे दिन ही नायक के गुणों से मुग्ध वह अपने अस्वीकारों को याद करके लज्जित हो उसे देखने लगती है तब स्वभावतः नायक कुछ खास तरह का मजा अनुभव करता है ॥ ९ ॥

जे सँमुहागअवोलन्तवलिअपिअपेसिअच्छिविच्छोहा।
अम्हं ते मअणसरा जणस्स जे होन्ति ते होन्तु ॥ १० ॥

[ये संमुखागतव्यतिक्रांतवलितप्रियप्रेपिताक्षिविक्षोभाः।
अस्माकं ते मदनशरा जनस्य ये भवन्ति ते भवन्तु ॥]

जब प्रिय (मनाने के लिए) सामने आता है और जब वह विमुख होकर लौट पड़ता है उस समय मुड़कर वह अपनी आँखें जो प्रेषित करता है उससे

उत्पन्न मन के विक्षोभ या मन्थन ही हमारे लिए तो काम (मन्मथ) के बाण बन जाते हैं, लोगों के लिए वे जो हैं वही हों।

विमर्श—सखी के प्रश्न का नायिका द्वारा उत्तर। प्रश्न है कि क्या कामदेव के बाण सचमुच फूल के ही बने हैं, जैसा कि लोग कहा करते हैं? इस पर नायिका ने उत्तर में कहा कि, हाँ, औरों के लिए तो काम के बाण फूल के बने होते हैं पर हमारे लिए सामने से निराश होकर लौटते हुए प्रिय के द्वारा मुड़ कर देखने से उत्पन्न मनःक्षोभ ही कामदेव को बाण बन जाते हैं। क्योंकि कामदेव को जो 'मन्मथ' कहा जाता है उसकी इसी में सार्थकता है। यह अर्थ व्यञ्जित करना गाथाकार का विशेष अभिप्रेत प्रतीत होता है॥ १० ॥

इअरो जणो ण पावइ तुह जहणारुहणसंगमसुहेल्लिं।
अणुहवइ कणअडोरो हुअवहवरुणाणँ माहप्पं ॥ ११ ॥
[इतरो जनो न प्राप्नोति तव जघनारोहणसंगमसुखकेलिम्।
अनुभवति कनकदोरो हुतवहवरुणयोर्माहात्म्यम् ॥]

तेरे जघन पर आरोहण-पूर्वक सङ्गम का सुख इतर जन को नहीं मिलता, (पर जो कि यह) सोने का डोरा (कनकसूत्र) अनुभव करता है वह अग्नि और वरुण देवताओं की महिमा है।

विमर्श—नायिका के प्रति नायक की अभिलाषाव्यञ्जक उक्ति। नायिका के जघनारोहण-पूर्वक संगम-सुख का अनुभव बड़ी तपस्या के बाद मिलता है। जबकि कनक-सूत्र या सोने का डोरा कई बार आग में तपाया जाता और पानी में ठंढा किया जाता है, तभी वह उसके सङ्गम-सुख का अनुभव करता है, इसे तो मात्र अग्नि और वरुण देवताओं की महिमा कहनी चाहिए। नायक अभिलाषा करता है कि काश वह भी कभी ऐसा सौभाग्य प्राप्त करता! वह भी सोने के डोरे की तरह बार-बार अग्निपानीयव्रत करता हुआ नायिका के जघनारोहण एवं सङ्गम-सुख का अनुभव करता। सुहेल्लि—यह शब्द इस ग्रन्थ में कई बार प्रयुक्त हुआ है (देखिए १०८; २११; २६१; २८८; ३६८; ५५८; ८९४)। छायाकार ने कहीं सुख और सुखकेलि लिखा है। देशीनाममाला के अनुसार यह सुख का पर्याय देशी शब्द है। पाठान्तर 'सुहल्लि' है। कनकडोरो—'डोर' शब्द भी देशी है आज भी धागे के अर्थ में 'डोरा' शब्द भाषा में प्रचलित है॥ ११ ॥

जो जस्स विहवसारो तं सो देइ त्ति किं त्थ अच्छेरं।
अणहोन्तं पि खु दिण्णं दोहग्गं तइ सवत्तीणं ॥ १२ ॥

[यो यस्य विभवसारस्तं स ददातीति किमत्राश्चर्यम्।
अभवदपि खलु दत्तं दौर्भाग्यं त्वया सपत्नीनाम्॥]

इसमें क्या अचरज है कि जिसका जो धन-दौलत है, मनुष्य उसे अर्पित कर देता है। अरे, जिन सौतों का दौर्भाग्य नहीं था उसे भी तूने उन्हें दे डाला, (अचरज तो इसमें है)!

विमर्श—दूती द्वारा नायिका की प्रशंसा के द्वारा नायक की प्ररोचना। दूती नायक को सुनाते हुए नायिका से कहती है दुनियाँ में जिसका जो धन-दौलत है उसे मिल जाता है, इसमें कोई अचरज नहीं। पर अचरज की बात वह हो जाती है कि जो जिसके भाग्य में बिल्कुल नहीं उसे वह मिल जाय। क्योंकि जैसा कि सबने देखा है कि नई आकर किसी ने भी अपनी ओर प्रिय को अधिकतर-आकृष्ट करके अपनी सपत्नियों के सौभाग्य को कम नहीं किया, पर तूने यह कमाल कर ही दिखाया कि तेरे प्रति प्रिय इतना रीझा कि तेरी सौतें जिन्हें दौर्भाग्य छू तक नहीं गया था, उन्हें मिल गया। नायक के प्रति दूती का यह भाव व्यञ्जित होता है कि तू अपने सौभाग्य की सराहना कर कि तेरे लिए मैं कैसी सौभाग्यशालिनी नायिका को साध रही हूँ॥ १२॥

चन्दसरिसं मुहं से सरिसो अमअस्स मुहरसो तिस्सा।
सकअग्गहरहसुज्जलचुम्बणअं कस्स सरिसं से॥ १३॥

[चन्द्रसदृशं मुखं तस्याः सदृशोऽमृतस्य मुखरसस्तस्याः।
सकचग्रहरभसोज्ज्वलचुम्बनकं कस्य सदृशं तस्याः॥]

उसका मुख चन्द्रमा के सदृश है और उसका मुखरस अमृत के सदृश, पर उसका बालों को पकड़ कर आवेश के साथ किया गया मनोज्ञ चुम्बन किसके सदृश है?

विमर्श—अपने सहचर के प्रति किसी रसिक की उक्ति। नायिका के मुख की और अधर-रस की उपमा जब इस लोक में ढूँढे न मिली तो किसी प्रकार यद्यपि चन्द्र और अमृत इन दो दिव्य पदार्थों के साथ उपमा बन भी जाय तथापि उसके उस चुम्बन का जो बालों को हठात् पकड़कर आवेश के साथ सम्पन्न होता है, तीनों लोकों में कहीं सादृश्य नहीं। यहाँ गाथाकार ने कामशास्त्र में वर्णित विशेष प्रकार के चुम्बन की ओर निर्देश किया है॥ १३॥

उप्पण्णत्थे कज्जे अइचिन्तन्तो गुणागुणे तम्मि।
चिरआलमन्दपेच्छित्तणेण पुरिसो हणइ कज्जं॥ १४॥

[उत्पन्नार्थे कार्येऽतिचिन्तयन्गुणागुणौ तस्मिन्।
चिरकालमन्दप्रेक्षित्वेन पुरुषो हन्ति कार्यम्॥]

जब कि अभिलषित सिद्ध हुआ सामने हो तब उसमें गुण-अगुण की चिन्ता करता हुआ व्यक्ति देर तक मन्ददर्शी होने के कारण कार्य को नष्ट कर डालता है।

विमर्श—नायक के प्रति दूती का वचन। दूती का तात्पर्य है कि मैंने तेरी बात पर आकर उस नायिका को किसी प्रकार राजी किया और वह जब सामने उपस्थित है तब तू उसमें गुण-दोष की बात सोचने लगा है। ठीक तेरे ही जैसे मन्ददर्शी लोग इस तरह विलम्ब करके अपने सामने के कार्य को भी नष्ट कर डालते हैं। श्री जोगलेकर के अनुसार यह गाथा शुद्ध सुभाषित है॥ १४॥

बालअ तुमाहि अहिअं णिअअं विअ वल्लहं महं जीअं।
तं तइ विणा ण होइ त्ति तेण कुविअं पसाएमि॥ १५॥

[बालक त्वत्तोऽधिकं निजकमेव वल्लभं मम जीवितम्।
तत्त्वया विना न भवतीति तेन कुपितं प्रसादयामि॥]

निरे बालक, तुझसे ज्यादा मेरा जीवन मुझे प्रिय है। क्योंकि वह तेरे बिना टिक नहीं सकता, इस लिए मैं कुपित तुझे मना रही हूँ।

विमर्श—नायिका का वचन नायक के प्रति। नायक किसी कारण से कुपित—प्रणयकुपित है। नायिका ने उसे मनाते हुए मनाने का कारण कहा कि वह सिर्फ उसके बिना रह नहीं सकती इसीलिए उसे मना रही है क्योंकि उसकी अपेक्षा वह अपने-आपको अधिक प्यार करती है। नायिका ने वचोभङ्गी द्वारा अपने प्रणय का भाव इस गाथा में व्यक्त किया है। उसका वक्तव्य सिर्फ यही है कि वह किसी प्रकार नायक के बिना जी नहीं सकती, वह अधिक उसे प्यार करती है। इस प्रकार गाथाकार ने 'पर्यायोक्त' अलंकार की शैली में नायिका के वचन को प्रस्तुत किया है। गाथा में प्रयुक्त 'बालअ' या 'बालक' शब्द नायक में प्रणय के परिणाम की अनभिज्ञता को जाहिर करता है। अगर नायक जानता कि मैं कुपित होता हूँ तो यह जो मुझ पर ही अवलम्बित है कैसे जीवित रह सकती है, तो निश्चय ही वह कोप नहीं करता॥ १५॥

पत्तिअ ण पत्तिअन्ती जइ तुज्झ इमे ण मज्झ रुअईए।
पुट्टीअ बाहबिन्दू पुलउब्भेएण भिज्जन्ता॥ १६॥

[प्रतीहि न प्रतीयन्ती यदि तवेमे न मम रोदनशीलायाः
पृष्ठस्य बाष्पबिन्दवः पुलकोद्भेदेन भिद्यमानाः॥]

यदि तुझ रोदनशीला के दो आँसू मेरी पीठ पर रोमांच हो जाने के कारण बिखर नहीं जाते हों तो मुझपर न पतिआती हुई तू पतिआ ले।

विमर्श—नायक का नायिका के प्रति वचन। नायक पर कुपित होकर नायिका रोने लगी। नायक के मनावन जब सब व्यर्थ गए तब उसने 'काकु' की ध्वनि में अपना अतिशय अनुराग प्रकट करते हुए कहा। उसका तात्पर्य है कि नायिका की कमनिगाही है जो यह नहीं देख पाती है कि उसके आँसू उसकी (नायक की) पीठ पर गिरते ही रोमाञ्च के कारण बिखर जाते हैं। प्रस्तुत गाथा का अर्थ टीकाकार गङ्गाधर ने कुछ अस्पष्टता के साथ इस प्रकार समझा है—'तुझ रोदनशीला के बाष्पबिन्दु मेरी पीठ के पुलकोद्गम से बिखरते हुए यदि भिन्न नहीं होते हों तब तू विश्वास करती हुई न विश्वास करना।' इस अर्थ को भट्ट जी ने 'विचारणीय' कहा है। परन्तु जैसा कि गाथा के शब्दों से जाहिर है वह यही है कि नायक अपने प्रणय के प्रति नायिका के हृदय में विश्वास पैदा करने के लिए कहता है। ऐसी स्थिति में जब कि नायिका को सर्वथा उस पर विश्वास नहीं है तब भी विश्वास करना चाहिए। खलजनों की बातों (चुगलियों) पर विश्वास कर लेना और उसके प्रणय पर यह प्रत्यक्ष दृश्य देखते हुए भी विश्वास न करना कहाँ तक उचित है? ॥ १६ ॥

तं मित्तं काअव्वं जं किर वसणम्मि देसआलम्मि।
आलिहिअभित्तिवाउल्लअं व ण परम्मुहं ठाइ ॥ १७ ॥
[तन्मित्रं कर्तव्यं यत्किल व्यसने देशकालेषु।
आलिखितभित्तिपुत्तलकमिव न पराङ्मुखं तिष्ठति ॥]

मित्र उसे बनाना चाहिए जो विपत्ति पड़ने पर, कहीं और किसी समय, भीत पर लिखे गए पुतले की भाँति मुँह नहीं फेरता।

विमर्श—यह गाथा एक प्रकार से सुभाषित है। यदि इसमें गाथासप्तशती की व्याख्यारूढ़ि के अनुसार अवतरण ढूँढ़ें तो यह कह सकते हैं कि कोई नायिका अपने प्रिय को सुनाते हुए उसके प्रति अपना प्रेम दृढ़ करने का प्रयत्न करती है। अर्थात् मैंने जो उसे अपना मित्र या दोस्त बनाया है, वह बहुत जान-बूझ कर। वह मुझे कभी धोखा नहीं देगा। जिस प्रकार भीत पर उभरा हुआ चित्ररूप पुतला कभी पराङ्मुख नहीं होता उसी प्रकार समझ-बूझकर बनाये गए मित्र से कभी अनबन नहीं होती। गाथा में प्रयुक्त 'वाउल्लअ' शब्द पुतले के अर्थ में 'देशी' है। गुजराती में इसी अर्थ में 'बावलुं' का प्रयोग है ॥ १७ ॥

बहुआइ णइणिउञ्जे पढमुग्गअसीलखण्डणविलक्खं।
उड्डेइ विहंगउलं हाहा पक्खेहिँ व भणन्तं ॥ १८ ॥

[वध्वा नदीनिकुञ्जे प्रथमोद्गतशीलखण्डनविलक्षम् ।
उड्डीयते विहंगकुलं हा हा पक्षैरिव भणत् ॥]

नदी की झाड़ में युवती की पहले-पहल हुई इज्जत की बरबादी से शर्मिन्दा यह पंछियों का झुण्ड अपने पंखों से 'हा' 'हा' की आवाज करता हुआ उड़ चला है।

विमर्श—सहचर के प्रति किसी की उक्ति। अथवा शिकारी व्याध जो पक्षियों को मारने के उद्देश्य से नदी की झाड़ की ओर पहुँच रहा था, अपने पहुँचने से पूर्व ही पक्षियों को उड़ते देखकर अनुमान करता है। पक्षियों में इस प्रकार उड़ने का कारण यही हो सकता है कि पहले से उस झाड़ में किसी के पहुँचने की उन्हें आहट मिल गई है। और कौन पहुँचेगा, यह तो छुप के मिलनेवाले किसी पुरुष ने किसी युवती के शील या इज्जत को वहाँ बरबाद ही किया होगा, अन्यथा पक्षियों के पंखों में 'हा' 'हा' की ध्वनि क्यों सुन पड़ रही है? यहाँ गाथाकार ने पक्षियों के उड़ने से होनेवाली स्वाभाविक ध्वनि को उनके शर्मिन्दा होने से उत्पन्न करार करके उत्प्रेक्षा की है। नैषधकार ने भी कुछ इसी तरह की उत्प्रेक्षा की है—

न वासयोग्या वसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग ! यस्याः पतिरुज्झितस्थितिः ।
इति प्रहाय क्षितिमाश्रिता नभः खगास्तमाचुक्रुशुरारवैः खलु ॥ १।१२८॥

अर्थात् पृथ्वी को छोड़कर आकाश में आश्रित हुए पक्षियों ने अपने शब्दों से मानों नल की इस प्रकार भर्त्सना की, कि तुझ जैसा मर्यादा को त्याग देनेवाला जिसका स्वामी हो, ऐसी पृथ्वी किसी प्रकार वास के योग्य नहीं है ! ॥ १८ ॥

सच्चं भणामि बालअ णत्थि असक्कं वसन्तमासस्स ।
गन्धेण कुरवआणं मणं पि असइत्तणं ण गआ ॥ १९ ॥

[सत्यं भणामि बालक नास्त्यशक्यं वसन्तमासस्य ।
गन्धेनकुरवकाणां मनागप्यसतीत्वं न गता ॥]

निरे बालक, सच कहती हूँ, वसन्त मास का कुछ भी अशक्य नहीं (सब कुछ कर सकता है)। कुरवकों की गन्ध से वह अभी थोड़ा भी सतीत्व से विचलित नहीं हुई है।

विमर्श—परदेश में स्थित नायक के पास जानेवाले पथिक से नायिका-सखी द्वारा सन्देश। वसन्त आ पहुँचा है, अभी तक नायक परदेश से लौटा नहीं। उसे इतना भी मालूम नहीं कि इस काल में अबलाओं की मनोदशा कितनी बेढंगी हो जाती है। वे कब क्या कर गुजरेंगी, यह कोई नहीं कह

सकता। सचमुच वह बड़ा बुद्धू है! वसन्त के आरम्भ की सूचना कुरवक (कटसरैया) के पुष्पित हो जाने से ही मिल जाती है। उसकी गन्ध से ही वसन्त के आरम्भ का अनुमान हो जाता है। गनीमत है कि इस सूचना को पाकर भी अभीतक नायिका अपने सतीत्व से विचलित नहीं हुई है। शायद नायक के समागम की प्रत्याशा से अभी तक मन को चांपे जा रही है। पर कह देना कि यह स्थिति देर तक रहनेवाली नहीं है। इस प्रकार गाथा में निर्दिष्ट वसन्तागम के सूचक कुरवक की गन्ध का उल्लेख 'मालविकाग्निमित्र' में कालिदास ने भी किया है। विदूषक राजा से कहता है—'अद्यैव प्रथमावतारसुभगानि रक्तकुरबकाण्युपायनं प्रेष्य नववसन्तावतारव्यपदेशेनेरावत्या निपुणिकामुखेन प्रार्थितो भवान्' (तृ० अं०) ॥ १९ ॥

एक्वेक्कमवइवेठणविवरन्तरदिण्णतरलणअणाए।
तइ बोलन्ते बालअ पञ्जरसउणाइअं तीए॥ २० ॥
[एकैकवृतिवेष्टनविवरान्तरदत्ततरलनयनया।
त्वयि व्यतिक्रान्ते बालक पञ्जरशकुनायितं तया॥]

बालक! तेरे चले जाने पर उसने घेरे के एक-एक बेठन के छेद में अपने तरल नयन डालकर पिंजरे के पंछी की तरह आचरण किया।

विमर्श—नायक के प्रति दूती का वचन। नायिका का अनुराग तो देखो कि जब तू उसकी ओर से गुजरा तो उस बेबस ने पिंजरे के पंछी की तरह प्रत्येक छेद में अपनी तरल आँखें डाल दीं। गाथाकार ने यहाँ पिंजरे के पंछी से नायिका की तुलना करके उसकी विवशता का एक चमत्कारी चित्र प्रस्तुत कर दिया है। उसका चारों ओर के लगे सीखचों में बँधकर हर छेद से तरल आँखें डालना आदि सब कुछ नायिका की पारिवारिक विवशता और उसका उस तरह नायक को देखने के लिए तड़फड़ाना आदि में संगत हो जाते हैं। उर्दू कविताओं में कफस में पड़ी हुई 'बुलबुल' को लेकर लिखे गए इस तरह के भावचित्र दर्शनीय हैं। पिंजड़े की बुलबुल की इस विवशता पर जरा ध्यान दें—'न तड़पने की इजाजत है न फरियाद की है। घुट के मर जाऊँ ये मर्जी मेरे सय्याद की है॥' गाथा में निर्णयसागर सं० में 'एक्कैकमवइ वेठण०' है और मराठी सं० में 'एक्कैकमवइवेठन०' है पाठान्तर 'एक्कैकवइवेठण०' भी है। यहाँ 'वइ' की छाया 'वृति' होना ठीक होते हुए भी 'भ' या 'म' का कोई उपयोग नहीं प्रतीत होता है। छन्द के अनुसार इसका अवश्य उपयोग है। सम्भव है यहां 'भ' या 'म' के स्थान पर कोई दूसरा सार्थक अक्षर हो ॥२०॥

ता किं करेउ जए तं सि तीअ वइवेट्ठपेल्लिअथणीए।
पाअङ्गुट्ठद्धक्खित्तणीसहङ्गीअ वि ण दिट्ठो॥ २१ ॥

[तत्किं करोतु यदि त्वमसि तया वृतिवेष्टनप्रेरितस्तनया ।
पादाङ्गुष्ठार्धक्षिप्तनिःसहाङ्गयापि न दृष्टः ॥]

घेरे के वेठन में स्तनों को लगाने और अपने निःसह अंगों को पैर के अंगूठे के अर्धभाग पर डालने पर भी जब वह तुम्हें न देख पाई तो वह (बेचारी) क्या करे ?

विमर्श—दूती का वचन नायक के प्रति। नायक को नायिका से शिकायत है कि वह उसके घर की ओर से गुजरा और उसने उसे देखा तक नहीं ! दूती का कहना है कि चारों ओर से बना हुआ घेरा कुछ ऊँचा पड़ता है, जिससे वह प्रयत्नशील होकर भी तुम्हें न देख पाई। कमाल तो यह है कि उसका अङ्ग-अङ्ग तुम्हारी चिन्ता में चूर-चूर था उसे भी उसने अपने पैर के अंगूठों पर थाम लिया और फिर भी विफल रही। कम से कम उसके साहस पर तो गौर करो ॥ २१ ॥

पिअसंभरणपलोट्टन्तवाहधाराणिवाअभीआए ।
दिज्जइ वङ्कगीवाएँ दीवओ पहिअजाआए ॥ २२ ॥

[प्रियसंस्मरणप्रलुठद्बाष्पधारानिपातभीतया ।
दीयते वक्रग्रीवया दीपकः पथिक जायया ॥]

प्रियतम की याद में निकलते हुए अश्रुधार के गिर जाने के भय से प्रवासी की पत्नी गर्दन टेढ़ी करके दीप दान करती है।

विमर्श—दूती का वचन किसी प्रवासी की पत्नी को चाहनेवाले उपनायक के प्रति। उसे किसी प्रकार तुम्हारे प्रति आकृष्ट नहीं किया जा सकता, इस तात्पर्य से दूती कहती है कि वह दीपदान करते समय प्रियतम की याद में निरन्तर प्रवहनशील अश्रुधार को दीपक में गिर जाने के भय से गर्दन टेढ़ी कर लेती है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में प्रवास में स्त्री की विप्रलम्भ चेष्टाओं के प्रसङ्ग में इस गाथा को उदाहृत किया है ॥ २२ ॥

तइ वोलन्ते बालअ तिस्साअङ्गाइँ तह णु वलिआइं ।
जह पुट्ठिमज्झणिवतन्तवाहधाराओं दीसन्ति ॥ २३ ॥

[त्वयि व्यतिक्रामति बालक तस्या अङ्गानि तथा नु वलितानि ।
यथापृष्ठमध्यनिपतद्बाष्पधारा दृश्यन्ते ॥]

निरे बालक ! तेरे आगे निकल जाने पर उसके अङ्ग उस प्रकार मुड़ गए जिस प्रकार पीठ पर गिरी आंसू की धारा को देख पाती है।

विमर्श—दूती का वचन कामुक युवक के प्रति। तू उसके सामने से गुजरा और तुझे देखने के लिए उसके अङ्गों का इस प्रकार मुड़ना कि उसके

पीठ पर गिरी अश्रुधारा भी दिख जाय उसके विरहजन्य परम दौर्बल्य को सूचित करता है। तेरी चिन्ता में दुर्बलता के कारण उसके अंग बिलकुल मुड़ जाते हैं। 'बालक' शब्द व्यञ्जित करता है कि इस पर भी तुझे पता नहीं और अब तक उसे पीड़ित किए जा रहा है ॥ २३ ॥

ता मज्झिमो च्चिअ वरं दुज्जणसुअणेहिँ दोहिँ विण कज्जं ।
जह दिट्ठो तवइ खलो तहेअ सुअणो अईसन्तो ॥ २४ ॥
[तन्मध्यम एव वरं दुर्जनसुजनाभ्यां द्वाभ्यमपि न कार्यम् ।
यथा दृष्टस्तापयतिखलस्तथैव सुजतोऽदृश्यमानः ॥]

जिस प्रकार देखे जाने पर खल कष्ट देता है उसी प्रकार नहीं देखे जाने पर सज्जन कष्ट देता है, इसलिए मंझला ही अच्छा है, दुर्जन और सज्जन से कुछ काम नहीं।

विमर्श—अन्यापदेश से नायिका द्वारा प्रियतम के विरह का निवेदन। तात्पर्य यह है कि वह सम्प्रति इस लिए कष्ट देता है कि आँखों से ओट है। गोस्वामी तुलसीदास ने सम्भवतः इसी भाव को अपने रंग में ढाल कर इस प्रकार कहा है—

बन्दौं सन्त असज्जन चरना। दुखप्रद उभय बीचि कछु बरना ॥
मिलत एक दारुन दुख देहीं। बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं ॥ २४ ॥

अद्धच्छिपेच्छिअं मा करेहि साहाविअं पलोएहि ।
सो वि सुदिट्ठो होहिइ तुमं वि मुद्धा कलिज्जिहिसि ॥ २५ ॥
[अर्द्धाक्षिप्रेक्षितं मा कुरु स्वाभाविकं प्रलोकय ।
सोऽपि सुदृष्टो भविष्यति त्वमपि मुग्धा कलिष्यसे ॥]

आधी नजरिया से मत निहार, सहज भाव से ताक, वह भी अच्छी तरह से दिखेगा और तुझे भी (लोग) अल्हड़ करार देंगे।

विमर्श—किसी ईर्ष्यालु स्त्री का वचन नायिका के प्रति। हमें मालूम है तू प्रियतम को तिरछी नजरों से देखने में बड़ी कुशल है! 'अलङ्काररत्नाकर' के अनुसार 'तन्त्र' अलङ्कार का यह उदाहरण है 'नानाफलप्रयुक्तः तन्त्रम्' ॥२५॥

दिअहं खुडक्किआए तीए काऊण गेहवावारं ।
गरुए वि मण्णुदुःखे भरिमो पाअन्तसुत्तस्स ॥ २६ ॥
[दिवसं रोषमूकायास्तस्याः कृत्वा गेहव्यापारम् ।
गुरुकेऽपि मन्युदुःखे स्मरामः पादान्तसुप्तस्य ॥]

भारी अपराधजनित दुःख के होने पर भी दिन भर गुमसुम घर का काम-धाम करके उसका मेरे पैर की ओर सोना याद करता हूँ।

विमर्श—प्रवासी नायक का वचन वयस्य के प्रति। उसे वह स्थिति याद आती है कि उसके अपराध कर जाने पर भी उसकी प्रिया ने अन्ततः उसके अनुराग की प्रतीक्षा ही की। 'खुडक्किआ' रोष के कारण मूक या गुमसुम के अर्थ में 'देशी' है। दिन भर घर के काम-धाम में लग कर दिन का यापन उद्देश्य था और उसके पैर की ओर सोना प्रिय द्वारा मनावन किए जाने का उद्देश्य था। इस प्रकार उसने अपनी प्रियतमा का अतिशय अनुराग सूचित किया। 'दशरूपक' में औदार्य का उदाहरण ॥ २६ ॥

पाणउडीअ वि जलिऊण हुअवहो जलइ जण्णवाडम्भि।
ण हु ते परिहरिअव्वा विसमदसासंठिआ पुरिसा ॥ २७ ॥

[पानकुट्यामपि ज्वलित्वा हुतवहो ज्वलति यज्ञवाटेऽपि।
न खलु ते परिहर्तव्या विषमदशासंस्थिताः पुरुषाः ॥]

अग्नि झोपड़ी में जलकर यज्ञस्थान में भी प्रज्वलित होता है, तुझे दुर्गत अवस्था में पड़े हुए लोगों को न छोड़ना चाहिए।

विमर्श—वेश्यामाता का वचन वेश्या के प्रति। गंगाधर के अनुसार धनिक कामुक किसी अधम स्त्री से फँस कर दूषित हो गया है, वेश्या उसे दुरकार ना चाहती है, इस पर उसकी माता का यह उपदेश है कि वह उसे समान-भाव से अनुराग करे और एकमात्र धन का उद्देश्य रखे। 'पानकुटी' गंगाधर के अनुसार 'चाण्डालकुटी', वेबर के अनुसार 'पर्णकुटी' और सरस्वतीकण्ठाभरण के अनुसार 'शौण्डिककुटी' अर्थात् मद्यपान की कुटी है। सरस्वतीकंठाभरण में यह वक्र-निदर्शना का उदाहरण है—

दृष्टान्तः प्रोक्तसिद्ध्यै यः सिद्धेऽर्थे तन्निदर्शनम्।
पूर्वोत्तरसमत्वे तदृजु वक्रं च कथ्यते ॥ २७ ॥

जं तुज्झ सई जाआ असईओ जं च सुहअ अह्मे वि।
ता किं फुट्टउ बीअं तुज्झ समाणो जुआ णत्थि ॥ २८ ॥

[यत्तव सती जाया असत्यो यच्च सुभग वयमपि।
तत्किं स्फुटतु बीजं तव समानो युवा नास्ति ॥]

हे सुभग, जो तुम्हारी पत्नी सती है और जो हम भी असती (बदचलन) हैं तो क्या कारण जाहिर है? तेरे समान कोई युवक नहीं है।

विमर्श—बदचलन स्त्री का वचन सामने अपनी सती पत्नी का आदर करते हुए उपनायक के प्रति। तेरी पत्नी एकमात्र तुझमें अनुराग करती है, और हम हैं कि तेरे लिए अपने पति को छोड़ चुकी हैं, इससे यही बात जाहिर है कि तू बड़ा ही सौभाग्य वाला युवक है, तेरे समान कोई नहीं मिलेगा। श्री मथुरा-

नाथ शास्त्री के अनुसार यह उस असती स्त्री का आक्षेप वचन है और गङ्गाधर के अनुसार असती ने विदग्धता के साथ अनुराग प्रकट किया है ॥ २८ ॥

सव्वस्सम्मि वि दड्ढे तहवि हु हिअअस्स णिव्वुदि च्चेअ ।
जं तेण गामडाहे हत्थाहत्थि कुडो गहिओ ॥ २९ ॥

[सर्वस्वेऽपि दग्धे तथापि खलु हृदयस्य निर्वृतिरेव ।
यत्तेन ग्रामदाहे हस्ताहस्तिकया कुटो गृहीतः ॥]

गाँव में आग लगने पर जो कि उसने (मेरे) हाथों-हाथ घड़ा पकड़ा था, सब कुछ जल गया, तब भी हृदय में परम आनन्द (ठंढक) ही है।

विमर्श—नायिका का वचन किसी पुरुष में अनुराग प्रकटनार्थ दूती के प्रति। प्रायः गाँवों में आग बुझाने के निमित्त लोग एक दूसरे के हाथों-हाथ घड़े में पानी लेकर उड़ेलते हैं। नायिका को कोई विषाद नहीं कि सब कुछ जल गया, वह नायक को हाथों-हाथ घड़ा देता रहा और उसके अङ्ग का स्पर्श अनुभव किया, इस आनन्द के आगे वह बिल्कुल विभोर है। लोग अभिलषित कार्य की सिद्धि हो जाने पर बड़ी-बड़ी हानियों की परवा नहीं करते। यहाँ सर० कं० के अनुसार व्यभिचारी भाव 'हर्ष' है। यहाँ सुविधा के अनुसार 'कुड' को 'घट' या घड़ा समझा गया है, वस्तुतः यह 'कुण्डा' है जो घड़े के समान, किन्तु उससे बड़ा आकार का होता है, जिसकी संस्कृत छाया सं० कं० में स्पष्ट ही 'कुण्ड' की गई है, जो अनुकूल और उपयुक्त प्रतीत है ॥ २९ ॥

जाएज्ज वणुद्देसे कुज्जो वि हु णीसाहो झडिअपत्तो ।
मा माणुसम्मि लाए ताई रसिओ दरिद्दो अ ॥ ३० ॥

[जायतां वनोद्देशे कुब्जोऽपि खलु निःशाखः शिथिलपत्रः ।
मा मानुषे लोके त्यागी रसिको दरिद्रश्च ॥]

जंगली देश में शाखाहीन, झड़े पत्तों वाला कुबड़ा (वृक्ष) भी बनकर पैदा हो (वह अच्छा है मगर) मनुष्य लोक में त्यागी, रसिक एवं दरिद्र बन कर मत पैदा हो।

विमर्श—अन्यापदेश से नायिका द्वारा अपनी असमर्थता का प्रकटन नायक के समीप से आई दूति के प्रति। अर्थात् तू जो उसके पास से मिलन का सन्देश लेकर आई है वह तो ठीक है पर मेरा ऐसा कहाँ नसीब। त्यागी और रसिक बन कर दरिद्र होकर जीवित रहना महान् कष्ट की बात है। दरिद्रता के कारण मुझे काम-काज ही इतने करने पड़ते हैं कि कोई घड़ी फुर्सत नहीं रहती अथवा सब कुछ होते हुए भी अवसर की दरिद्र हूँ। निश्चय ही इस गाथा पर भास और महाकवि शूद्रक के वर्णित चारुदत्त के जीवन का प्रभाव है,

सम्भवतः यदि कोई अन्य अवतरण न दिया जाय तो स्पष्ट ही उसी ओर इसमें इशारा है। अलङ्काररत्नाकर के अनुसार 'विध्याभास' का उदाहरण है 'अनिष्ट-विधानं विध्याभासः' ॥ ३० ॥

तस्स अ सोहग्गगुणं अमहिलसरिसं च साहसं मज्झ।
जाणइ गोलाऊरो वासारत्तोद्धरत्तो अ ॥ ३१ ॥

[तस्य च सौभाग्यगुणममहिलासदृशं च साहसं मम।
जानाति गोदापूरो वर्षारात्रार्धरात्रश्च ॥]

उसके सौभाग्यगुण को और स्त्री के अननुरूप मेरे साहस को गोदावरी का प्रवाह और बरसाती रात की आधी रात जानती है।

विमर्श—नायिका द्वारा नायक के प्रति अपने गाढ़ अनुराग की सूचना अपनी सखी से। स्त्रियाँ स्वभावतः डरपोक होती हैं, उनमें साहस के काम करने की हिम्मत नहीं होती। और मैं हूँ कि प्रिय से बरसाती नदी पार करके वह भी आधी रात को मिल आती हूँ। साहस के बिना कोई अपूर्व फल की प्राप्ति सम्भव नहीं, अपेक्षित कार्य के लिए शरीर की परवा न करके लग जाना चाहिए। यह गाथा परस्पर गाढानुरक्त प्रेमी-प्रेमिकाओं के जीवन में प्राचीन काल से घटित होने वाली आश्चर्यजनक लौकिक घटनाओं की ओर इशारा करती है। प्रियतम से मिलने के लिए प्रेमी इस प्रकार के साहसपूर्ण कार्य बातों-बातों में कर गुजरते हैं जो कहानी बनकर हमेशा-हमेशा के लिए स्मरणीय हो जाते हैं। वेबर तथा श्री जोगलेकर ने इस प्रकार की प्रचलित कथाओं को उदाहरण के रूप में उल्लेख किया है ॥ ३१ ॥

ते वोलिआ वअस्सा ताण कुडङ्गाण थाणुआ सेसा।
अह्मे वि गअवआओ मूलुच्छेअं गअं पेम्मं ॥ ३२ ॥

[ते व्यतिक्रान्ता वयस्यास्तेषां कुञ्जानां स्थाणवः शेषाः।
वयमपि गतवयस्का मूलोच्छेद्यं गतं प्रेम ॥]

वे साथी रहे नहीं, उन कुञ्जों के ठूँठ बच रहे हैं, हमारी भी उमर जाती रही; प्रेम की जड़ कट गई।

विमर्श—कुलटा का खेदपूर्ण वचन किसी के यह पूछने पर कि प्रेम का प्रसङ्ग क्यों छोड़ दिया? प्रेम और यौवन के वलवले काल की गति के साथ नहीं चलते, यद्यपि कि उनकी महक हर काल में, हर क्षण में कामयाब रहती है। प्रस्तुत गाथा की नायिका का इस प्रकार अपने प्रेम का मूलोच्छेद होने की बात अपने पर अतिशय नैराश्यकातरी होना सूचित करती है। 'उन कुञ्जों के ठूँठ बच रहे हैं' यह चर्चा हृदय में कुछ अजीब माहौल पैदा करती है। गालिब का

यह एक शेर यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा : मारा जमाने ने असर अल्लाह रवां तुम्हें। वो वलवले कहाँ, वो जवानी किधर गई ॥ ३२ ॥

थणजहणणिअम्बोवीर णहरङ्का गअवआणँ वणिआणं।
उव्वसिआणङ्गणिवासमूलवन्ध व्व दीसन्ति ॥ ३३ ॥

[स्तनजघननितम्बोपरि नखराङ्का गतवयसां वनितानाम्।
उद्वसितानङ्गनिवासमूलबन्धा इव दृश्यन्ते ॥]

ढली उम्र वाली स्त्रियों के स्तन, जघन और नितम्ब पर के नखचिह्न कामदेव के उजड़े हुए घर की नींव के पाये जैसे दिखाई देते हैं।

विमर्श—किसी परिहासशील व्यक्ति का वचन उम्र ढल जाने पर भी यौवन के मजे लेने वाली किसी असती के प्रति। जिस प्रकार कोई घर रहने वाले से खाली हो जाने के बाद कुछ काल में खंडहर हो जाता है और जहाँ-तहाँ उसकी दीवालों के पाये मात्र बच रहते हैं प्रस्तुत में वही स्थिति गतवयस्का के अङ्गों के नखक्षतों की हो गई है, कि कामदेव के घर के मूलबन्ध के रूप में प्रतीत होते हैं ॥ ३३ ॥

जस्स जहं विअ पढमं तिस्सा अङ्गम्मि णिवडिआ दिट्ठी।
तस्स ताहिं चेअ ठिआ सव्वङ्गं केण वि ण दिट्ठं ॥ ३४ ॥

[यस्य यत्रैव प्रथमं तस्या अङ्गे निपतिता दृष्टिः।
तस्य तत्रैव स्थिता सर्वाङ्गं केनापि न दृष्टम् ॥]

उसके अङ्ग में जहाँ पर ही जिसकी दृष्टि पड़ी उसकी वहीं पर ठहर गई, सर्वाङ्ग को किसी ने नहीं देखा।

विमर्श—नायिका को देख कर लौटे हुए मित्रों का वचन 'कैसी है' यह प्रश्न करने वाले नायक के प्रति। जिसने उसके जिस अंग को देखा वही देखता रह गया और अन्ततः उसे तृप्ति ही नहीं हुई कि अन्य अंग भी देखे, फलतः किसी ने नायिका के सर्वाङ्ग को नहीं देखा। तात्पर्य यह कि वह अनुपम लावण्यवती है ॥ ३४ ॥

विरहे विसं व विसमा अमअमआ होइ संगमे अहिअं।
किं विहिणा समअं विअ दोहिं वि पिआ विणिम्मिअआ ॥ ३५ ॥

[विरहे विषमिव विषमामृतमया भवति संगमेऽधिकम्।
किं विधिना सममेव द्वाभ्यामपि प्रिया विनिर्मिता ॥]

वियोग में विष की भांति दारुण हो जाती है और सङ्गम में विशेष अमृतमय हो जाती है, क्या विधाता ने प्रिया को बराबर मात्रा में ही दोनों (विष और अमृत) से ही रचा है ?

विमर्श—प्रवास से लौटने पर प्रियतमा के सङ्गम से सन्तुष्ट नायक का अन्तःप्रश्न ॥ ३५ ॥

अद्दंसणेण पुत्तअ सुट्ठुवि णेहाणुबन्धघडिआइं ।
हत्थउडपाणिआइँ व कालेण गलन्ति पेम्माइं ॥ ३६ ॥

[अदर्शनेन पुत्रक सुष्ठ्वपि स्नेहानुबन्धघटितानि ।
हस्तपुटपानीयानीव कालेन गलन्ति प्रेमाणि ॥]

बेटा, भलीभाँति स्नेह से दृढ़ किए जाने पर भी प्रेम दर्शन के अभाव में कालवश चुल्लू के पानी की भाँति चू पड़ते हैं ।

विमर्श—वेश्यामाता का वचन भुजङ्ग के प्रति । भुजङ्ग बहुत दिनों के बाद लौटा है, इस बीच वेश्या किसी दूसरे भुजङ्ग से फँस चुकी है, ऐसी स्थिति में वेश्यामाता का यह प्रस्तुत वक्तव्य है । श्री मथुरानाथ शास्त्री के अनुसार किसी वृद्धा का वचन परदेश जाते हुए नायक के प्रति यह है कि वह शीघ्र लौटने का प्रयत्न करेगा इस डर से कि उसकी प्रिया का प्रणय कहीं बहुत दिन के अदर्शन से शिथिल न हो जाय ॥ ३६ ॥

पइपुरओ च्चिअ णिज्जइ विच्छुअदट्ठेत्ति जारवेज्जहरं ।
णिउणसहीकरधारिअ भुअजुअलन्दोलिणी बाला ॥ ३७ ॥

[पतिपुरत एव नीयते वृश्चिकदष्टेति जारवैद्यगृहम् ।
निपुणसखीकरधृता भुजयुगलान्दोलनशीला बाला ॥]

चालाक सखी हाथों से सम्हाल कर हाथ झकझोरती हुई बाला को 'विच्छू ने मार दिया है' (इस बहाने) पति के सामने से ही यार वैद्य के पास ले जाती है ।

विमर्श—दूती का वचन बाधाओं के कारण प्रिया के मिलन में संशयालु युवक के प्रति । दूती का तात्पर्य है कि बाधाएँ कुछ नहीं कर सकतीं, कोई न कोई रास्ता निकल ही जाता है, जैसा कि प्रस्तुत बाला को चालाक सखी बिच्छू मारने का बहाना करके और किसी दूसरे के नहीं, बल्कि पति के सामने से निकाल ले गई । और जब बाला इतना तक कर सकती है तो स्वभावतः प्रगल्भा के लिए ऐसे बहाने कोई अशक्य नहीं । तुम इसके लिए चिंतित न हो । इस प्रकार नायिकाओं के चातुर्य की घटनाएँ साहित्यिक ग्रन्थों में अनेकशः उल्लिखित मिलती हैं ॥ ३७ ॥

विक्किणइ माहमासम्मि पामरो पाइडिं वइल्लेण ।
णिद्धूमम्मुरच्चिअ सामलीअ थणो पडिच्छन्तो ॥ ३८ ॥

समरथ का स्वेच्छाचार, प्रिया का मान, समरथ की क्षमा, जानकार की बात और नहीं जानने वाले का मौन शोभा देता है।

विमर्श—सुभाषित। सखी का वचन मान करने वाली प्रिय को अनचाही सखी के प्रति। वह तुझे नहीं चाहता, फिर तेरा मान व्यर्थ है। यह अलङ्कार-कौस्तुभ में 'दीपक' अलङ्कार का उदाहरण है—'प्रकृताप्रकृतानां यद्येकान्वयिताऽस्ति दीपकं तत् स्यात्' ॥ ४३ ॥

वेविरसिण्णकरङ्गुलिपरिग्गहक्खलिअलेहणीमग्गे।
सोत्थि व्विअ ण समप्पइ पिअसहि लेहम्मि किं लिहिमो ॥ ४४ ॥

[वेपनशीलस्विन्नकराङ्गुलि परिग्रहस्खलितलेखनीमार्गे।
स्वस्त्येव न समाप्यते प्रियसखि लेखे किं लिखामः ॥]

हे प्यारी सखी, थरथराते, पसीजे हुए, हाथ की उंगलियों से पकड़ने में खिसकी जाती हुई लेखनी के मार्ग में 'स्वस्ति' समाप्त नहीं हो पाता तो पांती में क्या लिखें ?

विमर्श—सखी के इस प्रश्न पर, कि पांती क्यों नहीं लिखती, प्रोषित-भर्तृका नायिका का उत्तर। उसकी याद आते ही शरीर में कुछ थरथराहट और स्वेद का ऐसा संचार हो जाता है कि आरम्भ के दो अक्षर लेखनी से लिखना कठिन है फिर पांती लिखना तो दूर की बात है। स० कं० में यह गाथा विप्रलम्भ में लेख लिख कर प्रेम की परीक्षा के प्रसङ्ग में उदाहृत है ॥ ४४ ॥

देव्वम्मि पराहुत्ते पत्तिअ घडिअं पि विहडइ णराणं।
कज्जं वालुअवरणं व्व कहँ बन्धं विअ ण एइ ॥ ४५ ॥

[दैवे पराङ्मुखे प्रतीहि घटितमपि विघटते नराणाम्।
कार्यं वालुकावरण इव कथमपि बन्धमेव न ददाति ॥]

विश्वास करो, दैव के प्रतिकूल हो जाने पर आदमी का बना भी बिगड़ जाता है, बालू की भीत की तरह कार्य किसी प्रकार बंध नहीं पाता।

विमर्श—कार्य सम्पन्न न होने पर अपने दोष के निवारणार्थ दूती का वचन नायिका के प्रति ॥ ४५ ॥

मामि हिअअं व पीअं तेण जुआणेण मज्जमाणाए।
ण्हाणहलिद्दाकडुअं अणुसोत्तजलं पिअन्तेण ॥ ४६ ॥

[मातुलानि हृदयमिव पीतं तेन यूना मज्जन्त्याः।
स्नानहरिद्राकटुकमनुस्रोतो जलं पिबता ॥]

री मामी, नहाती हुई मेरे नहान की हरदी से कड़वे, प्रवाह से

पहुँचे पानी को पीते हुए उस जवान ने मेरे हृदय को ही जैसे पी लिया है।

विमर्श—नायिका का वचन मामी के प्रति। अब तो मेरा हृदय उस जवान के अधीन है, किसी प्रकार उसे पाने का उपाय कर ॥ ४६ ॥

जिविअं असासअं विअ ण णिवत्तइ जोव्वणं अतिक्कन्तं।
दिअहा दिअहेहिँ समा ण होन्ति कि णिठ्ठुरो लोओ ॥ ४७ ॥

[जीवितमशाश्वतमेव न निवर्तते यौवनमतिक्रान्तम्।
दिवसा दिवसैः समा न भवन्ति किं निष्ठुरो लोकः ॥]

जीवन अशाश्वत ही है, जीवन चले जाने पर नहीं लौटता, दिन एक समान नहीं होते, फिर लोग निष्ठुर क्यों हो जाते हैं?

विमर्श—सखी का वचन परस्पर झगड़े हुए पति-पत्नी के प्रति प्रणय-रोष के भङ्गार्थ। तात्पर्य यह कि ऐसे कीमती समय को व्यर्थ न गँवा, क्योंकि फिर यह हाथ आने का नहीं। निठुराई तो बिलकुल नासमझी है ॥ ४७ ॥

उप्पाइअदव्वाणँ वि खलाणँ को भाअणं खलो च्चेअ।
पक्काइँ वि णिम्बफलाइँ णवरँ काएहिँ खज्जन्ति ॥ ४८ ॥

[उत्पादित द्रव्याणामपि खलानां को भाजनं खल एव।
पक्कान्यपि निम्बफलानि केवलं काकैः खाद्यन्ते ॥]

धन पैदा किए हुए दुष्टों का दानपात्र कौन होता है? दुष्ट ही तो! नीम के पके हुए फलों को केवल कौवे खाते हैं।

विमर्श—नायिका का वचन इश्कबाजी में लुटे धन वाले प्रिय के प्रति। अर्थात् तुमने जैसी कमाई करके (मतलब कि कालाबाजारी करके) पैसा इकट्ठा किया उसी तरह वह चला भी गया। ऐसे धन का उपयोग वैसे ही लोग करते हैं। अलंकाररत्नाकर में यह 'सम' अलंकार का उदाहरण है ॥ ४८ ॥

अज्ज मए गन्तव्वं घणन्धआरे वि तस्स सुहअस्स।
अज्जा णिमीलिअच्छी पअपरिवाडिं घरे कुणइ ॥ ४९ ॥

[अद्य मया गन्तव्यं घनान्धकारेऽपि तस्यसुभगस्य।
आर्या निमीलिताक्षी पदपरिपाटिं गृहे करोति ॥]

उस सुभग के पास आज घने अन्धेरे में भी मुझे जाना है (यह सोचकर) कुलवन्ती आँखें मूंद कर घर में चहलकदमी कर रही है।

विमर्श—अपनी समझदारी जताने के उद्देश्य से नागरिक का वचन सुहृद के प्रति। कुछ के अनुसार नायिका के अनुराग के प्रकाशनार्थ दूती का वचन कामुक के प्रति। 'सुभग' यह इसलिए कि यह कुलवन्ती होकर भी

जिसके लिए अपनी मर्यादा तोड़ रही है तथा किसी प्रकार उसका सतीत्व कलंकित न हो वह पहले से कृष्णाभिसार के लिए अभ्यास कर लेती है। स. कण्ठा. के अनुसार यह उद्दीप्तकामा नायिका का प्रियतम के प्रति अनुराग का सूचक अभिसरचेष्टा का अनुभाव है ॥ ४९ ॥

सुअणो ण कुप्पइ ठ्विअ अह कुप्पइ विप्पिअं ण चिन्तेइ ।
अह चिन्तेइ ण जम्पइ अह जम्पइ लज्जिओ होइ ॥ ५० ॥

[सुजनो न कुप्यत्येव अथ कुप्यति विप्रियं न चिन्तयति ।
अथ चिन्तयति न जल्पति लज्जितो भवति ॥]

अच्छा आदमी कोप करता ही नहीं, अगर कोप करता है तो बुरा नहीं सोचता, अगर सोचता है तो कहता नहीं, अगर कह देता है तो (अपने किए पर) लज्जित होता है।

विमर्श—किसी से बदला लेने के लिए प्रवृत्त मित्र के प्रति मित्र द्वारा सज्जन का चरित्रवर्णन। 'अलंकाररत्नाकर' में यह 'अतिशय अलंकार' का उदाहरण है 'सम्भावनयाऽन्यथा वाऽतिशयोऽतिशयः ॥ ५० ॥

सो अत्थो जो हत्थे तं मित्तं जं णिरन्तरं वसणे ।
तं रूअं जत्थ गुणा तं विण्णाणं जहिं धम्मो ॥ ५१ ॥

[सोऽर्थो यो हस्ते तन्मित्रं यन्निरन्तरं व्यसने ।
तद्रूपं यत्र गुणास्तद्विज्ञानं यत्र धर्मः ॥]

धन वह है जो हाथ में हो, मित्र वह है जो विपत्ति में हमेशा साथ दे, रूप वह है जहाँ गुण हों, विज्ञान वह है जहाँ धर्म हो।

विमर्श—वेश्यामाता का वचन भावी धन की प्रत्याशा से कामुक में अनुराग करने वाली अपनी पुत्री के प्रति, उसके निवारणार्थ। 'अलंकारकौस्तुभ' में परिसंख्या का उदाहरण—

'पृष्टमपृष्टं चोक्तं यद् व्यङ्ग्यं वाऽपि वाच्यं वा ।
फलतीतरव्यपोहं परिसंख्या सा तु संख्याता' ॥ ५१ ॥

चन्दमुहि चन्दधवला दीहा दीहच्छि तुह विओअम्मि ।
चउजामा सअजाम व्व जामिणी कहँ वि वोलीणा ॥ ५२ ॥

[चन्द्रमुखि चन्द्रधवला दीर्घा दीर्घाक्षि तव वियोगे ।
चतुर्यामा शतयामेव यामिनी कथमप्यतिक्रान्ता ॥]

हे चन्द्रमुखि, हे दीर्घाक्षि, तेरे वियोग में चन्द्रोज्ज्वल, चार यामों वाली लम्बी रात्रि सौ यामों वाली की तरह किसी प्रकार बीती।

विमर्श—प्रवास से आए नायक का वचन नायिका के इस प्रश्न पर कि रात कैसे बीती ? तात्पर्य यह कि चन्द्र को देखकर तेरे मुख का ध्यान हो जाता और लम्बी रात स्वभावतः तेरे दीर्घ नेत्रों की याद करा देती इस प्रकार चतुर्यामा रात्रि शतयामिनी हो जाती है। 'विरोध' अलङ्कार की यहाँ ध्वनि है ॥ ५२ ॥

अउलीणो दोमुहओ ता महुरो भोअणं मुहे जाव ।
मुरओ व्व खलो जिण्णम्मि भोअणे विरसमारसइ ॥ ५३ ॥
[अकुलीनो द्विमुखस्तावन्मधुरो भोजनं मुखे यावत् ।
मुरज इव खलो जीर्णे भोजने विरसमारसति ॥]

नीच कुल में जन्मा दोमुहाँ होता है, तब तक मधुर बना रहता है जब तक मुँह में भोजन होता है, दुष्ट आदमी मृदंग की भांति है, भोजन (पीठे का लेप) पुराना पड़ जाने पर (सूख जाने पर) बेसुरी आवाज देने लगता है।

विमर्श—सखी द्वारा 'दुर्जन की मैत्री चिरकाल तक स्थिर नहीं रहती' यह नायिका को शिक्षा। अथवा कोई सखी समझाती है कि इन दूतियों को पूरी मजदूरी देकर सन्तुष्ट रखना चाहिए, कमी करने पर ये बात उलट देती हैं। मृदंग भी दोमुँहा होता है और मुँह पर आँटा साटने पर मधुर आवाज करता है अन्यथा बेसुरा हो जाता है ॥ ५३ ॥

तह सोण्हाइ पुलइओ दरवलि अन्तद्धतारअं पहिओ ।
जह वारिओ वि घरसामिएण ओलिन्दए वसिओ ॥ ५४ ॥
[तथा स्नुषया प्रलोकितो दरवलितार्धतारकं पथिकः ।
यथा वारितोऽपि गृहस्वामिना अलिन्दके सुप्तः ॥]

वधू ने इस प्रकार थोड़ा घुमाकर कनखी से ताका कि घर के मालिक के मना करने पर भी पथिक ड्योढ़ी पर ही सोया।

विमर्श—'विदग्ध लोग देखने मात्र से भाव को व्यञ्जित कर देते हैं और ताड़ भी लेते हैं' यह नागरिक का वचन सहचर के प्रति। नायिका प्रोषित-भर्तृका है और तत्काल घर का मालिक इसका श्वशुर है जिसके मना करने पर भी नायिका के भाव से अवगत होकर पथिक संगम सुख की लालसा से ड्योढ़ी पर ही रात को सोया। 'हजरते 'दाग़' जहाँ बैठ गए बैठ गए !' ॥५४॥

लहुअन्ति लहुं पुरिसं पव्वअमेत्तं पि दो वि कज्जाइं ।
णिव्वरणमणिव्वूढे णिव्वूढे जं अ णिव्वरं ॥ ५५ ॥
[लघयतो लघु पुरुषं पर्वतमात्रमपि द्वे अपि कार्ये ।
निर्वरणमनिर्व्यूढे निर्व्यूढे यच्च निर्वरणम् ॥]

जो सम्पन्न न होने पर निवेदन है और जो सम्पन्न होने पर निवेदन है ये दोनों कार्य पर्वत के समान भी पुरुष को शीघ्र हल्का कर देते हैं।

विमर्श—नीतिगाथा। तात्पर्य यह कि कार्य न सम्पन्न होने के पूर्व इस लिए नहीं निवेदन करना चाहिए कि वह सम्पन्न नहीं हुआ है और सम्पन्न होने पर इस लिए नहीं कहने की आवश्यकता है कि वह कार्य फल रूप से अपने को स्वयं जाहिर कर देगा। 'ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम्' (नैषध) ॥ ५५ ॥

कं तुङ्गथणुक्खित्तेण पुत्ति दारट्ठिआ पलोएसि।
उण्णामिअकलसणिवेसि अग्घकमलेण व मुहेण ॥ ५६ ॥

[कं तुङ्गस्तनोत्क्षिप्तेन पुत्रि द्वारस्थिता प्रलोकयसि।
उन्नामितकलशनिवेशितार्घकमलेनेव मुखेन ॥]

बेटी, द्वार पर खड़ी उठाये गए कलश में रखे अर्घकमल की भाँति, ऊँचे स्तनों पर रखे हुए मुखड़े से किसे निहार रही है ?

विमर्श—कुट्टनी का वचन कुलीन नायिका के प्रति। कुट्टनी ने यह देखते ही 'मार्क' कर लिया कि नायिका द्वार पर खड़ी होकर जो तुङ्गस्तनोत्क्षिप्त मुख से किसी की बाट जोह रही है हो न हो इसके पीछे कुछ रहस्य है। इस प्रकार दर्शन की व्यग्रता के अपहरणार्थ उन्नमित अवस्था में मुख झुका कर खड़ी होना उसके प्रच्छन्न व्यापार को सूचित करता है। दूसरे यह कि कामशास्त्र के अनुसार द्वार पर खड़ी रहने वाली स्त्री कामुक के लिय सहजसाध्य होती है, अतः नायिका के शील के खण्डित होने का अनुमान अस्वाभाविक नहीं। कुट्टनी का तात्पर्य है कि वह उसे पहिचान गई है, जहाँ तक होगा उसको सहायक होगी यह तात्पर्य 'बेटी' इस सम्बोधन से व्यञ्जित होता है ॥ ५६ ॥

वइविवरणिग्गअदलो एरण्डो साहइ व्व तरुणाणं।
एत्थ घरे हलिअवहू एद्दहमेत्तत्थणी वसइ ॥ ५७ ॥

[वृतिविवरनिर्गतदल एरण्डः साधयतीव तरुणेभ्यः।
अत्रगृहे हलिकवधूरेतावन्मात्रस्तनी वसति ॥]

बेरे के बिल से निकले पत्तों वाला रेंड़ मानों जवानों को यह सूचित करता है कि इस घर में इतने परिमाण के स्तनों वाली हलवाहे की स्त्री वास करती है।

विमर्श—'दुष्ट लोग रक्षार्थ रखे जाने पर भी रहस्य को प्रकाशित ही कर देते हैं' इस तात्पर्य से नागरिक का वचन सहचर के प्रति। अथवा दूती द्वारा

नागरिक को यह सूचना है कि इस घर में रहनेवाली सुस्तनी सुलभ है। हलवाहा उसके योग्य नहीं, क्योंकि वह दिन भर हल के पीछे पड़ा रहता है। यहाँ 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के अनुसार 'अभिनय' अलङ्कार है ॥ ५७ ॥

गअकलह कुम्भसंणिहघणपीणणिरन्तरेहिँ तुङ्गेहिं।
उस्ससिउं पि ण तीरइ किं उण गन्तुं हअथणेहिं ॥ ५८ ॥
[गजकलभकुम्भसंनिभघनपीननिरन्तराभ्यां तुङ्गाभ्याम्।
उच्छ्वसितुमपि न तीरयति किं पुनर्गन्तुं हतस्तनाभ्याम् ॥]

करिशावक के कुम्भ के समान घन, पीन एवं निरन्तर (एक दूसरे से सटे) और उठे-हुये स्तनों के कारण वह साँस भी नहीं ले पाती, चलने की बात तो दूर रहे !

विमर्श—कुट्टनी का वचन धनिक भुजङ्ग के प्रति। भुजङ्ग की इच्छा है, कि गणिका उसके समीप यथाशीघ्र पहुँचे। इस पर कुटनी ने कहा कि वह किसी प्रकार अपने स्तनों के कारण पहुँच नहीं सकती। कुट्टनी इस व्याजस्तुति के द्वारा यह ध्वनित करती है कि वह कोई ऐसी-वसी टकहिया नहीं, तुम अपना सौभाग्य जानो कि तुझे वह प्राप्त हो रही है। अतः उसके समीप तुम्हें ही चलकर अपने को कृतार्थ करना चाहिए॥ ५८ ॥

मासपसूअं छम्मासगब्भिणिं एक्कदिअहजरिअं च।
रङ्गुत्तिण्णं च पिअं पुत्तअ कामन्तओ होहि ॥ ५९ ॥
[मासप्रसूतां षण्मासगर्भिणीमेकदिवसज्वरितां च।
रङ्गोत्तीर्णां च प्रियां पुत्रक कामयमानो भव ॥]

एक महीना हुआ कि बच्चा पैदा कर चुकी है, छः महीने तक गर्भिणी रही एक दिन बुखार आया था, मजलिस से खाली हुई है, बेटा, माशूका का तू ख्वाहिशमन्द हो।

विमर्श—वेश्यामाता का वचन भुजङ्ग के प्रति। 'बेटा' सम्बोधन का तात्पर्य यह कि तुझे सारी बातें मालूम नहीं हैं। हमलोग जानबूझ कर इन्हें छिपाये रखती हैं, परन्तु तू मेरा अपना आदमी है, तुझसें दुराव क्या ? और फिर तेरी उमर ही क्या, जो सब बातें जान लेगा। इसलिए कहती हूँ यह वह समय है कि इसमें प्रत्येक स्त्री सुखसाध्य एवं अतिशय सुखदायिनी हो जाती है। इस स्थिति में यदि तू अपनी माशूका (प्रियतमा) का ख्वाहिशमन्द हो तो तेरा धन भाग ! इस प्रकार कुट्टनी ने कामशास्त्रीय ग्रन्थ 'अनङ्गरंग' में वर्णित सुखसाध्य स्त्री का लक्षण निर्दिष्ट किया है—

रङ्गाद् विश्रान्तदेहा चिरविरहवती मासमात्रप्रसूता,

गर्भालस्या च नव्यज्वरयुततनुका त्यक्तमानप्रसंगा ।
स्नाता पुष्पावसाने नवरतिसमये मेघकाले वसन्ते
प्रायः सम्पन्नरागा मृगशिशुनयना स्वल्पसाध्यारते स्यात् ४।३६ ॥ ५९ ॥

पडिवक्खमण्णुपुञ्जे लावण्णउडे अणङ्गगअकुम्भे ।
पुरिससअहिअअधरिए कीस थणन्ती थणे वहसि ॥ ६० ॥
[प्रतिपक्षमन्युपुञ्जौ लावण्यकुटावनङ्गगजकुम्भौ ।
पुरुषशतहृदयधृतौ किमिति स्तनन्ती स्तनौ वहसि ॥]

तेरे स्तन सौतों के क्रोध का पुञ्ज हैं, लावण्य के घर हैं, कामरूपी गज के कुम्भ हैं, सैकड़ों पुरुष जिन्हें मन में धारण करते हैं, फिर सगर्व होकर तू इन्हें क्यों धारण करती है ?

विमर्श—नागरिक द्वारा अपना अभिलाष प्रकाशन नायिका के प्रति । इस प्रकार के स्तन धारण करना और फिर गर्व करना तब तक व्यर्थ है जब तक कि हम सरीखे लोग इनका उपभोग नहीं करते । यहाँ श्री मथुरानाथ शास्त्री भी 'स्तनन्ती' (अर्थात् शब्दायमाना) इस छाया को न मानकर प्राकृत 'थुण्ण' अर्थात् दप्त से 'थुण्णन्ती' का 'स्तुनन्ती' अर्थात् सगर्वा माना है, इसी के अनुसार प्रस्तुत अनुवाद है ॥ ६० ॥

घरिणिघणत्थणपेल्लणसुहेल्लिपडिअस्स होन्तपहिअस्स ।
अवसउणङ्गारअवारविट्ठिदिअहा सुहावेन्ति ॥ ६१ ॥
[गृहिणी घनस्तनप्रेरणसुखकेलिपतितस्य भविष्यत्पथिकस्य ।
अपशकुनाङ्गारकवारविष्टिदिवसाः सुखयन्ति ॥]

घरवाली के घने स्तनों के मसलने की सुखक्रीड़ा के लिए पहुँचे और यात्रा करने वाले पथिक के अपशकुन मङ्गलवार और भद्रा वाले दिन मजे के होते हैं ।

विमर्श—'प्रतिकूल और अनुकूल सब के लिए एक समान नहीं होते' इस तथ्य का निदर्शन करते हुए किसी का वचन । शुक्लपक्ष की द्वितीया सप्तमी और द्वादशी के दिन विष्टि या भद्रा के दिन हैं और मंगलवार भी अपशकुन होने के कारण यात्रा के लिए निषिद्ध है । घर आया और शीघ्र ही यात्रा पर जाने वाला व्यक्ति इन दिनों में मजे लेता है जब कि ये ही दिन औरों के लिये बाधक हो जाते हैं ॥ ६१ ॥

सा तुह कएण बालअ अणिसं घरदारतोरणणिसण्णा ।
ओससई वन्दणमालिअ व्व दिअहं विअ वराई ॥ ६२ ॥

[सा तव कृतेन बालकानिशं गृहद्वारतोरणनिषण्णा ।
अवशुष्यति वन्दनमालिकेव दिवसमेव वराकी ॥]

बालक, वह तेरे लिए हमेशा घर के द्वार के तोरण से लगी वंदनवार की तरह दिन भर सूखती रहती है।

विमर्श—दूती का वचन नायिका के अतिशय अनुराग के प्रदर्शनार्थ नायक के प्रति। जिस प्रकार किसी विशिष्ट पुरुष के आगमन के अवसर पर घर के द्वार के तोरण पर वंदनवार लगाई जाती है और उसके न आने पर वहीं पड़ी सूख जाती है वही स्थिति नायक की प्रतीक्षा में बैठी नायिका की है। यह उपमा गाथाकार के उत्कृष्ट कवित्व की सूचक है ॥ ६२ ॥

हसिअं सहत्थतालं सुक्खवडं उवगएहिं पहिएहिं ।
पत्तअफलाणँ सरिसे उड्डीणे सूअविन्दम्मि ॥ ६३ ॥
[हसितं सहस्ततालं शुष्कवटमुपगतैः पथिकैः ।
पत्रफलानां सदृशे उड्डीने शुकवृन्दे ॥]

पत्ते और फलों के सदृश शुकसमूह के उड़ जाने पर सूखे बरगद के पेड़ के समीप पहुँचे पथिक ताली बजाते हुए हँस पड़े।

विमर्श—अन्यापदेश द्वारा किसी स्त्री का यह वचन कि सहज गुण से रहित लोगों द्वारा आहार्य गुणों का आधान चिरस्थायी नहीं होता, फलों के सदृश चञ्चुओं वाले और पत्तों के सदृश पंखों वाले शुक पक्षियों के उड़ते ही कृत्रिम शोभासम्पन्न बरगद का वृक्ष अपने वास्तविक रूप में आ गया। अथवा दूती का वचन अभिसरण के निवारण के उद्देश्य से कि तत्काल सङ्केत स्थान में लोग पहुँच गए हैं, नायिका के प्रति। अथवा नायिका का वचन कि कपट अनुराग करने वाले तुमने मुझे ठग लिया, नायक के प्रति। पथिकों के उस प्रकार हँस पड़ने का तात्पर्य यह है कि उनकी बेवकूफी और नासमझी अकस्मात् प्रकट हो गई। प्रायः लोक में ऐसा होता है कि जब बहुत लोगों में एक-दो आदमी कोई नासमझी का काम कर बैठते हैं तब उन्हें अफसोस और कुछ कष्ट भी होता है इस डर से कि सब लोग उन्हें अयोग्य समझ गए। और जब कोई भ्रान्ति समूह के सभी लोग कर बैठते हैं तब वह कौतुक या हँसी का प्रसंग हो जाता है, फिर वहाँ एक दूसरे से लज्जित होने का प्रश्न नहीं रहता। स० कण्ठा० के अनुसार यहाँ भ्रान्ति अलङ्कार है ॥ ६३ ॥

अज्ज म्हि हासिआ मामि तेण पाएसु तहपडन्तेण ।
तीए वि जलन्ति दीववत्तिमब्भुण्णअन्तीए ॥ ६४ ॥

[अद्यास्मि हासिता मातुलानि तेन पादयोस्तथा पतता ।
तयापि ज्वलन्तीं दीपवर्तिमभ्युत्तेजयन्त्या ॥]

इस प्रकार पैरों पर वह गिरा और उसने भी जलते हुए दीये की बत्ती को जोर से उकसा दिया, मामी (यह दृश्य देख कर) मुझे खूब हँसी आई ।

विमर्श—नायिका की सखी का वचन मातुलानी के प्रति । दिन भर तक सखी ने तथा मामी ने नायिका को मान छोड़ देने के उपदेश दिये, पर वह टस से मस न हुई । अन्त में नायिका ने सम्भवतः यह कह दिया हो देख लेना आज की रात उसकी विजय होती है या मेरी, न पैरों पर गिरवाया तो नाम नहीं । सखी यह दृश्य रात्रि को द्वाररन्ध्र से देखती रही और स्थिति यही हुई । उत्कण्ठापरवश नायक ज्यों ही नायिका के पैरों पर गिरा उसने त्योंही दीपवर्ति को प्रज्वलित कर दिया और सखी को उसकी इस विजय पर खूब हँसी आई । यह वृत्तान्त उसने मामी को सुनाया । हम यह कह चुके हैं कि मामी के साथ मजाक की बात-चीत एक परम्परा से चली आ रही है, भोजपुरी के इलाकों में इसका प्रचलन अब भी है ॥ ६४ ॥

अणुवत्तणं कुणन्तो वेसे वि जणे अहिण्णमुहराओ ।
अप्पवसो वि हु सुअणो परव्वसो आहिआईए ॥ ६५ ॥

[अनुवर्तनं कुर्वन्द्वेष्येऽपि जनेऽभिन्नमुखरागः ।
आत्मवशोऽपि खलु सुजनः परवशः कुलीनतायाः ॥]

सुजन अपने अधीन होकर भी आभिजात्य (कुलीनता) के अधीन होता है, इसलिए द्वेष्य के प्रति उसके मुखराग में कोई अन्तर न आ जाय इसकी सावधानी बरतता है ।

विमर्श—सखी का वचन सपत्नी से अनुराग करने वाले प्रिय के व्यवहार से खिन्न नायिका के सान्त्वनार्थ । तात्पर्य यह कि तुझे ऐसा ही व्यवहार उससे रखना चाहिए, जिससे प्रिय को यह विदित न हो कि तू खिन्न है, तेरी छाती पर साँप लोट रहा है । क्योंकि यह सौजन्य के अनुरूप मार्ग नहीं । 'विरोध' अलंकार ॥ ६५ ॥

अणुदिअहवड्ढिआअरविण्णाणगुणेहिँ जणिअमाहप्पो ।
पुत्तअ अहिआअजणो विरज्जमाणो वि दुल्लक्खो ॥ ६६ ॥

[अनुदिवसवर्धितादरविज्ञानगुणैर्जनितमाहात्म्यः ।
पुत्रकाभिजातजनो विरज्यमानोऽपि दुर्लक्ष्यः ॥]

बेटा, प्रतिदिन आदर और जानकारी के गुणों से जिसका महत्त्व बढ़ जाता है, ऐसा कुलीन आदमी विरक्त होता हुआ कठिनाई से समझ में आता है ।

विमर्श—वृद्धा स्त्री का वचन अविदग्ध नायक के प्रति। तात्पर्य यह कि तूने नहीं समझा कि वह तुझसे अपरक्त होती जा रही है, वह कोई ऐसी-वैसी तो है नहीं जो तुझसे अपनी विरक्ति कहती, बल्कि कुलीन है और सदा आदर और ज्ञान रखती है। और तू है कि यह समझता जा रहा है कि उसे कुछ मालूम ही नहीं और एक से दूसरी की ओर बढ़ता जा रहा है। ऐसी प्रवृत्ति रोक दे, अन्यथा परिणाम बुरा होगा ॥ ६६ ॥

विण्णाणगुणमहग्घे पुरिसे वेसत्तणं पि रमणिज्जं।
जणणिन्दिए उण जणे पिअत्तणेणावि लज्जामो ॥ ६७ ॥

[विज्ञानगुणमहार्घे पुरुषे द्वेष्यत्वमपि रमणीयम्।
जननिन्दिते पुनर्जने प्रियत्वेनापि लज्जामहे ॥]

ज्ञानवान् गुणी और पूज्य पुरुष से द्वेष रखना भी अच्छा है, परन्तु लोक-निन्दा के भाजन पुरुष के प्रति स्नेह से भी शर्म होती है।

विमर्श—अपने पति से विरक्त नायिका द्वारा विदग्ध अन्य पुरुष के प्रति अपने अभिलाष की सूचना ॥ ६७ ॥

कहँ णाम तीअ तह सो सहावगुरुओ वि थणहरो पडिओ।
अहवा महिलाणँ चिरं को वि ण हिअअम्मि संठाइ ॥ ६८ ॥

[कथं नाम तस्यास्तथा स स्वभावगुरुकोऽपि स्तनभरः पतितः।
अथवा महिलानां चिरं कोऽपि न हृदये संतिष्ठते ॥]

स्वभाव से ही गौरवपूर्ण वैसा उसका स्तनभार आखिर कैसे गिर गया? अथवा महिलाओं के हृदय में कोई भी चिरकाल तक नहीं ठहरता।

विमर्श—नागरिक का वचन मित्र के प्रति। तात्पर्य यह कि गौरवशाली भी व्यक्ति जब स्त्रियों के हृदय में चिरकाल तक नहीं ठहरता तो साधारण लोग की चर्चा ही क्या? ॥ ६८ ॥

सुअणु वअणं छिवन्तं सूरं मा साउलीअ वारेहि।
एअस्स पङ्कअस्स अ जाणउ कअरं सुहप्फंसं ॥ ६९ ॥

[सुतनु वदनं स्पृशन्तं सूर्यं मा वस्त्राञ्चलेन वारय।
एतस्य पङ्कजस्य च जानातु कतरत्सुखस्पर्शम् ॥]

हे सुतनु, मुख का स्पर्श करते हुए सूर्य को पल्ले से मत वारण कर, इसे मालूम हो कि इसमें और कमल में कौन अधिक स्पर्श में सुख-कर है?।

विमर्श—नायक की चाटूक्ति नायिका के प्रति। गाथा में प्रयुक्त 'साउली'

शब्द 'आंचल' के अर्थ में 'देशी' है, जिसकी संस्कृत छाया तदनुरूप 'साकुली' को न देकर 'वस्त्राञ्चल' दी गई है। टीकाकार कुलबालदेव के अनुसार साकुली 'पल्लविका' के अर्थ में है, अर्थात् 'पल्लव की छतरी बना कर मत वारण कर'। यहां चाहे पल्लविका या पल्लव का अर्थ वृक्ष का पत्ता ही हो तथापि मुझे आंचल के पर्याय शब्द के रूप में प्रचलित 'पल्ला' शब्द प्रस्तुत अर्थ के अधिक सन्निकट प्रतीत होता है ॥ ६९ ॥

माणोसहं व पिज्जइ पिआइ माणंसिणीअ दइअस्स ।
करसंपुडवलिउद्धाणणाइ मइराइ गण्डूसो ॥ ७० ॥
[मानौषधमिव पीयते प्रियया मनस्विन्या दयितस्य ।
करसंपुटवलितोर्ध्वाननया मदिराया गण्डूषः ॥]

मानिनी प्रिया प्रिय के हाथ से ऊपर मुख के उठा दिये जाने पर मदिरा की घूंट को मान की दवा की भांति पान करती है।

विमर्श—नागरिक का वचन मित्र के प्रति। मान करने वाली स्त्री जब किसी प्रकार न माने, तब किसी प्रकार उसके गले के भीतर मदिरा की घूंट उतार देनी चाहिए। जिस प्रकार प्रायः औषध पिलाने वाला व्यक्ति रोगी के साथ कुछ जबरदस्ती करता है, उसी प्रकार कुछ बल करके उसे पिला देने पर, उसके मान की वह दवा का काम कर जाती है, और अवश्य ही उसका मान शिथिल हो जाता है, यह सिद्धयोग है ॥ ७० ॥

कहँ सा णिव्वण्णिज्जइ जीअ जहा लोइअम्मि अङ्गम्मि ।
दिट्ठी दुव्वलगाई व्व पङ्कपडिआ ण उत्तरइ ॥ ७१ ॥
[कथं सा निर्वर्ण्यतां यस्या यथालोकितेऽङ्गे ।
दृष्टिदुर्बला गौरिव पङ्कपतिता नोत्तरति ॥]

कैसे उसे देखा जाय जिसके अङ्ग के दिख जाने पर दृष्टि पांक में फंसी दुर्बल गाय की भाँति नहीं ऊपर होती।

विमर्श—नायक के सम्मोहनार्थ दूती का वचन। फिर जब उसके पूरे अङ्ग देखे ही नहीं गए, तब उसका वर्णन कैसे हो, तात्पर्य यह कि ऐसी लावण्यवती को पाकर तू धन्य हो जायगा। इसकी समानार्थक गाथा ३।२४ द्रष्टव्य है ॥ ७१ ॥

कीरन्ती व्विअ णासइ उअए रेह व्व खलअणे मेत्ती ।
सा उण सुअणम्मि कआ अणहा पाहाणरेह व्व ॥ ७२ ॥

[क्रियमाणैव नश्यत्युदके रेखेव खलजने मैत्री ।
सा पुनः सुजने कृता अनघा पाषाणरेखेव ॥]

पानी में लकीर की भाँति खल [जन में मित्रता करते ही मिट जाती है, यदि वह सुजन में की जाय तो पत्थर की लकीर की भांति न मिटने वाली होती है।

विमर्श—सुभाषित। 'अलंकार रत्नाकर' में यह उपमा का उदाहरण है। 'उपमानोपमेयस्य सादृश्यमुपमा' ॥ ७२ ॥

अव्वो दुक्करआरअ पुणो वि तन्ति करेसि गमणस्स।
अज्ज वि ण होन्ति सरला वेणीअ तरङ्गिणो चिउरा ॥ ७३ ॥

[अव्वो दुष्करकारक पुनरपि चिन्तां करोषि गमनस्य।
अद्यापि न भवन्ति सरला वेण्यास्तरङ्गिणाश्चिकुराः ॥]

जूरे के उरझे बाल आज भी नहीं सुलझ पाये हैं, फिर भी जाने की चिन्ता करने लगे हो, ओह, तुम अटपट काम करने वाले हो !

नायिका का वचन, प्रवास से आकर पुनः प्रवास की चिन्ता करने वाले नायक के प्रति। परम्परा के अनुसार प्रिय के प्रवास पर जाने के बाद विरहिणी स्त्रियां केश का प्रसाधन बन्द कर देती थीं, फलतः केशपाश (जूरा) एक वेणी, जटा या लट के रूप में परिणत हो जाता था। प्रस्तुत नायिका अभी अपने उरझे (तरङ्गी) बालों को सुलझा ही नहीं पाई थी कि नायक पुनः गमन की चिन्ता करने लगा। गमन तो दूर रहे नायिका विरह में इस प्रकार उत्पीड़न अनुभव कर चुकी है कि उसे नायक द्वारा गमन की चिन्ता भी सह्य नहीं। गाथाकार ने प्रवास-काल में अनुभूत दुःखों को व्यञ्जित करने के लिए उरझे बालों को प्रस्तुत में आश्रयण करके गाथा में अपूर्वता ला दी है। इसी गाथा के अनुकरण पर बिहारी ने भी दोहा लिखा, परन्तु उन्होंने विरह के प्रभाव को नायिका के 'गात' का आश्रयण करके अभिहित दिया है। बिहारी इस प्रकार लिखते हैं—

'अजौं न आये सहज रँग, विरह दूबरे गात।
अब ही कहा चलाइयत, ललन चलन की बात ॥

श्री मथुरानाथ शास्त्री ने विस्तार से इन दोनों पर तुलनात्मक दृष्टिपात किया है। सरस्वतीकण्ठाभरण में यह कहकर प्रस्तुत गाथा को उदाहृत किया है कि नायिका के चित्त की जो वासना प्रवास के समय उत्पन्न अधिक उत्कण्ठाओं के कारण हो चुकी है, वह प्रवास समाप्त होने पर भी शान्त नहीं होती ॥ ७३ ॥

ण वि तह छेअरआइँ वि हरन्ति पुणरुत्तराअरसिआइं।
जह जत्थ व तत्थ व जह व तह व सब्भावणेहरमिआइं ॥ ७४ ॥

[नापि तथा छेकरतान्यपि हरन्ति पुनरुक्तरागरसिकानि ।
यथा यत्र वा तत्र वा यथा वा तथा वा सद्भावस्नेहरमितानि ॥]

विदग्ध जनों के रत बार-बार रागव्यापार के रस लेने के कारण उस प्रकार मजे नहीं देते जिस प्रकार कि जहाँ तहाँ जैसे तैसे सद्भाव और स्नेहपूर्वक रमित मजे देते हैं ।

विमर्श—धूर्ता नायिका का वचन अविदग्ध नायक के प्रति । नायक अपनी अनभिज्ञता के कारण लज्जित है, और नायिका के अभिमत मिलन के लिए तैयार नहीं । इस पर नायिका ने उसके लज्जाभाव को ही सद्भाव और स्नेहपूर्वक मिलन की प्रशंसा करते हुए हटाने का प्रयत्न किया । तात्पर्य यह कि विदग्ध जनों के मिलन कामशास्त्र के नियमों के अनुगत होने के कारण चर्वितचर्वण हो जाते हैं, उनमें फिर कोई रस या मजा नहीं रह जाता, परन्तु सद्भाव और स्नेह के मिलन अपूर्व मजे ला देते हैं क्योंकि वे जहाँ तहाँ और जैसे तैसे सम्पन्न किए जाते हैं, वहाँ किसी नियम और शास्त्र की पंक्ति का स्मरण मजे को किर-किरा नहीं बना पाता । धूर्ता का तात्पर्य यह है कि तुम सर्वथा मिलन के उप-युक्त हो । स० कण्ठाभरण में उपचार की अपेक्षा न किए विस्रम्भ मात्र से उत्पन्न प्रेम के प्रकार के प्रसङ्ग में यह गाथा उदाहृत है ॥ ७४ ॥

उव्वहसि पिआइ समअं तह वि हु रे भणसि कीस किसिअं त्ति ।
उवारभरेण अ अण्णुअ मुअइ बइल्लो वि अङ्गाइं ॥ ७५ ॥
[उद्वहसे प्रियया समं तथापि खलु रे भणसि किमिति कृशेति ।
उपरि भरेण च हे अज्ञ मुञ्चति बलीवर्दोऽप्यङ्गानि ॥]

प्रिया के साथ तुझे ढोती हूँ, फिर पूछते हो कि क्यों दुबली हूं ? नासमझ, बैल भी ऊपर के बोझ के कारण अङ्गों से ढीला पड़ जाता है ।

विमर्श—पूर्व प्रियतमा का वचन नई में आसक्त नायक के प्रति । तात्पर्य यह कि तेरा और उसका कभी वियोग नहीं है, अतः तेरे साथ उसे भी अपने हृदय में वहन करती हूँ । मैं तो किसी प्रकार तुझे छोड़ नहीं सकती, यही कारण है कि एक साथ दो-दो का बोझ वहन करती हूँ । इस स्थिति में भी तुझसे मैं अलग नहीं और तू है कि कारण जान कर भी नासमझ बनकर प्रश्न करता है कि मैं कृश कैसे हो गई हूँ । स० कण्ठाभरण के अनुसार वैसादृश्यवती 'सहोक्ति' है ॥ ७५ ॥

दिढमूलबन्धगण्ठि व्व मोइआ कहँ वि तेण मे बाहू ।
अह्मेहिँ वि तस्स उरे खुत्त व्व समुक्खआ थणआ ॥ ७६ ॥
[दृढमूलबन्धग्रन्थी इव मोचितौ कथमपि तेन मे बाहू ।
अस्माभिरपि तस्योरसि निखाताविव समुत्खातौ स्तनौ ॥]

उसने मेरी भुजाओं को कस कर बाँधी गई गाँठ की भाँति किसी प्रकार छुड़ाया, और मैंने भी उसकी छाती में गड़े हुए स्तनों को मानों उखाड़ कर निकाला।

विमर्श—नायिका का रहस्य वचन सखी के प्रति। सखी ने पूछा कि बहुत दिन पर प्रवास से लौटे नायक के साथ तुम्हारा प्रथम मिलन कैसा रहा? नायिका का तात्पर्य यह कि उसने कुछ इस आशंका में कि कहीं अब ऐसा वियोग न हो प्रेम-विह्वल होकर अपने बाहुपाश में नायक को जकड़ लिया और अपने आनन्द में अचेत हो गई। नायक ने बड़ी कोशिश से किसी प्रकार छुड़ाया तो उसके कस कर दबाने से उसके कठोर और उन्नत स्तन नायक की छाती में मानों गड़ गए थे। उसने जोर से उस प्रकार उन्हें उखाड़ा जैसे जमीन में गाड़ी गई निधि को लोग उखाड़ते हैं ॥ ७६ ॥

अणुणअपसाइआए तुज्झ वराहे चिरं गणन्तीए।
अपहुत्तोहअहत्थङ्गुरीअ तीए चिरं रुण्णं ॥ ७७ ॥

[अनुनयप्रसादितया तवापराधांश्चिरं गणयन्त्या।
अप्रभूतोभयहस्ताङ्गुल्या तया चिरं रुदितम् ॥]

मनावन करके खुश किया, तब तेरे अपराधों को देर तक गिनने लगी और दोनों हाथों की अङ्गुलियों के असमर्थ हो जाने से देर तक रोती रही।

विमर्श—सखी का वचन नायक के प्रति। तेरे अपराध कम नहीं, अब ऐसा नहीं करना। बहुत प्रयत्न के बाद उसे समझा पाई हूँ ॥ ७७ ॥

सेअच्छलेण पेच्छह तणुए अङ्गम्मि से अमाअन्तं।
लावण्णं ओसरइ व्व तिवलिसोवाणवत्तीए ॥ ७८ ॥

[स्वेदच्छलेन पश्यत तनुकेऽङ्गे तस्या अमात्।
लावण्यमपसरतीव त्रिवलीसोपानपंक्तिभिः ॥]

देखो, पसीने के बहाने इसके दुबले अङ्ग में न अंट पाता हुआ लावण्य त्रिवली की सीढ़ियों से निकल रहा है।

विमर्श—नृत्य के कारण पसीने से तर वेश्या को निर्देश करके कुट्टनी का वचन, कामुकों के प्रति अथवा नायिका के चौर्यरत के गोपनार्थ सखी का वचन, औरों के प्रति ॥ ७८ ॥

देव्वाअत्तम्मि फले किं कीरइ एत्तिअं पुणो भणिमो।
कङ्केल्लिपल्लवाणं ण पल्लवा होन्ति सारिच्छा ॥ ७९ ॥

[दैवायत्ते फले किं क्रियतामियत्पुनर्भणामः।
कङ्केल्लिपल्लवानां न पल्लवा भवन्ति सदृशाः ॥]

फल दैव के अधीन है तो किया क्या जाय ? फिर भी इतना कहते हैं कि पत्ते अशोक के पत्तों के समान नहीं होते !

विमर्श—गुणी किन्तु निर्धन नायक में अनुराग के व्यञ्जनार्थ दूती का वचन नायिका के प्रति। यहाँ 'फल' में श्लेष है। फल जैसे आम्र आदि वृक्षों के होते हैं, यदि वैसे कङ्केलि अर्थात् अशोक के नहीं होते, तो उसमें क्या ? वह दैव के अधीन है। किन्तु पल्लव में अशोक की बराबरी करने वाला भी कोई है ? नायक के प्रति तात्पर्य यह कि धन इसके पास नहीं तो न सही, पर बुद्धि, विद्या आदि तो हैं जो कोई सानी नहीं रखते ! विचार तो उस पर करना चाहिए जो अपने अधीन होता है, भाग्य के अधीन विषय पर विचार ही क्या ? अप्रस्तुत अशोक वृत्तान्त से प्रस्तुत नायक वृत्तान्त की प्रतीति होने के कारण 'ध्वन्यालोक' के अनुसार यहाँ 'अप्रस्तुत प्रशंसाध्वनि' है ॥ ७९ ॥

धुअइ व्व मअकलङ्कं कवोलपडिअस्स माणिणी उअह।
अणवरअवाहजलभरिअणअणकलसेहिँ चन्दस्स ॥ ८० ॥

[धावतीव मृगकलङ्कं कपोलपतितस्य मानिनी पश्यत।
अनवरतबाष्पजलभृतनयनकलशाभ्यां चन्द्रस्य ॥]

देखो, मानिनी अपने गालों पर पड़े चन्द्र के मृगकलङ्क को हमेशा आँसुओं से भरे नेत्रों के घड़ों से मानों धो रही है।

विमर्श—नायक का वचन मित्र के प्रति। नायिका 'कलहान्तरिता' होने के कारण प्रिय के साथ कलह के पश्चात् सन्तप्त होकर रुदन कर रही है। नायक ने मित्र को यह दृश्य दिखाते हुए इशारे की भाषा में अपना सौभाग्य जताते हुए कहा, कि इसके रोने का तात्पर्य है कि वह अपने कपोल पर प्रतिबिम्बित चन्द्र के कलंक धो रही है। उसके कपोल इतने मसृण एवं स्वच्छ हैं, कि चन्द्र साफ-साफ झलकता है और कहीं चन्द्र के कलंक के कारण उसके मुख में किसी को कलंक का भ्रम न हो इस कारण मानों वह आँखों के घड़ों से बाष्प जल को बहा-बहा कर धो रही है। वह इस प्रकार मेरे रुष्ट हो जाने के कारण सन्तप्त हो रही है ॥ ८० ॥

गन्धेण अप्पणो मालिआणँ णोमालिआ ण फुट्टिहइ।
अण्णो को वि हआसइ मंसलो परिमलुग्गारो ॥ ८१ ॥

[गन्धेनात्मनो मालिकानां नवमालिका न च्युता भविष्यति।
अन्यः कोऽपि हतशाया मांसलः परिमलोद्गारः ॥]

नवमालिका अपनी गन्ध से मालाओं से कम नहीं, अभागिन का भरपूर बास कुछ और है !

विमर्श—उपनायक का अन्यापदेश वचन, मित्र के यह समझाने पर कि नायिका अपने पति के घर जा रही है, तथापि वह अपने बहुवल्लभ पति का प्रणय न पाकर पुनः लौट आएगी, खिन्न मत हो। नवमालिका किसी से पट न होगी, बल्कि इसका भरपूर बास कुछ और है, इस कथन का तात्पर्य यह कि नायिका का सौन्दर्य अपूर्व है, वह अपनी सपत्नियों को अभिभूत करके अपने पति के प्रणय का भाजन हो जायगी। 'हताशा' या 'अभागिन' यह प्रयोग वक्ता की 'खीझ' को व्यञ्जित करता है ॥ ८१ ॥

फलसंपत्तीअ समोणआइँ तुङ्गाइँ फलविपत्तीए।
हिअआइ सुपुरिसाणं महातरूणं व सिहराइं ॥ ८२ ॥

[फलसंपत्त्या समवनतानि तुङ्गानि फलविपत्त्या।
हृदयानि सुपुरुषाणां महातरूणामिव शिखराणि ॥]

सत्पुरुषों के हृदय बड़े वृक्षों के अग्रभागों की भाँति फल के अधिकाने से झुक जाते हैं और फल के अभाव में ऊँचे उठ जाते हैं।

विमर्श—कुट्टनी का वचन, भुजङ्ग के प्रति आश्वासनार्थ। तात्पर्य यह कि तुम्हारे पास पैसा नहीं तो चिन्ता की क्या बात? तुम ऐरे-गैरे थोड़े हो। फिर हो जायगा, प्रयत्न करो। भर्तृहरि के इस नीतिवाक्य से तुलनीय—

'भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभावएवैष परोपकारिणाम् ॥

(नी० श० ६१) 'दीपक' अलङ्कार ॥ ८२ ॥

आसासेइ परिअणं परिवत्तन्तीअ पहिअजाआए।
णित्थाणुवत्तणे वलिअहत्थमुहलो वलअसद्दो ॥ ८३ ॥

[आश्वासयति परिजनं परिवर्तमानायाः पथिकजायायाः।
निःस्थामवर्तने वलितहस्तमुखरो वलयशब्दः ॥]

करवट बदलती हुई प्रवासी की पत्नी का वलय निःसह पार्श्व की ओर हाथ के चल पड़ते ही झनझना कर परिजनों को दिलासा देता है।

विमर्श—प्रोषितभर्तृका की सखी का संदेश वचन, नायक के समीप जाने वाले पथिक के प्रति। नायिका विरह दशा की उस स्थिति में पहुंच गई है कि उसके जीवन का अनुमान एक मात्र उसके यदा-कदा झनझना पड़ते वलय से ही उन्हें हो पाता है जो उसकी दिन रात तीमारदारी में लगे रहते हैं। तात्पर्य यह कि मरण की स्थिति तक उसके पहुँचने के पूर्व ही तुम्हें आ जाना चाहिए ॥ ८३ ॥

तुङ्गो च्चिअ होइ मणो मणंसिणो अन्तिमासु वि दसासु ।
अत्थमणम्मि वि रइणो किरणा उद्धं चिअ फुरन्ति ॥ ८४ ॥
[तुङ्गमेव भवति मनो मनस्विनोऽन्तिमास्वपि दशासु ।
अस्तमनेऽपि रवेःकिरणाऊर्ध्वमेव स्फुरन्ति ॥]

आखिरी हालत में भी मनस्वी लोगों का मन ऊँचा ही रहता है, अस्त होने के समय भी सूर्य की किरणें ऊपर की ओर ही रहती हैं ।

विमर्श—नायिका को दूती का आश्वासन । नायक के सम्बन्ध में शङ्काशील होना ठीक नहीं । वह मनस्वी आदमी है, हमेशा एक भाव से रहता है । ऐसा नहीं कि हाथ में कुछ न रहने पर किसी प्रकार का दुर्व्यवहार करेगा ॥ ८४ ॥

पोट्टं भरन्ति सउणा वि माउआ अप्पणो अणुव्विग्गा ।
विहलुद्धरणसहावा हुवन्ति जइ के वि सप्पुरिसा ॥ ८५ ॥
[उदरं बिभ्रति शकुना अपि हे मातर आत्मनोऽनुद्विग्नाः ।
विह्वलोद्धरणस्वभावा भवन्ति यदि केऽपि सत्पुरुषाः ॥]

मतवा, पंछी भी अपना पेट बिना परेशानी के भर लेते हैं, फिर यदि कोई भले लोग होते हैं वे स्वभाव से ही दुखियारों का उद्धार करते हैं ।

विमर्श—दूती द्वारा नायिका के प्रति नायक का गुणाख्यान । पेट भर लेना कोई बड़ी बात नहीं, वह तो पंछी भी कर लेते हैं । सच तो यह है कि आदमी दूसरों पर करुणा करे और जीवन निर्वाह करे । दूसरों को कष्ट देकर जीनेवाला आदमी आदमी नहीं होता । तात्पर्य यह कि नायक भला आदमी है, हर हालत में दूसरों का साथ देता है । तुम्हें उसके प्रति अनुरक्त होना चाहिए । गाथा में प्रयुक्त 'माउआ' यह सम्बोधन प्रस्तुत अर्थ के साथ बिलकुल स्वाभाविक नहीं लगता । दूसरे संस्कृत छाया 'बिभ्रति' को देना ठीक नहीं क्योंकि 'पेट भर लेते हैं' इस प्रस्तुत अर्थ में 'उदरं भरन्ति' यही प्रयोग स्वाभाविक लगता है ॥ ८५ ॥

ण विणा सब्भावेण घेप्पइ परमत्थजाणुओ लोओ ।
को जुण्णमज्जरं कञ्जिएण वेआरिउं तरइ ॥ ८६ ॥
[न विना सद्भावेन गृह्यते परमार्थज्ञो लोकः ।
को जीर्णमार्जारं काञ्जिकया प्रतारयितुं शक्नोति ॥]

असलियत को जाननेवाले लोग सच्चे भाव के बिना हाथ में नहीं आते, कौन बूढ़े बिलार को कांजी से फांस सकता है ? ।

विमर्श—विदग्ध नायिका का वचन, अप्रिय नायक को कृत्रिम भाव से अनुरञ्जनार्थ आग्रह करती हुई दूती के प्रति। बनावट से वहाँ काम नहीं चलता जहाँ असलियत जाहिर हो। नायिका का तात्पर्य है कि नायक अनेक नायिकाओं में अनुरक्त रह चुका है और कौन भाव कृत्रिम है और कौन अकृत्रिम, यह खूब पहचानता है। उसे ठगना सम्भव नहीं। 'शार्ङ्गधरसंहिता' के अनुसार 'कांजी' बनाने की प्रक्रिया इस प्रकार है—कुलथी अथवा चावलों में पानी डालकर सिझा दे, उसका मांड काढ़कर उसमें सोंठ, राई, जीरा, हींग, सेंधा नमक, हल्दी आदि मिलाकर पात्र का मुख मूंदकर तीन या चार दिन पड़ा रहने दे। 'कांजी' तैयार हो जाती है॥ ८६॥

रण्णाउ तणं रण्णाउ पाणिअं सव्वअं सअंगाहं।
तह वि मआणँ मईणँ अ आमरणन्ताइँ पेम्माइं॥ ८७॥

[अरण्यात्तृणमरण्यात्पानीयं सर्वतः स्वयंग्राहम्।
तथापि मृगाणां मृगीणां चामरणान्तानि प्रेमाणि॥]

जंगल से घास, जंगल से पानी सब कुछ अपने प्रयत्न से मिलता है, तथापि हिरन और हिरनियों का प्रेम मरणपर्यन्त होता है।

विमर्श—दूती का अन्यापदेश वचन, अपरितुष्ट नायिका के प्रति। नायिका के अपरितोष का कारण सम्भवतः नायक से अलंकार आदि अपेक्षित वस्तु की अप्राप्ति है। दूती का तात्पर्य है कि प्रेम लेन-देन (वणिग्व्यापार) पर आधारित नहीं, बल्कि इससे प्रेम सकारण हो जाता है और सकारण प्रेम कोई प्रेम नहीं। सच्चा प्रेम अकारण होता है। जंगल के हिरनी और हिरन एक दूसरे से क्या लेते और क्या देते हैं, कि उनका प्रेम मरण पर्यन्त एक भाव से बना रहता है 'अलङ्कार कौस्तुभ' में यह अप्रस्तुत प्रशंसा में उदाहृत है॥ ८७॥

तावमवणेइ ण तहा चन्दणपङ्को वि कामिमिहुणाणं।
जह दूसहे वि गिम्हे अण्णोण्णालिङ्गणसुहेल्ली॥ ८८॥

[तापमपनयति न तथा चन्दनपङ्कोऽपि कामिमिथुनानाम्।
यथा दूःसहेऽपि ग्रीष्मे अन्योन्यालिङ्गन सुखकेलिः॥]

कामुक स्त्री-पुरुषों के सन्ताप को चन्दन का पंक उतना नहीं दूर करता जितना कि दुःसह गर्मी में भी परस्पर आलिङ्गन की सुखक्रीड़ा शान्त कर देती है।

विमर्श—विरहिणी का वचन परिचारिका सखी के प्रति। नायिका का तात्पर्य यह कि चन्दन पंक भीतरी गर्मी (विरहजन्य ऊष्मा) को शान्त नहीं करता, किन्तु आलिंगन से बाहरी और भीतरी दोनों गर्मियां शान्त होती

हैं। स्वभावतः आलिङ्गन की रगड़ से गर्मी हो जाती है फिर उसे ताप का शामक कहना यह 'व्याघात' अलङ्कार है तथा चन्दन से अधिक शामकता आलिङ्गन में बताने से यहाँ 'व्यतिरेक' अलङ्कार है। इस प्रकार 'अलङ्कार रत्नाकर' के अनुसार यहाँ इन दोनों का 'संकर' है ॥ ८८ ॥

तुप्पाणणा किणो चिट्ठसि त्ति पडिपुच्छिआएँ वहुआए।
विउणावेट्ठिअजहणत्थलाइ लज्जोणअं हसिअं ॥ ८९ ॥

[घृतलिप्तानना किमिति तिष्ठसीति परिपृष्टया वध्वा।
द्विगुणावेष्टितजघनस्थलया लज्जावनतं हसितम् ॥]

'घी से मुँह पोतकर क्यों बैठी है ?' यह पूछने पर नवेली ने जघन को दुहरा ढँक लिया और लज्जा से झुकी हँसने लगी।

विमर्श—'लजीली कुलयुवतियाँ अपने भाव को इङ्गित द्वारा प्रकट कर देती हैं' यह वचन, नागरिक का मित्र के प्रति। प्राचीन आचार के अनुसार रजस्वला स्त्रियाँ मुँह में घी पोत लेती थीं। नायक के पूछने पर नायिका ने अपने जघन पर के वस्त्र को दुहराते हुए और जरा लज्जावनत भाव से हँसकर अपनी वर्तमान स्थिति प्रकट की ॥ ८९ ॥

हिअअ च्चेअ विलीणो ण साहिओ जाणिऊण घरसारं।
बान्धवदुव्वअणं विअ दोहलओ दुग्गअवहूए ॥ ९० ॥

[हृदय एव विलीनो न कथितो ज्ञात्वा गृहसारम्।
बान्धवदुर्वचनमिव दोहदो दुर्गतवध्वा ॥]

दरिद्र की पत्नी ने घर की पूँजी जानकर बन्धुजनों के दुर्वचन की भाँति दोहद को नहीं कहा और उसके हृदय में ही वह विलीन हो गया।

विमर्श—प्रौढ़ा का उपदेश वचन कमसिन कुलवधू के प्रति। कुलवधू का कर्तव्य है कि अपनी परिस्थितियों के अनुकूल आचरण करे। प्रस्तुत गाथा की दरिद्र कुलवधू अपने दोहद (गर्भवती होने के अवसर में उत्पन्न होनेवाली इच्छा) को अपनी जबान पर नहीं लाई और मन ही मन उसे दबाकर रख लिया, जैसे किसी की गाली की बात दबा ली जाती है। उसने देखा कि घर में है ही क्या, यदि वह गर्भवती होने की स्थिति मात्र को भी प्रकट कर देती है, तब भी उसके गरीब परिवार में एक उद्वेजक अशान्ति फैल जाती है, फिर वह अपना दोहद प्रकट करती है तो उन्हें और भी कष्ट होगा। इस आशंका से वह कुछ न बोली। तात्पर्य यह कि कुलनारियाँ स्वयं दुःख सह लेती हैं, पर अपनी ओर से घरवालों को कष्ट में नहीं डालतीं ॥ ९० ॥

धावइ विअलिअधम्मिल्लसिचअसंजमणवावडकरग्गा।

चन्दिलभअविवलाअन्तडिम्भपरिमग्गिणी घरिणी ॥ ९१ ॥
[धावति विगलितधम्मिल्लसिचयसंयमनव्यापृतकराग्रा ।
चन्दिलभयविपलायमानडिम्भपरिमार्गिणी गृहिणी ॥]

बालों पर से खिसके आंचल को सम्हालने में लगे हाथोंवाली घरनी नाई के डर से भागे फिरते बच्चे को ढूँढती हुई दौड़ रही है ।

विमर्श—नायिका के सम्बन्ध में सपत्नी का कुलस्त्री के अनुरूप आचरण न करने का आक्षेप । यह कहाँ का ढंग है कि लड़का भाग गया तो माथे पर का आंचल सरकाए कोई दौड़ पड़े, लोग देखेंगे और क्या कहेंगे ? यह बड़ी लापरवाह औरत है । ऐसा प्रायः स्वाभाविक रूप से देखा जाता है कि छोटे बच्चे नाई के डर से भागे फिरते हैं और पकड़ जाने पर रोते हुए बाल कटवाते हैं । यहाँ 'चन्दिल' शब्द नापित के अर्थ में देशी प्राकृत है, ऐसा समझना ठीक नहीं, बल्कि यह नापित का कोशसम्मत पर्यायवाची संस्कृत शब्द है । 'ध्वन्यालोक' में उद्धृत 'भाम असइओ ओरम०' (५।१७) इस गाथा के व्याख्यान में लोचनकार ने भी 'चन्दिल' शब्द को संस्कृत रूप में लिखा है ॥ ९१ ॥

जह जह उव्वहइ वहू णवजोव्वणमणहराइँ अङ्गाइं ।
तह तह से तणुआअइ मज्झो दइओ अ पडिवक्खो ॥ ९२ ॥
[यथा यथोद्वहते वधूर्नवयौवनमनोहराण्यङ्गानि ।
तथा तथा तस्यास्तनूयते मध्यो दयितश्च प्रतिपक्षः ॥]

नवेली जैसे-जैसे नई जवानी से लुभावने अङ्गों को धारण किए जा रही है, वैसे-वैसे उसके कटिभाग, प्रिय और दुश्मन दुबले पड़ते जा रहे हैं ।

विमर्श—दूती द्वारा नायिका की वयःसन्धि और सौभाग्य का वर्णन, कामुकजनों के मनोहरणार्थ । तात्पर्य यह कि नायिका में उसका प्रिय अत्यासक्त रहता है, इसी कारण वह भी; कटिभाग और दुश्मन (सपत्नियों) के साथ दुबला होता जा रहा है, उसे इधर खींचना खेल नहीं । 'स० कण्ठाभरण' के अनुसार यहाँ 'तुल्ययोगिता' अलङ्कार है ॥ ९२ ॥

जह जह जरापरिणओ होइ पई दुग्गओ विरूओ वि ।
कुलवालिआणँ तह तह अहिअअरं वल्लहो होइ ॥ ९३ ॥
[यथा यथा जरापरिणतो भवति पतिर्दुर्गतो विरूपोऽपि ।
कुलपालिकानां तथा तथाधिकतरं वल्लभो भवति ॥]

पति जैसे-जैसे बूढ़ा, दरिद्र और बदसूरत होता जाता है, कुलवन्तियों का वैसे-वैसे अधिकतर प्रिय होता जाता है ।

विमर्श—पतिपरायणा स्त्री का उपदेशवचन, बूढ़े पति से उदासीन नायिका के प्रति। तात्पर्य यह कि प्रेम एक प्रकार से धर्माचरण है, जो पातिव्रत्य को दृढ़ करता है। स्त्री के लिए पति ही सब कुछ है, वह चाहे जैसा भी हो ॥९३॥

एसो मामि जुवाणो वारंवारेण जं अडअणाओ।
गिम्हे गामेक्कवडोअअं व किच्छेण पावन्ति ॥ ९४ ॥
[एष मातुलानि युवा वारंवारेण यमसत्यः।
ग्रीष्मे ग्रामैकवटोदकमिव कृच्छ्रेण प्राप्नुवन्ति ॥]

मामी, यह वह जवान है, जिसे स्वैरिणियाँ गर्मी में गाँव के बरगद के पेड़ के पासवाले पानी की भाँति कठिनाई से बारी-बारी करके पाती हैं।

विमर्श—नायिका का वचन मातुलानी के प्रति। गर्मी के दिनों में गाँव में कुएँ का वह पानी जो किसी घनशीतलच्छाय वट वृक्ष के पास होता है, वह सभी को एक बार नहीं, बल्कि कठिनाई से बारी-बारी करके मिलता है; उसी प्रकार यह युवक भी स्वैरिणी स्त्रियों को बड़ी कठिनाई से और वह भी बारी-बारी करके प्राप्त होता है। तात्पर्य है कि परन्तु मैं तो इसे अनायास पा लेती हूँ। 'अडअणाओ' इस प्राकृत शब्द की संस्कृत छाया गङ्गाधर के अनुसार 'असत्यः' है और कुलबालदेव के अनुसार 'च ललनाः' है। कुलबालदेव की छाया कुछ मूल शब्द के समीप प्रतीत होती है वस्तुतः यह असती के अर्थ में देशी प्रयोग है ॥ ९४ ॥

गामवडस्स पिउच्छा आवण्डुमुहीणँ पण्डुरच्छाअं।
हिअएण समं असईणँ पडइ वाआहअं पत्तं ॥ ९५ ॥
[ग्रामवटस्य पितृष्वसः आपाण्डुमुखीनां पाण्डुरच्छायम्।
हृदयेन सममसतीनां पतति वाताहतं पत्रम् ॥]

मौसी, गाँव के बरगद का पीला पत्ता पीले पड़े मुखोंवाली कुचालियों के हृदय के साथ हवा के लगने से गिरता है।

कुलवन्ती का वचन पितृस्वसा के प्रति। बरगद का पत्ता नहीं गिरता है बल्कि सुरतलम्पट स्त्रियों का हृदय गिरता है। वे अपना संकेत स्थान भग्न होता हुआ देखकर निराश होती जा रही हैं। सम्भव है प्रस्तुत वक्त्री नायिका अपने परस्त्रीलोलुप प्रिय के लिए अनुकूल अवसर दुर्लभ होने के कारण सन्तुष्ट होकर कहती है। 'सहोक्ति अलङ्कार' ॥ ९५ ॥

पेच्छइ अलद्धलक्खं दीहं णीससइ सुण्णअं हसइ।
जह जम्पइ अफुडत्थं तह से हिअअट्ठिअं किं पि ॥ ९६ ॥

[पश्यत्यलब्धलक्ष्यं दीर्घं निःश्वसिति शून्यं हसति ।
यथा जल्पत्यस्फुटार्थं तथा तस्या हृदयस्थितं किमपि ॥]

जो कि बिना किसी ठिकाने के ताका करती है, लम्बी सांस भरा करती है, यूं ही हँसा करती है, बेमतलब बड़बड़ाती रहती है, तो (लगता है) उसके हृदय में कुछ है ।

विमर्श—नागरिक द्वारा अपनी इङ्गितज्ञता का प्रकाशन, मित्र के प्रति । नायिका का अलब्धलक्ष्य अर्थात् बिना किसी ठिकाने के ताकना उसके गम्भीर वैचित्र्य को, लम्बी सांस चिन्ता को, यूंही हंसना और बेमतलब बड़बड़ाना उन्माद को व्यञ्जित करते हैं । फलतः उसके मन में अब कुछ होने लगा है, वह कुछ चाहने लगी है । स० कण्ठाभरण के अनुसार प्रथमानुराग में नायिका की यह विप्रलम्भचेष्टा है ॥ ९६ ॥

गहवइ गओम्ह सरणं रक्खसु एअं त्ति अडआ भणिरी ।
सहसागअस्स तुरिअं पइणो व्विअ जारमप्पेइ ॥ ९७ ॥

[गृहपते गतोऽस्माकं शरणं रक्षैनमित्यसती भणित्वा ।
सहसागतस्य त्वरितं पत्युरेव जारमर्पयति ॥]

पति एकाएक घर में दाखिल हो गया तब कुचाली ने कहा 'गृहस्वामी, यह हमारी शरण में आया है, इसकी रक्षा करो' और अपने यार को पति के हवाले किया ।

विमर्श—कुचाली स्त्री की चालाकी के सम्बन्ध में नागरिक का वचन, सहचर के प्रति । उसका यार पहुँचा ही था कि पति कहीं से टपक पड़ा । स्थिति को बुद्धिमानी से सम्हालते हुए नायिका ने 'गृहस्वामी' यह सम्बोधन प्रयोग किया है, अर्थात् तुम घर के मालिक हो, यह कार्य तुम्हारा है, अतः तुमसे कहती हूँ । यह शरण में आ गया है, इसकी रक्षा करो, तात्पर्य यह कि शरणागतरक्षा धर्म है और तुम्हारी अनुपस्थिति में मैंने इसे सम्हाला, अब तुम्हें अर्पित करती हूँ । 'अलङ्काररत्नाकर' के अनुसार व्याजोक्ति का यह उदाहरण है : 'उद्भेदप्रच्छादनं व्याजोक्तिः' ॥ ९७ ॥

हिअअट्ठिअस्सदिज्जउ तणुआअन्ति ण पेच्छह पिउच्छा ।
हिअअट्ठिओम्ह कंतो भणिउं मोहं गआ कुमरी ॥ ९८ ॥

[हृदयेप्सितस्य दीयतां तनूभवन्तीं न पश्यथ पितृष्वसः ।
हृदयेप्सितोऽस्माकं कुतो भणित्वा मोहं गता कुमारी ॥]

मौसी, इसके चहेते को इसे दे डालो, तुम लोग देखती नहीं कि यह

दुबली होती जा रही है ? 'हमारा चहेता कहाँ है ?' यह कहकर क्वांरी बेहोश हो गई ।

विमर्श—कुमारी नायिका के प्रच्छन्न अनुराग को प्रकाशित करती हुई किसी विदग्धा का वचन, उसकी मौसी के प्रति । गाथा के उत्तरार्ध में नायिका अपने अनुराग वृत्तान्त के प्रकट होते ही मूर्च्छा में पड़ जाती है । छिपाने से न छिपनेवाली वस्तुओं में अनुराग भी माना जाता है । 'हिअअट्ठिअ' की छाया गङ्गाधर ने 'हृदयेप्सित' मानी है, जब कि अन्य ने इसे 'हृदयस्थित' समझा है ॥ ९८ ॥

खिणस्सउरे पइणो ठवेइ गिम्हावरण्हरमिअस्स ।
ओल्लं गलन्तकुसुमं ण्हाणसुअन्धं चिउरभारं ॥ ९९ ॥

[खिन्नस्योरसि पत्युः स्थापयति ग्रीष्मापराह्णरमितस्य ।
आर्द्रं गलत्कुसुमं स्नानसुगन्धं चिकुरभारम् ॥]

गर्मी की ऐन दुपहरी में रमण करने से खिन्न पति के वक्ष पर वह गीले, झड़ते फूलों वाले, स्नान करने से महमहाये बालों को रख देती है ।

विमर्श—नायिका के सुरतावसान के उपचार में चातुर्य का दूती द्वारा वर्णन, कामुक जनों के प्रलोभनार्थ । तात्पर्य यह कि इस प्रकार के अवसरों में खिन्नता के निराकरण के उपाय वह खूब जानती है, अतः वह सर्वथा स्पृहणीय है । सं० कण्ठाभरण के अनुसार यह नायिका वयस् और कौशल में पूरी प्रगल्भ हो चुकी है ॥ ९९ ॥

अह सरदन्तमण्डलकवोलपडिमागओ मअच्छीए ।
अन्तो सिन्दूरिअसङ्खवत्तकरणि वहइ चन्दो ॥ १०० ॥

[असौ सरसदन्तमण्डलकपोलप्रतिमागतो मृगाक्ष्याः ।
अन्तः सिन्दूरितशङ्खपात्रसादृश्यं वहति चन्द्रः ॥]

मृगाक्षी के भीने दन्तक्षत से युक्त गाल पर प्रतिबिम्बित चन्द्र बीच में पड़े सिन्दूर से युक्त शङ्खपात्र की भाँति लगता है ।

विमर्श—अंजोरिया रात में रसिक नायक द्वारा प्रियतमा के कपोल का वर्णन । नायिका के गाल पर परछाईं में आया चन्द्र शंख के पात्र की भाँति है और उसके गाल का दन्तक्षत सिन्दूर की भाँति । टीकाकारों का अनुमान है कि प्रस्तुत दन्तक्षत 'कामसूत्र' के अनुसार 'मणिमाला' नाम का होना चाहिए । ऊपर के दाँतों और नीचे के ओठ से बार-बार दबाने से 'प्रवालमणि' नामक दन्तक्षत होता है और इसी प्रकार को माला के रूप में सम्पादन करने पर

'मणिमाला' नामक दन्तक्षत होता है। यह दन्तक्षत कपोल देश में विशेष रूप से होता है। रसिक नायक ने छिटकती चाँदनी में निखरे नायिका के सौन्दर्य से चमत्कृत होकर इस चमत्कारी उपमा की सृष्टि की है। यहाँ प्राकृत गाथा में प्रयुक्त 'करणिं' की छाया 'सादृश्यं' सुविधानुसार सरलीकृत जान पड़ती है ॥ १०० ॥

रसिअजणहिअअदइए कइवच्छलपमुहसुकइणिम्मअए।
सत्तसअम्मि समत्तं तीअं गाहासअं एअं ॥ १०१ ॥
[रसिकजन हृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविनिर्मिते।
सप्तसतके समाप्तं तृतीयं गाथाशतकमेतत् ॥]

रसिक जनों के हृदय को प्रिय लगने वाले, कविवत्सल (हाल सातवाहन) के प्रमुख सुकवियों द्वारा निर्मित सप्तशतक में यह तृतीय गाथा शतक समाप्त हुआ ॥ १०१ ॥

चतुर्थं शतकम्

अह अम्ह आअदो अज्ज कुलहराओ त्ति छेञ्छई जारं ।
सहसागअस्स तुरिअं पइणो कण्ठं मिलावेइ ॥ १ ॥

[असावस्माकमागतोऽद्य कुलगृहादित्यसती जारम् ।
सहसागतस्य त्वरितं पत्युः कण्ठे लगयति ॥]

कुचाली स्त्री जल्दी से अपने यार को 'यह हमारे नैहर से आज आया है' (यह कह कर) अचानक पहुँचे हुए अपने पति के गले मिलवाती है ।

विमर्श—नागरिक का उपदेश वचन मित्र के प्रति, कि कुचाली औरतें अपने नासमझ पति को तुरत झुत्ता दे देती हैं । 'हमारे' इस बहुवचन का तात्पर्य है कि केवल मैं ही नहीं इन्हें जानती, बल्कि मेरे नैहर वाले सब इन्हें जानते हैं । जल्दी से पति के गले मिलवाने का तात्पर्य यह कि ये हमारे दूर के रिश्ते में भी नहीं बल्कि बहुत नजदीकी हैं । प्रायः नजदीक के सम्बन्धियों से गले मिल कर स्वागत करने की प्रथा है । 'अअणा' आदि की भाँति यहाँ 'छेञ्छई' (पाठान्तर चिंछइ, छिञ्छई) असती या कुचाली औरत के अर्थ में देशी है । वक्ता का तात्पर्य यह है कि ऐसियों के फेर में नहीं आना चाहिए ॥ १ ॥

पुसिआ अण्णाहरणेन्दणीलकिरणाहआ ससिमऊहा ।
माणिणिवअणम्मि सकज्जलंसुसङ्काइ दइएण ॥ २ ॥

[प्रोञ्छिताः कर्णाभरणेन्द्रनीलकिरणाहताः शशिमयूखाः ।
मानिनीवदने सकज्जलाश्रुशङ्कया दयितेन ॥]

प्रिय ने मानिनी के मुख पर (उसके) कनफूल के नीलम की किरणों से मिली चन्द्रकिरणों को कजरारे आँसू की शङ्का से पोंछा ।

विमर्श—सखी का वचन, सखी के प्रति, नायिका के सौभाग्य के ख्यापनार्थ । तात्पर्य यह कि नायिका स्वाधीनपतिका है । अलंकारकौस्तुभ और अलङ्काररत्नाकर के अनुसार यह भ्रान्तिमान्' का उदाहरण है ॥ २ ॥

एद्दहमेत्तम्मि जए सुन्दरमहिला सहस्सभरिए वि ।
अणुहरइ णवर तिस्सा वामद्धं दाहिणद्धस्स ॥ ३ ॥

[एतावन्मात्रे जगति सुन्दर महिलासहस्रभृतेऽपि ।
अनुहरति केवल तस्या वामार्धं दक्षिणार्धस्य ॥]

हजारों सुन्दरी महिलाओं से भरे इतने बड़े संसार में केवल उसका वाम भाग दक्षिण भाग के समान है।

विमर्श—दूती द्वारा नायिका के सौन्दर्य की प्रशंसा, नायक के प्रलोभनार्थ। तात्पर्य यह कि उसके समान सुन्दरी संसार में कोई नहीं। वह अपना उपमान (मिसाल) आप है॥ ३॥

जह जह वाएइ पिओ तह तह णच्चामि चञ्चले पेम्मे।
वल्ली वलेइ अङ्गं सहावथद्धे वि रुक्खम्मि ॥ ४॥

[यथा यथा वादयति प्रियस्तथा तथा नृत्यामि चञ्चले प्रेम्णि।
वल्ली वलयत्यङ्गं स्वभावस्तब्धेऽपि वृक्षे॥]

प्रिय जैसे जैसे बजाता है वैसे वैसे (उसके) चञ्चल प्रेम में नाचती हूँ, स्वभाव से स्तब्ध खड़े भी वृक्ष में लता अपने अङ्ग को लपेट देती है।

विमर्श—मान-ग्रहणार्थ सखी के उपदेश का नायिका द्वारा उत्तर। सखी का वक्तव्य है कि जब तेरा प्रिय बारबार तुझसे चालबाजी करता है तो मान ग्रहण करके क्यों नहीं उसे तू भी परेशान करती? नायिका के प्रस्तुत कथन का तात्पर्य यह है कि वह चाहे जो भी करे, जैसे भी मुझे नाच नचाए मैं नाचूँगी, अर्थात् उसके इशारे पर ही चलूंगी, क्योंकि यह मेरा कर्तव्य है। जैसे बाजा बजानेवाले की लय पर नाचनेवाले का कर्तव्य है कि वह नाचे, तभी सङ्गीत की पूर्णता होती है। प्रस्तुत में, तभी दाम्पत्य जीवन का स्वारस्य लाभ होता है। वृक्ष अपने स्वभावानुसार स्तब्ध खड़ा रहता है, परन्तु लता अपने अङ्ग-अङ्ग उसके शरीर से लपेट डालती है, क्योंकि लिपट कर जीना लता का धर्म है, कर्तव्य है। गङ्गाधर लिखते हैं, अन्य अवतरण के अनुसार किसी कुलटा का दूती के प्रति यह कथन है कि जिस प्रकार निराश्रय होकर लता कहीं नहीं ठहर कर स्तब्ध खड़े वृक्ष का आश्रयण कर लेती है उसी प्रकार मैं भी जब तक कोई उत्तम नहीं मिल जाता तब तक इस अधम के सहारे टिकी हूँ॥ ४॥

दुक्खेहिँ लब्भइ पिओ लद्धो दुक्खेहिँ होइ साहीणो।
लद्धो वि अलद्धो च्चिअ जइ जह हिअअं तह ण होइ॥ ५॥

[दुःखैर्लभ्यते प्रियो लब्धो दुःखैर्भवति स्वाधीनः।
लब्धोऽप्यलब्ध एव यदि यथा हृदयं तथा न भवति॥]

प्रिय कठिनाई से प्राप्त होता है, (मिलने पर) कठिनाई से वश में होता है। यदि जैसा हृदय है, वैसा नहीं होता तो (वह) प्राप्त भी होकर अप्राप्त ही है।

विमर्श—नायिका का वचन सखी के प्रति। पति या स्वामी (वृअर्था

अधिकार का धौंस जमानेवाला) तो मिल जाता है लेकिन प्रिय मिलने में कठिनाई होती है, वह मिलकर भी अपने में विशिष्ट गुणों के कारण स्वाधीन नहीं हो पाता, बल्कि इधर-उधर रहा करता है, फिर हृदय के अनुकूल न होने के कारण उसका प्राप्त होना न प्राप्त होने के बराबर है। तात्पर्य यह कि मुझ से मत पूछो कि मैं अपने आप में कितनी परेशान हूँ, प्रिय को पाकर भी प्रणय–सुख के लिए तरसती रहती हूँ। 'अलङ्कार-रत्नाकर' के अनुसार 'अतिशय अलङ्कार' का यह उदाहरण है—

'सम्भावनयाऽन्यथा वा अतिशयोऽतिशयः' ॥ ५ ॥

अण्णो अणुणअसुहकङ्खिरीअ अकंअ कअकुणन्तीए।
सरलसहावो वि पिओ अविणअमग्गं बलण्णीओ ॥ ६ ॥
[कष्टमनुनयसुखकाङ्क्षणशीलयाकृतं कृतं कुर्वत्या।
सरलस्वभावोऽपि प्रियोऽविनयमार्गं बलान्नीतः ॥]

हाय रे, मनावन के मजे चाहने वाली मैंने न किए (अपराध) को किए करार करके सरल स्वभाववाले भी प्रिय को जोर देकर अविनय के मार्ग पर पहुँचा दिया।

विमर्श—कलहान्तरिता का वचन, सखी के प्रति। चाटुकारी प्रिय को भी क्रोधवश तिरस्कार करके पीछे अपने किए पर सन्तप्त होने की अवस्था में नायिका 'कलहान्तरिता' कहलाती है ॥ ६ ॥

हत्थेसु अ पाएसु अ अङ्गुलिगणणाइ अइगआ दिअहा।
एण्हि उण केण गणिज्जउ त्ति भणेउ रुअइ मुद्धा ॥ ७ ॥
[हस्तयोश्च पादयोश्चाङ्गुलिगणनयातिगता दिवसाः।
इदानीं पुनः केन गण्यतामिति भणित्वा रोदिति मुग्धा ॥]

'हाथों की और पैरों की अंगुलियों की गिनती से दिन बीत गए, अब फिर किससे गिनती करूँ?' यह कहकर मुग्धा रो रही है।

विमर्श—प्रोषितपतिका की सखी का वचन नायक के समीपगामी पथिक के प्रति। तात्पर्य यह कि तुम्हारे विरह में उसने बीस दिन गुजार लिए, अब गुजारना मुश्किल है। यथाशीघ्र आओ ॥ ७ ॥

कीरमुहसच्छहेहिं रेहइ व सुहा पलासकुसुमेहिं।
बुद्धस्स चलणवन्दणपडिएहि व भिक्खुसघेहि ॥ ८ ॥
[कीरमुखसदृक्षै राजते वसुधा पलाशकुसुमैः।
बुद्धस्य चरणवन्दनपतितैरिव भिक्षुसंघैः ॥]

सुग्गे के ठोर की भाँति पलाश के फूलों से पृथ्वी शोभा देती है, जैसे बुद्ध के चरणों की वन्दना में गिरे हुए भिक्षुसंघ हों।

विमर्श—नायिका का वचन प्रवास पर जाने के लिए तैयार नायक के प्रति। नायिका ने एक ओर वसन्त का चतुर्दिक लहराता हुआ दृश्य सङ्केतित करके ऐसे शोभन अवसर पर उसके गमन का निषेध व्यञ्जित किया है, दूसरी ओर उस दृश्य की उपमा बौद्ध भिक्षुओं से देकर अपशकुन भी सूचित किया है। शकुनशास्त्र के अनुसार संन्यासी को यात्रा के समय देखना अपशकुन माना है, तथा ऐसे माङ्गलिक अवसर पर किसी अमङ्गलव्यञ्जक शब्द का प्रयोग भी निषिद्ध माना गया है। नायिका ने 'पतितैरिव' कहकर यात्रा को सर्वथा अपशकुनपूर्ण करने का प्रयत्न किया है। गदराए पलाशपुष्पों की उपमा बौद्धभिक्षुओं से देकर कवि ने उपमा के इतिहास में नया मोड़ पैदा कर दिया है। ऐसी उपमाएँ जो एक सामाजिक वातावरण या माहौल को लाकर उपस्थित कर देती हैं, प्राचीन काव्यों में कम मिलती हैं। बौद्धभिक्षुओं का चीवर रक्तवर्ण होता है। यात्रा के अवसर में मङ्गल-अमङ्गल शब्द प्रयोग के सम्बन्ध में 'वसन्तराज' का वचन है—

स्थैर्यं स्थिरार्थाद् गमनं तदर्थाद् वाक्यान्निवृत्तिर्विनिवर्तितार्थात्।
लाभं जयं भङ्गममङ्गलं वा बुद्ध्येत तत्तत्प्रतिपादनार्थात् ॥ ८ ॥

जं जं पिहुलं अङ्गं तं तं जाअं किसोअरि किस ते।
जं जं तणुअं तं तं वि णिट्ठिअं किं त्थ माणेण ॥ ६ ॥

[यद्यत्पृथुलमङ्गं तत्तज्जातं कृशोदरि कृशं ते।
यद्यत्तनुकं तत्तदपि निष्ठितं किमत्र मानेन ॥]

हे पतली कमरवाली, जो-जो तेरा अङ्ग मोटा था वह-वह दुबला हो गया और जो-जो दुबला था वह वह और भी बढ़ गया, तो यहाँ मान से क्या लाभ?

विमर्श—अनुनय स्वीकारार्थ सखी का वचन मानवती नायिका के प्रति ॥ ९ ॥

ण गुणेण हीरइ जणो हीरइ जो जेण भाविओ तेण।
मोत्तूण पुलिन्दा मोत्तिआइँ गुञ्जाओँ गेह्णन्ति ॥ १० ॥

[न गुणेन ह्रियते जनो ह्रियते यो येन भावितस्तेन।
मुक्त्वा पुलिन्दा मौक्तिकानि गुञ्जा गृह्णन्ति ॥]

आदमी गुण से नहीं लुभाता, बल्कि जिससे रमता है उससे लुभाता है, वनैले लोग मोतियों को छोड़कर गुंजाओं को अपनाते हैं।

विमर्श—उपनायक के यह कहने पर कि जब नायिका अपने पति को ही प्रिय नहीं तब उसके गुणों की प्रशंसा कैसे कर रही है? दूती का वचन।

आदमी विचित्र प्राणी है, यह आवश्यक नहीं कि गुणों पर ही मुग्ध हो। सिर्फ उसे भावित होना या रम जाना चाहिए—भिन्नरुचिर्हि लोकः। बनैले लोगों के लिए मोती के सारे गुण एक ओर धरे रह जाते हैं और उन्हें गुंजे ही प्रिय लगते हैं। प्रस्तुत में दूती ने नायिका के गुणों की प्रशंसा करते हुए उसके प्रति अनुरक्त न होनेवाले उसके पति को जंगली व्यञ्जित करके तिरस्कार किया है। दूती का तात्पर्य यह कि उसका बेवकूफ पति उसे यदि नहीं मानता तो ऐसा नहीं कि वह गुणवती नहीं। वह अवश्य स्पृहणीय है ॥ १० ॥

लङ्कालआणँ पुत्तअ वसन्तमासेक्कलद्धपसराणं।
आपीअलोहिआणं वीहेइ जणे पलासाणं ॥ ११ ॥

[लङ्कायानां पुत्रक वसन्तमासैकलब्ध प्रसराणाम्।
आपीतलोहितानां बिभेति जनः पलाशानाम् ॥]

लका (शाखा) में रहनेवाले, एकमात्र वसन्त के महीनों में बढ़ती पाये हुए, पीले और लाल पलाश के फूलों से लोग डर जाते हैं। (अन्य अर्थ के अनुसार—लङ्का में रहनेवाले, वसा अर्थात् हृदय का मांस, आंत एवं मांस की सम्पत्तिवाले, पीले और लाल पलाशों अर्थात् राक्षसों से लोग डर जाते हैं)।

विमर्श—वृद्धा का वचन नायक के प्रति। नायक का कहना है कि मैं प्रवास पर जाने के लिए अनुमति मांगता हूँ, पर यह (नायिका) क्यों नहीं देती, चुप क्यों है ? इस पर वृद्धा का प्रस्तुत वचन है कि वसन्त में गदराए हुए पलाश विरहिणियों को कष्ट देते हैं, उनके डर के मारे यह कुछ नहीं बोल रही है। इस प्रस्तुत अर्थ से 'पलं मांसं अश्नन्ति भक्षयन्ति इति पलाशाः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'पलाश' शब्द के सहकार से दूसरा राक्षसपरक अर्थ व्यंग्य होता है। 'अलङ्कार रत्नाकर' के अनुसार यह 'श्लेष' का उदाहरण है। श्री मथुरानाथ शास्त्री ने गाथा के दूसरे चरण की दूसरे अप्रस्तुत अर्थ के अनुकूल 'वसान्त्रमांसैकलब्धविभवानां' यह छाया दी है ॥ ११ ॥

घेत्तूण चुण्णमुट्ठिं हरिसूससिआए वेपमाणाए।
भिसिणेमित्ति पिअअमं हत्थे गन्धोदअं जाअं ॥ १२ ॥

[गृहीत्वा चूर्णमुष्टिं हर्षोत्सुकिताया वेपमानायाः।
अवकिरामीति प्रियतमं हस्ते गन्धोदकं जातम् ॥]

'प्रियतम पर फेकूं' इस इच्छा से चूर्णमुष्टि को लेकर हर्ष और उत्सुकता से कांपती हुई हाथ में (वह चूर्णमुष्टि) गन्धोदक हो गई।

विमर्श—नायिका का वचन सखी द्वारा यह पूछने पर कि क्यों नहीं प्रिय को तूने वशीकरण चूर्ण से ताडन किया ? हुआ क्या कि जभी उसने

अपने हाथ में चूर्णमुष्टि लेकर प्रियतम पर फेंकना चाहा, प्रियतम पर दृष्टिपात होते ही उसके मन में हर्ष और औत्सुक्य इन भावों का उदय हो गया। फलतः सात्त्विक भाव कम्प के साथ स्वेद इतना निकल पड़ा कि तत्क्षण उसके हाथ की चूर्णमुष्टि गन्धोदक के रूप में परिणत हो गई। चूर्णमुष्टि अर्थात् कुंकुम, कपूर आदि सुगन्धि द्रव्यों को मिलाकर बनाये गए चूर्ण (पाउडर) की मूठ। गाथा में प्रयुक्त 'भिसिणेमि', 'विच्छुरयामि' या 'अवकिरामि' के अर्थ में देशी प्रयोग है। 'मेघदूत' में भी प्रियमिलन के प्रसङ्ग में रत्नप्रदीपों को बुझाने के निमित्त 'चूर्णमुष्टि' का उल्लेख है :—'अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान् ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः।' (२।८)। मिलन के प्रसङ्ग में हर्षादि के निमित्त से किसी भी सात्त्विक भाव का उद्रेक कामशास्त्र के अनुकूल है : इस प्रकार नायिका ने प्रियतम के प्रति अपना अतिशय अनुराग तात्पर्य के रूप में प्रकट किया ॥ १२ ॥

पुट्ठिं पुससु किसोअरि पडोहरङ्कोल्लपत्तचित्तलिअं।
छेआहिँ दिअरजाआहिँ उज्जुए मा कलिज्जिहिसि ॥ १३ ॥
[पृष्ठं प्रोञ्छ कृशोदरि पश्चाद्गृहाङ्कोटपत्रचित्रितम्।
विदग्धाभिर्देवरजायाभि ऋजुके मा कलिष्यसे ॥]

हे कृशोदरि, पिछवाड़ वाले अंकोट के पत्तों से चिह्नित अपने पृष्ठभाग को पोंछ ले, री सरले, चालाक देवरानियां कहीं तुझे ताड़ मत लें।

विमर्श—सपत्नी का वचन, देवरानुरक्त नायिका के प्रति। सपत्नी का तात्पर्य यह है कि मुझे तो तेरा सब रहस्य विदित है कि तू पिछवाड़ के अंकोट के पत्तों पर देवर के साथ खिलवाड़ करती है, लेकिन यह रहस्य चालाक देवरानियों को कहीं मालूम न हो जाय, इस लिए पीठ पर लगे चिह्न को पोंछ लेने की बात करती हूँ। तू इतनी सरल है कि परिणाम बिना सोचे काम कर बैठती है। यहाँ 'पडोहर' शब्द पश्चाद्वाट या पश्चाद्गृह, जिसे आज की जनपदीय भाषा में 'पिछवाड़' कहते हैं, के अर्थ में देशी है। 'कृशोदरी' इस सम्बोधन द्वारा सपत्नी ने नायिका की उत्तानबन्ध सुरत में विशेष रुचि को व्यञ्जित किया है ॥ १३ ॥

अच्छीइँ ता थइस्सं दोहिँ वि हत्थेहिँ वि तस्सिं दिट्ठे।
अङ्गं कलम्बकुसुमं व पुलइअं कहँ णु ढक्किस्सं ॥ १४ ॥
[अक्षिणी तावत्स्थगयिष्यामि द्वाभ्यामपि हस्ताभ्यां तस्मिन्दृष्टे।
अङ्गंकदम्बकुसुममिव पुलकितं कथं नु च्छादयिष्यामि ॥]

उसके दीख जाने पर हाथों से आँखें तो छिपा लूँगी, पर कदम्ब के फूल की भाँति पुलक भरे अङ्ग को कैसे छिपाऊँगी ?

विमर्श— नायिका का वचन, मानोपदेशिनी सखी के प्रति। हाथ तो मेरे अधीन हैं उनसे आँखें, जिनमें प्रियतम के प्रति अनुराग भरा है, मूँद लूँगी, पर अपने रोमाञ्च पर हमारा वश कहाँ? ऐसी स्थिति में मान का अवलम्बन मेरे लिए सर्वथा दुष्कर है। कालिदास ने भी 'कदम्बरोमाञ्च' की चर्चा की है— अङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः। कुमा० ३।६८॥ १४॥

झञ्झावाउत्तणिए घरम्मि रोऊण णीसहणिसण्णं।
दावेइ व गअवइअं विज्जुज्जोओ जलहराणं॥ १५॥
[झञ्झावातोत्तृणिते गृहे रुदित्वा निःसहनिषण्णाम्।
दर्शयतीव गतपतिकां विद्युद्द्योतो जलधराणाम्॥]

आंधी से उजड़ी छान्ह वाले घर में रोकर बेसुध पड़ी हुई प्रोषितभर्तृका को बिजली की चमक मानों मेघों को दिखाती है।

विमर्श—सखी का वचन नायक के समीप जाने वाले पथिक के प्रति। कवि ने यहाँ विद्युत को स्त्री के रूप में प्रस्तुत करके नायिका के प्रति उसका स्वाभाविक पक्षपात व्यक्त किया है। वह चमक कर क्रूरकर्मा मेघों को दिखाती है कि देख लो तुमने इस बेचारी को किस अवस्था तक पहुँचा दिया है। कम से कम इसके परदेस गए प्रियतम को तो उत्कण्ठित करके ला दो! कुछ इसी ढंग की कल्पना का श्लोक 'मृच्छकटिक' में है—

यदि गर्जति वारिधरो गर्जतु तन्नाम निष्ठुरा पुरुषाः।
अपि विद्युत्प्रमदानां त्वमपि च दुःखं न जानासि॥

(अर्थात् यदि मेघ गरजता है तो गरजे, पुरुष निष्ठुर होते हैं, पर अरी बिजली, क्या तू भी औरतों के दुःखदर्द से नावाकिफ है?)। अर्थात् विद्युत् चुगली खाने वाली स्त्री का काम करती है और क्रूर मेघों को दिखाकर उसे और भी पीड़ित करती है। प्रस्तुत में संदेश-वक्त्री सखी का तात्पर्य है कि नायिका सब प्रकार के कष्टों में पड़ी एकमात्र तुम्हारे ही अनुध्यान में परायण है, ऐसी स्थिति में तुम्हारा आना अनिवार्य है॥ १५॥

भुञ्जसु जं साहीणं कुत्तो लोणं कुगामरिद्धम्मि।
सुहअ सलोणेण वि किं तेण सिणेहो जहि ण त्थि॥ १६॥
[भुङ्क्ष्व यत्स्वाधीनं कुतो लावणं कुग्रामरिद्धे।
सुभग सलवणेनापि किं तेन स्नेहो यत्र नास्ति॥]

जो अपने बस का है, उसे उपभोग करो, खराब गाँव में रांधे (भोजन) में लवण कहाँ? हे सुभग, उसमें लवण भी हो तो क्या होगा, जहाँ स्नेह नहीं है।

विमर्श—दूती का गंदी रहने वाली ग्रामीण नायिका में अनुराग न करते हुए नायक के प्रति। 'लवण' अर्थात् नमक और श्लेष से लावण्य; 'स्नेह' अर्थात् घृत और श्लेष से प्रेम। वाक्यार्थ यह है कि लवण गाँव के लोगों के यहाँ सुलभ नहीं है, वहाँ 'स्नेह' (घी) सुलभ है जो चटपटे लवण से कहीं अधिक स्वास्थ्यप्रद और उपयोगी है। फिर स्नेह को छोड़ नमक के पीछे दौड़ना कहाँ की बुद्धिमानी है। अभिव्यञ्जितार्थ यह कि ग्रामीण नायिका में यद्यपि लवण या लावण्य का अभाव है तथापि कहीं उससे भी उपयोगी वस्तु स्नेह अर्थात् प्रेम उसमें पर्याप्त है। केवल लावण्य किस काम का जब कि स्नेह नहीं। तात्पर्य यह कि नायिका के हृदय में तुम्हारे प्रति अगाध स्नेह है, यही सब से बड़ी बात है कि तुम उससे प्रेम करो। यदि तुमने लावण्य के धोखे में आकर कहीं किसी स्नेहरहिता से प्रेम कर लिया, तो पछताओगे ॥ १६ ॥

सुहपुच्छिआइ हलिओ मुहपङ्कअसुरहिपवणणिव्वविअं।
तह पिअइ पअइकडुअं पि ओसहं जण ण णिट्ठाइ ॥ १७ ॥

[सुखपृच्छिकाया हलिको मुखपङ्कजसुरभिपवननिर्वापितम्।
तथा पिबति प्रकृतिकटुकमप्यौषधं यथा न तिष्ठति ॥]

सुख-समाचार पूछने वाली (नायिका) के मुख कमल की खुशबूदार हवा से ठंढी की हुई कड़वी दवा को भी हलवाहे ने वैसे पी लिया कि कुछ न बच रही।

विमर्श—नायिका का सखी के प्रति वचन, कि नीरस भी अनुराग के कारण सरस हो जाता है। हलिक या हलवाहा, जो कि अत्यन्त ग्रामीण है, वह भी बीमारी की हालत में घर पर उसकी खबर लेने आई प्रेयसी के द्वारा स्वयं फूँक कर ठंढी की गई कड़वी दवा को भी पूरा का पूरा पी गया। सुनते हुए नायक के प्रति तात्पर्य यह कि तू तो ग्रामीण नहीं, समझदार नागरिक है! तब भी मुझ अनुरक्ता के प्रति अपेक्षित भाव नहीं रखता। 'अलङ्कार-कौस्तुभ' के अनुसार यह 'तद्गुण' का उदाहरण है—'परकीय गुणतिरोहित-गुणस्य भानं तु तद्गुणः प्रोक्तः' ॥ १७ ॥

अह सा तहिं तहिं व्विअ वाणीरवणम्मि चुक्कसंकेआ।
तुह दंसणं विमग्गइ पब्भट्ठणिहाणठाणं व ॥ १८ ॥

[अथ सा तत्र तत्रैव वानीरवने विस्मृतसङ्केता।
तव दर्शनं विमार्गति प्रभ्रष्टनिधानस्थानमिव ॥]

संकेत का स्थान चूकी हुई वह बेत के वन में वहाँ-वहाँ पर ही खजाने के भूले स्थान की भाँति तुम्हारे दर्शन की तलाश कर रही है।

विमर्श—दूती का वचन, नायक के प्रति। नायक का कहना है कि नायिका संकेत-स्थान पर नहीं पहुँची, जब कि मैं वहाँ पहुँचा था। दूती का तात्पर्य है कि वह तो अब तक वहाँ जाकर संकेत स्थान के अकस्मात् विस्मृत हो जाने से उस प्रकार तेरे दर्शन की तलाश कर रही है, जैसे कोई आदमी भूले हुए खजाने के स्थान की खोज-पड़ताल करता है। इस स्थिति में मात्र तेरा दर्शन भी उसके सन्तोष के लिए पर्याप्त होता। गाथा में 'चुक्क' की ग्रामीण बोली में 'चूकना' यह क्रिया 'भूल जाने' के अर्थ में सुरक्षित चली आ रही है। स० कण्ठाभरण में यह गाथा 'विप्रलब्ध' के उदाहरण में उद्धृत है ॥ १८ ॥

दढरोसकलुसिअस्स वि सुअणस्स मुहाहिँ विप्पिअं कन्तो।
राहुमुहम्मि वि ससिणो किरणा अमअं विअ मुअन्ति ॥ १९ ॥

[दृढरोषकलुषितस्यापि सुजनस्य मुखादप्रियं कुतः।
राहुमुखेऽपि शशिनः किरणा अमृतमेव मुञ्चन्ति ॥]

बहुत गुस्से से भरे भी भले आदमी के मुँह से खराब बात कहाँ ? चन्द्रमा की किरणें राहु के मुख में भी अमृत ही छोड़ती हैं।

विमर्श—सुभाषित। गङ्गाधर के अनुसार कोई स्त्री नायक के डर से उसके पास न जाते हुए अपराधी उसके मित्र से प्रस्तुत गाथा कहती है। तात्पर्य यह कि वह अपराधी होने पर भी तेरे लिए कोई अपशब्द नहीं कहेगा। अलङ्कार-रत्नाकर में दृष्टान्त का उदाहरण, 'प्रतिबिम्बेन दृष्टान्तः' ॥ १९ ॥

अवमाणिओ वि ण तहा दुमिज्जइ सज्जणो विहवहीणो।
पडिकाउं असमत्थो माणिज्जन्तो जह परेण ॥ २० ॥

[अवमानितोऽपि न तथा दूयते सज्जनो विभवहीनः।
प्रतिकर्तुमसमर्थो मान्यमानो यथा परेण ॥]

धनदौलत से रहित भला आदमी तिरस्कार प्राप्त करके भी उतना नहीं दुखी होता जितना दूसरे द्वारा सम्मान को प्राप्त हुआ (उस सम्मान के) प्रतीकार में असमर्थ होकर (दुखी होता है)।

विमर्श—जार के अभिमत सम्पादन में असमर्थ कोई नायिका का वचन जार का उपहार अर्पित करती हुई दूती के प्रति। दूती का कहना है कि इस उपहार को लेने में कोई हर्ज नहीं। नायिका का तात्पर्य यह है कि लौकिक नियम यह है कि कोई कुछ दे तो उसके बदले में कुछ दिया जाता है। ऐसा नहीं करने पर उपहास होता है। जब कि मैं प्रतीकार नहीं कर पाऊँगी तो इसका लेना कहाँ तक ठीक है ? ऐसी स्थिति में कष्ट होना स्वाभाविक है ॥२०॥

कलहन्तरे वि अविणिग्गआइँ हिअअम्मि जरमुवगआइँ ।
सुअणकआइ रहस्साइँ डहइ आउक्खए अग्गी ॥ २१ ॥

[कलहान्तरेऽप्यविनिर्गतानि हृदये जरामुपगतानि ।
सुजनश्रुतानि रहस्यानि दहत्यायुः क्षयेऽग्निः ॥]

भले आदमी द्वारा सुनी हुई रहस्य की बातें झगड़ा होने पर भी मुंह के बाहर नहीं निकलतीं, हृदय में ही पुरानी पड़ जाती हैं, उम्र खत्म होने पर आग ही उन्हें जलाती है।

विमर्श—सुभाषित। रहस्य के गोपनार्थ दूती द्वारा नायिका के मन में अपने प्रति विश्वास दिलाना। मतलब यह कि मैं वह नहीं हूँ कि रहस्य की बातों को किसी अन्य के सामने खोल दूं। मुझ पर तू विश्वास कर। अगर मुझसे-तुझमें झगड़ा भी हुआ तो ऐसी स्थिति नहीं आने वाली है॥२१॥

लुम्बीओ अङ्गणमाहवीणँ दारग्गलाउ जाआउ ।
आसासो पान्थपलोअणे वि पिट्ठो गअवईण ॥ २२ ॥

[स्तबका अङ्गणमाधवीनां द्वारार्गला जाताः ।
आश्वासः पान्थप्रलोकनेऽपि नष्टो गतपतिकानाम् ॥]

अंगने की वासन्ती लताओं के गुच्छे दरवाजे के आगल बन गए हैं, परदेश गए पतियों वाली स्त्रियों का मार्ग (या राहियों) के देखने का अवलम्ब भी न रहा।

विमर्श—दूती द्वारा नायक को यह सूचना, कि प्रोषितभर्तृका के आंगन की वासन्ती लता अब गदरा चुकी है, दिन में अभिसार की भी अनुकूलता है, तथा नायिका भी वसन्तकाल के आगमन से अतिशय उत्कण्ठित होने के कारण सुविधा से साधी जा सकती है। अन्य अवतरण के अनुसार प्रोषित-भर्तृका की सखी नायक के समीप जाने वाले पथिक से उसके शीघ्र आगमनार्थ सन्देश भेजती हुई कहती है। इसके अनुसार श्री मथुरानाथ शास्त्री ने गाथा के पूर्वार्ध को इस रूप में लगाया है कि माधवी लताओं को वसन्तागम में स्तब-कित देखकर विरहकातरा नायिका अपने घर से बाहर नहीं निकलती, इस प्रकार के स्तबक द्वार के आगल का काम करने लगे हैं। तात्पर्य यह कि तत्काल 'नायिका की अवस्था अत्यधिक' चिन्तनीय है, तुम्हें यथाशीघ्र पहुंचकर उसकी प्राणरक्षा करनी चाहिए। 'लुम्बी' शब्द स्तबक या गुच्छे के अर्थ में देशी है। 'पिट्ठो' से अधिक स्पष्ट 'नट्ठो' यह पाठान्तर है। 'पिट गया' भाषा में प्रचलित इस प्रयोग के आधार पर नष्ट होने के अर्थ में इसका भी सार्थक्य

प्रतीत होता है। 'अवलम्ब पिट गया' अर्थात् अवलम्ब नष्ट हो गया। 'अलङ्कार-रत्नाकर' में 'अर्थापत्ति' का उदाहरण ॥ २२ ॥

पिअदंसणसुहरसमउलिआइँ जइ से ण होन्ति णअणाइं।
ता केण कण्णरइअं लक्खिज्जइ कुवलअं तिस्सा ॥ २३ ॥
[प्रियदर्शनसुखरसमुकुलिते यदि तस्या न भवतो नयने।
तदा केन कर्णरचितं लक्ष्यते कुवलयं तस्याः ॥]

प्रिय के दर्शन के आनन्दरस से यदि उसकी आंखें मुकुलित हो जातीं, तब उसके कान पर लगे कुवलय को कौन जान पाता ?

विमर्श—सखी का वचन, नायिका के प्रणय के व्यञ्जनार्थ। नायिका की आंखें और कुवलय इस प्रकार परस्पर समान हैं कि उनके भेद का समझना किसी के लिए मुश्किल है। प्रियतम को जब देखकर उसकी आंखें आनन्दरस से मुकुलित हो गईं, तभी अन्य लोगों को उसकी आंखों और कुवलय का भेद विदित हुआ। तात्पर्य यह कि उसके सौन्दर्य में तो कोई सन्देह ही नहीं, प्रिय के प्रति वह अगाध प्रणय भी रखती है। यहाँ तक कि उसे देखते ही वह आनन्द से विभोर हो जाती है। मिलन की स्थिति तो न जाने कैसी होगी ? 'अलङ्काररत्नाकर' में यह 'विवेक' का उदाहरण है और 'स० कण्ठाभरण' में 'मीलित' का ॥ २३ ॥

चिक्खिल्लखुत्तहलमुहकड्ढणसिढिले पइम्मि पासुत्ते।
अप्पत्तमोहणसुहा घणसमअं पामरी सवइ ॥ २४ ॥
[कर्दममग्नहलमुखकर्षणशिथिले पत्यौ प्रसुप्ते।
अप्राप्तमोहनसुखा घनसमयं पामरी शपति ॥]

कीचड़ में फंसे हल के अग्रभाग को खींचने के कारण ढीला पड़कर पति सो गया, तब सुरत के मजे न पाकर बनिहारिन वर्षाकाल को कोसने लगी।

विमर्श—दूती का वचन कामुक के प्रति। यह समय ऐसा है, कि उसे तुम्हारे अनुकूल होने में कोई कठिनाई नहीं होगी। पति बेखबर सो गया है और यह असन्तुष्ट होकर वर्षाकाल को कोस रही है। गङ्गाधर के अवतरण के अनुसार सहचर के प्रति नागरिक का वक्तव्य है कि अभ्युदय का हेतु भी कार्यवश उद्वेग पैदा कर देता है। वर्षाकाल कृषिजीवियों के लिए अभ्युदय का हेतु है, फिर भी वह इस स्थिति में बनिहारिन के लिए कष्टप्रद हो गया है ॥ २४ ॥

दुम्मेन्ति देन्ति सोक्खं कुणन्ति अणुराअं रमावेन्ति।
अरइरइबन्धवाणं णमो णमो मअणवाणाणं ॥ २५ ॥

[दून्वन्ति ददति सौख्यं कुर्वन्त्यनुरागं रमयन्ति ।
अरतिरबान्धवेभ्यो नमो नमो मदनबाणेभ्यः ॥]

मदन के बाण कष्ट देते हैं, सुख देते हैं, अनुराग पैदा करते हैं तथा मन को रमा देते हैं, अरति और रति के बान्धव मदनबाणों को नमस्कार है, नमस्कार है ।

विमर्श—प्रवत्स्यपतिका का वचन गमननिषेधार्थ प्रिय के प्रति । जो मदनबाण संगमकाल में सुख देते, अनुराग पैदा करते तथा मन को रमाते हैं, वे ही विरहकाल में सब प्रकार से कष्ट देने लगते हैं । विरहकष्ट की असहिष्णुता के व्यञ्जनार्थ नायिका ने अरति एवं रति के बान्धव मदनबाणों का बारद्वय नमस्कार किया । प्रिय के प्रति तात्पर्य यह कि तुम्हें मदनबाणों को कष्टप्रद बनाना उचित नहीं ॥ २५ ॥

कुसुममआ वि अइखरा अलद्धफंसा वि दूसहपआवा ।
भिन्दन्ता वि रइअरा कामस्स सरा बहुविअप्पा ॥ २६ ॥

[कुसुममया अप्यतिखरा अलब्धस्पर्शा अपि दुःसहप्रतापाः ।
भिन्दन्तोऽपि रतिकराः कामस्य शरा बहुविकल्पाः ॥]

फूल के बने होकर भी अत्यन्त तीखे, स्पर्श को प्राप्त न हुए भी दुसह प्रताप वाले, वेध देने वाले होते हुए भी रति के उत्पादक 'कामबाण बहुत प्रकार के हैं ।

विमर्श—नायक को सुनाते हुए कामिनी नायिका का वचन । 'विरोध' अलङ्कार ॥ २६ ॥

ईसं जणेन्ति दावेन्ति मम्महं विप्पिअं सहावेन्ति ।
विरहे ण देन्ति मरिउं अहो गुणा तस्स बहुमग्गा ॥ २७ ॥

[ईर्ष्यां जनयन्ति दीपयन्ति मन्मथं विप्रियं साहयन्ति ।
विरहे न ददति मर्तुमहो गुणास्तस्य बहुमार्गाः ॥]

ओह, इसके गुण बहुत प्रकार के हैं, जो कि ईर्ष्या उत्पन्न करते हैं, मन्मथ को दीप्त करते हैं, कष्ट को सहवाते हैं, विरह में मरने भी नहीं देते !

विमर्श—उत्कण्ठाविनोदनार्थ प्रोषितभर्तृका द्वारा प्रिय के गुणों का कथन । प्रिय के गुण ईर्ष्या इसलिए उत्पन्न करते हैं कि अन्य वनिताएं भी उसे चाहती हैं; वह अतिशय सुन्दर है । मन्मथ को दीप्त करते हैं, क्योंकि प्रिय सुरतकला में अत्यन्त निपुण है । कष्ट सहवाते हैं इसलिए कि वह अनुनय और चाटु में बड़ा ही चतुर है । सब कुछ सहकर भी उसके अनुनयों

और चाटुओं के सुनने की इच्छा बनी रहती है। मरने भी नहीं देते, क्योंकि उसके पुनः समागम की आशा बंध गई है। किसी के अनुसार 'उसके' अर्थात् 'कामबाण के' होना चाहिए ॥ २७ ॥

णीआइँ अज्ज णिक्किव पिणद्धणवरङ्गआँइ वराईए।
घरपरिवाडीअ पहेणआइँ तुह दंसणासाए ॥ २८ ॥
[नीतान्यद्य निष्कृप पिनद्धनवरङ्गकया वराक्या।
गृहपरिपाट्या प्रहेणकानि तव दर्शनाशया ॥]

निर्दय, तेरे दर्शन की आशा से वह बेचारी नई रंगी साड़ी पहने आज वायन को घर-घर पहुंचाती रही।

विमर्श—दूती का वचन, नायक के प्रति। अथवा कुट्टनी द्वारा नायक के प्रति नायिका के अनुराग का सोपालम्भ कथन। 'प्रहेणक' शब्द वायन (वायनक) के अर्थ में देशी है। जहां तक ग्रामीण बोलियों में प्रचलित 'वायन' को 'उपायन' शब्द का ही विकसित रूप माना जाता है, 'वायनक' शब्द आगे चलकर संस्कृत के रूप में ही परिणत कर लिया गया है। प्रस्तुत नायिका का घर-घर घूमकर वायन बांटने के बहाने नायक के दर्शन का प्रयत्न उसके प्रति अतिशय अनुराग का सूचक है, उसके अतिशय अनुराग को उसका नई रङ्गी साड़ी पहनना और भी झलका देता है। सज-धज कर ही प्रिय का दर्शन स्त्रियों की प्रवृत्ति के अनुकूल है। वात्स्यायन का भी यही संकेत है—'अनलङ्कृता दर्शनपथं परिहरति'। तथा 'अनङ्गरङ्ग' भी—'भूषाविहीना न ददाति दर्शनम्।' नायक के प्रति तात्पर्य यह कि इस स्थिति में तो तुझे दर्शन देने का अनुग्रह करना चाहिए ॥ २८ ॥

सूइज्जइ हेमन्तम्मि दुग्गओ पुप्फुआसुअन्धेण।
धूमकविलेण परिविरलतन्तुणा जुण्णवडएण ॥ २९ ॥

[सूच्यते हेमन्ते दुर्गतः करीषाग्निसुगन्धेन।
धूमकपिलेन परिविरलतन्तुना जीर्णपटकेन ॥]

जाड़े में करडे गोइठे की आग की सुगन्ध वाले, धुंए से ललछहूँ, उधड़े धागों वाले, पुराने कपड़े से दरिद्र मालूम पड़ जाता है।

विमर्श—सखी का वचन धनिक को छोड़ दरिद्र के प्रति अनुरक्त नायिका के निवारणार्थ। तात्पर्य यह कि ऐसे से तेरा अनुराग करना ठीक नहीं जो महान् दरिद्र है। गाथा में प्रयुक्त 'पुप्फुआ' शब्द 'करीष' अर्थात् कड़रे गोइठे की आग के अर्थ में देशी है ॥ २९ ॥

खरसिप्पिरउल्लिहिआइँ कुणइ पहिओ हिमागमपहाए।
आअमणजलोल्लिअहत्थफंसमसिणाइँ अङ्गाइं॥ ३०॥
[तीक्ष्णपलालोल्लिखितानि करोति पथिको हिमागमप्रभाते।
आचमनजलार्द्रितहस्तस्पर्शमसृणान्यङ्गानि ॥]

पथिक जाड़े की सुबह में तीखे पयालों से खुरचे अपने अङ्गों को आचमन के पानी से भींगे हाथ के परस से चिकनाता है।

विमर्श—नायिका का वचन, प्रवासोद्यत नायक के प्रति, हेमन्तकाल में गमननिषेधार्थ। 'सिप्पिर' अर्थात् पयाल (सं० पलाल), देशी शब्द। जाड़े के दिनों में धान के खेतों में कटनी हो जाती है। पयाल का गुच्छा (मराठी पेंठा) खेतों में लगा रहता है और भोर में चलने वालों के पैरों में लगकर उन्हें खुरच देता है। तात्पर्य यह कि अत्यन्त कष्टप्रद शीतकाल में प्रवास पर जाने का विचार तुम्हें रोक देना चाहिए। ओल्लिअ = आर्द्रित, हिन्दी ओदे (ओदे) अर्थात् भींगे॥ ३०॥

णक्खक्खुडीअं सहआरमञ्जरिं पामरस्य सीसम्मि।
बन्दिम्मिव हीरन्तीं भमरजुआणा अणुसरन्ति॥ ३१॥
[नखोत्खण्डितां सहकारमञ्जरीं पामरस्य शीर्षे।
बन्दीमिव ह्रियमाणां भ्रमरयुवानोऽनुसरन्ति॥]

हर कर भगाई जा रही बंदी की भांति, नखों से खण्डित, पामर के सिर की आम्रमञ्जरी को भ्रमर युवक पीछा करते हैं।

विमर्श—किसी का अन्यापदेश वचन, उस अधम व्यक्ति के निवारणार्थ, जो उत्कृष्ट नायिका को प्राप्त करने के लिए उसके पीछे पड़ा है। पामर के सिर पर की आम्रमञ्जरी को भौंरे इस प्रकार पीछा करते हैं जैसे किसी नीच पुरुष के द्वारा बंदी बनाकर भगाई जाती हुई स्त्री को युवक लोग। तात्पर्य यह कि स्वभावतः किसी को यह सह्य नहीं होता कि कोई नीच व्यक्ति कुलीन स्त्री को जबर्दस्ती फांसने का प्रयत्न करे। नखों से खण्डित, अर्थात् नायिका पक्ष में अधम कामुक नखों से क्षत-विक्षत। इससे नायिका की अधम के प्रति अरति व्यञ्जित की गई है॥ ३१॥

सूरच्छलेण पुत्तअ कस्स तुमं अञ्जलिं पणामेसि।
हासकडक्खुम्मिस्सा ण होन्ति देवाणँ जेक्कारा॥ ३२॥
[सूर्यच्छलेन पुत्रक कस्मै त्वमञ्जलिं प्रणामयसि।
हास्यकटाक्षोन्मिश्रा न भवन्ति देवानां जयकाराः॥]

बेटा, सूर्य के बहाने किसे तू अंजलि बांधे प्रणाम करता है? देवताओं के जयकार तो हास्य और कटाक्ष के साथ नहीं होते!

विमर्श—प्रौढ़ा दूती का वचन, नायक के प्रति। वेबर ने यहां 'चेटी' संबोधन का पाठ स्वीकार किया है, क्योंकि भारत में स्त्रियों द्वारा सूर्य को अञ्जलिबद्ध प्रणाम करना परम्परागत ही है। दूती का तात्पर्य है कि मैंने तो ताड़ ही लिया है कि हो न हो यह अपने प्रिय (अन्य पाठ के अनुसार प्रिया) को अभिलक्षित करके अपना प्रणय प्रकट किया जा रहा है। आखिर मुझे तो बता वह है कौन? सम्बोधन का प्रयोग वक्त्री दूती के प्रति विश्वसनीयता व्यञ्जित करता है ॥ ३२ ॥

मुहविज्झविअपईवं णिरुद्धसासं ससङ्किओल्लावं।
सवहस अरक्खिओट्ठं चोरिअरमिअं सुहावेइ ॥ ३३ ॥

[मुखविध्मापितप्रदीपं निरुद्धश्वासं सशङ्कितोल्लापं।
शपथशतरक्षितोष्ठं चोरिकारमितं सुखयति ॥]

चोरी-चोरी सुरत, जिसमें मुंह से फूंककर दीये को बुझा देते हैं, सांस को रोक लेते हैं, डरते-डरते बातचीत करते हैं तथा सैकड़ों शपथों से ओठ को बचाये रहते हैं, मजे का होता है।

विमर्श—दूती का वचन, नायिका के प्रति नायक के साथ चौर्यसुरत की उत्कण्ठा के वर्धनार्थ। दीये को हाथ से बुताने में विलम्ब सम्भावित है, निश्वास और डरते-डरते बातचीत इसलिए कि कोई सुन न ले। ओष्ठ को दांतों से बचाये रखने का तात्पर्य यह कि दूसरे मिलन-वृत्तान्त से अवगत न हो जांय। तात्पर्य यह कि हर तरह के विघ्नों के बावजूद भी चौर्यसुरत का मजा कुछ और ही होता है, तू इसे स्वयं अनुभव करके ही जान सकेगी ॥ ३३ ॥

गेअच्छलेण भरिउं कस्स तुमं रुअसि णिब्भरुक्कण्ठं।
मण्णुपडिरुद्धकण्ठद्धणिन्तखलिअक्खरुल्लावं ॥ ३४ ॥

[गेयच्छलेन स्मृत्वा कस्य त्वं रोदिषि निर्भरोत्कण्ठम्।
मन्युप्रतिरुद्धकण्ठार्धनिर्यत्स्खलिताक्षरोल्लापम् ॥]

गाने के बहाने किसे स्मरण करके उत्कण्ठा से भरकर, शोक से गले के रुंध जाने के कारण हिचकी बंधी हुई आवाज में तू रो रही है?

विमर्श—विदितरहस्या दूती का वचन, नायिका के प्रति। गाने में जो यह तेरा रुदन अभिलक्षित होता है, निश्चय ही किसी का स्मरण ही इसका हेतु है। तात्पर्य यह कि स्पष्ट बता किसे याद कर रही है? यथासाध्य मैं तेरे कष्ट को दूर करने के लिए प्रयत्न करूंगी ॥ ३४ ॥

बहलतमा हअराई अज्ज पउत्थो पई घरं सुण्णं।
तह जग्गेसु सअज्जिअ ण जहा अम्हे मुसिज्जामो ॥ ३५ ॥

[बलहतमा हतरात्रिरद्य प्रोषितः पतिर्गृहं शून्यम्।
तथा जागृहि प्रतिवेशिन् यथा वयं मुष्यामहे ॥]

मुई रात खूब की अंधेरी है, मरद आज ही परदेश गया है, घर सूना पड़ गया है, पड़ोसी! जागते रहना ताकि हम लुट न जांय!

विमर्श—स्वयंदूती नायिका का वचन, जार के प्रति। रात जो अंधेरी है, इसलिए कोई तुझे आते हुए नहीं देख पायेगा; मरद आज ही परदेश गया है, अब उसे लौटने की भी शंका नहीं; घर सूना पड़ गया है, अब मेरे सिवा मेरे घर में कोई है नहीं; जागते रहना अर्थात् मेरे घर पहुंचने के अवसर की ताक में ही रहना ॥ ३५ ॥

संजीवणोसहिम्मिव सुअस्स रक्खइ अणण्णवावारा।
सासू णवब्भदंसणकण्ठागअजीविअं सोह्णं ॥ ३६ ॥

[संजीवनौषधमिव सुतस्य रक्षत्यनन्यव्यापारा।
श्वश्रूर्नवाभ्रदर्शनकण्ठागतजीवितां स्नुषाम् ॥]

सासू दूसरा कामधाम छोड़कर बेटे को जीवित रखने वाली औषधि के सदृश पतोहू की, जिसके प्राण नये मेघ के दर्शन से कण्ठ तक आ गए हैं, रखवाली कर रही है।

विमर्श—प्रोषितभर्तृका की सखी का संदेशवचन, उसके प्रिय के समीप जाने वाले पथिक के प्रति। अर्थात् तेरी मां को यह निश्चय-सा हो गया है कि इस अवस्था में अगर इसकी रखवाली न की जाय तो यह बचने की नहीं। मतलब यह कि तुझे शीघ्र आकर इसकी प्राणरक्षा करनी चाहिए। 'अलंकार-रत्नाकर' में हेतु अलंकार का उदाहरण ॥ ३६ ॥

णूणं हिअअणिहित्ताइ वससि जाआइ अम्ह हिअअम्मि।
अण्णह मणोरहा मे सुहअ कहं तीअ विण्णाआ ॥ ३७ ॥

[नूनं हृदयनिहितया वससि जाययास्माकं हृदये।
अन्यथा मनोरथा मे सुभग कथं तया विज्ञाताः ॥]

हे सुभग, निश्चय ही अपने हृदय में पत्नी को रख कर हमारे हृदय में तू रहता है, अन्यथा मेरे मनोरथों को उसने कैसे जान लिया?

विमर्श—नायिका का ईर्ष्यावचन, नखदन्तघात आदि से चिह्नित नायक के प्रति। यह अवतरण गङ्गाधर के अनुसार है। वह लिखते हैं कि नायिका का तात्पर्य है कि मेरा भी यह मनोरथ था, कि मैं तुझे नखदन्तादि के आघात से

अंकित करूँगी, कैसे जान लिया, परन्तु गाथा में प्रयुक्त 'जाया' (पत्नी) को देख कर इस प्रकार के अवतरण को कल्पना में आस्था नहीं होती। श्री मथुरा· नाथ शास्त्री के अनुसार कहे हुए मनोगत रहस्य को सपत्नी के मुख से सुनकर रहस्यभङ्ग के कारण कुपित नायिका का प्रियतम के प्रति वैदग्ध्यपूर्ण वचन ॥३७॥

तइ सुहअ अईसन्ते तिस्सा अच्छीहिँ कण्णलग्गेहिं ।
दिण्णं घोलिरबाहेहिँ पाणिअं दंसणसुहाणं ॥ ३८ ॥

[त्वयि सुभग अदृश्यमाने तस्या अक्षिभ्यां कर्णलग्नाभ्यां ।
दत्तं घूर्णनशीलबाष्पाभ्यां पानीयं दर्शनसुखेभ्यः ॥]

हे सुभग, तेरे ओझल होने पर कानों तक लगी हुई उसकी आँखों ने, जिनमें आँसू घुमड़ने लगे थे, दर्शन के सुखों के लिए पानी दे दिया।

विमर्श—दूती द्वारा नायिका के अतिशय अनुराग का प्रकाशन, नायक के प्रति। दूती सीधे ढंग से यह न कह कर कि आँखों से तेरे ओझल होने पर उसकी आँखें बाष्पजल से भर आई, बल्कि विदग्ध शैली में यह कहती है कि उसकी आँखों ने दर्शन से प्राप्त होने वाले सुखों को पानी दे दिया, अर्थात् उनके पुनः प्राप्त न होने के विचार से उनको जलांजलि दे दी। धर्मानुसार उसे ही पानी देते अर्थात जलांजलि अर्पित करते हैं जो हमेशा-हमेशा के लिए बिदा हो जाता है। नायिका के सौन्दर्य के व्यञ्जनार्थ उसकी आँखों के कर्णलग्न होने का निर्देश किया है ॥ ३८ ॥

उप्पेक्खागअ तुह मुहदंसण पडिरुद्धजीविआसाइ ।
दुहिआइ मए कालो कित्तिअमेत्तो व्व णेअव्वो ॥ ३९ ॥

[उत्प्रेक्षागत त्वन्मुखदर्शनप्रतिरुद्धजीविताशया ।
दुःखितया मया कालः कियन्मात्रो वा नेतव्यः ॥]

भावना करके तेरे मुखड़े के दर्शन से बंधी जीवन की आशावाली मुझ दुखियारी को कितना समय बिताना होगा ?

विमर्श—प्रोषितभर्तृका का संदेश प्रियतम के प्रति। जीवन की आशा जो मिटी जा रही थी, तेरे मुखड़े की भावना करके उसे किसी प्रकार बाँध रखा है, आखिर ऐसा कब तक किया करूँगी, प्रतीक्षा का यह समय कब तक बिताया जायगा ? किसी ने प्राकृत 'दुहिआइ' को 'दुहितृ' समझकर अवतरण दिया है कि कोई स्त्री अपनी पुत्री की उत्कण्ठा को सूचित करके नायक को उत्कण्ठित करती है ॥ ३९ ॥

वोलीणालक्खिअरूअजोव्वणा पुत्ति कं ण दुम्मेसि ।
दिट्ठा पणट्ठपोराणजणवआ जम्मभूमि व्व ॥ ४० ॥

[व्यतिक्रान्तालक्षितरूपयौवना पुत्रि कं न दुनोषि ।
दृष्ट्वा प्रणष्टपौराण जनपदा जन्मभूमिरिव ॥]

बेटी, बीते और अनदेखे रूप और यौवनवाली तू उस जन्मभूमि की भाँति, जिसके पुराने निवासी चल बसे हों, देखे जाने पर, किसे दुःखी नहीं करती है ?

विमर्श—कुट्टनी द्वारा खेदप्रकाशन, कुलटा के प्रति। अर्थात् तेरा रूप और यौवन, कुछ इस तरह तुझे विवश होना पड़ा कि आने के पूर्व ही चले गए। तेरी इस दशा को देखकर अपनी जन्मभूमि को उजाड़-खंखाड़ देखनेवाले के कष्ट की भाँति कष्ट का अनुभव प्रायः सभी को होता है। मेरी तो तू आखिर बेटी है ॥ ४० ॥

परिओसविअसिएहिं भणिअं अच्छीहिँ तेण जणमज्झे ।
पडिवण्णं तीअ वि उव्वमन्तसेएहिँ अङ्गेहिं ॥ ४१ ॥

[परितोषविकिसिताभ्यां भणितमक्षिभ्यां तेन जनमध्ये ।
प्रतिपन्नं तयाप्युद्वमत्स्वेदैरङ्गैः ॥]

लोगों के बीच उसने परितोष के कारण विकसित आँखों से कहा और उसने भी पसीने बहाते अपने अङ्गों से स्वीकार किया।

विमर्श—नायक के मित्र द्वारा यह पूछने पर कि मेरे मित्र का अभिमत क्या सम्पन्न होगा ? दूती का उत्तर। लोगों के बीच कहीं उन दोनों का प्रणय एक अपराध के रूप में प्रकट न हो जाय इस डर से नायक की हर्ष-विकसित आँखों ने अपना अभिप्राय निवेदन किया और सात्त्विक भाव के कारण उत्पन्न स्वेदों से भरे अपने अङ्गों द्वारा नायिका ने स्वीकार भी किया। यहाँ निवेदन और स्वीकार दोनों बिना शब्द के ही सम्पन्न हो गए। 'अलंकार-रत्नाकर' में 'उद्भेद' अलंकार का उदाहरण—'यत्र किञ्चिदाच्छादित्वेन निगूढमपि कुतश्चित् प्रतिभिद्यते प्रकटीभवति स उद्भेदः' ॥ ४१ ॥

एक्कक्कमसंदेसाणुराअवड्ढन्त कोउहल्लाइं ।
दुःखं असमत्तणोरहाइँ अच्छन्ति मिहुणाइं ॥ ४२ ॥

[अन्योन्यसंदेशानुरागवर्धमानकौतूहलानि ।
दुःखमसमाप्तमनोरथानि तिष्ठन्ति मिथुनानि ॥]

परस्पर सन्देश से उत्पन्न अनुराग के कारण बढ़ते हुए कुतूहल वाले जुगल-जोड़े मनोरथ के पूरे न होने पर कष्ट से रहा करते हैं।

विमर्श—किसी नागरिक का वचन, सहचर के प्रति। यह स्वाभाविक है कि एक दूसरे जब दूती आदि द्वारा सन्देश भेजा करते हैं और यह कुछ दिनों तक चला करता है तो उनके मन में उत्पन्न अनुराग मिलन की

उत्सुकता को अतिशय वेग से उत्पन्न कर देता है और जब तक दोनों अपने मनोरथ को पूरा नहीं कर लेते, तब तक बड़े कष्ट से रहा करते हैं ॥४२॥

जइ सो ण वल्लहो व्विअ गोत्तग्गाहणेण तस्स सहि कीस ।
होइ मुहं ते रविअरफंसविसट्टं व तामरसं ॥ ४३ ॥

[यदि स न वल्लभ एव गोत्रग्रहणेन तस्य सखि किमिति ।
भवति मुखं तव रविकरस्पर्शविकसितमिव तामरसम् ॥]

री सखी, यदि वह प्रिय नहीं है तो उसका नाम लेने से तेरा मुख सूर्य की किरणों के स्पर्श से विकसित कमल की भाँति क्यों हो जाता है ?

विमर्श—सखी का वचन, नायक में उत्पन्न अनुराग का गोपन करती हुई नायिका के प्रति । जिस प्रकार स्वभावतः सुन्दर भी कमल सूर्य की किरणों के स्पर्श से विकसित हो जाता है, उसी प्रकार तेरा मुख भी सुन्दर होकर भी उसके नाम लेते ही खिल पड़ता है, अपूर्व शोभा से उद्दीप्त हो जाता है । आखिर इस प्रकट को छिपाने से क्या लाभ ? ॥ ४३ ॥

माणदुमपरुसपवणस्स मामि सव्वङ्गणिव्वुइअरस्स ।
अवऊहणस्स भद्दं रइणाडअपुव्वरङ्गस्स ॥ ४४ ॥

[मानद्रुमपरुषपवनस्य मातुलानि सर्वाङ्गनिर्वृतिकरस्य ।
अवगूहनस्य भद्रं रतिनाटक पूर्वरङ्गस्य ॥]

मामी, मान रूपी वृक्ष के कठोर पवन, सभी अङ्गों को निर्वृत करने वाले, रतिनाटक के पूर्वरङ्ग, आलिङ्गन का कल्याण हो ।

विमर्श—नायिका का वचन मतुलानी के प्रति । जिस प्रकार कठोर पवन वृक्ष को उखाड़ फेंकता है, उसी प्रकार आलिङ्गन मान को स्थिर नहीं रहने देता । आलिङ्गन से सभी वियोग-सन्तप्त अङ्ग निर्वृत अर्थात् आनन्दित हो जाते हैं, तथा आलिङ्गन रति के नाटक का पूर्वरङ्ग है । नाट्यशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार नाटक के आरम्भ में नटों द्वारा किए जाने वाले विघ्नशान्त्यर्थ नान्दीपाठ आदि उपायों को 'पूर्वरंग' कहते हैं—

'यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रंगविघ्नोपशान्तये ।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरंगः स उच्यते ॥'

महाकवि माघ भी लिखते हैं—'पूर्वरंगः प्रसङ्गाय नाटकीयस्य वस्तुनः' (शिशुपालवध, द्वितीय सर्ग) । तात्पर्य यह कि रतिनाटक के आरम्भ में आलिङ्गन रूप पूर्वरङ्ग के हो जाने से 'मान' आदि विघ्न उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रह जाती । नायिका का तात्पर्य यह कि उसके आलिंगन करते ही मेरा मान

भग्न हो गया। 'रूपक' अलङ्कार, 'आरोपो रूपकम्'। 'अलंकारकौस्तुभ' में विवरण इस प्रकार है—

'मानरत्योर्दुर्मनाटकाभेदरोपोऽत्र उपगूहनपवनपूर्वरंगाभेदारोपे निमित्तम्। अत्र विरोधितासम्बन्धेनानुग्राह्यानुग्राहकभाव इति विशेषः'॥ ४४॥

णिअआणुमाणणीसङ्क हिअअ दे पसिअ विरम एत्ताहे।
अमुणिअपरमत्थजणाणुलग्ग कीस म्ह लहुएसि॥ ४५॥

[निजकानुमाननिःशङ्का हृदय हे प्रसीद विरमेदानीम्।
अज्ञातपरमार्थजनानुलग्न किमित्यस्मांल्लघयसि॥]

अपने समान के अनुमान में शंकारहित, हे हृदय अभी ठहर, परमार्थ को न जानने वाले आदमी के पीछे पड़ा तू क्यों हमें हल्का कर रहा है?

विमर्श—नायिका द्वारा नायक को सुनाते हुए अपनी समागमोत्कण्ठा का हृदय को सम्बोधन करके निवेदन। अर्थात् तू तो सबको अपने समान ही या अपना ही समझ बैठता है। फल यह होता है कि दूसरा आदमी परमार्थ को न जानकर हमारी उपेक्षा करता है और व्यर्थ ही हम हल्के सिद्ध होते हैं। अतः तुझसे प्रार्थना है कि तू तो कम से कम ठहर जा और दूसरे जब तक परमार्थ से अवगत नहीं हो जाते, तब तक प्रवृत्त न हो। नायक के प्रति तात्पर्य यह कि तुझे क्या मालूम कि हम तेरे लिए कितनी परेशान हैं। आखिर कहाँ तक अपने हृदय को इस प्रकार समझाती रहेंगी। इस पर अपना वश कब तक चलेगा॥ ४५॥

ओसहिअजणो पइणा सलाहमाणेण अइचिरं हसिओ।
चन्दो त्ति तुज्झ वअणे विइण्णकुसुमाञ्जलिविलक्खो॥ ४६॥

[आवसथिकजनः पत्या श्लाघमानेनातिचिरं हसितः।
चन्द्र इति तव वदने वितीर्णकुसुमाञ्जलिविलक्षः॥]

प्रशंसा करते हुए पति ने धार्मिक पुरुष की बहुत देर तक खिल्ली उड़ाई, जब कि वह 'चन्द्र' समझ कर तेरे मुख में पुष्पाञ्जलि अर्पित करके लज्जित हुआ।

विमर्श—जार के व्यामोहनार्थं दूती द्वारा नायिका के अतिशय सौन्दर्य का ख्यापन। ओसहिअजण—आवसथिकजन, अर्थात् मठ में निवास करने वाला धार्मिक। पति ने नायिका के मुख की प्रशंसा करते हुए चन्द्र से अभिन्न कहा, तब धार्मिक पुरुष ने उसके फेरे में आकर पुष्पाञ्जलि भी अर्पित कर दी। इस पर वह देर तक उसकी खिल्ली उड़ाता रहा। इस कथन से स्पष्ट है कि पति

को नायिका की प्रशंसा मात्र अभीष्ट था, न कि उसके प्रति उसका हार्दिक प्रेम, क्योंकि उसने देर तक जो धार्मिक पुरुष की खिल्ली उड़ाई, उसका तात्पर्य यही था कि हमने तो झूठ के कहा और यह बेवकूफ सच समझ बैठा। तथा दूती ने 'पति' का प्रयोग कर नायिका के मन में भी उसके प्रति साधारण भाव व्यक्त किया। इस प्रकार दूती का जार के प्रति अभिप्राय है कि नायिका सौन्दर्य-गुणसम्पन्न होने के साथ ही पति में अनुरक्त न होने के कारण सुसाध्य है, तेरा सौभाग्य होगा जब कि तू इसे चाहेगा। 'अलङ्कारकौस्तुभ' में यह 'भ्रान्ति-मान्' अलङ्कार का उदाहरण है ॥ ४६ ॥

छिज्जन्तेहिँ अणुदिणं पच्चक्खम्मि वि तुमम्मि अङ्गेहिं ।
बालअ पुच्छिज्जन्ती ण अणिमो कस्स किं भणिमो ॥ ४७ ॥

[क्षीयमाणैरनुदिनं प्रत्यक्षेऽपि त्वय्यङ्गैः ।
बालक पृच्छ्यमाना न जानीमः कस्य किं भणामः ॥]

अनाड़ी, तेरे सामने होने पर भी प्रतिदिन दुबराये जा रहे अङ्गों के कारण पूछी जाने पर नहीं जानती, कि किसे क्या जवाब दूँ।

विमर्श—शठ नायक के इस कथन पर कि जब सखियाँ तुझसे तेरे दुबराने का कारण पूछती हैं तो क्या जवाब देती है, नायिका का वचन। 'बालक' यह सम्बोधन नासमझ अनाड़ी के अर्थ में प्रयुक्त है। इससे व्यञ्जना यह होती है कि तू स्वयं सपत्नियों के प्रति अनुरक्त होकर मुझे चिन्ता से दुर्बल बना रहा है। पहले तो तेरे प्रवास पर जाने से विरह के कारण मैं दुर्बल थी और अब इस चिन्ता से दुबराई जा रही हूँ। मेरी दुर्बलता का कारण स्वयं होकर भी मुझसे इसका उत्तर लेना चाहता है, आश्चर्य है ! ॥ ४७ ॥

अङ्गाणं तणुआरअ सिक्खावअ दीहरोइअव्वाणं ।
विणआइक्कमआरअ मा मा णं पह्मसिज्जासु ॥ ४८ ॥

[अङ्गानां तनुकारक शिक्षक दीर्घरोदितव्यानाम् ।
विनयातिक्रमकारक मा मा एनां प्रस्मरिष्यसि ॥]

हे अङ्गों को दुबरा देने वाले, अधिक रुदन की शिक्षा देने वाले, शील का अतिक्रमण कर देने वाले, इसे मत-मत याद करना।

विमर्श—दूती का उपालम्भ-वचन, उस नायक के प्रति जिसने नायिका का पहले अनुराग का दिखावा करके शील खण्डित कर दिया और बाद में निकल भागने की तैयारी करने लगा। दूती द्वारा उक्त संबोधनों का क्रमशः तात्पर्य है कि तेरी चिन्ता में उसके अङ्ग-अङ्ग क्षीण हो रहे हैं, वह देर तक

रोया करती है, विनय का अतिक्रमण अर्थात् उसके शील का खण्डन अथवा गुरुजनों के आदेश के अतिक्रमण के प्रेरक तू उसे मत-मत याद करना। विपरीत लक्षण से तात्पर्य यह कि यदि तुझमें थोड़ी भी दया की भावना है तो तेरे लिए इस प्रकार अपने जीवन को संतप्त करती हुई, उसे चलकर शान्त कर या कम से कम स्मरण तो उसे कर ले ॥ ४८ ॥

अण्णह ण तीरइ च्चिअ परिवड्ढन्तगरुअं पिअअमस्स।
मरणविणोएण विणा विरमावेउं विरहदुक्खं ॥ ४९ ॥

[अन्यथा न शक्यत एव परिवर्धमानगुरुकं प्रियतमस्य।
मरणविनोदेन विना विरमयितुं विरहदुःखम् ॥]

प्रियतम के बढ़ते जाते हुए भारी विरह के दुःख को मरणरूप विनोद के विना किसी दूसरे प्रकार से कम करना सम्भव ही नहीं।

विमर्श—प्रवास पर जाने वाले नायक को सुनाते हुए गमन निषेधार्थ नायिका का वचन, सखी के प्रति। नायक के प्रति गाथा की व्यञ्जना यह है कि विरह-दुःख के विनोदार्थ बहुत से उपाय हैं उनमें एक मरण भी है। मैं उसे ही एक मात्र उपयुक्त समझती हूं। मतलब यह कि प्रवास पर तेरे जाने के बाद मेरा मरण अवश्यम्भावी है। यदि तुझे मेरा जीवन अभीष्ट न हो तो परदेश जा ॥ ४९ ॥

वण्णन्तीहिँ तुह गुणे बहुसो अम्हेहिँ छिञ्छईपुरओ।
बालअ सअमेअ कओसि दुलहो कस्स कुप्पामो ॥ ५० ॥

[वर्णयन्तीभिस्तव गुणान्बहुशोऽस्माभिरसतीपुरतः।
बालक स्वयमेव कृतोऽसि दुर्लभः कस्मै कुप्यामः ॥]

अनाड़ी, बहुत बार तेरे गुणों को कुचालियों के आगे वर्णन करती हुई हमने खुद ही तुझे दुर्लभ बना दिया, फिर कोप किस पर करें!

विमर्श—नायिका द्वारा नायक के प्रति अपने अनुराग और उसकी अन्यासक्ति का निवेदन। हमने तो तेरे अनुरागवश उन औरतों से, जो दूसरे पतियों को फंसाया करती हैं, तेरे गुणों का वर्णन निर्भीक होकर किया और उन्हें खूब जानते हुए भी उनके फेरे में तू आ गया। तू बड़ा ही नासमझ निकला। आखिर हम इस अपराध का भागी किसे समझें तुझे या स्वयं को। तात्पर्य यह कि अपराधी तो तू ही है! 'छिञ्छई' असती के अर्थ में देशी शब्द अन्य गाथाओं में भी आ चुका है। 'आक्षेप अलङ्कार' ॥ ५० ॥

जाओ सो वि विलक्खो मए वि हसिऊण गाढमुवगूढो।
पढमोसरिअस्स णिअंसणस्स गण्ठिं विमग्गन्तो ॥ ५१ ॥

[जातः सोऽपि विलक्षो मयापि हसित्वा गाढमुपगूढः ।
प्रथमापर तस्य निवसनस्य ग्रंथि विमार्गयमाणः ॥]

पहले से ही खिसके वस्त्र की गांठ ढूंढ़ता हुआ वह भी लज्जित हो गया और मैंने भी हंस कर जोर से आलिङ्गन किया।

विमर्श—नायिका का वचन, सखी के प्रति अपने सौभाग्य के व्यञ्जनार्थ। गङ्गाधर का कहना है कि अतिशय अनुराग के कारण प्रिय के कर स्पर्श के पहले ही उसके वस्त्र की गांठ शिथिल और स्खलित हो गई। ऐसी स्थिति में वस्त्र की गांठ को ढूंढ़ता हुआ वह लज्जित हुआ। अर्थात् वह जिस कार्य को प्रयत्नपूर्वक सम्पन्न करना चाहता था, वह अतिशय अनुराग के कारण स्वयं सम्पन्न हो गया। फिर वह प्रयत्नशील होने से लज्जित हो जाता है। तब उसकी लज्जा के अपनयनार्थ हंसकर और अपने औत्सुक्यजनित अधैर्य के कारण जोर से नायिका ने उसे आलिङ्गन-पाश में ले लिया ॥ ५१ ॥

कण्डुज्जुआ वराई अज्ज तए सा कआवराहेण।
अलसाइअरुण्णविअम्भिआइँ दिअहेण सिक्खविआ ॥ ५२ ॥

[काण्डर्जुका वराकी अद्य त्वया सा कृतापराधेन।
अलसायितरुदितविजृम्भितानि दिवसेन शिक्षिता ॥]

कंडे की भांति सरल उस बेचारी को अपराधी तू ने आज दिनभर आलस, रुआई और जंभाई की शिक्षा दी है।

विमर्श—दूती द्वारा नायिका के विरहवैधुर्य का प्रकाशन, अन्यासक्त नायक के अनुकूलनार्थ। खुद अपराधी होकर भी जब तूने उससे मुँह मोड़ लिया, तब वह बेचारी कलहान्तरिता की दशा को प्राप्त होकर दिन भर अलसाई, रोती और जंभाई (अंगड़ाई) लेती रही, मानों उसे तूने इन विषयों का पाठ पढ़ा रखा हो। तात्पर्य यह कि उसे यथाशीघ्र इस उत्पीड़न से बचा, और अनुनय का यही अवसर भी है। कण्णुज्जुआ = काण्डर्जुका, अर्थात् कंडे की भांति सरल, लचीली। पाठान्तर कण्णुज्जुआ (कर्णर्जुका = कर्णदुर्बला), अर्थात् कान की कमजोर, जो सुन लेती है उसी पर विश्वास कर बैठती है। किसी ने इसे 'कन्या ऋजुका' भी समझा है ॥ ५२ ॥

अवराहेहिँ वि ण तहा पत्तिअ जह मं इमेहिँ दुम्मेसि।
अवहत्थिअसब्भावेहिँ सुहअ दक्खिण्णभणिएहिं ॥ ५३ ॥

[अपराधैरपि न तथा प्रतीहि यथा मामेभिर्दुनोषि।
अपहस्तितसद्भावैः सुभग दाक्षिण्यभणितैः ॥]

हे सुभग सद्भाव-रहित इन सभ्य बातों से तू जितना मुझे कष्ट देता है उतना अपराधों से नहीं देता, इस पर विश्वास कर।

विमर्श—नायिका का वचन, शठ नायक के प्रति। अपराधों की बात अलग रहे, यह जो तू विना प्रेम के मुलायम बातें किए जा रहा है, इससे मुझे ज्यादा तकलीफ होती है। 'सुभग' इस सम्बोधन की व्यञ्जना यह कि तेरे गूढ़ विप्रिय करने पर भी तू अब तक मेरे स्नेह का भाजन बना है ॥ ५३ ॥

मा जूर पिआलिङ्गणसरहसभमिरीणँ बाहुलइआणं।
तुह्लिक्कपरुण्णेण अ इमिणा माणंसिणि मुहेण ॥ ५४ ॥

[मा क्रुध्यस्व प्रियालिङ्गनसरभसभ्रमणशीलाभ्यां बाहुलतिकाभ्याम्।
तूष्णीकप्ररुदितेन चानेन मनस्विनि मुखेन ॥]

री मानिनी, इस चुप्पीभरे रुआंसे मुखड़े से प्रिय के आलिङ्गन के लिए कम्पनशील भुजलताओं पर न खीझ।

विमर्श—नायक का वचन, मानिनी नायिका के प्रति। नायक ने मानावस्था में आलिङ्गन किया। कुछ विशेष अनुभूति की स्थिति में उस समय उसकी बाहें बरबस दृढ़ आलिङ्गनार्थ मचल पड़ीं। उसके मान की कृत्रिमता स्पष्ट हो गई। इस पर वह अपनी बाहुओं को मारे क्रोध के कोसने लगी। नायक का तात्पर्य है, कि ये बाहुएं निपराध हैं, जो आलिङ्गनार्थ तत्पर हो गईं। सच्चा अपराधी तो मैं हूँ, मुझे ही जो चाहे दण्ड दे ॥ ५४ ॥

मा वच्च पुप्फलाविर देवा उअअञ्जलीहिँ तूसन्ति।
गोआअरीअ पुत्तअ सीलुम्मूलाइँ कूलाइं ॥ ५५ ॥

[मा व्रज पुष्पलवनशीला देवा उदकाञ्जलिभिस्तुष्यन्ति।
गोदावर्याः पुत्रक शीलोन्मूलानि कूलानि ॥]

बेटा, तू फूल चुनने वाला है, पर मत जाना; देवता जल की अञ्जलियों से ही खुश हो जाते हैं, गोदावरी के तट चरित्र को उखाड़ डालते हैं।

विमर्श—किसी जरत्कुट्टनी का वचन, नायक के प्रति। नायक देवार्चन के लिए फूल चुनने का बहाना करके गोदावरी के तटों पर मजा मारने जाया करता है। जिन्दगी भर की खेली हुई जरत्कुट्टनी ने उसकी इस चाल को ताड़ कर कहा। उसका तात्पर्य है, कि यह जो बहाना बनाकर तेरा वहां जाना है, न समझ कि कोई इसे नहीं जानता। शील को उन्मूलित कर डालने वाले गोदावरी के तटों से मैं अपरिचित नहीं हूँ। यदि तुझे देवता को खुश करने मात्र के लिए पुष्प की अपेक्षा है तो वह कार्य केवल जल से भी सम्पन्न हो सकता है! ॥ ५५ ॥

वअणे वअणम्मि चलन्तसीससुण्णावहाणहुङ्कारं ।
सहि देन्ति णीसासन्तरेसु कीस म्ह दुम्मेसि ॥ ५६ ॥

[वचने वचने चलच्छीर्षशून्यावधानहुङ्कारम् ।
सखि ददती निःश्वासान्तरेषु किमित्यस्मान्दुनोषि ॥]

सखी, निःश्वास के बीच बात बात में सिर हिलाकर एकाग्रता के विना हुंकारी भरती हुई तू हमें क्यों दुखी करती है ?

विमर्श—सखी का वचन, नायिका के प्रति । नायिका प्रिय के ध्यान में दत्तचित्त है । सखी कोई बात कह रही है, तब उसकी प्रत्येक बात में सांस लेकर हुंकारी भर देती है । यदि अवधानता के साथ सुनती तो प्रत्येक बात पर हां या ना कहती । सखी ने नायिका को ताड़ लिया और पूछा कि आखिर वह किसे ध्यान कर रही है । जब तक वह नहीं बताती तब तक उसकी सखियों को भी कष्ट होना स्वाभाविक है ॥ ५६ ॥

सब्भावं पुच्छन्ती बालअ रोआविआ तुअ पिआए ।
णत्थि व्विअ कअसवहं हासुम्मिस्सं भणन्तीए ॥ ५७ ॥

[सद्भावं पृच्छन्ती बालक रोदिता तव प्रियया ।
नास्त्येव कृतशपथं हासोन्मिश्रं भणन्त्या ॥]

मैंने स्नेह पूछा तो तेरी प्रिया 'नहीं ही है' यह कसम खाकर और हंसी का पुट देकर बोली कि मैं रो पड़ी ।

विमर्श—नायिका के प्रसादनार्थ प्रेषित दूती का वचन, नायक के प्रति । मैंने जब यह पूछा कि उसके प्रति स्नेह (सद्भाव) रखती है तो वह बोली 'बिलकुल नहीं' यहां तक कि अपनी बात को सत्य सिद्ध करने के लिए कसम खाई और साथ ही अपना कष्ट छिपाने के लिए मुस्कराई । ठीक ही तूने उसे बहुत दुखाया है । मुझसे उसकी तकलीफ न देखी गई और मेरी आंखें डबडबा गईं । तात्पर्य यह, कि उसे अनुरक्त जानकर भी तू उसे कष्ट दिए जा रहा है, तू बिलकुल नासमझ है, अनाड़ी है ॥ ५७ ॥

एत्थ मए रमिअव्वं तीअ समं चिन्तिऊण हिअएण ।
पामरकरसेओल्ला णिवडइ तुवरी ववज्जन्ती ॥ ५८ ॥

[अत्र मया रन्तव्यं तया समं चिन्तयित्वा हृदयेन ।
पामरकरस्वेदार्द्रा निपतति तुवरी उप्यमाना ॥]

यह हृदय में चिन्तन करके कि मुझे उसके साथ यहां रमण करना है, बनिहार के हाथ के पसीने से भींगी, बोई जाती हुई अरहर गिरती है ।

विमर्श—सङ्कल्प मात्र से भी सात्त्विक भाव हो जाते हैं, यह मन में रख-कर किसी महिला का अपनी सखी के प्रति वैदग्ध्य-ख्यापन। प्रायः अरहर की खेती वसन्त के महीनों में हरी-हरी तैयार हो जाती है। उन दिनों में वनिहार (पामर) को अपनी प्रियतमा के साथ अरहर के खेत के निर्जन स्थान में विहार अभी से आनन्दित कर रहा है॥ ५८॥

गहवइसुओच्चिएसु वि फलहीवेण्टेसु उअह वहुआए।
मोहं भमइ पुलइओ विलग्गसेअङ्गुली हत्थो॥ ५९॥

[गृहपतिसुतावचितेष्वपिकर्पासवृन्तेषु पश्यत वध्वाः।
मोघं भ्रमति पुलकितो विलग्नस्वेदाङ्गुलिर्हस्तः॥]

किसान के बेटे से तोड़ लिए जाने पर भी कपास की डालियों में पुलकभरा और पसीने से तर उंगलियों वाला बहू का हाथ निष्फल घूम रहा है।

विमर्श—किसान के बेटे की पत्नी का वचन, सखी के प्रति किसी अन्य नायिका के सम्बन्ध में। तात्पर्य यह, कि कपास नोचने का बहाना करके मेरे पति में यह अनुराग प्रकट कर रही है। इसका प्रयत्न बिलकुल मोघ जायगा, क्योंकि वह डिगने वाला नहीं। इस प्रकार वक्त्री नायिका ने अपने पति के सुन्दर होने और अपने सौभाग्य का संकेत किया है। 'अलङ्कार-रत्नाकर' के अनुसार यह 'उद्भेद' का उदाहरण है॥ ५९॥

अज्जं मोहणसुहिअं मुअत्ति मोत्तू पलाइए हलिए।
दरफुडिअवेण्टभारोणआइ हसिअं व फलहीए॥ ६०॥

[आर्यां मोहनसुखितां मृतेति मुक्त्वा पलायिते हलिके।
दरस्फुटितवृन्तभारावनतया हसितमिव कार्पास्या॥]

सुरत के सुख में पड़ी आर्या को 'मर गई' समझ कर हलवाहा भाग पड़ा, (इस दृश्य को देख कर) थोड़े विकसित वृन्तभार से झुकी हुई कपासी हँस पड़ी।

विमर्श—ग्रामीण की मुग्धता का सूचन, नागरिक द्वारा सहचर के प्रति। 'आर्या' के अर्थ श्रेष्ठा, कनिष्ठ भार्या, ईश्वरसुता, ग्रामनेतृसुता, नववधू, पुत्रवती, आर्यकुलोत्पन्ना, असती आदि विभिन्न टीकाओं में उद्भावित किए गए हैं। इस अंश में प्रायः ऐकमत्य होना चाहिए कि प्रस्तुत गाथा की नायिका अपनी कुलीनता के विरुद्ध आचरण कर बैठी है जो किसी हलिक या हलवाहे के साथ रति-सुख की स्थिति तक पहुँच चुकी है। यह एक स्वतः उपहसनीय विषय है। फिर हलिक ने उसे सुखनिमीलत देखा, तब उसकी मृत्यु की कल्पना करके

हट ही नहीं गया, बल्कि वहाँ से रवाना हो गया। उसकी कामान्धता के कारण यह स्थिति स्वाभाविक भी है। इस दृश्य को देखकर कपासियाँ, जो चारों ओर लगी हुई थीं हँस पड़ीं। उनकी उज्ज्वल रूई को देखकर कवि की यह कल्पना (उत्प्रेक्षा) काव्य-शास्त्र के औचित्य के अनुकूल है, क्योंकि हँसी का रंग सफेदी ही आचार्यों ने स्वीकार किया है, 'यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्योः'। कपासियों के स्त्री के होने के कारण स्त्री के रहस्य से परिचित होना भी औचित्य के अनुकूल हो गया। ठीक ऐसे ही प्रसंग की एक आर्या कश्मीरक कवि और जयापीड़ के मंत्री श्री दामोदर गुप्त (७७९–८०८) के 'कुट्टनीमतम्' (शम्भलीमतम्) नामक काव्य में मिलती है—

'शृणु सखि कौतुकमेकं ग्रामीणक कामिना यदद्यकृतम्।
सुरतरसमीलिताक्षो मृतेति भीतेन मुक्ताऽस्मि॥' (३९९)

इस काव्य की मेरी हिन्दी व्याख्या सुलभ है। इसके संस्कृत टीकाकार श्री तनसुखराम मनःसुखराम त्रिपाठी का कहना है कि यहाँ हीन पात्रों का रतिवर्णन होने पर यद्यपि शृङ्गार रसाभास की स्थिति का हो गया है, तथापि अद्भुत और हास्य की शबलता स्पष्ट ही है॥ ६०॥

णीसासुक्कम्पिअपुलइएहिँ जाणन्ति णच्चिउं धण्णा।
अम्हारिसीहिँ दिट्ठे पिअम्मि अप्पा वि वीसरिओ॥ ६१॥
[निःश्वासोत्कम्पितपुलकितैर्जानन्ति नर्तितुं धन्याः।
अस्मादृशीभिर्दृष्टे प्रिये आत्मापि विस्मृतः॥]

वे धन्य हैं जो निःश्वास, कम्पन और रोमाञ्च के बावजूद भी नाचना जानती हैं, हम-जैसी तो प्रिय के दिख जाने पर अपने-आपको भी बिसार देती हैं।

विमर्श—अपनी निन्दा के बहाने सपत्नियों की निन्दा। प्रियतम के कर-स्पर्श से निःश्वास आदि का अनुभव करके भी नाचने की कला प्रदर्शित करने वाली सपत्नियां धन्य हैं (व्यञ्जना के अनुसार अधन्य हैं जो तत्काल इतनी चेतना रखती हैं)। हमें तो तत्काल अपने-आपका पता नहीं रहता। अर्थात् सच्चे अर्थ में हम धन्य हैं। 'अलंकार-रत्नाकर' के अनुसार व्यतिरेक अलंकार है जो यहाँ ध्वनित होता है। 'व्याजस्तुति' वाच्य है। इस गाथा का समान-रूप श्लोक प्रसिद्ध है—

'धन्याऽसि या कथयसि प्रिय सङ्गमेऽपि
विस्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि'॥ ६१॥

तणुएण वि तणुइज्जइ खीएण वि क्खिज्जए बला इमिण ।
मज्झत्थेण वि मज्झणे पुत्ति कहँ तुज्झ पाडवक्खो ॥ ६२ ॥

[तनुकेनापि तनूयते क्षीणेनापि क्षीयते बलादनेन ।
मध्यस्थेनापि मध्येन पुत्रि कथं तव प्रतिपक्षः ॥]

बेटी, कृश होकर भी, मध्यस्थ भी तेरा यह मध्यभाग तेरे विरोधी जन को कैसे बलपूर्वक कृश कर रहा है, तथा क्षीण होकर भी क्षीण कर रहा है ?

विमर्श—इष्टसिद्धि के लिए दूती द्वारा नायिका की व्याजस्तुति । एक तो जो मध्यस्थ अर्थात् बिचवान रहता है, वह स्वभावतः पक्षपातरहित एवं उदासीन होता है, दूसरे जिसमें कृशता और क्षीणता विद्यमान है, वह कथमपि बलप्रयोग नहीं कर सकता । परन्तु ये दोनों प्रकार के विरोध तेरे मध्यभाग (कटिभाग) में विद्यमान हैं ? तात्पर्य यह कि तू अपनी सपत्नियों से निर्भीक रह, वे तेरा कुछ भी बिगाड़ न पायेंगी, तेरी विजय सिद्ध है ॥ ६२ ॥

वाहिव्व वेज्जरहिओ धणरहिओ सुअणमज्झवासो व्व ।
रिउरिद्धिदंसणम्मिव दूसहणीओ तुह विओओ ॥ ६३ ॥

[व्याधिरिव वैद्यरहितो धनरहितः स्वजनमध्यवास इव ।
रिपुऋद्धिदर्शनमिव दुःसहनीयस्तव वियोगः ॥]

वैद्य के बिना व्याधि की भाँति, निर्धन होकर अपने बांधवों के बीच निवास की भाँति तथा शत्रु की समृद्धि के दर्शन की भाँति तेरा वियोग कष्ट से सहा जा सकता है ।

विमर्श—विदग्धा नायिका का प्रणय-निवेदन, प्रिय के प्रति । किसी के अनुसार प्रिय के प्रति यह संदेश गाथा है । 'अलंकार कौस्तुभ' में मालोपमा का उदाहरण—'मालोपमोपमेयेऽप्येकस्मिंश्चेद् बहूपमानसम्बन्धः ।' यहाँ दुःसहनीयता सर्वत्र एक धर्म है ॥ ६३ ॥

को एथ जअम्मि समत्थो थइउं वित्थिण्णणिम्मलुत्तुङ्गं ।
हिअअं तुज्झ णराहिव गअणं च पओहरं मोत्तुं ॥ ६४ ॥

[कोऽत्र जगति समर्थः स्थगयितुं विस्तीर्णनिर्मलोत्तुङ्गम् ।
हृदयं तव नराधिप गगनं च पयोधरान्मुक्त्वा ॥]

राजन् , कौन इस संसार में विस्तीर्ण, निर्मल एवं उत्तुङ्ग तेरे हृदय को और आकाश को पयोधरों को छोड़ ढंक लेने में समर्थ है ?

विमर्श—वेश्यामाता का उद्गार, विलासी राजा के प्रति । पयोधर अर्थात् स्तन, पक्ष में मेघ । ढंक लेने में अर्थात् अधिकृत कर लेने में । तात्पर्य यह कि आकाश की भाँति तेरे हृदय पर मेरी पुत्री के पयोधर ही अधिकार प्राप्त करने में समर्थ हैं, दुनिया में और कोई नहीं ॥ ६४ ॥

आअण्णेइ अडअणा कुडङ्गहेट्ठम्मि दिण्णसङ्केआ ।
अग्गपअपेल्लिआणं मम्मरअं जुण्णपत्ताणं ॥ ९५ ॥

[आकर्णयत्यसती कुञ्जाधो दत्तसङ्केता ।
अग्रपदप्रेरितानां मर्मरकं जीर्णपत्राणाम् ॥]

कुंज के नीचे संकेत दी हुई छिनाल चरण के अग्रभाग से प्रेरित पुराने पत्तों की मर-मर आवाज सुन रही है।

विमर्श—संकेत स्थान पर पहुँची नायिका के समाश्वासनार्थ कुट्टनी का वचन। चोरी से रास्ता तय करने वाले स्वभावतः पैर की आवाज नहीं होने देते और पैर के अग्रभाग से चलते हैं। परन्तु उनके पैर से लग कर पुराने पत्तों का खड़खड़ना तो सुन पड़ ही जाता है। प्रतीक्षा में बैठी नायिका उसे ही सुन रही है ॥ ९५ ॥

अहिलेन्ति सुरहिणीससिअपरिमलाबद्धमण्डलं भमरा ।
अमुणिअचन्दपरिहवं अपुव्वकमलं मुहं तिस्सा ॥ ९६ ॥

[अभिलीयन्ते सुरभिनिःश्वसितपरिमलाबद्धमण्डलं भ्रमराः ।
अज्ञातचन्द्रपरिभवमपूर्वकमलं मुखं तस्याः ॥]

चन्द्रमा से परिभव को न जानने वाले एवं अपूर्व कमल उसके मुख पर महकी हुई साँसों की खुशबू के कारण मण्डल बाँध कर भौंरे छाये पड़ते हैं।

विमर्श—नायक को उत्कण्ठित करने के उद्देश्य से दूती द्वारा नायिका के मुख-सौरभ का वर्णन। नायिका का मुख वह अपूर्व कमल है, जिसने चन्द्रमा के द्वारा प्राप्त निमीलन रूप परिभव को प्राप्त न किया। बेचारे कमल तो चन्द्रोदय के समय मुंद जाते हैं। दूती ने विदग्धता से नायिका के मुख में कमल और चन्द्र से भी अतिशयित शोभा का वर्णन किया। क्योंकि एक तो इसलिए चन्द्रमा से परिभूत नहीं होता कि वह उसकी भाँति सकलंक नहीं तथा कमल से इसलिए वह विशिष्ट है कि वह चन्द्रपरिभव से अपरिचित है। भौंरों का मुख सौरभ के प्रति लुभाना कामुक जनों के नायिका के प्रति आकर्षण की ओर संकेत है ॥ ९६ ॥

धीरावलम्बिरीअ वि गुरुअणपुरओ तुमम्मि वोलीणे ।
पडिओ से अच्छिणिमीलणेण पम्हट्ठिओ वाहो ॥ ९७ ॥

[धैर्यावलम्बनशीलाया अपि गुरुजनपुरतस्त्वयि व्यतिक्रान्ते ।
पतितस्तस्या अक्षिनिमीलनेन पक्ष्मस्थितो बाष्पः ॥]

गुरुजनों के सामने से तुम्हारे चले जाने पर धीरज का अवलम्बन

करने वाली भी उसका पलकों पर स्थित वाष्प आंख के मुदने पर गिर पड़ा।

विमर्श—दूती द्वारा नायक के प्रति नायिका के अतिशय प्रणय की सूचना। गुरुजनों के सामने तो वह किसी-किसी प्रकार धीरज से अपना विकार छिपाए रही। तुम्हारे चले जाने पर जब उसकी आंखें मुदीं तब वाष्प गिर गया, अर्थात् आखिरकार वह अपने दुःखावेग को न थाम सकी। तात्पर्य यह कि वह तुम्हारे प्रति अतिशय अनुरक्त हो चुकी है। गङ्गाधर का कहना है कि गुरुजनों से लज्जा के कारण वह नायक का अनुगमन न कर सकी, परन्तु वाष्प ने तो किया ही !

भरिमो से सअणपरम्मुहीअ विअलन्तमाणपसराए।
कइअवसुत्तव्वत्तणथणक्लसप्पेल्लणसुहेल्लि ॥ ६८ ॥

[स्मरामस्तस्याः शयनपराङ्मुख्या विगलन्मानप्रसरायाः।
कैतवसुप्तोद्वर्तनस्तनकलशप्रेरणसुखकेलिम् ॥]

शय्या पर मुंह फेरकर वह सो गई, उसका मानवेग कम पड़ने लगा, तब व्याज से सोने की स्थिति में उसके करवट बदलने से स्तनकलशों द्वारा प्रेरणा की सुखकेलि हमें याद आती है।

विमर्श—सहचर के प्रति नागरिक द्वारा अपने सौभाग्य का ख्यापन। मान धारण करने पर भी मेरे प्रति उसके मन की स्वाभाविक स्नेहोत्कण्ठा कोई-न-कोई बहाना ढूँढ निकालने के लिए उसे विवश कर देती थी, जैसा कि सोये में करवट बदलने के बहाने उसने स्तनों के कलशों से प्रेरणा की ॥ ६८ ॥

फग्गुच्छणणिद्दोसं केण वि कद्दमपसाहणं दिण्णं।
थणअलसमुहपलोट्टन्तसेअधोअं किणो धुअसि ॥ ६९ ॥

[फाल्गुनोत्सवनिर्दोषं केनापि कर्दमप्रसाधनं दत्तम्।
स्तनकलशमुखप्रलुठत्स्वेदधौतं किमिति धावयसि ॥]

फगुए के त्योहार में दोष न माने गए कीचड़ का सिंगार किसी ने कर दिया तो स्तनों के कलशों से क्षरते पसीने से धुले उसे फिर क्यों धोती है ?

विमर्श—सखी का परिहास-वचन, नायिका के प्रति। निश्चय ही उसके साथ इस क्रीड़ा में अधिक मजा आया है, इसलिए लगता है वही तेरा प्रियतम होना चाहिए। सरस्वतीकण्ठाभरण में 'फाल्गुनोत्सव' के सम्बन्ध की एक गाथा यह कहकर उद्धृत है कि पश्चिम देश में फाल्गुन की पूर्णिमा में नानाविध क्रीड़ाएं होती हैं—

'अज्ज वि सेअजलोल्लं पव्वाइ ण तीअ हलिअ सोण्हाए।
फग्गुच्छणचिक्खिल्लं जं तइ दिण्णं थणुच्छङ्गे॥
यहां 'अलङ्काररत्नाकर' के अनुसार 'विचित्र' अलङ्कार है, 'विफलः प्रयत्नो विचित्रम्' ॥ ६९ ॥

किं ण भणिओ सि बालअ गामणिधूआइ गुरुअणसमक्खं।
अणिमिसमीसीसिवलन्तवअणणअणद्धदिट्ठेहिं ॥ ७० ॥

[किं न भणितोऽसि बालक ग्रामणीपुत्र्यागुरुजनसमक्षम्।
अनमिषमीषदीषद्वलद्वननयनार्धदृष्टैः ॥]

बालक, गांव के सरदार की लड़की माता-पिता (गुरुजनों) के सामने तुझसे अपलक भाव से थोड़ा-थोड़ा मुख एवं आधे नयनों के दृष्टिपातों से क्या नहीं बोली ?

विमर्श—दूती का वचन, नायक के यह कहने पर कि मैं नायिका के समक्ष गया, तब भी वह मुझसे न बोली। दूती का कहना है कि अपने माता-पिता के सामने क्या तुझसे बातचीत करती, लेकिन उसने अपने मुंह को फेर कर अर्ध दृष्टिपातों से जो कुछ कहा हन्त तू इतना अनाड़ी है कि न समझ सका। तात्पर्य यह कि तेरा गलत सोचना है कि तुझसे वह न बोली, बल्कि वह अपनी आंखों से सब कुछ अपना अभिप्राय कह गई, पर उसे क्या मालूम कि तू इतना भी नहीं समझ सकेगा! किसी ने गाथा की 'धूआ' को 'पुत्री' न मानकर (यद्यपि ग्रामीण भाषा में 'धीआ' शब्द पुत्री के अर्थ में ही अब भी प्रचलित है) 'स्नुषा' यह संस्कृत छाया स्वीकार की है। उनके अनुसार गुरुजन सास-ससुर होंगे ॥ ७० ॥

णअणब्भन्तरघोलन्तबाहभरमन्थराइ दिट्ठीए।
पुणरुत्तपेच्छिरीए बालअ किं जं ण भणिओ सि ॥ ७१ ॥

[नयनाभ्यन्तरघूर्णमानबाष्पभरमन्थरया दृष्ट्या।
पुनरुक्तप्रेक्षणशीलया बालक किं यन्नभणितोऽसि ॥]

बालक, आंखों के भीतर चकराते हुए बाष्पभार से शिथिल एवं बार-बार निहारने वाली दृष्टि से तुझसे क्या नहीं कह डाला।

विमर्श—उपर्युक्त गाथा के समानार्थ गाथा। जबकि तुझे देखकर उसकी आंखों में बाष्प भर आया, फिर भी तुझे अपनी शिथिल आंखों से बार-बार उसने देखा किया तो निश्चय ही उसने अपने भीतर की सारी बात कह डाली, पर तू ही उसे न समझ सका। स० कण्ठाभरण के अनुसार यहां अश्रुरूप अनुभाव से रति की प्रतीति होती है ॥ ७१ ॥

जो सीसम्मि विइण्णो मज्भ जुआणेहिँ गणवई आसी ।
तं ण्विअ एह्णिं पणमाणि हअजरे होहि संतुट्ठा ॥ ७२ ॥
[यः शीर्षे वितीर्णो मम युवभिर्गणपतिरासीत् ।
तमेवेदानीं प्रणमामि हतजरे भव संतुष्टा ॥]

जिस गणेश जी को जवानों ने मेरे सिर का तकिया बनाया था, उन्हीं को अब मैं प्रणाम करती हूँ, मुई बुढाई, तू सन्तुष्ट हो !

विमर्श—जरावस्था के प्राप्त होने पर असती द्वारा जरा को उपालम्भ । प्रस्तुत गाथा की नायिका अपने यौवन काल में कितने ही युवकों के साथ रमण के समय अनुकूलता के लिए गणेश जी की मूर्ति की तकिया बना लेती और अब स्थिति आ गई है कि उसे प्रणाम करती है । यह सब कुछ जरावस्था के कारण ही तो हुआ ? 'गणपति' के पाठान्तर हैं, 'वटजक्खो' 'वडवक्खे' 'वड-रुक्खे' । इनके अनुसार वटवृक्ष में बनी यक्ष की मूर्ति या वटवृक्ष को ही उप-धान बना दिया था । 'अलंकारकौस्तुभ' के अनुसार 'पर्याय' का उदा-हरण ॥ ७२ ॥

अन्तोहुत्तं डज्जइ जाआसुण्णे घरे हलिअउत्तो ।
उक्खाअणिहाणाइँ व रमिअट्ठाणाइँ पेच्छन्तो ॥ ७३ ॥
[अन्तरभिमुखं दह्यते जायाशून्ये गृहे हालिकपुत्रः ।
उत्खातनिधानानीव रमितस्थानानि पश्यन् ॥]

हलवाहे का छोकरा पत्नी से रहित घर में रमणकार्य के स्थानों को गड़े खजाने वाले स्थानों की भाँति देखता हुआ हृदय के भीतर दाह प्राप्त करता है ।

विमर्श—नायिका की सखी द्वारा नायक को निदर्शन के प्रकार से उपा-लम्भ । अथवा गङ्गाधर के अनुसार मरी हुई चोरी से लाई महिला के लिए शोक करते हुए किसी के प्रति अन्यापदेश द्वारा यह कथन कि चोरी से लाई महिला के लिए आखिर क्यों शोक करता है ? प्रथम अवतरण के अनुसार तात्पर्य यह कि जब कि छोटे लोगों के लिए भी प्रियतमा के विरह का दुःख दुःसह हो जाता है तो फिर तू तो दिलदार प्रेमी ठहरा ॥ ७३ ॥

णिद्दाभङ्गो आवण्डुरत्तणं दीहरा अ णीसासा ।
जाअन्ति जस्स विरहे तेण समं कीरिसो माणो ॥ ७४ ॥
[निद्राभङ्ग आपाण्डुरत्वं दीर्घाश्च निःश्वासाः ।
जायन्ते यस्य विरहे तेन समं कीदृशो मानः ॥]

जिसके विरह में नींद उचट जाती है, पीलापन पड़ जाता है, निःश्वास बढ़ जाते हैं, उसके साथ मान कैसा ?

विमर्श—नायिका द्वारा उत्तर, मानोपदेशिनी सखी को। तात्पर्य यह कि प्रिय का विरह मुझसे नहीं सहा जा सकेगा ॥ ७४ ॥

तेण ण मरामि मण्णूहिँ पूरिआ अज्ज जेणरे सुहअ।
तोग्गअमणा मरन्ती मा तुब्भ पुणो वि लग्गिस्सं ॥ ७५ ॥

[तेन न म्रिये मन्युभिः पूरिताद्य येन रे सुभग।
त्वद्गतमना म्रियमाणा मा तव पुनरपि लगिष्यामि ॥]

रे सुभग! क्रोध से भरी आज इस लिए नहीं मर रही हूँ कि तुझमें लगे मन से मरती हुई फिर भी तुझमें मत लग जाऊँ।

विमर्श—प्रिय के अप्रिय व्यवहारों से पीड़ित नायिका का प्रणय कोप से भरा उपालम्भ। यह मान्यता है कि मृत्यु के समय व्यक्ति जिसकी चिन्ता करता है वह उसे प्राप्त होता है—'मरणे या मतिः सा गतिः।' गीता के अनुसार भी—

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ८।६

नायक विप्रिय-परायण होकर भी नायिका के मन से पृथक् नहीं होता, यह उसके सुभगत्व की पुष्टि है, तथा इस बहाने नायिका के अतिशय अनुराग की सूचना है ॥ ७५ ॥

अवरज्झसु वीसद्धं सव्वं ते सुहअ विसहिमो अम्हे।
गुणणिब्भरम्मि हिअए पत्तिअ दोसा ण माअन्ति ॥ ७६ ॥

[अपराध्यस्व विस्रब्धं सर्वं ते सुभग विषहामहे वयम्।
गुणनिर्भरे हृदये प्रतीहि दोषा न मान्ति ॥]

हे सुभग, विश्वास-पूर्वक अपराध करते जाओ, हम तुम्हारा सब सह लेंगे। पतिआओ कि गुणों से भरे हृदय में दोष नहीं अमाते।

विमर्श—प्रिय के अपराधों से कुपित विदग्धा नायिका का उपालम्भ। तात्पर्य यह कि हमारा प्रेम तुम्हारे प्रति स्वाभाविक है, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भावित ही नहीं, जैसी कि तुम्हारे प्रेम की स्थिति है, जो तुरत में रंग बदल लेता है। तुम निश्चिन्त होकर अपराध करते रहो; तुम्हारे गुण ही हमारे हृदय में इस प्रकार भर गए हैं कि दोष के लिए वहाँ जगह ही नहीं। पार्यन्तिक उपालम्भ यह कि इस प्रकार की अनुरागशीला मेरे प्रति तुम्हारा यह आचरण कहाँ तक उचित है? नायिका का अपने प्रति बहुवचन का प्रयोग इस तात्पर्य का व्यञ्जक है कि सिर्फ मैं ही ऐसी नहीं हूँ, मुझ जैसी अकृत्रिम अनुराग वाली सब ऐसा कर सकती हैं ॥ ७६ ॥

भरिउच्चरन्तपसरिअपिअसंभरणपिसुणो वराईए ।
परिवाहो विअ दुक्खस्स वहइ णअणट्ठिओ वाहो ॥ ७७ ॥

[भृतोच्चरत्प्रसृतप्रियसंस्मरणपिशुनो वराक्याः ।
परीवाह इव दुःखस्य वहति नयनस्थितो बाष्पः ॥]

भर करके निकलता और फलता हुआ तथा प्रिय के स्मरण का सूचक, बेचारी के नयनों में ठहरा हुआ वाष्प दुःख के प्रवाह की भांति वह रहा है ।

विमर्श—नायक को त्वरित करने के लिए दूती द्वारा नायिका की विरहावस्था का निवेदन। उस बेचारी की आंखों से वहता हुआ बाष्प वाष्प नहीं वल्कि प्रिय के स्मरण का सूचक दुःख का प्रवाह है। तात्पर्य यह कि वह बेचारी तेरी याद में बहुत पीड़ित हो रही है, शीघ्रता कर ॥ ७७ ॥

जं जं करेसि जं जं जंपसि जह तुम णिअच्छेसि ।
तं तमणुसिक्खिरीए दीहो दिअहो ण संपडइ ॥ ७८ ॥

[यद्यत्करोषि यद्यज्जल्पसि यथा त्वं निरीक्षसे ।
तत्तदनुशिक्षणशीलाया दीर्घो दिवसो न संपद्यते ॥]

तुम जो जो करते हो, जो जो बोलते हो और जैसे देखा करते हो, उस-उसको अनुकरण करके सीखने वाली उसका दिन बड़ा नहीं होता ।

विमर्श—दूती द्वारा नायक के प्रति नायिका के अतिशय प्रणय का प्रकाशन। जी वहलाने के लिए वह तुम्हारे प्रत्येक आचरण को अनुकरण करके सीखती रहती है। इस प्रकार सारे-संसार को भूलकर तुम्हारे प्रति वह एकाग्रचित्त हुई तन्मयता की पराकाष्ठा तक पहुँच गई है। उसे यह खबर नहीं रहती कि दिन कब बीता ॥ ७८ ॥

भण्डन्तीअ तणाइं सोत्तुं दिण्णाइँ जाइँ पहिअस्स ।
ताइं च्चेअ पहाए अज्जा आअड्ढइ रुअन्ती ॥ ७९ ॥

[भर्त्सयन्त्या तृणानि स्वप्तुं दत्तानि यानि पथिकस्य ।
तान्येव प्रभाते आर्या आकर्षति रुदती ॥]

भर्त्सना करती हुई जिन पयालों को बटोही के सोने के लिए दिया था उन्हें ही आर्या अनगुतहीं रोती हुई बटोर रही है ।

विमर्श—नागरिक का वचन, सहचर के प्रति अपनी मार्मिकता के प्रदर्शनार्थ। बटोही आया और रात भर सुख से सोने के लिए पयाल मांगे। नायिका ने बहुत डांट-फटकार के बाद उसे सोने के लिए पयाल दिए। जब बाद में आंखें गड़का कर उसे निहारा, तब उसके रूपलावण्य पर दिल दे बैठी।

फलतः पथिक उसके हाथ से निकल गया और प्रातः रोती हुई पथिक के शरीर के स्पर्श वाले पयालों को बटोर रही है ॥ ७९ ॥

वसणम्मि अणुव्विग्गा विहवम्मि अगव्विआ भए धीरा।
होन्ति अहिण्णसहावा समेसु विसमेसु सप्पुरिसा ॥ ८० ॥
[व्यसनेऽनुद्विग्ना विभवेऽगर्विता भये धीराः।
भवन्त्यभिन्नस्वभावाः समेषुविषमेषु सत्पुरुषाः ॥]

सत्पुरुष दुःख पड़ने पर नहीं घबड़ाते, ऐश्वर्य पाकर गर्व नहीं करते, भय उपस्थित होने पर धीर बन जाते हैं, अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियों में उनके स्वभाव (चरित्र) में कोई फर्क नहीं आता।

विमर्श—सामान्यतः यह गाथा एक सुभाषित है। गङ्गाधर के अनुसार कोई व्यक्ति सहचर को गाम्भीर्य सिखाने के उद्देश्य से सत्पुरुष की प्रशंसा करता है। इसी मार्ग से यह भी कल्पना की गई कि कोई दूती सत्पुरुष के स्वभाव के वर्णन के बहाने भीत नायक को अभिलषित नायिका से मिलने के लिए प्रवृत्त करती है ॥ ८० ॥

अज्ज सहि केण गोसे कं पि मणे वल्लहं भरन्तेण।
अम्हं मअणसराहअहिअअव्वणफोडनं गीअं ॥ ८१ ॥
[अद्य सखि केन प्रातः कामपि मन्ये वल्लभां स्मरता।
अस्माकं मदनशराहतहृदयव्रणस्फोटनं गीतम् ॥]

सखी, आज अनमुन्हारे किसी ने कोई अपनी प्रियतमा को याद करते हुए गीत गाया कि कामदेव के बाणों से आहत हमारे हृदय के घाव फूट पड़े।

विमर्श—सखी के प्रति नायिका का वचन। प्रोषितपतिका की अवस्था में नायिका ने प्रातःकाल ही किसी विरही पथिक के द्वारा विरहगीत सुना कि उसके हृदय के घाव ताजे हो गए। उसने इस कष्ट को अपनी सखी से सुनाया। पथिक का विरह राग में गाया हुआ गीत बड़ा ही द्रावक होगा, जिसने विरहिणी नायिका की आन्तरिक अनुभूतियों को तीव्र करके उसके हृदय के घाव छिल डाले। घाव के छिल या फूट जाने की पीड़ा अधिक दर्दनाक होती है। प्रातःकाल में पथिक के द्वारा विरह-गीत गाए जाने का संकेत यह है कि रात में पथिक ने बड़ी विकलता से प्रियतमा का स्मरण करके यापन किया, उसकी सारी विकलता प्रातःकाल के उस गीत के रूप में अभिव्यक्त हुई और समानदुःखा विरहिणी नायिका को भी बुरी तरह प्रभावित किया। पीताम्बर ने निष्कर्ष यह दिया है कि ज्ञानी पुरुष को

चाहिए कि (प्रातःकाल जैसे मूहूर्त में उठकर) सुख-दुख का ध्यान करके धर्म मात्र का स्मरण करे। गाथा में प्रयुक्त 'गोस' शब्द 'प्रभात' के अर्थ में देशी है। (देशी नाममाला २।९६)। 'भरन्तेण' में 'भरण' की छाया 'स्मरण' इस ग्रन्थ में और भी (२२२; ३७७) है ॥ ८१ ॥

उट्ठन्तमहारम्भे थणए दट्ठूण मुद्धवहुआए ।
ओसण्णकवोलाए णीससिअं पढमघरिणीए ॥ ८२ ॥
[उत्तिष्ठन्महारम्भौ स्तनौ दृष्ट्वा मुग्धवध्वाः ।
अवसन्नकपोलया निःश्वसितं प्रथमगृहिण्या ॥]

नववधू के उठाव लेते हुए स्तनों को देखकर पहली घरवाली के गालों पर सूखा पड़ गया (या पसीना आ गया) और उसने लम्बी सांस छोड़ी।

विमर्श—प्रौढ़ा की उक्ति। यह स्वाभाविक है कि जब नायक की दूसरी पत्नी अपने यौवन पर आने की स्थिति में होने लगती है, तब प्रथम पत्नी का गौरव कम हो जाता है। वह इसे सहन करने में भीतरी कष्ट का अनुभव करती है। इस गाथा में भी प्रथम गृहिणी ने जब देखा, कि नववधू के स्तन अब उभरने लगे हैं तब उसने दीर्घ श्वास छोड़कर अपना कष्ट व्यक्त किया, उसके कपोल अवसन्न हो गये अर्थात् सूख गए अथवा उन पर पसीना आ गया। उसकी इस स्थिति का कारण उसकी यह चिन्ता थी कि अब उस प्रवर्धमानकुचा के सामने उस पतितकुचा की कोई कद्र न होगी। पीताम्बर कहते हैं कि गाथा में धर्म यह सूचित है कि दूसरों की बढ़न्ती देखकर ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए और नीति यह है कि थोड़े शत्रु को भी बचाना न चाहिए तथा युक्ति है कि संसार सर्वथा दुःखमय है ॥ ८२ ॥

गरुअछुआउलिअस्स वि वल्लहकरिणीमुहं भरन्तस्स ।
सरसो मुणालकवलो गअस्स हत्थे च्चिअ मिलाणो ॥ ८३ ॥

[गुरुकक्षुधाकुलितस्यापि वल्लभकरिणीमुखं स्मरतः ।
सरसो मृणालकवलो गजस्य हस्त एव म्लानः ॥]

जोर की भूख से व्याकुल हुए भी जब हाथी को प्रिया हथिनी का मुख याद आया, तब उसके हाथ का सरस मृणाल-कवल पड़ा-पड़ा मुर्झा गया।

विमर्श—मन्दस्नेह नायक को अनुरक्त करने के उद्देश्य से दूती द्वारा गजान्योक्ति। जब भूखे हाथी को अपनी प्रियतमा याद आई तो उसके हाथ का मृणाल पड़ा-पड़ा मुर्झा गया। उसको फिर भूख की खबर न रही। तात्पर्य यह कि जो हाथी लापरवाह पशुओं की गणना में आता है, वह भी प्रियतमा की याद में सब कुछ भूल जाता है और तुम तो इन्सान ठहरे! मृणाल भोजन

के अवसर पर ही प्रियतमा हथिनी का स्मरण यह व्यंजित करता है कि हाथी ने यह सोचा कि हाय जो मैं अपनी प्रियतमा को खिलाकर खाता था, आज, वही मैं अकेले खा रहा हूं ? नायक के प्रति यह व्यंजित होता है कि तू अपनी प्रियतमा नजदीक में रहते हुए भी अन्य नायिकाओं के साथ रहा करता है । काश ! तुझमें प्रियानुरागी एक पशु का भी गुण आ जाता । पीताम्बर के अनुसार पति में विनीत रहने वाली वल्लभा के ही दोनों लोक अच्छे बनते हैं यह धर्म है, पुत्र, कलत्र आदि अनुकूल भी हों तब भी उन्हें अनुकूल करना चाहिए यह नीति है और युक्ति है कि जिसे तत्वज्ञान हो जाता है उसे फिर आहार आदि का रस नहीं मिलता ॥ ८३ ॥

पसिअ पिए का कुविआ सुअणु तुमं परअणम्मिको कोवो ।
को हु परो नाथ तुमं कीस अपुण्णाण मे सत्ती ॥ ८४ ॥
[प्रसीद प्रिये का कुपिता सुतनु त्वं परजने कः कोपः ।
कः खलु परो नाथ त्वं किमित्यपुण्यानां मे शक्तिः ॥]

प्रिये ! प्रसन्न हो ! कुपित कौन है ? री सुतनु, तू ! पराये आदमी पर कोप कैसा ? पराया कौन ? स्वामी, तुम ! कैसे ? यह मेरे पापों का प्रभाव है !

विमर्श—मानिनी नायिका और अनुनय करते हुए नायक के प्रश्नोत्तर । नायक ने मानिनी को 'प्रिये' कह कर सम्बोधन किया और उसके प्रसन्न होने की प्रार्थना की । 'प्रिये' यह सम्बोधन का प्रयोग अपना प्रणय व्यञ्जित करने के लिए है । पर नायिका ने प्रश्न का ही मूलोच्छेद करते हुए पूछा कि कुपित कौन है ? कुपित होने पर प्रसन्न होने के लिए प्रार्थना संगत हो सकती है । जब नायक ने उत्तर में कहा कि तू ही कुपित है, तब नायिका ने कहा कि पराये पर कोप कैसा ? कोप तो अपनों पर होता है जिसका कुछ लाभ भी हो जाने की सम्भावना होती है । इतने पर नायक कुछ विश्वास न करके पूछता है कि पराया कौन है ! तब उत्तर मिलता है 'स्वामी, तुम पराये हो !' 'स्वामी' इस सम्बोधन की व्यञ्जना है कि कहने के लिए तो तुम मेरे स्वामी हो और मैं तुम्हारी धर्मपत्नी, पर तुम्हारा अनुराग और कहीं है, मुझमें नहीं । 'प्रिये' यह सम्बोधन तो सिर्फ तुम्हारा दिखावा है ! पुनः नायक के 'कैसे ?' यह प्रश्न करने पर नायिका का यह कथन कि यह मेरे अपुण्यों या पापों का ही दुष्परिणाम है कि मैं तुम्हारी होकर भी तुम्हारे स्नेह का भाजन न बन सकी । श्री मथुरानाथ शास्त्री के अनुसार किसी को यह उपदेश देते हुए, कि मान धारण करके भी प्रिय के साथ ऋजुता का व्यवहार रखना चाहिए, यह गाथा कही गई है । पीताम्बर ने गाथा के 'कीस अपुण्णाण मे सत्ती' इस अंश को नायक

वचन मानकर भ्रान्त-सा अर्थ कर डाला है। उन्हीं पीताम्बर के अनुसार गाथा की नायिका 'उत्तमा' है जो कुपित होकर भी अपने गौरव का त्याग नहीं करती है।

दोषानुरूपकोपानुनीताऽपि प्रसीदति ।
रज्यते च भृशं नाथे गुणहार्योत्तमेति सा ॥

धर्म यह सूचित है कि कोप होने पर भी रूक्ष नहीं बोलना चाहिए, नीति यह कि अत्यन्त स्नेही के साथ झूठा या अप्रिय व्यवहार नहीं करना चाहिए और भी नीति यह कि अधर्म से तत्त्वज्ञान उत्पन्न नहीं होता अतः अधर्म की ओर प्रवृत्त नहीं होना चाहिए ॥ ८४ ॥

एहिसि तुमं त्ति णिमिसं व जग्गिअं जामिणीअ पढमद्धं ।
सेसं संतावपरव्वसाइ वरिसं व वोलीणं ॥ ८५ ॥
[एष्यसि त्वमिति निमिषमिव जागरितं यामिन्याः प्रथमार्धम् ।
शेषं सन्तापपरवशाया वर्षमिव व्यतिक्रान्तम् ॥]

'तुम आओगे' इस (खुशी) में वह पलक भर की भांति रात्रि के अर्ध-भाग तक जगी रही, (बाद में जब तुम न आए) सन्ताप के पराधीन उसका शेष रात्रि का भाग वर्ष की भांति व्यतीत हुआ।

विमर्श—दूती द्वारा नायक से विप्रलब्धा नायिका का वृत्तान्त-कथन। नायक जब समय देकर भी नायिका से मिलन के लिए उपस्थित नहीं होता ऐसी अवस्था में नायिका 'विप्रलब्धा' या 'वञ्चिता' कहलाती है। प्रस्तुत गाथा की नायिका विप्रलब्धा है, क्योंकि वह नायक के आगमन की आशा में आधी रात तक बहुत खुश रही और फिर जब निराश हो गई तब उसने रात्रि के शेष भाग को बड़े कष्ट से यापित किया। दूती ने नायक से यह कहकर नायिका का उसके प्रति अतिशय अनुराग व्यक्त किया है। पीताम्बर के अनुसार गाथा से सूचित होता है कि वह कार्य नहीं करना चाहिए जिसके करने पर पश्चात्ताप होता है, यह धर्म है, नीति है कि सुख के कारण मन के उड़े रहने पर बीते हुए समय का भी ज्ञान नहीं होता, अतः इसे नहीं करना चाहिए और एक ही वस्तु अवस्थाभेद से सुखकर और दुःखकर हो जाती है, इसे और संचार की नित्यता को सोचकर योगी को उदासीन रहना चाहिए, यह युक्ति है ॥ ८५ ॥

अवलम्बह मा सङ्कह ण इमा गहलङ्घिआ परिब्भमइ ।
अत्थक्कगज्जिउब्भन्तहित्थहिअआ पहिअजाआ ॥ ८६ ॥
[अवलम्बध्वं मा शङ्कध्वं नेयं ग्रहलङ्घिता परिभ्रमति ।
आकस्मिकगर्जितोद्भ्रान्तत्रस्तहृदया पथिकजाया ॥]

इसे सम्हालो, डरो नहीं, यह ग्रहों से आविष्ट होकर नहीं घूम रही है, किन्तु यह विरहिणी मेघ के एका-एक गर्जन से भड़क गई और डर गई है।

विमर्श—प्रोषितपतिका की सखी का सामान्य जन के प्रति वचन। या सातवीं उन्मादावस्था को प्राप्त विरहिणी किसी द्वारा परिगृहीत होकर जीवित रहे यह सोचकर सखी ने कामुकों के प्रति कहा है। किं वा, काम ने इसके हृदय को आकृष्ट करके ऐसा उन्मत्त बना डाला है, कि यह लोक-लाज बिलकुल छोड़ चुकी है। नायिका का प्रियतम परदेश में है वह यों ही शून्य हृदय रहा करती है। वह अकस्मात् मेघ का गर्जन सुनकर चौंक या भड़क गई और इस प्रकार डर गई कि देखने वाले सामान्य जनों को शंका होने लगी कि उसे किसी भूत ने पकड़ लिया है। इस स्थिति में उसे सम्हालने का साहस जब कोई नहीं कर रहा था, तब उनकी शंका मिटाने के निमित्त सखी ने प्रस्तुत गाथा कही। स्पष्ट ही वह कामोन्माद की स्थिति में पहुंच चुकी है। पीताम्बर के अनुसार इस गाथा से नीति यह हासिल होती है कि बिना तत्त्व के जाने जहां कहीं भी शंका नहीं करनी चाहिए, और युक्ति है कि मुमुक्षु को विकल और दीन के प्रति दयावान् होना चाहिए। सरस्वतीकंठाभरण में यह गाथा प्रेम की पुष्टि होने पर उन्माद के प्रसंग में उदाहृत है। देशी कोश के अनुसार गाथा में प्रयुक्त 'अत्थक्क' शब्द 'अकस्मात्' के अर्थ में और हित्थ' शब्द व्रीडित या भीत के अर्थ में हैं। 'हित्थ' को महाराष्ट्री में व्याकरणकार 'त्रस्त' से निकला बताते हैं। एस० गौल्दश्मित्त इसे 'भीस्' से जोड़ता है। वेबर इसे 'ध्वस्त' या 'अधस्तात्' से सम्बन्धित मानता है। होप्फर का विचार था कि 'त्रस्त' के आरम्भिक वर्ण 'त' के हकारयुक्त हो जाने के कारण 'हित्थ' रूप बन गया है ॥ ८६ ॥

केसररअविच्छड्डे मअरन्दो होइ जेत्तिओ कमले।
जइ भमर तेत्तिओ अण्णहिं पि ता सोहसि भमन्तो ॥ ८७ ॥

[केसररजः समूहे मकरन्दो भवति यावान्कमले।
यदि भ्रमर तावानन्यत्रापि तदा शोभसे भ्रमन् ॥]

हे भ्रमर, यदि कमल के केसरों के फैले हुए पराग में जितना मकरन्द (रस) होता है, उतना अन्यत्र किसी पुष्प में होता तो तू घूमता हुआ शोभा देता।

विमर्श—घुमन्तू भौंरे के व्यपदेश से नायिका के गुणोत्कर्ष को सूचित करती हुई सखी की बहुतों से प्रेम करने वाले नायक के प्रति उक्ति। अथवा पीताम्बर के अनुसार अन्यासक्त नायक को उचित अनुनय के द्वारा अपने

अधीन करने के उद्देश्य से किसी अधिक वयस्का का कथन। गंगाधर का अवतरण है कि कोई नायिका अपना गुणोत्कर्ष ख्यापित करती हुई प्रिय से कहती है। 'भ्रमर' यह सम्बोधन व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'घुमन्तू' (भ्रमतीति भ्रमरः) के अनुसार सार्थक है। नायक, जो अधिक गुणों वाली अपनी प्रिया को छोड़ कर कम गुण वालियों के साथ रहा करता है, इससे सिद्ध है कि उसे गुण पहचानने की क्षमता नहीं है। सखी का यह उपालम्भ है। पीताम्बर के अनुसार जिस कर्म में अधिक फल का लाभ हो, उसमें प्रवृत्ति होनी चाहिए यह धर्म है; नीति है कि जब तक कोई अधिक लाभ न होता हो तब तक प्राप्त होते हुए लाभ को परित्याग न करना चाहिए। 'विच्छड्डे' की छाया 'समूहे' के स्थान पर 'विस्तृते' अधिक उपयुक्त है। यद्यपि 'पाइअसद्दमहण्णव' में इसे देशी शब्द मान कर 'समूह' अर्थ किया गया है ॥ ८७ ॥

पेच्छन्ति अणिमिसच्छा पहिआ हलिअस्स पिट्ठपण्डुरिअं।
धूअं दुद्धसमुद्दुत्तरन्तलच्छिं विअ सअह्णा ॥ ८८ ॥
[प्रेक्षन्तेऽनिमिषाक्षाः पथिका हलिकस्य पिष्टपाण्डुरिताम्।
दुहितरं दुग्धसमुद्रोत्तरल्लक्ष्मीमिव सतृष्णाः ॥]

हलवाहे की छोकरी पिसान पुत जाने से इस तरह सफेद हो गई है कि ललचाए राहगीर दूध के समुद्र से निकली हुई लक्ष्मी के समान उसे टकटकी बाँध कर देखते हैं।

विमर्श—सहचर की सहचर के प्रति उक्ति। प्रसंग है कि निसर्ग सौन्दर्य के रहते उत्पन्न कोई आकस्मिक विकृति भी श्री को बढ़ाने ही लगती है, बाधक नहीं होती। कालिदास ने भी कहा है—'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।' हलवाहे की लड़की का मुख बिल्कुल पिसान से पुत गया है, फिर भी ललचाए (सतृष्ण) राहगीर दूध के समुद्र से निकली हुई लक्ष्मी के समान उसे टक बाँध कर देखने लगे। जिस प्रकार लक्ष्मी को देख कर देवताओं के मन में यह भावना हुई थी कि वह हमें प्राप्त होती, वही इन पथिकों की भी हुई, यह भाव व्यञ्जित हुआ जो हलवाहे की लड़की का अतिशय सौन्दर्य सिद्ध करता है। 'पिट्ठ' या पिष्ट का शब्दार्थ पीसा हुआ अर्थात् पिसान है जो गेहूँ, चावल आदि के आटे के लिए प्रयुक्त हुआ है। पीताम्बर ने 'पिट्ठ' को 'पिष्टातक' माना है और कहा है कि चावल की खुद्दी से बनाया हुआ 'पलपास' नाम से प्रसिद्ध पदार्थ जिसमें दूध आदि भी पड़ता है। हो सकता है कि यह खास प्रकार का पटवास होता था, जिसका उपयोग प्राचीन-काल में सौन्दर्य के लिए आज के 'पाउडर' की तरह किया जाता होगा। ग्रामबाला का उसके लगाने की प्रक्रिया से

अनभिज्ञ होना निहायत मुनासिब है। पीताम्बर के अनुसार इस गाथा से धर्म यह बोधित होता है कि नित्य श्री की अभिलाषा करनी चाहिए और नीति भी यही है। 'धूआ' शब्द संस्कृत की 'दुहितृ' से दीर्घीकरण की प्रक्रिया के अनुसार निष्पन्न है, इसीका अर्धमागधी में धूया और शौरसेनी तथा मागधीमें 'धूदा' होता है। कहीं 'धीया' रूप भी मिलता है जो आज भी पूर्वी ग्रामीण बोलियों में 'धिया' के रूप में इसी अर्थ में सुरक्षित है ॥ ८८ ॥

कस्स भरिसि त्ति भणिए को मे अत्थि त्ति जम्पमाणाए।
उव्विग्गारोइरीए अम्हे वि रुआविआ तीए ॥ ८६ ॥

[कस्य स्मरसीति भणिते को मेऽस्तीति जल्पमानया।
अद्विग्नरोदनशीलया वयमपि रोदितास्तया ॥]

'तू किसे याद करती है?' यह पूछने पर 'मेरा कौन है!' यह कहती हुई वह उद्विग्न होकर रोने लगी और हमें भी रुला डाला।

विमर्श—नायक के प्रति दूती का वचन। नायिका नायक के साथ हुए कलह से पछता रही है और अधिक खिन्न है। रुष्ट नायक को मनाने के उद्देश्य से दूती ने कहा कि उसे ऐसा इस समय लग रहा है कि उसका कोई अपना नहीं है, यह सोच कर वह बिलकुल दयनीय हो गई है, जब वह रोने लगी तो मैं भी डबडबा गई। जहाँ तक जल्दी आकर तुम्हें अनुनय करके उसे मनाना चाहिए। पीताम्बर कहते हैं कि जिनके मन में धर्म की भावना होती है वे पराये के दुःख से दुखी होते हैं यह धर्म है जिसमें, स्नेह की मात्रा नहीं है उसके समक्ष सुख-दुःख नहीं कहना चाहिए यह नीति है; और जिनके अन्तःकरण में करुणा होती है वे ही मुक्ति के अधिकारी होते हैं, यह युक्ति है ॥८९॥

पाअपडिअं अहव्वे किं दाणिँ ण अट्ठवेसि भत्तारं।
एअं विअ अवसाणं दूरं पि गअस्स पेम्मस्स ॥ ६० ॥

[पादपतितमभव्ये किमिदानीं नोत्थापयसि भर्तारम्।
एतदेवावसानं दूरमपि गतस्य प्रेम्णः ॥]

अरी अभागिन, मरद तेरे पैरों पर पड़ा है, क्यों नहीं अब इसे तू उठा लेती है? जब प्रेम दूर तक बढ़ जाता है, तब यही उसका अवसान होता है।

विमर्श—मान न छोड़ती हुई नायिका के प्रति सखी की सरोष उक्ति? 'अभागिन' यह विशेषण उसके प्रणयरोष को व्यञ्जित करता है। उसका तात्पर्य है कि अगर तू अब भी जब प्रिय तेरे पैरों पर पड़ा है मान छोड़ कर उसे नहीं उठाती है तो री नासमझ, तूँ जान ले कि फिर इसके राग के बदले तुझे द्वेष ही मिलने वाला है, क्योंकि राग का तनाव 'पादपतन' की सीमा तक होता है,

न सम्हालने पर वह टूट जाता है। फलतः जान देने वाला प्रेमी जान लेने वाला बन जाता है। पीताम्बर कहते हैं कि अपराधी भी जब पैर पर पड़ जाता है तब क्रोध नहीं करना चाहिए यह धर्म है और नीति यह है कि हितैषी को चाहिए कि वह डाँट-डपट कर भी अपने आदमी को गलत रास्ते पर से निवारण करे ॥ ९० ॥

तडविणिहिअग्गहत्था वारितरङ्गेहिँ घोलिरणिअम्बा ।
साळूरी पडिबिम्बे पुरिसाअन्तिव्व पडिहाइ ॥ ९१ ॥

[तटविनिहिताग्रहस्ता वारितरङ्गैर्घूर्णनशीलनितम्बा ।
शालूरी प्रतिबिम्बे पुरुषायमाणेव प्रतिभाति ॥]

मेढकी ने तालाब के तट पर अपना हाथ टेक लिया है, उसका नितम्ब जल की तरंगों से हिल रहा है, जैसे, वह अपने प्रतिबिम्ब पर पुरुषायित कर रही है।

विमर्श—सुनते हुए नायक को सरोवर-तीर के संकेतस्थान पर चलने के लिए उत्कण्ठित करती हुई सखी से पुरुषायित में अपनी कुशलता कहती है। अथवा अभिसारिका नायक को यह दिखाकर पुरुषायित के लिए उत्साहित करती है। गङ्गाधर के अनुसार विपरीत रत की अपनी अभिलाषा को सूचित करती हुई नायिका प्रिय से कहती है। इस प्रसंग में 'अमरुक' के नाम शार्ङ्गधर पद्धति में संगृहीत यह आर्या दर्शनीय है—'ललितसुरसा तरन्ती तरलतरङ्गौघचालित नितम्बा। विपरीतरतासक्तेव दृश्यते सरसि सा सख्या (अम० शत० १६१) ॥ ९१ ॥

सिक्करिअमणिअमुहवेविआइँ धुअहत्थसिञ्जिअव्वाइं ।
सिक्खन्तु वोडहीओ कुसुम्भ तुम्ह प्पसाएण ॥ ६२ ॥

[सीत्कृतमणितमुखवेपितानि धुतहस्तशिञ्जितव्यानि ।
शिक्षन्तु कुमार्यः कुसुम्भ युष्मत्प्रसादेन ॥]

हे कुसुम्भ के पेड़, सीत्कार, मणित, मुखवेप, हस्तकंप, नूपुर की शिञ्जित, ये सब कुछ क्वारियां तेरी कृपा से ही सीखें।

विमर्श—कुसुम्भ की वाड़ी में हुए अपने सुरत कृत्य को छिपाने के निमित्त नायिका का कथन। पीताम्बर के अनुसार कोई गंवई स्त्री कुसुम्भ की वाड़ी में किसी विदग्ध नायक के साथ मजा मार कर कुसुम्भ वृक्ष की स्तुति के व्याज से उसी नायक का स्तवन करती है। कटीले कुसुम्भ के वृक्ष के पास जाने और नायक के साथ समागम करने इन दोनों में एक ही जैसे विकार होते हैं। कांटा गड़ जाने अथवा नायक द्वारा दन्तक्षतादि करने से 'सी' 'सी'

की आवाज निकल पड़ती है। इसी प्रकार मणित (सुरत में होने वाली एक खास आवाज), मुख का कांपना, हाथों का कांपना, नूपुर की आवाज। इस प्रकार नायिका ने सुरत सुख से जायमान उपर्युक्त विकारों को कुसुम्भ के कांटे गड़ जाने से उत्पन्न स्थिति में अन्तर्भुक्त कर लिया है। तात्पर्य यह कि नायिका ने ये सब कुछ कुसुम्भ से सीखा है। उसका इस अंश में अनुभव नहीं है। 'बोडही' शब्द तरुणी या कुमारी के अर्थ में 'देशी' है। अथवा 'पामरी' के अर्थ में यह देशी शब्द है ॥ ९२ ॥

जेत्तिअमेत्ता रच्छा णिअम्ब कह तेत्तिओ ण जाओ सि।
जं छिप्पइ गुरुअणलज्जिओ सरन्तो वि सो सुहओ ॥ ९३ ॥

[यावात्प्रमाणा रथ्या नितम्ब कथं तावन्न जातोऽसि।
येन स्पृश्यते गुरुजनलज्जापसृतोऽपि स सुभगः ॥]

हे नितम्ब, गली जितनी चौड़ी है उतना चौड़ा क्यों न बना? जिससे गुरुजनों की लाज से बच कर जाता हुआ भी वह सुभग छू जाता!

विमर्श—गुरुजनों की लज्जा से मार्ग में प्रियतम के बच कर चले जाने से जब नायिका को उसके अङ्गों का स्पर्श-सुख न मिला तब नितम्ब को उलहना देती है। अथवा नितम्ब के व्यपदेश से सुनते हुए जार को अनुकूल करने के निमित्त नायिका द्वारा अपने अतिशय अनुराग की सूचना। प्रथम अवतरण के अनुसार पीताम्बर का कहना है कि काम राग से पीड़ित को चेतनाचेतन की सूझ बिलकुल नहीं रहती। गरीब नितम्ब को कान कहां कि वह नायिका के उपालम्भ को सुनता! 'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु'। पीताम्बर के अनुसार गुरुजनों के समीप स्त्री के साथ बातचीत और स्पर्श आदि निषिद्ध है, अतः उसे आचरण नहीं करना चाहिए, यह धर्म है। समय से प्राप्त फल का उपभोग न होने पर पीछे सन्ताप होता है, यह नीति है ॥ ९३ ॥

मरगअसूईविद्धं व मोत्तिअं पिअइ आअअग्गीओ।
मोरो पाउसआले तणग्गलग्गं उअअबिन्दुं ॥ ९४ ॥

[मरकतसूचीविद्धमिव मौक्तिकं पिबत्यायतग्रीवः।
मयूरः प्रावृट्काले तृणाग्रलग्नमुदकबिन्दुम् ॥]

पावस ऋतु में मोर मरकत की सूई से विधे मोती के समान तृण के अग्रभाग में लगे जल के बिन्दु को गर्दन फैला कर पीता है।

विमर्श—कोई चपला नायिका तृणलतागृह को अपना संकेत स्थान जार को बताती हुई कहती है, अथवा, जिस प्रकार मरकत की सूई से मोती का वेधना सम्भव नहीं उस प्रकार किसी दुष्प्राप्य नायिका के साथ नायक का

समागम भी सम्भावित नहीं, इस उद्देश्य से दूती का वचन। अथवा, कामुक के संकेत स्थान पर न पहुँचने की बात प्रमाणित करती हुई दूती अथवा नायिका का वचन। तृतीय अवतरण की पुष्टि में कह सकते हैं कि इस स्थान में तुम्हारे न आने का स्पष्ट प्रमाण यह है कि घास पर वर्षा के बाद के जल-बिन्दु मोती की तरह लहरा रहे हैं, जिन्हें मोर गर्दन दीर्घ करके पिए जा रहा है। तुम आए रहते तो ये जल के कण घासों पर टिके न रहते, पैरों के आघात से गिर जाते! मयूर के द्वारा घासों के जल-कणों को गर्दन फैला कर ग्रहण करने की बात को लेकर पीताम्बर कहते हैं, कि वर्षा में जल के पर्याप्त रहने पर भी मोर घास के अग्रभागों पर टिके हुए जलकणों को ही ग्रहण करता है, इससे निवृत्ति से धर्म होता है, यह धर्म सूचित किया है तथा दूर पर भी रहने वाले कार्य को कुशल लोग सिद्ध कर लेते हैं, यह नीति है ॥९४॥

अज्जाइ णीलकञ्चुअभरिउव्वरिअं विहाइ थणवट्टं।
जलभरिअजलहरन्तरदरुग्गअं चन्दबिम्ब व्व ॥ ९५ ॥

[आर्याया नीलकञ्चुकभृतोर्वरितं विभाति स्तनपृष्ठम्।
जलभृतजलधरान्तरदरोद्गतं चन्द्रबिम्बमिव ॥]

आस्मानी चोली में भरा और उभरा हुआ आर्या के स्तनों का ऊपरी भाग जल से भरे मेघों के बीच थोड़ा-सा निकले चन्द्र-बिम्ब की भाँति शोभ रहा है।

विमर्श—कृष्णाभिसारिका नायिका के पहने हुए नीलकञ्चुक के सम्बन्ध में नायक के विनोदार्थ दूती का वचन। कृष्णाभिसारिका के लिए नीला कञ्चुक का परिधान उचित माना गया है। तात्पर्य यह कि नायिका आज की रात नायक से मिलने के लिए तैयार है। उसे संकेत-स्थान पर पहुंचना चाहिए। कवि ने नीले कञ्चुक या आस्मानी चोली को जल से भरे मेघ के समान और उभरे हुए (उर्वरित) स्तनवट्ट या स्तनपृष्ठ को दरोद्गत चन्द्रबिम्ब के साथ उपमित किया है। 'भरिउव्वरिअं' या 'भृतोर्वरितं' अर्थात् भरा-उभरा, भर कर उभरा। जैसे किसी पात्र में पानी भर जाने के बाद बाहर छलक पड़ता है ॥ ९५ ॥

राअविरुद्धं व कहं पहिओ पहिअस्स साहइ ससङ्कं।
जत्तो अम्बाण दलं तत्तो दरणिग्गअं किं पि ॥ ९६ ॥

[राजविरुद्धामपि कथां पथिकः पथिकस्य कथयति सशङ्कम्।
यत आम्राणां दलं तत ईषन्निर्गतं किमपि ॥]

'जहाँ से आमों का पत्ता निकलता है वहाँ से थोड़ा सा कुछ निकल गया

है' इस बात को पथिक दूसरे पथिक से भय के साथ कहता है, जैसे वह कोई राजा के विरुद्ध बात कहता हो।

विमर्श—प्रवासोद्यत के प्रति निषेधार्थ नायिका की उक्ति। पथिक अर्थात् विरही ने दूसरे विरही से आम्रांकुरों की ओर सिर्फ इशारा मात्र करके वसन्त के आगमन की सूचना बड़े शंकित भाव से जो व्यक्त किया उससे वसन्तकाल का विरहिजनों का सन्तापकर होना प्रकट होता है। वसन्त पहुँच आया है, जहाँ आमों का पत्ता निकलता है, वहाँ कुछ थोड़ा-सा निकल आया है? पथिक का तात्पर्य है कि अब किसी प्रकार परदेश में रुकना सम्भव नहीं। इस कथन से नायिका ने प्रवासोद्यत नायक को सूचित किया कि वह भी अब प्रवास पर जाने का इरादा छोड़ दे। गाथा में 'साह' कथय् और शास् के अर्थ में प्राकृत में आता है। छायाकार 'कथयति' लिखते हैं, पाठान्तर 'कहइ' और 'शंसति' है ॥ ९६ ॥

धण्णा ता महिलाओ जा दइअं सिविणए वि पेच्छन्ति ।
णिद्द व्विअ तेण विणा ण एइ का पेच्छए सिविणं ॥ ९७ ॥
[धन्यास्ता महिला या दयितं स्वप्नेऽपि प्रेक्षन्ते ।
निद्रैव तेन विना नैति का प्रेक्षते स्वप्नम् ॥]

जिन्हें स्वप्न में भी प्रिय का दर्शन हो जाता है वे स्त्रियाँ धन्य हैं, (यहाँ तो) स्वप्न कौन देखे जब कि उसके विना नींद ही नहीं आती।

विमर्श—सखी के प्रति विरहिणी नायिका वचन। सखी ने कहा कि नींद से सो जा, स्वप्न में प्रिय का समागम हो जायगा। नायिका के कहा कि जब नींद आए तब तो वह किसी प्रकार उसके विना नहीं आती, फिर स्वप्न देखना कैसा? पीताम्बर कहते हैं कि प्रोषितपतिकाओं के लिए दिन में सोना धर्म के अनुसार निषिद्ध है। व्यतिरेक के प्रकार से व्यंजित यह होता है कि वे स्त्रियाँ जो स्वप्नों में प्रिय का समागम करके सन्तुष्ट हो जाती हैं, वे अधन्य हैं क्योंकि उनकी विरहजन्य विकलता उतनी नहीं जिससे वे किसी प्रकार शयन न कर सकती हों। मेरा तो अनुराग प्रिय में सच्चा है फलतः मुझे उसके विना नींद ही नहीं आती। विरह में प्रेमी की विकलता के अनुसार उसके प्रेम का न्यूनाधिक्य मालूम होता है। जो जितना ही विकल होता है उसका प्रेम उतना ही स्वाभाविक और सच्चा समझा जाता है ॥ ९७ ॥

परिरद्धकणअकुण्डलथलमणहरेसु सवणेसु ।
अण्णअसमअवसेण अ पहिरब्भइ तालवेण्टजुअं ॥ ९८ ॥
[परिरब्धकनककुण्डलगण्डस्थलमनोहरयोः श्रवणयोः ।
अन्यसमयवशेन च परिध्रियते तालवृन्तयुगम् ॥]

जो कान सोने के कुण्डल से आलिङ्गित गालों से मनोहर लगते हैं, उन्हीं में समय बदल जाने से तालपत्र के दो कनफूल भी पहने जाते हैं।

विमर्श—नायक के प्रति दूती की अन्यापदेशोक्ति। गंगाधर के अनुसार नायक पहले सम्पन्न था, उसकी सारी सम्पत्ति के अब नष्ट हो जाने से उसके बुरे दिन आ गए। दूती उसके सन्तोष के लिए कहती है कि जिस कान पर सोने के कुण्डल पहनते हैं उसी पर कभी-कभी ताड़ के पत्ते के बने कनफूल भी पहनते हैं, समय-समय की बात है, इसलिए धीरज रखना चाहिए। श्री मथुरानाथ शास्त्री के अनुसार नायक किसी ग्रामीण पर लावण्यवती नायिका को जो सादे ढङ्ग के आभूषण पहने है देखकर आकृष्ट नहीं होता, इस पर दूती ने उसे समझाने के उद्देश्य से कहा। तात्पर्य यह कि चाहने वालों को नायिका के सौन्दर्य पर दृष्टि रखनी चाहिए, समय से बदल जाने वाले—कभी कनक-कुण्डल, कभी तालवृन्त-आभूषणों पर नहीं ॥ ९८ ॥

मज्झह्णपत्थिअस्स वि गिम्हे पहिअस्स हरइ संतावं।
हिअअट्ठिअजाआमुहअङ्कजोह्णाजलप्पवहो ॥ ९९ ॥

[मध्याह्नप्रस्थितस्यापि ग्रीष्मे पथिकस्य इति संतापम्।
हृदयस्थितजायामुखमृगाङ्कज्योत्स्नाजलप्रवाहः ॥]

गर्मी के दिनों में दोपहर को प्रस्थान किए पथिक के (आतप-जनित) सन्ताप को हृदय में स्थित पत्नी के मुख-चन्द्र की चांदनी का प्रवाह दूर करता है।

विमर्श—नायिका के प्रति सखी का वचन। नायिका यह सोचकर कि गर्मी के तपते हुए इन दिनों में मेरा प्रिय कैसे आ सकेगा, चिन्ता में मग्न है। सखी ने आश्वासन देते हुए कहा कि उसे गर्मी का ताप बिलकुल महसूस न होगा, क्योंकि पथिकों के हृदय में स्थित उनकी पत्नियों के मुखचन्द्र की चाँदनी जो उन्हें शीतल किए रहती है। गङ्गाधर के अनुसार तात्पर्य यह है कि पथिकजन वर्षाकाल को आसन्न मानकर गर्मी के लहलहाते दोपहर में अपनी प्रियतमाओं को देखने की उत्कण्ठा से चल पड़ते हैं, फिर उन्हें इसका ध्यान नहीं रहता कि उनके सिर पर दोपहर का सूर्य तप रहा है। पीताम्बर के अनुसार यहाँ धर्म यह सूचित होता है कि समीचीन फल को मन में रख कर जो कुछ दुःख रूप पुण्य कर्म मनुष्य प्रारम्भ करता है उसमें उसकी दुःख-बुद्धि नहीं होती ॥ ९९ ॥

भण को ण रुस्सइ जणो पत्थिज्जन्तो अएसकालम्मि।
रतिवाअडा रुअन्तं पिअं वि पुत्तं सवइ माआ ॥ १०० ॥

[भण को न रुष्यति जनः प्रार्थ्यमानोऽदेशकाले ।
रतिव्याप्ता रुदन्तं प्रियमपि पुत्रं शपते माता ॥]

अस्थान और असमय में प्रार्थना करने पर बता, वह कौन है जो रुष्ट न होगा ? रोते हुए अपने पुत्र को भी रति में संलग्न माता सरापने लगती है ।

विमर्श—नायिका के प्रति नाराज नायक से दूती का वचन । किसी अस्थान और असमय में नायिका ने प्रार्थना करते हुए नायक को कुछ रूखी सुना दी । दूती ने कहा कि वह कुछ ऐसा ही प्रसङ्ग था कि तुम्हारी प्रार्थना को वह किसी प्रकार सुन नहीं सकती थी । भला कोई ऐसा है जो अनवसर में और अस्थान में अपने प्रिय जन की भी प्रार्थना को सुनकर कुपित नहीं होता ? विशेष के द्वारा सामान्य का समर्थन रूप यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥१००॥

एत्थं चउत्थं विरमइ गाहाणँ सअं सहावरमणिज्जं ।
सोऊण जं ण लग्गइ हिअए महुरत्तणेण अमिअं पि ॥ १०१ ॥

[अत्र चतुर्थं विरमति गाथानां शतं स्वभावरमणीयम् ।
श्रुत्वा यन्न लगति हृदये मधुरत्वेनामृतमपि ॥]

यहाँ स्वभावतः रमणीय गाथाओं का चौथा शतक समाप्त होता है, जिसे सुनने के बाद कुछ ऐसी मिठास महसूस होती है कि फिर अमृत की बात हृदय में नहीं जमती ॥ १०१ ॥

पञ्चमं शतकम्

उज्झसि उज्झसु कट्टसि कट्टसु अह फुडसि हिअअ ता फुडसु ।
तह वि परिसेसिओ च्चिअ सो हु मए गलिअसब्भावो ॥ १ ॥

[दह्यसे दह्यस्व कथ्यसे क्वथ्यस्व अथ स्फुटसि हृदय तत्स्फुट ।
तथापि परिशेषित एव सः खलु मया गलितसद्भावः ॥]

हे हृदय ! तू जलता है तो जल, उबलता है तो उबल और फूटता है तो फूट, तथापि मैंने उस सद्भावरहित को बिलकुल छोड़ रखा है ।

विमर्श—मानिनी नायिका द्वारा अपराधी नायक में अनुरक्त अपने हृदय को उपालम्भ । यह क्या कि उसे कुछ भी सद्भाव तक नहीं और तू उसमें अनुरक्त है । अब तो मैंने उसे बिलकुल छोड़ रखा है, अब तेरे जलने, उबलने और फूट जाने की परवा नहीं । तात्पर्य यह कि मैं अब हर प्रकार के विरह-जनित कष्ट सहकर भी उसे छोड़ चुकी हूँ । कहीं पीड़ा सहना अच्छा, पर ऐसे सद्भावरहित के साथ मेल अच्छा नहीं । इस प्रकार नायिका ने नायक को छोड़ने की बात करके भी हृदय के जलने, उबलने और फूटने के कथन द्वारा नायक के प्रति अपने स्वाभाविक अनुराग को प्रकट किया । गाथा का 'परिसे-सिओ' शब्द जिसकी छाया 'परिशेषित' की गई है, कुछ अस्पष्ट-सा है । गङ्गाधर ने 'परिशेषित' का परिच्छिन्न अर्थ किया है और 'निर्णीत' के रूप में समझा है । अर्थात् नायिका कहती है कि उस सद्भावरहित प्रिय को मैंने निर्णीत कर लिया है । पीताम्बर ने 'परिच्छिन्न' अर्थ किया है, अर्थात् उसे छोड़ दिया है । श्री मथुरानाथ शास्त्री ने 'परिसमापित' तो अर्थ कहा है पर उन्होंने इसकी संगति नहीं दिखाई है ॥ १ ॥

दट्ठुण रुन्दतुण्डग्गणिग्गअं णिअसुअस्स दाढग्गं ।
भोण्डी विणावि कज्जेण गामणिअडे जवे चरइ ॥ २ ॥

[दृष्ट्वा विशालतुण्डाग्रनिर्गतं निजसुतस्य दंष्ट्राग्रम् ।
सूकरी विनापि कार्येण ग्रामनिकटे यवांश्चरति ॥]

अपने छौने के अगले दांत को उसके बड़े मुंह के आगे की ओर निकला देखकर सूअरी काम के बिना भी गाँव के आस-पास जौ चरती है ।

विमर्श—जार या उपपति को नायिका द्वारा संकेतस्थान की सूचना । नायिका दूसरे लोगों को डराने के लिए उनसे कहती है कि बनैली सूअरी अब

गाँव के निकट वाले खेतों में बेमौके आ जाती है, और अपने छौने के मुख का दाँत निकला देखकर निर्भीक हो चरती रहती है। तात्पर्य कि वहाँ जाना किसी तरह खतरे से खाली नहीं, कोई उधर गया कि जीवित बच कर नहीं आ सकता। सूअरी के बेमौके आ जाने से यह कहा नहीं जा सकता कि उसका समय कोई निश्चित है, इसलिए यवक्षेत्र में किसी समय भी जाना ठीक नहीं। अन्य टीकाकारों ने इस गाथा के कुछ और भी अवतरणों की सम्भावना की है, जैसे कुछ कहते हैं कि यवक्षेत्र की ओर प्रिय-मिलन के लिए चली अभिसारिका के प्रति दूती का यह वचन है। अथवा, नायिका जार को सूचित करती है कि उसका यवक्षेत्र जो संकेतस्थान था वह भंग हो गया है, अब वहाँ जाना ठीक नहीं। किंवा, दूती 'सूकरी' रूप से यवक्षेत्र की ओर जाने के लिए अभिसारिका को कहती है किंवा दूसरों को भय दिखाकर अभिसारिका को निडर करके भेजती है। अथवा तू दूसरे के बल पर अन्याय कर रही है। अथवा कोई यह सूचित करते हुए कि जब अपने वर्ग की समृद्धि हो जाती है तब दूसरे से भय नहीं रह जाता, उदाहरणस्वरूप कहता है—किंवा, नायिका जार को यह सूचित करती है कि जब तक मेरा लड़का नादान था तब तक उसके पालने पोसने में ही मैं व्यस्त रहा करती थी, अब वह जवान हो गया, खुद को वह संभाल लेने लगा, अब मुझे स्वेच्छा से विचरने का मौका मिला है, किसी समय भी हम-तुम मिल सकते हैं इत्यादि। 'सन्द' और 'भोंडी' शब्द क्रमशः 'विशाल' और 'सूकरी' के अर्थ में देशी हैं ॥ २ ॥

हेलाकरग्गअड्ढिअजलरिक्कं साअरं पआसन्तो।
जअइ अणिग्गअवडवग्गि भरिअगअणो गणाहिवई ॥ ३ ॥

[हेलाकराग्राकृष्टजलरिक्तं सागरं प्रकाशयन्।
जयत्यनिग्रहवडवाग्निभृतगगनो गणाधिपतिः ॥]

समुद्र के जल को खेल-खेल में सूड़ के अग्रभाग से खींच कर प्रकाशित करते हुए, एवं निग्रहरहित वडवाग्नि से आकाश को व्याप्त कर देनेवाले, गणों के अधिपति की जय हो।

विमर्श—नायक के प्रति दूती का अन्यापदेश-वचन। नायिका अभिसार से गांव वालों द्वारा पकड़ जाने के कारण भयभीत हो रही है। दूती ने उसके इस भय को दूर करने के लिए गणाधिपति अर्थात् गणेशजी की स्तुति के व्यपदेश से गणों के अधिपति (ग्रामणी अर्थात् गाँव के मुखिया) नायक की प्रधानता और निग्रहानुग्रह में क्षमता को बताया। अर्थात् उसका गाँव में कोई प्रतिस्पर्धी नहीं है, वह चाहे तो गाँववालों की सारी सम्पत्ति वसूल कर उन्हें

तबाह कर दे। उससे स्नेह करने में किसी प्रकार डरने की आवश्यकता नहीं। 'गणाधिपति' अर्थात् गणेश की स्तुति से अभिमत सिद्ध हो जाता है। दूसरे अवतरण के अनुसार किसी नीतिविद् की यह उक्ति है कि बड़े लोग खेल-खेल में अपने विरोधी का सफाया कर डालते हैं, अतः उनके साथ विरोध बढ़ाना ठीक नहीं। अथवा सौभाग्य की अतिशय वृद्धि के लिए गणपति की आराधना को सूचित करती हुई दूती द्वारा नायिका के प्रति कथन ॥ ३ ॥

एएण च्चिअ कंकेल्लि तुज्झ तं णत्थि जं ण पज्जत्तं।
उवमिज्जइ जं तुह पल्लवेण वरकामिणी हत्थो ॥ ४ ॥
[एतेनैव कङ्केल्ले तव तन्नास्ति यन्न पर्याप्तम्।
उपमीयते यत्तव पल्लवेन वरकामिनीहस्तः ॥]

हे अशोक, सिर्फ इतने ही से तेरा ऐसा वह नहीं जो पर्याप्त न हो, कि तेरे पल्लव की उपमा श्रेष्ठ कामिनी के हाथ से दी जाती है।

विमर्श—अशोकपल्लव के व्याज से किसी के द्वारा कामिनियों के अनुरञ्जनार्थ अपनी स्त्रीपरता की सूचना। अशोक, तेरे गुणों की प्रशंसा में मैं कोई ऐसी बात नहीं पाता जो पर्याप्त न हो। यह मालूम होने का राज है कि तेरे पल्लव मात्र से श्रेष्ठ सुन्दरी के हाथ की उपमा दी जाती है, अर्थात् कहा जाता है कि तेरा पल्लव किसी सुन्दरी नायिका के हाथ जैसा होता है। इतने ही से यह पता लग गया कि तुझमें कितने गुण हैं। निश्चय ही तेरे समग्र गुणों की प्रशंसा में कुछ भी कहना अपर्याप्त नहीं। अलंकारशास्त्र के अनुसार उपमानभूत पदार्थ उपमेयभूत पदार्थ से स्वभावतः अधिक गुणोंवाला होता है (उदाहरणार्थ, मुख से चन्द्र अधिक गुणोंवाला है तब वह उपमान होता है और न्यून गुणों वाला मुख उपमेय)। प्रस्तुत में अशोक का पल्लव श्रेष्ठ कामिनी के हाथ के समान होता है, इस कथन द्वारा उपमानभूत पदार्थ श्रेष्ठ कामिनी का हाथ स्वभावतः उपमेयभूत पदार्थ अशोक के पल्लव से अधिगुणों वाला सूचित किया गया है। इस प्रकार नायक के द्वारा नायिका की यह प्रशंसा की गई कि अशोक का पल्लव उसके हाथ के समान है (न कि उसका हाथ अशोक के पल्लव के समान है)। पीताम्बर ने जो यह अवतरण दिया है कि कोई नायिका अशोक के व्याज से किसी नायक की स्तुति करती हुई अशोक को उद्देश्य करके कहती है, उपर्युक्त अवतरण से सर्वथा विपरीत एवं अयुक्त है ॥ ४ ॥

रसिअविअड्ढ विलासिअ समअण्णअ सच्चअं असोओ सि।
वरजुअइचलणकमलाहओ वि जं विअससि सअहं ॥ ५ ॥

[रसिक विदग्ध विलासिन्समयज्ञ सत्यमशोकोऽसि ।
वरयुवतिचरणकमलाहतोऽपि यद्विकससि सतृष्णम् ।।]

हे अशोक, तू रसिक, विदग्ध, विलासी और समयज्ञ है, तू सच्चे अर्थ में अशोक है, क्योंकि जब श्रेष्ठ युवतियां अपने चरणकमलों से तुझ पर आघात करती हैं तब तू (उन पर कुपित न होकर उलटे) हसरत के साथ विकसित हो जाता है ।

विमर्श—नायिका-सखी की नायक के प्रति उक्ति । नायक नायिका के प्रणयरोषवचन से कुपित होकर उससे मिलना छोड़ बैठा है । सखी अशोक के गुणों के वर्णन के बहाने नायक के कोप के निराकरणार्थ इस गाथा द्वारा प्रयत्नशील है । अशोक सच्चे अर्थ में 'अशोक' इसलिए है कि वह सुन्दरियों के चरणाघात को प्राप्त करके हसरत से भरकर विकसित हो जाता है, उन पर कुपित नहीं होता । इसलिए वह रसिक, विदग्ध, विलासी और समयज्ञ भी है । एक रसिक को ही यह विदित हो सकता है कि नायिका के कुपित होकर पादाघात करने से कैसा मजा मिलता है ! सच्चा आशिक वह है जो माशूक की गालियां तक को बड़े प्रेम से सुनता है—कितने शीरीं हैं तेरे लब ! कि रक़ीब । गालियां खाके बे-मजा न हुआ ।। (ग़ालिब) इस प्रकार विदग्ध या चतुर भी वही कहा जा सकता है जो तात्पर्य जानकर व्यवहार करता है, अविधेय अर्थ (ऊपरी बात) पर नहीं जाता । विदग्ध नायक को नायिका के प्रणय-रोष पर गुस्सा के बदले प्यार आता है—'उनको आता है प्यार पर गुस्सा । मुझको गुस्से पे प्यार आता है ।।' विलासी वह होता है जो प्रिय के प्रत्येक कार्य को अपने प्रणय का उत्कर्षक माने, न कि अपकर्षक । महाकवि 'ज़ौक' तो माशूक (प्रिय) के द्वारा हुए अपने 'खून' तक को अपने प्रणय का उत्कर्षक मानते हैं, और कहते हैं—'वोह नहीं हम जो करें खून का दावा तुमसे । बल्कि पूछेगा खुदा भी तो मुकर जायेंगे ।।' इसी प्रकार एक प्रेमी को समयज्ञ होना भी चाहिए । समयज्ञ अर्थात् आचार जानने वाला । अगर नायक समयज्ञ या आचारविद होता तो कदापि नायिका के प्रणयरोपवचन पर कुपित नहीं होता । तात्पर्य यह कि निश्चय ही एक जड़ होते हुए भी अशोक वृक्ष ने नायिका के पादाघात से विकसित होकर रसिकता, विदग्धता, विलासिता और समयज्ञता के गुणों से पूर्ण है, और तू चेतन होकर भी इन गुणों से वञ्चित है । गङ्गाधर लिखते हैं कि पूर्व गाथा में वर्णित अर्थ को ही यहां भङ्ग्यन्तर से कहा गया है । किसी ने यह अवतरण दिया है कि नायक को शिक्षा देती हुई कुट्टनी का यह वचन है, कि नायिका के पादप्रहार को उसकी प्रसन्नता ही मानना चाहिए ।

अथवा, कोई मानी स्वभाव का पुरुष प्रिया से कलह करके पछताता हुआ अशोक की स्तुति करता है ॥ ५ ॥

वलिणो वाआवन्धे चोज्जं णिउअत्तणं च पअडन्तो ।
सुरसत्थकआणन्दो वामणरूवो हरी जअइ ॥ ६ ॥

[बलेर्वाचाबन्धे आश्चर्यं निपुणत्वं च प्रकटयन् ।
सुरसार्थकृतानन्दो वामनरूपो हरिर्जयति ॥]

वलि को वातों में बाँध लेने (वातों से कायल कर देने) में आश्चर्य और अपनी कुशलता को प्रकट करते हुए, एवं देववर्ग को आनन्दित करने वाले वामनरूप हरि की जय हो ।

विमर्श—नायिका के प्रति दूती की उक्ति । यद्यपि यह स्पष्ट ही भगवान् वामनावतार विष्णु की स्तुति है, तथापि विभिन्न टीकाकारों ने अन्य स्तुति-परक गाथाओं की तरह इसका भी श्रृंगार-परक अवतरण दिया है । नायिका के प्रति दूती वामन की स्तुति के व्याज से नायक का गुण-गान करती है । नायक के प्रति अनुरणित होता हुआ अर्थ इस प्रकार है कि वलशाली गृहजनों को अपनी वाक्चातुरी से निरुत्तर करके अपना नैपुण्य प्रकट करते हुए एवं सुरस अर्थ (सुरसार्थ) वाले वचनों द्वारा उन्हें आनन्दित करके अवसर देखकर वामन (नम्र) बने उस हरि (तुझे हर कर लाने वाले नायक) की जय हो । दूसरे टीकाकार अवतरण लिखते हैं कि नायिका से मिलने के लिए वामन रूप धर कर (बौना बन कर) उसके घर में घुस जा, तब तेरा कार्य सिद्ध होगा, यह नायक के प्रति दूती द्वारा सूचना है । 'चोज्ज' या 'चोद्य' मेदिनीकोश के अनुसार 'आश्चर्य' के अर्थ में प्रयुक्त है ॥ ६ ॥

विज्झाविज्जइ जलणो गहवइधूआइ वित्थअसिहो वि ।
अणुमरणघणालिङ्गणपिअअमसुहसिज्जिरङ्गीए ॥ ७ ॥

[निर्वाप्यते ज्वलनो गृहपतिदुहित्रा विस्तृतशिखोऽपि ।
अनुमरणघनालिङ्गनप्रियतमसुखस्वेदशीताङ्ग्या ॥]

अनुमरण के अवसर में प्रियतम को कस कर आलिङ्गन करने के सुख से उत्पन्न पसीना के जल से गृहपति की लड़की के अंग शीतल हो गए हैं और वह चिताग्नि को भी जिसकी लपटें फैल चुकी हैं, बुझा रही है ।

विमर्श—नायक को सुनाते हुए नायिका द्वारा कुलाङ्गना के दृढानुराग का सखी के समक्ष वर्णन । कुलवन्ती स्त्रियों का प्रेम किसी समय भी कम नहीं होता । वह चिता में भी मृत पति के आलिङ्गनजनित सुख का अनुभव करती हैं । नायक के प्रति ध्वनित यह होता है कि ऐसी अनुराग करने

वाली स्त्रियाँ बड़े सौभाग्य से ही किसी को मिलती हैं। पीताम्बर लिखते हैं कि जब धर्मपरायण पतिव्रता स्त्रियाँ अपने मरण को भी सुख मानती हैं ऐसी स्थिति में जब अन्तःकरण में परमानन्दसुख का अनुभव होने लगता है तब शरीर का वाह्य क्लेश उन लोगों के लिए नगण्य हो जाता है ॥ ७ ॥

जारमसाणसमुब्भवभूइसुहप्फंससिज्जिरङ्गीए ।
ण समप्पइ णवकावालिआइ उद्धूलणारम्भो ॥ ८ ॥
[जारश्मशानसमुद्भवभूतिसुखस्पर्शस्वेदशीलाङ्ग्याः ।
न समाप्यते नवकापालिक्या उद्धूलनारम्भः ॥]

नया कापालिक व्रत धारण करने वाली (कापालिकी) के अङ्ग उपपति के श्मशान (चिता) की भूति रमाने के स्पर्श-सुख से उत्पन्न पसीने से तर हो गए हैं और उसने जो भूति रमाना (उद्धूलन) आरम्भ किया था, वह समाप्त ही नहीं होता।

विमर्श—उपपति को सुनाते हुए नायिका द्वारा सखी के समक्ष अपने दृढानुराग का वर्णन। अथवा, अन्यापदेश के प्रकार से नायिका की स्थिर-स्नेहता का दूती द्वारा प्रतिपादन। नायिका (जिसका गाथा में उल्लेख है, न कि अवतरण की नायिका) अपने जार या उपपति के मृत हो जाने के बाद विरह कि स्थिति को न सहन करने के कारण कापालिक व्रत धारण कर चुकी है, रात-दिन श्मशान में रहती है। वह जब जार के श्मशान की भूति अपने अङ्गों में रमाती है तब उसके स्पर्श-सुख का ऐसा आनन्द उसे अनुभव होता है कि उसके शरीर से पसीना छूटने लगता है, जिससे उसके अङ्ग-अङ्ग तर हो जाते हैं। फिर उसका भस्मोद्धूलन बेकार हो जाता है, फलतः वह भूति रमाती जाती है और स्वेदजल से भींगती जाती है। यह क्रिया कभी समाप्त नहीं होती। इस प्रकार उपपति के प्रति उसका अतिशय अनुराग सूचित होता है। श्री मथुरानाथ शास्त्री इस गाथा में 'श्मशान' शब्द को 'अश्लील' कह कर उसके स्थान पर 'चिता' का प्रयोग करते हैं ॥ ८ ॥

एक्को पण्हुअइ थणो बीओ पुलएइ णहमुहालिहिओ ।
पुत्तस्स पिअअमस्स अ मज्झणिसण्णाएँ घरणीए ॥ ९ ॥
[एकः प्रस्नौति स्तनो द्वितीयः पुलकितो भवति नखमुखालिखितः ।
पुत्रस्य प्रियतमस्य च मध्यनिषण्णाया गृहिण्याः ॥]

पुत्र और प्रियतम के बीच बैठी हुई गृहिणी का एक स्तन दूध झरता है और दूसरा (प्रिय के) नखाग्र से आलिखित होकर पुलकित होता है।

विमर्श—जार के प्रति दूती द्वारा यह सूचना, कि अब नायिका के हृदय

में उपपति का कोई स्थान नहीं। नायिका पुत्र और पति के अनुराग में उलझ चुकी है। गाथा में पुत्र के प्रति वात्सल्य और पति के प्रति अनुराग को युगपत् उदय का निर्देश किया है, अतः भावसंकर है। गङ्गाधर के अनुसार अवतरण यह है कि भिन्न-भिन्न कारण के सान्निध्य से एक ही में अनेक भाव उत्पन्न हो जाते हैं, इस तथ्य के निदर्शनार्थ किसी की सहचर के प्रति उक्ति है ॥ ९ ॥

एत्ताइच्चिअ मोहं जणेइ बालत्तणे वि वट्टन्ती।
गामणिधूआ विसकन्दलिव्व वड्ढीआ काहिइ अणत्थं ॥ १० ॥
[एतावत्येव मोहं जनयति बालत्वेऽपि वर्तमाना।
ग्रामणीदुहिता विषकन्दलीव वर्धिता करिष्यत्यनर्थम् ॥]

इतने बालपन में ही पहुँची वह गाँव के मुखिया की लड़की जब गश ला देती है तो विषकन्दली की तरह बढ़ी हुई वह अनर्थ कर डालेगी।

विमर्श—बाला नायिका के प्रति आसक्त नायक की सहचर के प्रति उक्ति। अभी तो बाली उमर में ही यह देखने वालों को गश में डाल देती है जब यह विष की कंदली जवान होगी तो न जाने क्या अनर्थ ढाहेगी? नायक बाला नायिका की बाली उमरिया पर लट्टू है, वह अभी से ही यह अनुमान लगाने लगा है कि नायिका जवान होगी तब अपूर्व शोभा उसके अङ्ग-अङ्ग में फूट पड़ेगी ॥ १० ॥

अपहुप्पन्तं महिमण्डलम्मि णहसंठिअं चिरं हरिणो।
तारापुप्फप्पअरञ्चिअं व तइअं पअं णमह ॥ ११ ॥
[अप्रभवन्महीमण्डले नभःसंस्थितः चिरं हरेः।
तारापुष्पप्रकराञ्चितमिव तृतीयं पदं नमत ॥]

हरि के उस तीसरे चरण को नमन करो, जो भूतल में नहीं अंटता हुआ देर तक आकाश में टिका रहा और जो तारे रूपी पुष्प-समूह से जैसे व्याप्त हो।

विमर्श—'जो ऊंचा उठ जाता है वह सबके लिए नमस्कार्य है' इस बात को सूचित करते हुए किसी का सहचर के प्रति वचन। दो पैर तो भूमि पर ही रहे, तीसरा उन्नत पदवी को प्राप्त हुआ अतः वह उत्कृष्ट होने से नमस्कारार्ह है। अथवा रहःसखी के प्रति नायिका का वचन। रहःसखी के यह पूछने पर कि प्रिय के साथ आज की रात का सुरत कैसा रहा, नायिका ने वामनावतार हरि के नमस्कार के व्याज से नायक के द्वारा सुरत काल में प्रयुक्त 'त्रैविक्रमबन्ध' नाम के विशेष प्रकार के रतबन्ध का प्रस्तुत गाथा में

निर्देश किया है। अभी पीछे गाथा ५१६ में वामनावतार जयगान कर चुके हैं। अथवा यह कह सकते हैं कि संकेत स्थान में, (जहां मिलन-काल बहुत शीघ्र समाप्त हो जाना चाहिए) विदग्ध नायक के द्वारा त्रैविक्रम प्रक्रिया से सुरत आरम्भ करने के कारण कुपित नायिका का सखी से विदग्धजन के चरण के नमन के व्याज से यह कथन है। श्लेष से हरि अर्थात् विष्णु के अवतार वामन, पक्ष में परकीया का अपहरण करने वाला नायक। दूसरा श्लिष्ट शब्द 'तारा' है, अर्थात् नक्षत्र, पक्ष में, आँख की पुतली। इस प्रकार इन श्लेषों के बल से गाथा का दूसरा अर्थ यह ध्वनित होता है कि परस्त्री का अपहरण करने वाले जार के कन्धे पर जाकर आकाश में स्थित हुए आँख की पुतली रूपी पुष्प-प्रकर से व्याप्त उस तीसरे चरण को नमन करो। इस प्रकार सखी के प्रश्न के उत्तर में कही गई इस गाथा में गंगाधर के अनुसार त्रैविक्रमबन्ध नामक आसन की सूचना है। इस बन्ध के सम्बन्ध में कहा है—एकं युवत्याश्चरणं पृथिव्यामूर्ध्वं तथान्यं परिकल्प्य कान्तः। पद्भ्यां स्थितो हस्तयुगश्च भूमौ त्रैविक्रमः स्यादिति निम्बराजः॥ (पञ्चसायक)। यही अनंगरंग में कहा है—स्त्रियोऽङ्घ्रिमेकं विनिधाय भूमावन्यं स्वमौलौ, निजपाणि युग्मम्। पृष्ठे समाधाय रमेत भर्ता त्रैविक्रमाख्यं करणं तदा स्यात्॥ और भी, नागरसर्वस्व की टीका में जगज्ज्योतिर्मल्ल लिखते हैं—'स्त्रियः एकः पादः नरस्य च द्वौ पादौ भूम्यां इति त्रिपदत्वात् हरिः विष्णुः वामनरूपः तस्य विक्रम इव विक्रमः त्रिपादयितः यत्र तत्।' अर्थात् सुरतकाल में जब नायिका का एक पैर नायक के कंधे पर जा टिकता है, इस प्रकार भूमिस्थित नायिका का एक पैर और नायक के दो पैर मिलकर तीन पैर हो जाते हैं, ऐसी स्थिति में नायक कृत सुरतबन्ध त्रैविक्रम (वामन की भांति तीन पैरों का विक्षेप करने से) कहलाता है॥ ११॥

सुप्पउ तइओ वि गओ जामोत्ति सहीओ कीस मं भणह।
सेहालिआणँ गन्धो ण देइ सोत्तुं सुअह तुम्हे॥ १२॥

[सुप्यतां तृतीयोऽपि गतो याम इति सख्यः किमिति मां भणथ।
शेफालिकानां गन्धो न ददाति स्वप्तुं स्वपित यूयम्॥]

'सो जा, रात का तीसरा पहर भी चला गया' हे सखियो, यह क्यों मुझसे कहती हो? मुझे तो शेफालिका की गंध सोने नहीं देती, तुम सो जाओ।

विमर्श—सखियों के प्रति विरहोत्कण्ठिता नायिका का वचन। नायक आने वाला है, प्रतीक्षा करते हुए नायिका रात के तीसरे पहर तक जगी रही। जब सखियों ने निराश होकर उसे सो जाने के लिए कहा तब उसने कहा कि शेफालिका लता के फूल इस तरह महक रहे हैं कि नींद नहीं आती। शेफालिका

के फूल आधी रात के बाद विकसित होते हैं। उनकी गन्ध मादक होती है। श्री मथुरानाथ शास्त्री द्वारा 'साहित्यदर्पण' से उद्धृत यह श्लोक यहां अप्रस्तुत न होगा—'शेफालिकां विदलितामवलोक्य तन्वी प्राणान् कथञ्चिदपि धारयितुं प्रभूता। आकर्ण्य सम्प्रति रुतं चरणायुधानां, किं वा भविष्यति न वेद्मि तपस्विनी सा॥ अर्थात् प्रिय की प्रतीक्षा में बैठी विरह से कृश हुई नायिका ने जब आधी रात के बाद शेफालिका को विकसित देखा तो वह किसी-किसी तरह अपने प्राणों को धारण कर सकी। अब जब मुर्गे कुकहूंकूं की आवाज करेंगे तब इसकी क्या हालत होगी, कह नहीं सकते। इस प्रकार इस श्लोक और प्रस्तुत गाथा के विषय दोनों प्रायः मिलते-जुलते हैं, नायक की प्रतीक्षा दोनों जगहों में है, थोड़ा अन्तर इस अंश में जरूर है कि श्लोक की नायिका शेफालिका को विदलित या विकसित देखकर आधी रात के गुजर जाने का अनुमान करती है और परेशान होती है पर गाथा की नायिका को शेफालिका की सुगन्ध बेचैन किए हुए है, चुनांचे गाथा की नायिका की बेचैनी इन्तजार की हद हो जाने एवं शेफालिका की उन्मादक गन्ध के शरीर में लगने, इन दो कारणों से है॥ १२॥

कँह सो ण संभरिज्जइ जो मे तह संठिआइँ अङ्गाइं।
णिव्वत्तिए वि सुरए णिज्झाअइ सुरअरसिओव्व ॥ १३ ॥

[कथं स न संस्मर्यते यो मम तथासंस्थितान्यङ्गानि।
निवर्तितेऽपि सुरते निध्यायति सुरतरसिक इव ॥]

सुरत के समाप्त हो जाने पर भी जो सुरत का रसिक प्रिय मेरे अङ्गों को सुरत संलग्न जैसा देखता है, भला वह कैसे नहीं याद किया जाय?

विमर्श—सखियों के प्रति नायिका का वचन। सखियों के यह कहने पर कि उस निर्दयी की बार-बार याद करके क्यों अपना जी दुखाती है, छोड़ दे उसकी याद को, इस पर नायिका का कहना यह है कि वह सुरत का रसिक ऐसा है कि सुरत के बाद भी मेरे अंगों को उसी तरह देखता है, जैसे कि वे पहले की भांति सुरत में संलग्न हों। फिर ऐसे प्रेमी को कैसे याद न किया जाय? स्पष्ट ही नायिका नायक के साथ सुरत के लिए अत्यन्त उत्सुक है, भला इस औत्सुक्य में प्रिय का विस्मरण कैसे सम्भव है, वह भी ऐसे प्रिय का जो सुरत के बाद भी उसे उसी तरह देखता है! गाथा में प्रयुक्त 'इव' को भिन्नक्रम करके 'तथास्थितानि' के साथ पढ़ने में अर्थ की संगति ठीक प्रतीत होती है॥ १३॥

सुक्खन्तबहलकद्दमघम्म विसूरन्तकमठपाठीणं।

दिट्ठं अदिट्ठउव्वं कालेण तलं तडाअस्स ॥ १४ ॥

[शुष्यद्ध्हलकर्दमघर्मखिद्यमानकमठपाठीनम् ।
दृष्टमदृष्टपूर्वं कालेन तलं तडागस्य ॥]

तालाब के कीचड़ सूखने लगे, घाम से कछुए और पाठी मच्छ पीड़ित हो उठे। ऐसा समय आया कि अब तक तालाब का तलभाग नहीं देखा था, सो देख लिया।

विमर्श—नायिका का जार को संकेत-स्थल के सूचनार्थ अन्यापदेशवचन। तालाब का पानी सूखकर कीचड़ शेष हो गया है। तात्पर्य यह कि पानी लेने या पीने के उद्देश्य से यहां किसी के आने की आशंका नहीं है, हमारे मिलन का संकेत-स्थल यह अच्छा रहेगा। किसी के अनुसार इस गाथा का अवतरण है कि कोई पूर्वावस्था में अतिसमृद्ध होकर बाद में अतिदरिद्र अवस्था को प्राप्त हुए व्यक्ति को सोचकर अन्यापदेश के द्वारा उसकी स्थिति का अनुशोचन करता है। पीताम्बर के अनुसार अवतरण है कि कोई नायिका लोगों में अन्यापदेश के द्वारा कहती है कि जो तालाब के तट का निकुञ्ज हमारा संकेत-स्थल है, मैं वहां पहुँची थी, पर तू नहीं पहुँचा! ॥ १४ ॥

चोरिअरअसद्धालुइ मा पुत्ति भमसु अन्धआरम्मि ।
अहिअअरं लक्खिज्जसि तमभरिए दीवसीहव्व ॥ १५ ॥

[चौर्यरतश्रद्धाशीले मा पुत्रि भ्रमान्धकारे ।
अधिकतरं लक्ष्यसे तमोभृते दीपशिखेव ॥]

बेटी, तू चौर्यसुरत में श्रद्धा रखती है तो अंधेरे में मत घूमा कर, कारण कि अंधेरे में दीये की लौ की तरह ज्यादातर दिखेगी।

विमर्श—तमोऽभिसारिका नायिका के प्रति किसी गोत्रजरती या प्रौढ़ा की सपरिहास चाटूक्ति। चौर्यसुरत अर्थात् लुक-छिपकर चोरी-चोरी प्रियमिलन। साधारण सुरत के सुलभ होने पर भी नायिका की कष्टकर चौर्यसुरत में श्रद्धा की सूचना से उसकी प्रगल्भता व्यञ्जित होती है। फिर वह अन्धकार में जो अभिसरण कर रही है, इससे यह न समझे कि उसे कोई नहीं देख पायेगा, बल्कि उसका दीपशिखा की भांति बरता हुआ शरीर अन्धकार में और भी प्रकाशित हो उठेगा। 'पुत्री' के सम्बोधन से वक्त्री प्रौढ़ा का अभिप्राय है कि तू किसी से दिखे या न दिखे मैं अवश्य तुझे पहचान गई हूँ, फिर भी मैं इस रहस्य का भेदन नहीं करूंगी, सिर्फ इतना तुझसे मेरा कहना है कि सम्हल जा। यदि मान लिया जाय कि कालिदास पर इन गाथाओं का प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ा है तो यह कहना असंगत न होगा कि प्रस्तुत गाथा की उपमा को ही

कालिदास ने अपने कवित्व के बल पर चमत्कारपूर्ण बना दिया है जैसा कि उनका श्लोक है—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥
(रघुवंश षष्ठ सर्ग)

पीताम्बर के अनुसार गाथा से व्यञ्जित धर्म यह कि प्रशस्त एवं उज्ज्वल गुणवाले धार्मिक को कोई दुश्चेष्टा नहीं करनी चाहिए, नीति यह कि अनुजीवी का यह कर्तव्य होता है कि अपने स्वामी को अकार्य में प्रवृत्त देखते ही वारण करे एवं युक्ति यह है कि संसार के अंधेरे में तत्त्वज्ञान को प्रदीपवत् समझना चाहिए॥ १५॥

वाहित्ता पडिवअणं ण देइ रूसेइ एक्कमेक्कस्स।
असई कज्जेण विणा पइप्पमाणे णईकच्छे॥ १६॥

[व्याहृता प्रतिवचनं न ददाति रुष्यत्येकैकस्य।
असती कार्येण विना प्रदीप्यमाने नदीकच्छे॥]

नदी के कछार के (वनाग्नि से) जल जाने पर कुलटा बिना कारण ही कुछ पूछने पर जवाब नहीं देती और हरेक पर कुपित हो जाती है।

विमर्श—कुलटा के सम्बन्ध में सहचर के प्रति किसी की उक्ति। अथवा कुट्टनी का जार को यह सुनाना कि वह कोई दूसरी जगह तलाश करे। नदी का कछार, जहां दिन में भी झाड़ियों में पर्याप्त अन्धकार रहता था और हमेशा निर्जनता थी, वनाग्नि ने जला कर उसे भस्म कर दिया। इस दृश्य को देखते ही कुलटा का किसी को कुछ पूछने पर उत्तर न देना और बिना कार्य (कारण) ही हरेक पर कुपित हो जाना, यह इङ्गित सिद्ध करते हैं कि उसका यह संकेत-स्थल था जो भंग हो गया। अब उस प्रदेश में उसे प्रियमिलन प्राप्त न हो सकेगा। पहले अवतरण के अनुसार इस गाथा के वक्ता द्वारा अपनी इङ्गितज्ञता का परिचय देना व्यञ्जित होता है। सरस्वतीकण्ठाभरण के अनुसार यहां प्रतीयमान इङ्गितलक्ष्य एक प्रकार का 'सूक्ष्म' अलङ्कार है॥ १६॥

आम असइ ह्म ओसर पइव्वए ण तुह मइलिअं गोत्तं।
किं उण जणस्स जाअव्व चन्दिलं ता ण कामेमो॥ १७॥

[आम असत्यो वयमपसर पतिव्रते न तव मलिनितं गोत्रम्।
किं पुनर्जनस्य जायेव नापितं तावन्न कामयामहे॥]

हां, हम छिनाल हैं, तू चली जा यहां से, अरी पतिव्रते, तेरे नाम (कुल)

में वट्टा नहीं लगा है। और फिर बाजारू औरत की तरह हम हजाम से प्रेम नहीं करती हैं।

विमर्श—पड़ोसिन के द्वारा 'छिनाल' कहने पर किसी नायिका की उसके प्रति उक्ति। अथवा, दो कुलटाएँ परस्पर झगड़ती हैं। पड़ोसिन ने जब 'छिनाल' कहा तो उसकी बात स्वीकार करके 'हां हम छिनाल हैं और तू पतिव्रता है, क्योंकि तेरे नाम में (या कुल में) वट्टा नहीं लगा है, फिर भी तू हट जा' यह नायिका की उक्ति है। स्पष्ट ही काकु द्वारा वह इन वचनों से पड़ोसिन पर उसके छिनाल और नाम या कुल में वट्टा लगाने वाली होने का कलंक थोपती है। फिर वह उसके आक्षेप का प्रत्युत्तर आक्षेप से देती है कि हम जरूर छिनाल हैं पर हम किसी हजाम जैसे ऐरे-गैरे से नहीं प्रेम करती हैं, जैसा कि साधारण जन की औरत या बाजारू औरत किया करती है अर्थात् निश्चय ही तूने हजाम से इश्क करके अपने कुल तक को डुबा दिया है और फिर किस मुंह से हमें 'छिनाल' कह रही है? 'चन्दिल' शब्द नापित या हजाम के अर्थ में देशी है। २९१ गाथा में भी आया है। ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में 'अपसर' के स्थान पर 'उपरम' और 'गोत्रं' के स्थान पर 'शीलं' पाठभेद के साथ यह गाथा उद्धृत है। लोचनकार के अनुसार यह किसी नायिकानुरक्त कुलवधू के द्वारा उपहास करने पर किसी नायिका की प्रत्युपहास के आवेश से युक्त काकुप्रधान उक्ति है ॥ १७ ॥

णिद्दं लहन्ति कहिअं सुणन्ति खलिअक्खरं ण जम्पन्ति।
जाहिँ ण दिट्ठो सि तुमं ताओ च्चिअ सुहअ सुहिआओ ॥ १८ ॥

[निद्रां लभन्ते कथितं शृण्वन्ति स्खलिताक्षरं न जल्पन्ति।
याभिर्न दृष्टोऽसि त्वं ता एव सुभग सुखिताः ॥]

हे सुभग, जिन्होंने तुम्हें नहीं देखा है वे ही सुखी हैं, क्योंकि उन्हें नींद आती है, कही हुई बात सुनती हैं तथा (जड़ता के कारण) स्खलित आवाज में नहीं बोलतीं।

विमर्श—विदग्धा द्वारा प्रिय के प्रति अपने अनुराग का निवेदन। वह जीवन क्या जिसमें नींद हराम हो, कान कुछ सुन न पायें और कुछ बोला भी जाय तो बड़बड़ाहट के सिवा कुछ भी मालूम न हो। ऐसा जीना कदापि सुख का जीना नहीं। अतः वे धन्य हैं, जिन्होंने इस दुःखमय जीवन के कारणभूत तुम्हारा दर्शन नहीं किया है, मैं तो इसीका फल यह भुगत रही हूं। तात्पर्य यह कि विलोकन मात्र से तुम हम-जैसियों के मन हर लेते हो। अब तक तुम्हारे प्रति आसक्त होने का यही फल अनुभव हुआ है, क्या कोई सुख भी

इस आसक्ति से मिलने वाला है ? इस प्रकार नायिका ने नायक की आकृति की अभिरामता—मनोहरता प्रकट करके उसके प्रति अपना राग-जनित आकर्षण सूचित किया ॥ १८ ॥

बालअ तुमाइ दिण्णं कण्णे काऊण बोरसंघाडि ।
लज्जालुइणी वि वहू घरं गआ गामरच्छाए ॥ १९ ॥

[बालक त्वया दत्तां कर्णे कृत्वा बदरसंघाटीम् ।
लज्जालुरपि वधूगृहं गता ग्रामरथ्यया ॥]

निरे बालक, तेरे दिए हुए दो बेर के फल वाले गुच्छे को अपने कान पर रखकर बहू लजीली होकर भी गांव की गली से होती हुई चली गई ।

विमर्श—नायक के प्रति दूती का वचन । नायक को यह विश्वास नहीं कि नायिका उसके प्रति अनुरक्त है, ऐसी स्थिति में उसके प्रति दूती का सरोष वचन । 'बालक' अर्थात् किसी के अनुराग के चिह्न को समझने की बुद्धि न रखने वाला । अलंकार भी नहीं, केवल दो बेर के गुच्छे तूने जब उसे अर्पित किये तब उसने मारे खुशी के अपने कान पर उसे रखा और गांव की गली से चली गई । अनुराग करने वालों का यह चिह्न है कि प्रिय के द्वारा अर्पित किसी भी वस्तु को बड़ी खुशी से अपनाते हैं, वस्तु के मूल्यामूल्य का विवेक उन्हें बिलकुल नहीं होता ॥ १९ ॥

अह सो विलक्खहिअओ मए अहव्वाएँ अगहिआणुणओ ।
परवज्जणच्चरीहिँ तुह्मेहिँ उवेक्खिओ णेन्तो ॥ २० ॥
[अथ स विलक्षहृदयो मया अभव्यया अगृहीतानुनयः ।
परवाद्यनर्तनशीलाभिर्युष्माभिरुपेक्षितो निर्यन् ॥]

मैं ही अभागिन हूँ, प्रिय ने मनावन किया पर मैंने ही स्वीकार न किया । सखियो, जब वह लज्जित होकर जाने लगा तब तुम सबों ने उसकी उपेक्षा कर दी—उसे न रोका । तुम बाजा बजाकर दूसरों को नचाने वाली हो !

विमर्श—सखियों के प्रति नायिका का वचन । सखियों ने मान का ऐसा उपदेश दिया कि नायिका ने प्रिय के लाख प्रयत्न करने पर भी मान न छोड़ा । फल यह हुआ कि नायक लज्जा और कोप से भरा निकल कर चला गया । उसके चले जाने पर इसका मान जब स्वयं समाप्त हुआ, तब वह पछताने और मान के उपदेश करके कलह का मजा लेनेवाली सखियों पर बिगड़ने लगी । 'परवज्जणच्चरी' (परवाद्यनर्तनशीला) यह मुहावरा है, दूसरों को नचाकर बाजा-बजाना और तमाशा देखना ॥ २० ॥

दीसन्तो णअणसुहो णिव्वुइजणओ करेहिँ वि छिवन्तो ।

अब्भत्थिओ ण लब्भइ चन्दो व्व पिओ कलाणिलओ ॥ २१ ॥
[दृश्यमानो नयनसुखो निर्वृतिजननः कराभ्यां [अपि] स्पृशन्।
अभ्यर्थितो न लभ्यते चन्द्र इव प्रियः कलानिलयः ॥]

दिखाई देता हुआ, नेत्र को सुख देने वाला, करों के स्पर्शपूर्वक अपूर्व आनन्द पहुँचाने वाला, कलाओं का आश्रय प्रिय चन्द्र की भांति मांग करने पर भी प्राप्त नहीं होता।

विमर्श—गुणाभिमानिनी नायिका द्वारा अनुगुण नायक की प्राप्ति के लिए उत्कण्ठा का निवेदन सखी के प्रति। चन्द्रपक्ष में कर अर्थात् किरण; चन्द्र अपनी किरणों द्वारा स्पर्श से अलौकिक आनन्द उत्पन्न करता है। कलाओं का आश्रय, प्रिय के पक्ष में चौसठ कलाओं में निपुण एवं चन्द्रपक्ष में सोलह कलाओं से युक्त। चन्द्र की प्राप्ति और उस प्रकार के प्रिय का मिलन दोनों समान हैं। पीताम्बर लिखते हैं, यहां जन्मजन्मान्तर के पुण्यों के विना प्रार्थित वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, यह धर्म तथा जो अलभ्य है, उसकी याचना नहीं करे यह नीति बताई गई है॥ २१॥

जे णीलब्भमरभरग्गगोच्छआ आसि णइअड्डुच्छङ्गे।
कालेण वञ्जुला पिअवअस्स ते थण्णुआ जाआ॥ २२॥
[ये नीलभ्रमरभरभग्नगुच्छका आसन्नदीतटोत्संगे।
कालेन वञ्जुलाः प्रियवयस्य ते स्थाणवो जाताः॥]

प्यारे दोस्त! समीप की नदी के तट पर के जो नीले भौंरों के भार से टूटे गुच्छों वाले अशोक हैं, वे काल के प्रभाव से ठूँठ बन गये हैं।

विमर्श—सर्वङ्कष काल के माहात्म्य के वर्णन द्वारा सङ्केत-स्थान के भङ्ग होने की सूचना। अर्थात् पहले उस अशोक पर भौंरे लद जाते थे, तब घने अंधकार के कारण वह स्थान संकेत के योग्य बन जाता था, पर अब वहां हमारा मिलन सम्भव नहीं॥ २२॥

खणभङ्गुरेण पेम्मेण माउआ दुम्मिअम्ह एत्ताहे।
सिविणअणिहिलम्भेण व दिट्ठपणट्ठेण लोअम्मि॥ २३॥
[क्षणभङ्गुरेण प्रेम्णा मातृष्वसः दूनाः स्म इदानीम्।
स्वप्ननिधिलम्भेनेव दृष्टप्रनष्टेन लोके॥]

मौसी, सपने में खजाने के लाभ की भांति दिखे और नष्ट हुए क्षणभङ्गुर प्रेम के कारण अब हम दुखी हैं।

विमर्श—अस्थिर-स्नेही नायक को उद्देश्य करके प्रेयसी का उद्‌गार।

नायिका का तात्पर्य है कि मैं तो उसके प्रेम को निधिलाभ की तरह मानने लगी थी, पर उसके वर्ताव ने दिल तोड़ दिया है ॥ २३ ॥

चावो सहावसरलं विच्छिवइ सरं गुणम्मि वि पडन्तं ।
वक्कस्स उज्जुअस्स अ संबन्धो किं चिरं होई ॥ २४ ॥

[चापः स्वभावसरलं विक्षिपति शरं गुणेऽपि पतन्तम् ।
वक्रस्य ऋजुकस्य च संबन्धः किं चिरं भवति ॥]

धनुष स्वभाव से सरल एवं गुण पर टिके रहते बाण को भी फेंक देता है, टेढ़े और सरल का सम्बन्ध क्या देर तक कायम रहता है ?

विमर्श—सखी द्वारा अन्यापदेश से खण्डितप्रणया नायिका को प्रतिबोधन । बाण स्वभावतः सरल अर्थात् सीधा है, एवं गुण अर्थात् प्रत्यञ्चा पर टिका रहता है; प्रस्तुत अर्थ में, तू बड़ी सीधी-साधी एवं गुण में पक्षपात रखने वाली है । पर वह तो जनम का चालबाज है ! टेढ़े और सरल का सम्बन्ध कभी चिरकाल तक नहीं सुना गया है । तुझे तो पहले ही मना किया था पर तूने न सुनी । अब अपने किए का फल तो भोगना ही पड़ेगा ॥ २४ ॥

पढमं वामणविहिणा पच्छा हु कओ विअम्भमाणेण ।
थणजुअलेण इमीए महुमहणेण व्व वलिबन्धो ॥ २५ ॥

[प्रथमं वामनविधिना पश्चात्खलु कृतो विजृम्भमाणेन ।
स्तनयुगलेनैतस्या मधुमथनेनेव वलिबन्धः ॥]

मधु का संहार करने वाले विष्णु के समान इसके स्तनयुगल ने पहले वामन बनकर और बाद में फैलकर वलिबंध किया ।

विमर्श—कामुक तरुण द्वारा नायिका की स्तन-शोभा का वर्णन सहचर के प्रति । विष्णु ने जिस प्रकार वामन का रूप धारण करके बाद में विस्तृत फैलकर वलि नामक असुर का बन्ध (रोध) किया, उसी प्रकार नायिका के स्तनयुगल ने पहले वामन अर्थात् लघुरूप धारण करके पीछे विस्तृत होकर वलि अर्थात् त्रिवलि का बन्ध अर्थात् सम्बन्ध किया । अर्थात् नायिका के स्तन अपने विस्तार में त्रिवलि तक पहुँच गए हैं ॥ २५ ॥

मालइकुसुमाइँ कुलुञ्चिऊण मा जाणि णिव्वुओ सिसिरो ।
काअव्वा अज्ज वि णिग्गुणाणँ कुन्दाणँ वि समिद्धी ॥ २६ ॥

[मालतीकुसुमानि दग्ध्वा मा जानीहि निर्वृतः शिशिरः ।
कर्त्तव्याद्यापि निर्गुणानां कुन्दानामपि समृद्धिः ॥]

मालती के फूलों को जार कर, मत जानो कि शिशिर ठंडा पड़ गया, बल्कि आज ही गुणहीन कुन्दों की समृद्धि भी करेगा ।

विमर्श—किसी का अन्यापदेश-वचन, कि दुष्ट न केवल साधु जनों का अपकार मात्र करता है प्रत्युत असाधु जनों का उपकार भी करता है। गाथा में प्रयुक्त 'कुलुञ्चिऊण' की संस्कृत छाया 'दग्ध्वा' अर्थ की दृष्टि से भले ही संगत हो लेकिन प्राकृत प्रयोग के भाव को समेट पाने में असमर्थ प्रतीत होती है। 'कुलुञ्चिऊण' यह सम्भव है देश्य प्रयोग का प्राकृतीकरण हो और बहुत अंश में 'नोंच-खसोट' के भावात्मक अर्थ के समशील हो। गाथा में इसका पाठान्तर 'सुलुक्किकाऊण' है तथा प्रथमार्ध की संस्कृत छाया का पाठान्तर है—'मालती कुसुमानि म्लानानि कृत्वा खलूच्चीयमानानीव निर्वृतः।' मुझे ऐसा लगता है कुत्सितार्थक 'कु' को मिलाकर 'लुञ्चित्वा' (अर्थात् जैन-पद्धति के 'लुञ्चन' के अनुसार नोंच-खसोट कर) का प्राकृत प्रयोग 'कुलुञ्चि-ऊण' है ॥ २६ ॥

तुङ्गाणँ विसेसनिरन्तराणँ [सरस] वणलद्धसोहाणं ।
कअकज्जाणँ भडाणँ व थणाण पडणं वि रमणिज्जं ॥ २७ ॥

[तुङ्गयोर्विशेषनिरन्तरयोः [सरस] व्रणलब्धशोभयोः ।
कृतकार्ययोर्भटयोरिव स्तनयोः पतनमपि रमणीयम् ॥]

ऊँचे, खूब कसे हुए, रसीले व्रणों की प्राप्त शोभा वाले, कृतकार्य सिपाहियों की भाँति स्तनों का ढलना भी अच्छा लगता है।

विमर्श—गलितयौवना को देखकर नागरिक का परिहास-वचन सहचर के प्रति ॥ २७ ॥

परिमलणसुहा गुरुआ अलद्धविवरा सलक्खणाहरणा ।
थणआ कव्वालाव व्व कस्स हिअए ण लग्गन्ति ॥ २८ ॥

[परिमलनसुखा गुरुका अलब्धविवराः सलक्षणाभरणाः ।
स्तनकाः काव्यालापा इव कस्य हृदये न लगन्ति ॥]

काव्यपाठ, जिस प्रकार बार-बार अनुसन्धान के द्वारा सुखकर, गम्भीर, दोषरहित एवं अलङ्कृत होने के कारण किसे प्रिय नहीं लगते, उसी प्रकार मर्दन करने से सुख देने वाले, उन्नत, निरन्तर लक्षणों और अलङ्कारों से युक्त स्तन किसके हृदय में नहीं लग जाते?

विमर्श—किसी प्रगल्भ का नायिका के स्तनों का परिहास-गर्भित वर्णन। काव्यपक्ष में—परिमलन = पुनः पुनरनुसन्धान; गुरु = गम्भीर, अर्थवान्; अलब्धविवर = जिसमें किसी प्रकार का विवर न पाया गया हो अर्थात् निर्दोष; लक्षण = भरतोक्त काव्य के तीस लक्षण; आभरण = काव्यों के अलंकार। स्तनपक्ष में—परिमलन = मर्दन; गुरु = पीन एवं उन्नत; अलब्धविवर =

जिनके बीच भाग में कोई विवर नहीं हो, अर्थात् निरन्तर खूब कसे हुए; लक्षण = श्रीफल के समान आकार अथवा तिल आदि के लक्षणों वाला; आभरण = हार आदि अलंकार ॥ २८ ॥

खिप्पइ हारो थणमण्डलाहि तरुणीअ रमणपरिरम्भे ।
अच्चिअगुणा वि गुणिनो लहन्ति लहुअत्तणं काले ॥ २६ ॥
[क्षिप्यते हारः स्तनमण्डलात्तरुणीभी रमणपरिरम्भे ।
अर्चितगुणा अपि गुणिनो लभन्ते लघुत्वं कालेन ॥]

प्रिय के आलिंगन में तरुणियाँ स्तन-मण्डल से हार को हटा देती हैं, पूजित गुणों वाले गुणी भी समयवश लघुता को प्राप्त कर जाते हैं ।

विमर्श—उपादेय वस्तु भी समयवश अनुपादेय बन जाती है, किसी द्वारा इस तथ्य का निदर्शन । 'गुणी' शब्द श्लिष्ट है, गुण अर्थात् सूत्र, अथवा शौर्य आदि गुण । हार सूत्रयुक्त होने से 'गुणी' है ॥ २९ ॥

अण्णो को वि सुहाओ मम्महसिहिणो हला हआसस्स ।
विज्झाइ णीरसाणं हिअए सरसाणँ झत्ति पज्जलइ ॥ ३० ॥
[अन्यः कोऽपि स्वभावो मन्मथशिखिनो हला हताशस्य ।
निर्वाति नीरसानां हृदये सरसानां झटिति प्रज्वलति ॥]

अरी सखी, अभागे कामाग्नि का स्वभाव कोई दूसरा ही है, जो कि नीरसों के हृदय में बुझ जाता है और सरसों के हृदय में झट से भड़क उठता है ।

विमर्श—नायिका द्वारा सखी के समक्ष नायक में अनुराग एवं अपनी कामजनित व्यथा का प्रकाशन । साधारण अग्नि तो नीरस अर्थात सूखे काष्ठ आदि में लहक पड़ता है और सरस अर्थात् ओदे (आर्द्र) में बुझ जाता है, परन्तु इस कामाग्नि का इसके बिलकुल विपरीत आचरण है । तात्पर्य यह कि मेरे सरस हृदय में कामाग्नि बिलकुल भड़क उठा है और प्रिय के नीरस हृदय में बुझ गया है ॥ ३० ॥

तइ तस्स माणपरिवड्ढिअस्स चिरपणअवद्धमूलस्स ।
मामि पडन्तस्स सुओ सद्दो विण पेम्मरुक्खस्स ॥ ३१ ॥
[तथा तस्य मानपरिवर्धितस्य चिरप्रणयबद्धमूलस्य ।
मातुलानि पततः श्रुतः शब्दोऽपि न प्रेमवृक्षस्य ॥]

मामी, उस प्रकार मान से बढ़े हुए, चिरकाल के प्रणय से दृढ़ मूल वाले गिरते हुए उस प्रेम के वृक्ष का शब्द भी नहीं सुन पड़ा ।

विमर्श—सखी द्वारा मानग्रहिल नायिका के खण्डित सौभाग्य का मातु-

लानी को विस्मय-पूर्वक निवेदन। प्रायः मान के कारण जो प्रेमभाव बढ़ता है वही मान की मात्रा के अधिक हो जाने पर प्रेम के समाप्त होने का कारण बन जाता है। प्रस्तुत नायिका के प्रेम के वृक्ष का टूटने का पता किसी को भी न चला, जब कि वह मान से परिवर्धित एवं चिरप्रणय से दृढ़मूल भी हो चुका था, यह एक आश्चर्य की घटना है! ॥ ३१ ॥

पाअपडिओ ण गणिओ पिअं भणन्तो वि अप्पिअं भणिओ।
वच्चन्तो वि ण रुद्धो भण कस्स कए कओ माणो॥ ३२॥
[पादपतितो न गणितः प्रियं भणन्नप्यप्रियं भणितः।
व्रजन्नपि न रुद्धो भण कस्य कृते कृतो मानः॥]

(प्रिय) पैरों पर गिरा तो परवाह न की, प्रिय-वचन बोला तो तूने अप्रिय-वचन कहा, जाने लगा तब भी न रोका, बोल, किस कारण तूने मान किया है?

विमर्श—सखी का वचन, मानिनी नायिका के प्रति। स्वभावतः मान का अवसान प्रणाम के बाद हो जाता है (प्रणामान्तो मानः)। इस सीमा का भी जब उल्लङ्घन किया गया तब मान के कारण विभिन्न अनर्थों की सम्भावना होने लग जाती है; जैसे, प्रिय विरक्त हो जाता है आदि आदि। गाथा के चतुर्थ चरण में प्रश्नकर्त्री सखी का कुछ इसी प्रकार के अनर्थ की आशंका से झिझक-पूर्ण संवेदन का आभास होता है॥ ३२॥

पुसइ खणं धुवइ खणं पप्फोडइ तक्खणं अआणन्ती।
मुद्धवहूथणवट्टे दिण्णं दइएण णहरवअं॥ ३३॥
[प्रोञ्छति क्षणं क्षालयति क्षणं प्रस्फोटयति तत्क्षणमजानती।
मुग्धवधूः स्तनपदे दत्तं दयितेन नखरपदम्॥]

भोली-भाली वधू अपने स्तन के स्थान पर प्रिय के द्वारा अर्पित नखक्षत को न समझ पाकर तत्काल छन भर पोंछती, छन भर धोती और छन भर झाड़ती है।

विमर्श—नायक को उत्कण्ठित करने के लिए दूती द्वारा नायिका के नव-यौवन का वर्णन। अथवा, सपत्नी के दुश्चरित के सूचनार्थ किसी का उपालम्भ-वचन। चाहे जो भी हो, गाथाकार ने मुग्धा के मुग्धात्व को बड़ी सफलता के साथ निखारा है। क्षणभर नखक्षत को पोंछने की विफलता के बाद उसका उसे धोने का प्रयत्न, तत्पश्चात् झाड़ने का प्रयत्न करना एक अपूर्व स्वारस्य उत्पन्न करते हैं॥ ३३॥

वासरत्ते उण्णअपओहरे जोव्वणे व्व वोलीणे ।
पढमेक्ककासकुसुमं दीसइ पलिअं व धरणीए ॥ ३४ ॥
[वर्षाकाले उन्नतपयोधरे यौवन इव व्यतिक्रान्ते ।
प्रथमैककाशकुसुमं दृश्यते पलितमिव धरण्याः ॥]

उन्नत पयोधरों (मेघों) वाले वर्षाकाल के उन्नत पयोधरों (स्तनों) से युक्त नवयौवन की भाँति बीत जाने पर पहले-पहल काश का एक फूल धरती के पके बाल (पलित) की भाँति देख पड़ता है ।

विमर्श—नायिका द्वारा अपना संकेत-स्थान पर गमन जार को सुनाते हुए शरद का वर्णन । अथवा, वृद्धा वेश्या विट से कहती है कि बुढ़ापा मुझे ही नहीं तकलीफ देता, वल्कि धरती को भी पीड़ित करता है । अथवा, नायिका के द्वारा जार को यह सूचना, कि वर्षाकाल जो हमारे अभिसार के अनुकूल था, चला गया और अभिसार के लिए अनुचित शरद आ गई ॥ ३४ ॥

कत्थं गअं रइबिम्बं कत्थ पणट्ठाओ चन्दताराओ ।
गअणे बलाअपन्ति कालो होरं व कड्ढइ ॥ ३५ ॥
[कुत्र गतं रविबिम्बं कुत्र प्रणष्टाश्चन्द्रतारकाः ।
गगने बलाकापंक्तिं कालो होरामिवाकर्षति ॥]

रविबिम्ब कहाँ गया ? चन्द्र और तारे कहाँ नष्ट हो गए ? काल आकाश में बलाकाओं की पंक्ति के रूप में मानों होरा को रेखाङ्कित कर रहा है ।

विमर्श—नायक के प्रवास-गमन के निषेधार्थ नायिका की सखी द्वारा वर्षा-काल का वर्णन । जिस प्रकार कोई ज्योतिषी सूर्य आदि ग्रहों की निश्चित स्थिति की जानकारी के लिए खड़िये से रेखा खींचता है, उसी प्रकार मानों काल भी एक ज्योतिषी के रूप में आकाश में बलाकापङ्क्ति की रेखा खींचकर होरा का निश्चय कर रहा है । अर्थात् सूर्य, चन्द्र और तारों का इस प्रावृट् काल के अन्धेरे में कहीं पता नहीं चल रहा है, ऐसे बेमौके पर तुम्हारा प्रस्थान करना उचित नहीं । यह व्याख्यान टीकाकार गङ्गाधर के अवतरण पर अवलम्बित है । पर यह चिन्त्य है, क्योंकि इस अवतरण के अनुसार यदि बात दिन में कही जा रही है, तब दिन में चन्द्र और तारों के अन्वेषण का कोई प्रसङ्ग प्राप्त नहीं होता । यद्यपि काल रूप ज्योतिर्विद् के द्वारा ग्रहमान का पता लगाने में यह बात बन जाती है, तथापि प्रस्तुत अवतरण में सङ्गत नहीं प्रतीत होती है । अतः जहाँ तक सम्भावना है, यह अभिसार के लिए नायक को सखी द्वारा शुभशकुन की सूचना है । इस अवतरण की पुष्टि आकाश में बलाकाओं (बगुलियों) की पंक्ति के अवस्थान से होती है । जैसा कि 'गर्भाधान क्षणपरि-

षयान्नूनमावद्धमालाः सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः' (मेघदूत पूर्व० ९)। इस श्लोक की व्याख्या में 'मल्लिनाथ' ने भी शकुन-शास्त्र के अनुसार बलाकादर्शन को 'शुभसूचक' माना है। सखी का तात्पर्य यह कि इस समय आकाश पूर्ण रूप से मेघाच्छन्न है, सूर्य का कहीं पता नहीं, तथा रात्रि को चन्द्र और तारों की हालत भी यही होगी, एवं शुभसूचक शकुन बलाकादर्शन भी हो रहा है, ऐसी स्थिति में अभिसार सर्वथा निर्विघ्न होगा ॥ ३५ ॥

अविरलपडन्तणवजलधारारज्जुघडिअं पअत्तेण ।
अपहुत्तो उक्खेत्तुं रसइ व मेहो महिं उअह ॥ ३६ ॥

[अविरलपतन्नवजलधारारज्जुघटितां प्रयत्नेन ।
अप्रभवन्नुत्क्षेप्तुं रसतीव मेघो महीं पश्यत ॥]

देखो, मेघ अविकल गिरती हुई नये जल की धाराओं की रस्सी से बंधी हुई पृथ्वी को प्रयत्न से मानों ऊपर खींचने में असमर्थ होकर आवाज कर रहा है।

विमर्श—दूती द्वारा सशंक नायक को आश्वासन। मेघ की जलधाराएं नहीं हैं, बल्कि ये घनी रस्सियां हैं, जिनसे मेघ पृथ्वी को ऊपर खींचने का प्रयत्न कर रहा है और आवाज कर रहा है, चिल्ला रहा है। तात्पर्य यह कि कोई भी इस अवसर में बाहर निकलने का प्रयत्न नहीं करेगा और तुम दोनों के ऊधम की आवाज भी किसी तक नहीं पहुंचेगी। डरना बेकार है, अपने लक्ष्य की ओर चल दे ॥ ३६ ॥

ओ हिअअ ओहिदिअहं तइआ पडिवज्जिऊण दइअस्स ।
अत्थेक्काउल वीसम्भघाइ किं तइ समारद्धं ॥ ३७ ॥

[हे हृदय अवधिदिवसं तदा प्रतिपद्य दयितस्य ।
अकस्मादाकुल विस्रम्भघातिन् किं त्वया समारब्धम् ॥]

हे हृदय, तब प्रिय की (लौटने की) मियाद के दिन को स्वीकार करके अचानक बेकरार हो गया! अरे विश्वासघाती, तूने क्या आरम्भ कर दिया?

विमर्श—नायिका द्वारा हृदय के उपालम्भ के द्वारा शीघ्र प्रिय-मिलन के औत्सुक्य का प्रकाशन। जब प्रिय परदेश जा रहा था और लौटने की अवधि तय कर दी तब तो हृदय ने मान लिया; अभी जब अवधि के दिन पूरे नहीं हुए, तभी अचानक बेकरार हो गया। इससे बढ़कर विश्वासघात क्या हो सकता है? तात्पर्य यह कि मैं अब किसी प्रकार अपने हृदय को मना नहीं पाऊंगी, इसका परिणाम कुछ समझ नहीं पा रही हूं, किसी प्रकार अब प्रिय के

मिलन से ही यह बेक़रारी जानेवाली है। सखी के प्रति तात्पर्य यह कि प्रिय को यथाशीघ्र चले आने की खबर कर ॥ ३७ ॥

जो वि ण आणइँ तस्स वि कहेइ भग्गाइँ तेण वलआइँ।
अइउज्जुआ वराई अइ व पिओ से हआसाए ॥ ३८ ॥

[योऽपि न जानाति तस्यापि कथयति भग्नानि तेन वलयानि।
अतिऋजुका वराकी अथवा प्रियस्तस्या हताशायाः ॥]

जो नहीं भी जानता, उससे भी कह देती है कि उसने वलय तोड़ डाले, बेचारी बहुत भोली है या उस हताशा का प्रिय बहुत भोला है।

विमर्श—किसी द्वारा रतप्रवृत्त जार के द्वारा तोड़ दिए गए वलय वाली नायिका के चारित्र्य-खण्डन का प्रकाशन। जब यह छिपाकर रखने की बात है तो यह जहां-तहां जिस-किसी से भी कहती चलती है। क्या यह हताशा भोली है या इसका प्रिय भोला है, जिसने इसका वलय तोड़ते हुऐ सुरतवृत्तान्त के जाहिर हो जाने की परवा न की ? ॥ ३८ ॥

सामाइ गरुअजोव्वणविसेसभरिए कवोलमूलम्मि।
पिज्जइ अहोमुहेण व कण्णवअंसेण लावण्णं ॥ ३९ ॥

[श्यामाया गुरुकयौवनविशेषभृते कपोलमूले।
पीयतेऽधोमुखेनेव कर्णावतंसेन लावण्यम् ॥]

सांवरी की भरपूर जवानी से खूब भरे गालों के किनारे मानों कनफूल नीचे मुंह करके लावण्य को पी रहा है।

विमर्श—सुन्दरी के कपोल-वर्णन के बहाने नायक द्वारा अपने चुम्बनाभिलाप का प्रकाशन। इन अचेतन कर्णफूल को यह सौभाग्य प्राप्त है और चेतन हम हैं, जो प्यासे बैठे हैं ! 'ग़ैर लें बोसे तुम्हारे जाम के। हम रहें यूं तिश्नालब पैग़ाम के ॥ (ग़ालिब) ॥ ३९ ॥

सेउल्लिअसव्वङ्गी गोत्तग्गहणेण तस्स सुहअस्स।
दूइं पट्ठाएन्ती तस्सेअ घरङ्गणं पत्ता ॥ ४० ॥

[स्वेदार्द्रीकृतसर्वाङ्गी गोत्रग्रहणेन तस्य सुभगस्य।
दूतीं प्रस्थापयन्ती (संदिशन्ती वा) तस्यैव गृहाङ्गणं प्राप्ता ॥]

उस सुभग के नाम लेने से पसीने से भींगे सभी अङ्गों वाली वह दूती को पठाती हुई उसके घर के आंगन में ही पहुंच गई।

विमर्श—सखी के शिक्षार्थ किसी द्वारा अन्य नायिका के औत्सुक्य के वृत्तान्त का निवेदन। वह इतना प्रिय-मिलन के लिए उत्सुक हो गई कि दूती

को पठाने का ध्यान ही न रहा और स्वयं प्रिय के घर पहुंच गई। इतनी उत्सुकता नहीं होनी चाहिए कि लोक-लाज ही न रह जाय ॥ ४० ॥

जम्मन्तरे वि चलणं जीएण खु मअण तुज्झ अच्चिस्सं।
जइ तं पि तेण बाणेण विज्झसे जेण हं विज्झा ॥ ४१ ॥

[जन्मान्तरेऽपि चरणौ जीवेन खलु मदन तवार्चयिष्यामि।
यदि तमपि तेन बाणेन विध्यसि येनाहं विद्धा ॥]

हे मदन, दूसरे जनम में भी अपने प्राण से तेरे चरणों की पूजा करूंगी, अगर तूने जिस बाण से मुझे वेधा है उससे उसे भी वेधा।

विमर्श—नायिका द्वारा नायक के मिलन की उत्कण्ठा का कामदेव के प्रति प्रार्थना के व्याज से प्रकाशन। प्रार्थना यह है कि जिस बाण से मुझे तुमने बेधा है उसी बाण से उस बेवफा प्रिय को भी बेध दे, ताकि उसे मालूम हो जाय कि उसके विरह में मैं कितना कष्ट सहन कर चुकी हूं, इस प्रत्युपकार का बदला केवल मैं यही दे सकती हूं कि अगले जनम में भी अपने प्राण देकर तेरे चरण को पूजूंगी। अर्थात् इस स्थिति में किसी प्रकार मेरे प्राणों के बचने की आशा नहीं, यदि प्रिय के मिलन का कोई उपाय हो तो शायद आशा की जा सकती है ॥ ४१ ॥

णिअवक्खारोविअदेहभारणिउणं रसं लिहन्तेण।
विअसाविऊण पिज्जइ मालइकलिआ महुअरेण ॥ ४२ ॥

[निजपक्षारोपितदेहभारनिपुणं रसं लभमानेन।
विकास्य पीयते मालती कलिका मधुकरेण ॥]

मालती की कली को विकसित करके रस लेता हुआ भौंरा अपने पांखों पर देह का बोझ डालकर चतुराई से पान करता है।

विमर्श—नायक को उपचारनिपुण होने के सम्बन्ध में दूती द्वारा अतिबाला नायिका को आश्वासन। अथवा अनभिज्ञ एवं उत्कण्ठित नायक को 'उत्फुल्लकरण' की शिक्षा। भौंरे को यह पूर्ण रूप से विदित है कि यदि वह कली के रूप में अवस्थित मालती को विकसित नहीं कर लेता और अपने शरीर के बोझ को उस पर डाल देता है, तो मालती टूट कर बिखर जायगी और उसका रसपान अधूरा रह जायगा। ऐसी स्थिति में वह बड़ी सावधानी के साथ पहले उसे विकसित कर लेता है और अपने पंखों पर ही अपने शरीर को उठाये-उठाये अर्थात् जरा-जरा उड़ते हुए ही रस का लेहन-पूर्वक पान करता है। प्रस्तुतार्थ यह कि नायक को विदित है कि तू अतिबाला है, रतिक्षमा की पूर्ण स्थिति तक नहीं पहुँच पाई है, फिर वह विकसित करके ही

रमण करेगा तथा तुझ पर अपने शरीर का पूरा बोझ न छोड़ देगा। विकसित करके रमण करने की व्यञ्जना से अनायास ही वात्स्यायन द्वारा वर्णित 'उत्फुल्लकरण' का प्रकार प्रतीत हो जाता है, "शिरोनिपात्योर्ध्वं जघनमुत्फुल्लकम्"; टीका के अनुसार—"जघनशिरोभागमधस्ताच्छय्यायां विनिपात्योर्ध्वं जघनं कुर्यात्। अतिविस्तारणार्थमुपर्युपरि स्थित हस्तपृष्ठे त्रिकभागं विनिवेशयेत्। एवं जघनस्योर्ध्वं विस्तृतत्वादुत्फुल्लमिवोत्फुल्लकमिति"। 'रतिरहस्य' के अनुसार—"करयुग्मधृतत्रिकमूर्ध्वलसज्जघनं पतिहस्तनिविष्टकुचम्। स्फिग्बिम्बबहिर्धृतपार्ष्णियुगं ह्युत्फुल्लकमुक्तमिदं करणम्॥" (१०।१६) ॥४२॥

कुरुणाहो व्विअ पहिओ दूमिज्जइ माहवस्स मिलिएण।
भीमेण जहिच्छिआए दाहिणवाएण छिप्पन्तो ॥ ४३॥

[कुरुनाथ इव पथिको दूयते माधवस्य मिलितेन।
भीमेन यथेच्छया दक्षिणवातेन स्पृश्यमानः॥]

माधव (श्रीकृष्ण) से मिले भीम के द्वारा स्वेच्छा से दाहिने पैर से स्पृष्ट होकर जिस प्रकार कुरुनाथ (दुर्योधन) व्यथित हुआ, उसी प्रकार माधव (वसन्त) से मिले भीम (भयंकर) दक्षिण पवन के द्वारा स्वेच्छा से स्पृष्ट होकर पथिक कष्ट पाता है।

विमर्श—सखी द्वारा चिरविरहिणी युवती को यह आश्वासन, कि वसन्त के डर से प्रिय शीघ्र ही आ जायगा। प्राकृत 'दाहिणवाएण' की संस्कृत छाया "दक्षिणपादेन' भी है, अतएव भीम के पक्ष में इसकी संगति की गई है, क्योंकि भीम ने दुर्योधन को अपने दाहिने पैर से मारा था। वसन्त का दाक्षिणात्य पवन वियोगी जनों के लिए कष्टप्रद होता है यह साहित्य में अतिप्रसिद्ध चर्चा है॥ ४३॥

जाव ण कोसविकासं पावइ ईसीस मालईकलिआ।
मअरन्दपाणलोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि॥ ४४॥

[यावन्न कोषविकासं प्राप्नोतीषन्मालतीकलिका।
मकरन्दपानलोभयुक्त भ्रमर तावदेव मर्दयसि॥]

जब तक मालती की कली का कोष-विकास थोड़ा-थोड़ा नहीं हो जाता है, अरे मकरन्द-पान का लालची भौंरा, तभी तक (उसे) मसलेगा!

विमर्श—सखी का अन्यापदेश-वचन, अप्राप्तयौवना के साथ रमण में प्रवृत्त नायक के प्रति। मकरन्दपान का लालची भौंरा कली को मसलता रहता है, ताकि जहां तक वह जल्दी विकसित अवस्था में पहुँच जाय और वह छक कर उसके मकरन्द का पान करे। उसी प्रकार प्रस्तुत में अप्राप्तयौवनयौवना

को सुरत का लोलुप नायक यथा शीघ्र यौवनविकास की स्थिति तक जो पहुँचाने के लिए मसलता है, वह बहुत तरह से उचित नहीं। सामयिक फल की अपेक्षा असामयिक फल बहुत कम स्वादिष्ट होता है! इस प्रकार नायिका के कोषविकास के लिए नायक का यह प्रयत्न किसी प्रकार ठीक नहीं। उसे धैर्यपूर्वक अवसर की प्रतीक्षा करनी चाहिए। महाकवि बिहारी ने इस गाथा का छायानुहारी दोहा अपने रंग में ढाल कर लिखा है—'नहि पराग नहि मधुर रस, नहि विकास इहिं काल। अली कली हीं सो वंध्यो, आगें कौन हवाल। गाथा और दोहा के चमत्कार का तारतम्य सहृदय स्वयं विचार कर लें॥ ४४॥

अकअण्णुअ तुज्झ कए पाउसराईसु जं मए खुण्णं।
उप्पेक्खामि अलज्जिर अज्ज वि तं गामचिक्खिल्लं॥ ४५॥

[अकृतज्ञ तव कृते प्रावृड्रात्रिषु यो मया क्षुण्णः।
उत्पश्याम्यलज्जाशील अद्यापि तं ग्रामपङ्कम्॥]

अकृतज्ञ, तेरे लिए पावस की रातों में जिसमें मैं चला करती थी, निर्लज्ज, गांव के उस कीचड़ को आज भी देख रही हूँ।

विमर्श—मन्दस्नेह नायक के अनुकूलनार्थ नायिका का उपालम्भ। तेरे कारण मैंने बहुत-बहुत कष्ट सहे, उनके साक्षी रूप में गांव का कीचड़ अभी तक सूखा नहीं, पर तेरा स्नेह सूख गया, उसका कोई साक्षी तक विद्यमान नहीं। इससे स्पष्ट है कि अकृतज्ञ एवं निर्लज्ज है॥ ४५॥

रेहइगलन्तकेसक्खलन्तकुण्डलललन्तहारलआ।
अद्धुप्पइआ विज्जाहरि व्व पुरुसाइरी बाला॥ ४६॥

[राजते गलत्केशस्खलत्कुण्डलललद्धारलता।
अर्धोत्पतिता विद्याधरीव पुरुषायिता बाला॥]

बिखरते बालों, कांपते कुण्डलों एवं हिलती हारलता वाली पुरुष-रति में प्रवृत्त बाला आधी ऊपर उड़ी हुई विद्याधरी की भांति लगती है।

विमर्श—नागरिक द्वारा विपरीत रत में भोली-भाली वधू के प्ररोचनार्थ किसी बाला के पुरुषायित का वर्णन। बालों का बिखरना आदि उड़ने की स्वाभाविक स्थिति का वर्णन है। देवताओं की योनि विद्याधरी की भांति इसलिए लगती है कि उसका पृथ्वी से सम्पर्क नहीं रह जाता। 'विद्याधरी' इस प्रयोग से सुरत की इस विधा में नायिका का चातुर्य भी व्यञ्जित किया गया है॥ ४६॥

जइ भमसि भमसु एमेअ कण्ह सोहग्गगव्विरो गोट्ठे।
महिलाणं दोसगुणे विआरक्खमो अज्ज विण होसि ॥ ४७ ॥
[यदि भ्रमसि भ्रम एवमेव कृष्ण सौभाग्यगर्वितो गोष्ठे।
महिलानां दोषगुणौ विचारक्षमोऽद्यापि न भवसि ॥]

हे कृष्ण, यदि सौभाग्य का गर्व रखते हो और यदि तुम महिलाओं के दोष और गुण का विचार कर सकते हो तो इसी तरह गोठ में घूमा करो।

विमर्श—गुणगर्विता नायिका की गर्वोक्ति नायक के प्रति। गाथा के उत्तरार्ध का पाठान्तर इस प्रकार है—'महिलाणं दोसगुणविआरक्खमो यदि ण होसि' (महिलानां दोषगुणविचार क्षमो यदि न भवसि)। इसके अनुसार अर्थ इस प्रकार होगा—'यदि सौभाग्य का गर्व रखते हो तो गोठ में इसी प्रकार घूमा करो, तुम महिलाओं के दोष-गुण का विचार नहीं कर सकोगे'। नायिका का तात्पर्य यह है कि खोज करने पर भी मुझ जैसी वल्लभा दुर्लभ है ॥ ४७ ॥

संझासमए जलपूरिअञ्जलिं विहडिएक्कवामअरं।
गोरीअ कोसपाणुज्जअं व पमहाहिवं णमह ॥ ४८ ॥
[सन्ध्यासमये जलपूरिताञ्जलिं विघटितैकवामकरम्।
गौर्यै कोषपानोद्यतमिव प्रमथाधिपं नमत ॥]

सन्ध्या के समय जल से भरी अंजलि वाले वामहस्त के विघटित हो जाने पर मानों गौरी के लिए कोषपान करने को उद्यत प्रमथाधिप शिव को नमन करो।

विमर्श—मानिनी नायिका की सखी द्वारा अनुनयार्थ प्रवृत्त करने के लिए नायक को शिव के प्रणाम के व्याज से समझाना। पार्वती का सन्ध्या के साथ सपत्नीभाव साहित्य के क्षेत्र में प्रसिद्ध है। शिव जी द्वारा संध्या प्रणाम पार्वती को कथञ्चित् अभीष्ट नहीं। प्रस्तुत में जब शिव ने सन्ध्यावन्दन के लिए जलाञ्जलि ली, तब ईर्ष्याकोपवश पार्वती ने अपना बायाँ हाथ हटा लिया, क्योंकि अर्धनारीश्वर शिवजी के शरीर का समग्र वाम भाग पार्वती का रूप है, जैसा कि कालिदास भी लिखते हैं—'प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य।' इस प्रकार कविनिबद्ध वक्ता की उत्प्रेक्षा के अनुसार शिवजी ने अपने अपराध के निवारणार्थ मानों 'कोषपान' का उद्यम किया। 'कोषपान' एक प्रकार का धर्मशास्त्रीय दिव्य कर्म है जो अपराध या किसी पाप के शोधन के लिए प्राचीन काल में कराया जाता था। 'याज्ञवल्क्य स्मृति' के व्यवहाराध्याय का वचन है—

'देवानुग्रहान् समभ्यर्च्य तत्स्नानोदकमाहरेत्।
संश्राव्य पाययेत् तस्माज्जलं तु प्रसृतित्रयम् ॥'

अर्थात् दुर्गा, आदित्य आदि उग्र देवताओं की गन्धपुष्पादि से पूजा करके उनके स्नान के जल को मंगवा कर तीन अंजुरी जल को पान करावे। यह पद्धति गोमयमण्डलित भूमि पर शोध्य पुरुष को आदित्याभिमुख स्थापित करके सम्पन्न की जाती है। यह कार्य 'कोषपान' या तीर्थपान' के नाम से धर्मशास्त्र में प्रसिद्ध है। वक्त्री सखी का प्रस्तुत में नायक के प्रति वक्तव्य यह है कि जिस प्रकार प्रमथाधिप होकर भी शिव पार्वती के अनुनयार्थ 'कोषपान' में लज्जित न हुए, उसी प्रकार तुम्हें भी उसके अनुनय में लज्जित नहीं होना चाहिए, अर्थात् अपना अपराध स्वीकार करके उसके शोधन का उपाय करना चाहिए॥ ४८॥

गामणिणो सव्वासु वि पिआसु अणुमरणगहिअवेसासु।
मम्मच्छेएसु वि वल्लहाइ उवरी वलइ दिट्ठी॥ ४९॥

[ग्रामण्याः सर्वास्वपि प्रियास्वनुमरणगृहीतवेषासु।
मर्मच्छेदेष्वपि वल्लभाया उपरि वलते दृष्टिः॥]

सभी (पत्नियों) ने अनुमरण का वेष धारण कर लिया, छाती फटी जा रही थी, तथापि ग्रामनायक की नजर प्रियतमा के ऊपर पहुँचती।

विमर्श—सखी द्वारा नायिका को निदर्शन, कि सुभगा के प्रति प्रिय का अनुराग आखिरी समय में भी कायम रहता है। अथवा, कुट्टनी का यह वचन कि मरने के समय में सुभगा को ही चाहता है, तुम्हें प्यार नहीं करता अतः इसे छोड़ो और जार की फिकर करो॥ ४९॥

मामिसरसक्खराणँ वि अत्थि विसेसो पअम्पिअव्वाणं।
णेहमइआणँ अण्णो अण्णो उवरोहमइआणं॥ ५०॥

[मातुलानि सदृशाक्षराणामप्यस्ति विशेषः प्रजल्पितव्यानाम्।
स्नेहमयानामन्योन्य उपरोधमयानाम्॥]

मामी, समान अक्षर होने पर भी बातों में विशेषता होती है, स्नेहभरी बातों में दूसरी और अनुरोधवश कही हुई बातों में दूसरी।

विमर्श—मामी के इस प्रश्न पर, कि जब वह तुझसे प्यार की बातें करता है, तब भी उस पर तू कुपित रहती है, नायिका का उत्तर। प्यार की बोली के अक्षर तथा किसी के अनुरोध, न कि आन्तरिक स्नेह से, कही हुई बात के अक्षर समान ही हैं, पर स्वर (टोन) का कुछ ऐसा भेद हो जाता है कि दोनों एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि मैं उसके स्वर-संकेतों से ही विदित कर लेती हूँ कि वह स्नेह से नहीं, बल्कि मेरे अनुरोधवश चिकनी-चुपड़ी बातें कर रहा है॥ ५०॥

हिअआहिन्तो पसरन्ति जाइँ अण्णाइँ ताइँ वअणाइं।
ओसरसु किं इमेहिं अहरुत्तरमेत्त भणिएहिं ॥ ५१ ॥
[हृदयेभ्यः प्रसरन्ति यान्यन्यानि तानि वचनानि।
अपसर किमेभिरधरोत्तरमात्रभणितैः ॥]

जो बातें दिल से निकलती हैं, वे और होती हैं, परे हट, इन ओठ पर की कही बातों से क्या होगा ?

विमर्श—नायिका का सरोष वचन, अन्यासक्त मधुरभाषी नायक के प्रति। परे हट, अर्थात् मैं तेरा सब रहस्य जान गई हूँ, तुझे बातें खूब बनाने आती हैं। मेरे पास तेरी एक न चलेगी। मुझे मालूम हो जाता है, कि कौन बात दिल के भीतर से निकली हुई है और कौन सिर्फ मुँह से ! ॥५१॥

कहँ सा सोहग्गगुणं मए समं वहइ णिग्घिण तुमम्मि।
जीअ हरिज्जइ गोत्तं हरिऊण अ दिज्जए मज्झ ॥ ५२ ॥
[कथं सा सौभाग्यगुणं मया समं वहति निर्घृण त्वयि।
यस्या ह्रियते नाम हृत्वा च दीयते मह्यम् ॥]

हे निर्दय जब कि तू जिसका नाम चुरा लेता है और चुरा कर मुझे अर्पित कर देता है, तो वह तेरे प्रति मेरे साथ सौभाग्य का गुण कैसे धारण करती है ?

विमर्श—विदग्धा नायिका द्वारा गोत्रस्खलन के अपराधी नायक को उपालम्भ। अभिधेयार्थ की दृष्टि से तात्पर्य यह कि यह बात नहीं बन सकती है, कि दो पत्नियाँ एक ही बार सुभगा कहलाएं, ऐसी स्थिति में जब कि उसके नाम को चुरा कर जब तू मुझे दे डालता है तो वह 'सुभगा' कैसी ? व्यङ्ग्यार्थ यह कि वही सुभगा है, जिसे निरन्तर ध्यान करता हुआ तू मुझ अभागिन को उसी के नाम से पुकार बैठा है। सचमुच तू 'निर्दय' है जो इस प्रकार अनुराग करने वाली मुझसे प्रेमभाव न रख कर अन्यत्र आसक्ति करता है। 'पीताम्बर' के अनुसार इस गाथा की नीति यह है कि मनुष्य को अपने वचन का संवरण करना चाहिए,

'रक्षितव्यं सदा वाक्यं वाक्याद् भवति नाशनम्।
हंसाभ्यां नीयमानस्य कूर्मस्य पतनं यथा ॥ ५२ ॥

'पर्यायोक्त' अलङ्कार।

सहि साहसु सब्भावेण पुच्छिमो किं असेसमहिलाणं।
वड्ढन्ति करठिआ च्चिअ वलआ दइए पउट्ठम्मि ॥ ५३ ॥
[सखि कथय सद्भावेन पृच्छामः किमशेषमहिलानाम्।
वर्धन्ते करस्थिता एव वलया दयिते प्रोषिते ॥]

हे सखी, बता, स्नेह से पूछती हूं, क्या बालम के परदेश चले जाने पर सभी महिलाओं के वलय हाथ में पड़े पड़े ही बढ़ जाते हैं ?

विमर्श—मुग्धा नायिका का प्रश्न, सखी के प्रति। उसे इतना भी विदित नहीं कि विरह के कारण विरहिणियों का शरीर कृश हो जाता है और सोहाग के रूप में धारण किया हुआ वलय हाथ से चूने लगता है। प्रस्तुत नायिका के 'स्नेह से पूछती हूँ' यह बात कहकर किए गए इस प्रश्न में सहृदय पाठक का मन उसके मुग्धात्व के सम्बन्ध में शङ्कायित हो जाता है ॥ ५३ ॥

भमइ पलित्तइ जूरइ उक्खिविउं से करं पसारेइ ।
करिणो पङ्कक्खुत्तस्स णेहणिअलाइआ करिणी ॥ ५४ ॥
[भ्रमति परितः खिद्यते उत्क्षेप्तुं तस्य करं प्रसारयति ।
करिणः पङ्कनिमग्नस्य स्नेहनिगडिता करिणी ॥]

पांक में फंसे हाथी के स्नेह में बंधी हथिनी चारों ओर घूमती है, खिन्न होती है, उसे उबारने के लिए सूंड फैलाती है।

विमर्श—दरिद्र या रोगी नायक को छोड़ परपुरुष में अनुराग करनेवाली नायिका के निवारणार्थ सखी का अन्यापदेश-वचन। हथिनी इस दशा में भी अपने प्रियतम के लिए किस प्रकार बेचैन रहती है और तूं है कि छोड़कर अन्यत्र चली जाना चाहती है ! स्वार्थ की भावना का परित्याग कर और प्रिय में हृदय से स्नेहभाव रख, इसी में तेरा कल्याण है ॥ ५४ ॥

रइकेलिहिअणिअंसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स ।
रुद्दस्स तइअणअणं पव्वइपरिचुम्बिअं जअइ ॥ ५५ ॥
[रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य ।
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ॥]

पार्वती के साथ रतिक्रीड़ा में वस्त्र हटा दिए जाने पर जिनके दोनों नेत्र मूंद दिए गए ऐसे भगवान् शंकर के पार्वती के द्वारा परिचुम्बित तीसरे नेत्र की जय हो।

विमर्श—शिव और पार्वती के एकान्त-मिलन के माध्यम से विदग्धा नायिका के चातुर्य का निदर्शन। भगवान् शिव ने पार्वती को वस्त्ररहित कर दिया। लज्जावश पार्वती ने अपने दोनों हाथों से शिवजी के दोनों नेत्र मूंद दिए। इतने से समस्या का समाधान न हुआ, क्योंकि शिवजी का तीसरा नेत्र तत्काल क्रियाशील हो गया, चटपट चतुरा पार्वती ने उसके परिचुम्बन का माध्यम अपनाया। नेत्र के प्रथम बार के पिधान की अपेक्षा दूसरे बार

के पिधान में अधिक चमत्कार लाभ होता है । नग्न स्त्री का दर्शन शास्त्र की दृष्टि से निषिद्ध माना गया है, सम्भवतः पार्वती ने शिव जी को इस दोष से मुक्त करने का प्रयत्न किया । जैसा कि कुमारसम्भव (८।७) में कालिदास लिखते हैं—

शूलिनः करतलद्वयेन सा संनिरुध्य नयने हृतांशुका ।
तस्य पश्यति ललाट लोचने मोघयत्नविधुरा रहस्यभूत् ॥

यहां कालिदास ने पार्वती को 'मोघयत्नविधुरा' बनाकर छोड़ दिया है, परन्तु प्रस्तुत गाथाकार ने पार्वती के वैदग्ध्य को एक अपूर्व चमत्कार के साथ प्रस्तुत कर दिया है । 'काव्यप्रकाशकार' ने इस गाथा को पदैकदेश में रसाभिव्यक्ति के प्रसंग में उद्धृत किया है । उनके अनुसार यहां रति की अभिव्यक्ति में 'जि' धातु रूप प्रकृति का प्राधान्य है, क्योंकि यद्यपि दोनों जगह मूंद देने का व्यापार समान ही है, तथापि दोनों नेत्रों का पिधान हाथों से हुआ, किन्तु तीसरे नेत्र का लोकोत्तर प्रकार से हुआ अतः वही उत्कृष्ट एवं धन्यजीवित है, इस प्रकार रति के उत्कर्ष का प्रयोजक अभिव्यक्त होता है । इसलिए 'जयति' पद को रखा, न कि 'शोभते' आदि को ॥ ५५ ॥

धावइ पुरओ पासेसु भमइ दिट्ठीपहम्मि संठाइ ।
णवलइकरस्स तुह हलियाउत्त दे पहरसु वराइं ॥ ५६ ॥

[धावति पुरतः पार्श्वयोर्भ्रमति दृष्टिपथेसंतिष्ठते ।
नवलतिकाकरस्य तव हलिकपुत्र हे प्रहरस्व वराकीम् ॥]

नई लतिका को हाथ में लिए हुए तेरे अगल-बगल में दौड़ा करती है, घूमा करती है, नजर के रास्ते पर खड़ी हो जाती है, हे हलिकपुत्र, बेचारी को ताड़न कर ।

विमर्श—कुट्टनी का उपहासपूर्ण वचन, नायक के प्रति, कि तुम संकेत-स्थान पर तो पहुंचे पर यह न गई, अतः इसे भरसक ताड़न करो, इस अपराध का दण्ड यही है । इस गाथा में 'चूतलतिका' नाम की प्राचीन क्रीड़ा का संकेत है, जिसमें प्रियजन को चूतलता से प्रहार करने की क्रीड़ा होती थी ॥ ५६ ॥

कारिममाणन्दवडं भामिज्जन्तं बहूअ सहिआहिं ।
पेच्छइ कुमरिजारो हासुम्मिस्सेहिं अच्छीहिं ॥ ५७ ॥

[कृत्रिममानन्दपटं भ्राम्यमाणं वध्वा सखीभिः ।
प्रेक्षते कुमारीजारो हासोन्मिश्राभ्यामक्षिभ्याम् ॥]

वधू की सखियों द्वारा घुमाए जाते हुए बनावटी आनन्दवस्त्र को कुमारी का जार हंसी भरी आंखों से देखता है ।

विमर्श—नागरिक का वचन, सहचर के प्रति। देशविशेष की प्रथा थी कि प्रथम-मिलन के बाद वधू के रक्तांङ्कित आनन्द-वस्त्र को आस-पास के लोगों में घुमाया करते थे। कुमारी अवस्था का जार जब कि पहले ही वधू के आनन्दपट को रक्ताङ्कित कर चुका था अब विवाह के पश्चात् पतिगृह में कृत्रिम आनन्द-पट को (अर्थात् लाल रंग से रंगे आनन्दवस्त्र को) देखता और हंसता है। सम्भवतः प्रथम मिलन के रक्ताङ्कित वस्त्र (आनन्दपट) को घुमाये जाने की प्रथा वधू के 'अनाघ्रात' होने को प्रमाणित करने के उद्देश्य से चल पड़ी थी। प्रस्तुत में, सखियों को पता तो चल ही गया कि वधू किसी न किसी से आघात हो चुकी है, क्योंकि प्रथम-मिलन के चिह्नभूत रक्त का आनन्दपट पर बिलकुल अभाव मिला। तब उन्होंने इस बात का प्रचार हो जाने के भय से लाल रङ्ग के छींटे देकर बनावटी आनन्दपट तैयार कर लिया और लोकाचार को सम्पन्न किया। यह कृत्य देखकर जार के हंसने का तात्पर्य यह है कि मेरे ही कारण इस प्रकार कृत्रिमता करनी पड़ी है। गङ्गाधर के अनुसार कृत्रिम सब कुछ उपहास का आस्पद होता है, इस तात्पर्य से किसी का वचन अपने वैदग्ध्य के ख्यापनार्थ सहचर के प्रति ॥ ५७ ॥

सणिअं सणिअं ललिअङ्गुलीअ मअणवडलाअणमिसेण ।
बन्धेइ धवलवणट्टअं व वणिआहरे तरुणी ॥ ५८ ॥

[शनकैः शनकैर्ललिताङ्गुल्या मदनपटलापनमिषेण ।
बध्नाति धवलव्रणपट्टमिव व्रणिताधरे तरुणी ॥]

धीरे-धीरे नाजुक उंगुली से सिक्थक के लेप के बहाने तरुणी अपने घायल अधर पर मानों उजली घाव की पट्टी बांधती है।

विमर्श—जाड़े के समय किसी तरुणी को अधर पर मधूच्छिष्ट या सिक्थक (मोम) का लेप करते हुए देखकर अपने वैदग्ध्य के ख्यापनार्थ किसी का वचन ॥ ५८ ॥

रइविरमलज्जिआओ अप्पत्तणिअंसणाओ सहस व्व ।
ढक्कन्ति पिअअमालिङ्गणेण जहणं कुलवहूओ ॥ ५९ ॥

[रतिविरामलज्जिता अप्राप्तनिवसनाः सहसैव ।
आच्छादयन्ति प्रियतमालिङ्गनेन जघनं कुलवध्वः ॥]

रतिकार्य के बंद होने पर लज्जित होकर झट से कपड़ा न पा सकने पर कुलवधुएं अपने जघन को प्रियतम के आलिङ्गन के द्वारा ढंक लेती हैं।

विमर्श—किसी द्वारा सखी को कुलवधू के चरित्र की शिक्षा। तात्पर्य यह कि कुलवधू को लज्जाशील होना चाहिए, सुरत का विराम हुआ कि वस्त्र

से जघन ढंक लिया, अगर असावधानी से वस्त्र हाथ न लगा तो प्रियतम के आलिङ्गन से ही ढंक लिया। 'अमरुक' ने इस गाथा को अपनी रसभरी शैली में इस प्रकार ढाल लिया है—

"सुरतविरतौ क्रीडावेशमश्रमश्लथहस्तया,
रहसि गलितं तन्व्या प्राप्तुं न पारितयांऽशुकम् ।
रतिरसजडैरङ्गैरङ्गं पिधातुमशक्यया,
प्रियतमतनौ सर्वाङ्गीणं प्रविष्टमधृष्टया" ॥ ५९ ॥

पाअडिअं सोहग्गं तम्बाए उअह गोट्ठमज्झम्मि ।
दुट्ठवसहस्स सिङ्गे अक्खिउडं कण्डुअन्तीए ॥ ६० ॥
[प्रकटितं सौभाग्यं गवा पश्यत गोष्ठमध्ये ।
दुष्टवृषभस्य शृङ्गे अक्षिपुटं कण्डूयन्त्या ॥]

देखो, गाय ने गोठ के बीच बदमाश सांड़ की सींग में आंख खुजलाते हुए अपना सौभाग्य जाहिर कर दिया।

विमर्श—किसी द्वारा किसी के सौभाग्य को अन्यापदेश से प्रकाशन ॥ ६० ॥

उअ संभमविक्खित्तं रमिअव्वअलेहलाएँ असईए ।
णवरङ्गअं कुडङ्गे धअं व दिण्णं अविणअस्स ॥ ६१ ॥
[पश्य संभ्रमविक्षिप्तं रन्तव्यकलापटव्या असत्या ।
नवरङ्गकं कुञ्जे ध्वजमिव दत्तमविनयस्य ॥]

देखो, रतिलम्पटा छिनाल ने कुञ्ज में अविनय के (सूचनार्थ) ध्वज की भांति अपने कुसुम्भी वस्त्र को उतावलेपन के कारण छोड़ रखा है।

विमर्श—दूती द्वारा जार के प्रलोभनार्थ किसी की रतलम्पटता का प्रकाशन। उसने सङ्केतस्थान में अपने जिस कुसुम्भी रंग में रंगे (नवरङ्गक) वस्त्र को उतावलेपन के कारण छोड़ रखा है वह उसके अविनय के ध्वज की भांति है, अर्थात् अविनय अर्थात् रतिलम्पटता का सूचक है ॥ ६१ ॥

हत्थप्फंसेण जरग्गवी वि पण्हइ दोहअगुणेण ।
अवलोअणपण्हुइरिं पुत्तअ पुण्णेहिँ पाविहिसि ॥ ६२ ॥
[हस्तस्पर्शेन जरद्गव्यपि प्रस्नौति दोहदगुणेन ।
अवलोकनप्रस्नवनशीलां पुत्रक पुण्यैः प्राप्स्यसि ॥]

बूढ़ी गाय भी दुहने वाले के गुण से हाथ के स्पर्श से पिन्हा कर धार बहाने लग जाती है, बेटा, देखने मात्र से पिन्हा जाने वाली को पुण्यों से प्राप्त करोगे।

विमर्श—दूती द्वारा भुजङ्ग के प्रति नायिका के अतिशय अनुराग का प्रकाशन। यह जो तुझे देखकर ही अनुरक्त हो चुकी है, यदि तू भी उसे

देखेगा, तभी प्रसन्न हो सकेगी। तात्पर्य यह कि उसे उपभोग कर। किसी के अनुसार व्युत्पन्न दूती द्वारा नायिका के अनुराग का प्रियतम के प्रति प्रकाशन। अथवा, किसी पूर्ववल्लभा की माता का अन्यापदेश से उपालम्भ-वचन किसी अन्यानुरक्त नायक के प्रति। अथवा, किसी द्वारा यह सूचना कि उस नायिका में विना परिश्रम के बहुत लाभ हो जायगा, क्योंकि वह निसर्गस्नेह से अभिभूत हो चुकी है। अथवा, सूचना यह कि इस प्रकार के विशेष गुण से युक्त सर्वत्र सुलभ नहीं ॥ ६२ ॥

मसिणं चङ्कम्मन्ती पए पए कुणइ कीस मुहभङ्गं।
णूणं से मेहलिआ जहणगअं छिवइ णहवन्ति ॥ ६३ ॥

[मसृणं चङ्क्रम्यमाणा पदे पदे करोति किमिति मुखभङ्गम्।
नूनं तस्या मेखलिका जघनगतां स्पृशति नखपंक्तिम् ॥]

वह मेरहा-मेरहा कर चलती हुई पग-पग पर मुंह क्यों बिचलाती है? निश्चय ही, उसकी करधनी जघन के नख-चिह्नों से छू जाती है।

विमर्श—नागरिक मित्रों द्वारा मन्द चाल से चलती हुई नायिका के प्रति सरस कल्पना। एक तो उसका मंद चाल से चलना और दूसरे, मुखभङ्ग करना, अर्थात् मुंह बिचलाना, इनसे पता चलता है कि उसकी करधनी उसके जघन पर के नखचिह्नों से छू जाती है, ग्राम्य प्रयोग के अनुसार, ठेक जाती है ॥ ६३ ॥

संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुहकरे लक्खं।
चलणेण विक्कमाइत्तचरिअँ अणुसिक्खिअं तिस्सा ॥ ६४ ॥

[संवाहनसुखरसतोषितेन ददता तव करे लाक्षाम्।
चरणेन विक्रमादित्यचरितमनुशिक्षितं तस्याः ॥]

संवाहन (दाबने) के सुख से सन्तुष्ट होकर तुम्हारे हाथ में लक्ख (लाचा) को अर्पित करते हुए उसके चरण ने विक्रमादित्य के चरित का अनुकरण किया है।

विमर्श—खण्डिता का साकूत वचन सपत्नी के चरण की लाचा से लाञ्छित हाथ वाले नायक के प्रति। प्राकृत में 'संवाहण' अर्थात् पादसंवाहन, पैर दाबना अथवा शत्रु का मर्दन (संबाधन); लक्ख अर्थात् लाचारस अथवा लाख मुद्रा। इस प्रकार स्पष्टार्थ यह हुआ कि जिस प्रकार महाराज विक्रमादित्य ने शत्रु के मर्दन (संबाधन) करने वाले भृत्य को एक लाख रुपये का इनाम-इकराम दिया, उसी प्रकार उसके (सपत्नी के) चरण ने संवाहन के सुख से प्रसन्न होकर इनाम के रूप में लाचारस तुम्हारे हाथ में अर्पित किया

है। तात्पर्य रूप उपालम्भ यह कि जब कि मैं तुम्हारा अनुवर्तन करती हूँ तब भी मुझे छोड़ देते हो और उसे, जब कि उसके पैर भी तुम्हें दाबने पड़ते हैं, पीछे पड़े रहते हो, विचित्र हो तुम! 'अलङ्कारकौस्तुभ' के अनुसार 'सूक्ष्म' अलङ्कार का यह उदाहरण है॥ ६४॥

पाअपडणाणँ मुद्धे रहसबलामोडिचुम्बिअव्वाणं।
दंसणमेत्तपसण्णे चुक्कासि सुहाणँ बहुआणं॥ ६५॥

[पादपतनानां मुग्धे रभसबलात्कारचुम्बितव्यानाम्।
दर्शनमात्रप्रसन्ने भ्रष्टासि सुखानां बहुकानाम्॥]

(प्रिय के) दर्शन मात्र से प्रसन्न अरी बेवकूफ! पाद-पतन, वेग से बलात्कार, चुम्बन (आदि) बहुत-बहुत सुखों से तू हाथ धो बैठी।

विमर्श—मानशिक्षिका सखी का वचन, अनुनय के बिना ही मान त्याग देने वाली नायिका के प्रति॥ ६५॥

दे सुअणु पसिअ एण्हिं पुणो वि सुलहाइं रूसिअव्वाइं।
एसा मअच्छि मअलञ्छणुज्जला गलइ छणराई॥ ६६॥

[हे सुतनु प्रसीदेदानीं पुनरपि सुलभानि रोषितव्यानि।
एषा मृगाक्षि मृगलाञ्छनोज्ज्वला गलति क्षणरात्रिः॥]

हे सुतनु, प्रसन्न हो जा, रोष फिर भी सुलभ हैं; हे मृगाक्षी, मृगलाञ्छन चन्द्रमा से टहटह परब की रात ढलने लगी है।

विमर्श—नायक का अनुनय-वचन, मानिनी नायिका के प्रति। अब बहुत हो गया, अब प्रसन्न हो, क्योंकि रोष करने के लिए फिर-फिर मौके आते रहेंगे। यह चांदनी वाली उत्सव की रात फिर आने वाली नहीं है। 'क्षण-रात्रि' से सम्भवतः 'सौभाग्यरात्रि' (सुहागरात) अभिप्रेत है॥ ६६॥

आवण्णाइँ कुलाइं दो च्चिअ जाणन्ति उण्णइं णेउं।
गोरीअ हिअअदइओ अहवा सालाहणणरिन्दो॥ ६७॥

[आपन्नानि कुलानि द्वावेव जानीत उन्नतिं नेतुम्।
गौर्याहृदयदयितोऽथवा शालिवाहननरेन्द्रः॥]

आपन्न कुलों को दो ही उन्नत करना जानते हैं, गौरी के दिलदार प्रिय अथवा शालिवाहन राजा।

विमर्श—शालिवाहन राजा की स्तुति। प्राकृत 'आवण्ण' से आपन्न अर्थात् विपद्ग्रस्त और आपर्ण अर्थात् अपर्णा-(पार्वती) सम्बन्धी ये दोनों अर्थ गृहीत हो जाते हैं। गौरी के प्रिय शिव जो आपर्ण अर्थात् पार्वती के

सवन्धी कुलों को उन्नत करना जानते हैं और शालिवाहन राजा आपन्न अर्थात् विपद्ग्रस्त कुलों को उन्नत करना जानते हैं। गङ्गाधर के अनुसार दूती का अन्यापदेश वचन नायक के प्रति, कि नायिका कामार्त है, इस समय तू ही प्रतीकार कर सकता है। परन्तु लगता है शालिवाहन राजा ने अपर्णा के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया होगा, जिसके निमित्त यह प्रशंसापरक गाथा कही गई है॥ ६७॥

णिक्कण्ड दुरारोहं पुत्तअ मा पाडलिं समारुहस्सु।
आरूढणिवडिआ के इमीअ ण कआ हआसाए॥ ६८॥
[निष्काण्डदुरारोहां पुत्रक मा पाटलिं समारोह।
आरूढनिपतिताः के अनया न कृता हताशया॥]

बेटा, पाटली में शाखा नहीं है, इसलिए इस पर चढ़ना मुश्किल है, तू मत चढ़, इस हताशा ने किसे नहीं चढ़ने पर गिरा दिया है?

विमर्श—दूती का अन्यापदेश वचन, विषमशील एवं कुटिल नायिका में आसक्त नायक के निवर्तनार्थ। पाटली वृक्ष के पक्ष में निष्काण्ड अर्थात् शाखा या स्कन्धरहित; नायिका पक्ष में अवसर-रहित अर्थात् बड़े खतरनाक लोगों से घिरी होने के कारण उस नायिका पर कोई आक्रमण की सम्भावना भी मुश्किल है। दूती का तात्पर्य यह कि नायिका की ओर प्रवृत्ति खतरे से खाली नहीं, इससे अच्छा है कि प्रवृत्ति ही न हो। गाथा में 'हताशा' यह प्रयोग वक्त्री दूती की मानसिक झुंझलाहट को व्यक्त करता है!॥ ६८॥

गामणिघरम्मि अत्ता एक्क व्विअ पाडला इह गामे।
बहुपाडलं च सीसं दिअरस्स ण सुन्दरं एअं॥ ६९॥
[ग्रामणिगृहे श्वश्रु एकैव पाटला इह ग्रामे।
बहुपाटलं च शीर्षं देवरस्य न सुन्दरमेतत्॥]

सासू जी, इस गाँव में मुखिया के घर में एक ही पाटला (वृक्ष) है, देवर जी के सिर पर पाटला के बहुत से फूल रहते हैं, सो ठीक नहीं।

विमर्श—भाभी का वचन, सास के प्रति मुखिया की पत्नी में आसक्त देवर के निवारणार्थ॥ ६९॥

अण्णाणँ वि होन्ति मुहे पम्हलधवलाइँ दीहकसणाइं।
णअणाइँ सुन्दरीणं तह वि हु दट्ठुं ण जाणन्ति॥ ७०॥
[अन्यासामपि भवन्ति मुखे पक्ष्मलधवलानि दीर्घकृष्णानि।
नयनानि सुन्दरीणां तथापि खलु द्रष्टुं न जानन्ति॥]

दूसरी सुन्दरियों के मुँह में भी पपनीदार, स्वच्छ, लम्बी, एवं काली आँखें होती हैं, तब भी वे देखना नहीं जानतीं।

विमर्श—दूती द्वारा नायिका का वर्णन, भुजंग के प्रलोभनार्थ। केवल आँखें अच्छी हों इतने से ही सौन्दर्य की कृतकृत्यता नहीं हो जाती, देखने की कला भी आँखों में होनी चाहिए। तात्पर्य यह कि वह नायिका सुन्दरी तो है ही, साथ ही कटाक्ष—निरीक्षण की कला को भी खूब जानती है। 'अलंकार-कौस्तुभ' के अनुसार 'व्यतिरेक' का उदाहरण ॥ ७० ॥

हंसेहिँ व तुह रणजलअसमअभअचलिअविहलवक्खेहिं।
परिसेसिअपोम्मासेहिँ माणसं गम्मइ रिऊहिं ॥ ७१ ॥
[हंसैरिव तव रणजलदसमयभयचलितविह्वलपक्षैः।
परिशेषितपद्माशैर्मानसं गम्यते रिपुभिः ॥]

रणरूपी वर्षाकाल के भय से चंचल एवं विह्वल पक्ष वाले पद्मा की (लक्ष्मी की) आशा से रहित शत्रु वर्षाकाल के भय से चंचल एवं विह्वल पाँखों वाले, पद्मों की (कमलों की) आशा से रहित हंसों की भाँति तुम्हारे मानस (मन, पक्ष में मानसरोवर) का अनुगमन करते हैं।

विमर्श—युद्ध-यात्रा के लिए प्रस्थानार्थ उद्यत राजा के प्रतिषेधार्थ रानी द्वारा राजस्तुति के व्याज से वर्षाकाल का वर्णन। सम्भव है प्रस्तुत गाथा सातवाहन नरेन्द्र की स्तुति में लिखी गई हो, क्योंकि इसमें हंसों की मानस-यात्रा के संकेत से प्रतीत होता है कि राजा दाक्षिणात्य है और हंस दक्षिण की ओर उड़कर उत्तर की ओर मानसरोवर को जाते हैं ॥ ७१ ॥

दुग्गअघरम्मि घरिणी रक्खन्ती आउलत्तणं पइणो।
पुच्छिअदोहलसद्धा पुणो वि उअअं विअ कहेइ ॥ ७२ ॥
[दुर्गतगृहे गृहिणी रक्षन्ती आकुलत्वं पत्युः।
पृष्टदोहदश्रद्धा पुनरप्युदकमेव कथयति ॥]

दरिद्र के घर में घरनी मरद की घबराहट की परवा करती हुई दोहद के प्रेम के पूछे जाने पर फिर भी 'पानी' ही कहती है।

विमर्श—सखी को यह शिक्षा कि जो वस्तु विना आयास के प्राप्त हो, उसी की मांग करनी चाहिए। क्योंकि दुर्लभ वस्तु की प्रार्थना करने पर पति गरीबी के कारण पत्नी की दोहद-इच्छा की पूर्ति के लिए घबरा जायगा। दरिद्र पति के लिए घी, मधु और आटा दुर्लभ होते हैं और पानी तो अनायास-सुलभ है। किसी के अवतरण के अनुसार दूती का वचन, भुजंग के प्रति यह है कि नायिका पतिपरायणा है, वह फंसाई नहीं जा सकती। परन्तु यह अवतरण प्रस्तुत नायिका के गर्भिणी होने के कारण सर्वथा संगत नहीं प्रतीत होता ॥ ७२ ॥

आअम्बलोअणाणं ओल्लंसुअपाअडोरुजहणाणं ।
अवरह्णमज्जिरीणं कए ण कामो वहइ चावं ॥ ७३ ॥

[आताम्रलोचनानामार्द्रांशुकप्रकटोरुजघनानाम् ।
अपराह्णमज्जनशीलानां कृते न कामो वहति चापम् ॥]

लाल आँखों वाली, गीले वस्त्र के भीतर साफ झलकते ऊरु और जघनों वाली एवं तीसरे पहर स्नान करने वाली स्त्रियों के लिए कामदेव अपना धनुष धारण नहीं करता ।

विमर्श—स्नान की हुई स्त्रियां रमणीय लगती हैं, इस उद्देश्य से सहचर के प्रति किसी का ग्रीष्म वर्णन । तात्पर्य यह कि ऐसी स्त्रियां काम के बाणों की सहायता के बिना ही लोगों को मोहित कर डालती हैं, कामदेव को धनुष धारण करने की आवश्यकता ही नहीं होती ॥ ७३ ॥

के उव्वरिआ के इह ण खण्डिआ के ण लुत्तगुरुविहवा ।
णहराइं वेसिणिओ गणणारेहा उव वहन्ति ॥ ७४ ॥

[के उर्वरिताः के इह न खण्डिताः के न लुप्तगुरुविभवाः ।
नखराणि वेश्या गणनारेखा इव वहन्ति ॥]

कौन उबरे हैं, कौन खण्डित हो चुके हैं, कौन विभवहीन नहीं किए जा सके हैं, इस प्रकार रंडियां गिनती की रेखाओं की भांति नखचिह्नों को धारण करती हैं ।

विमर्श—वेश्याओं की समस्त जनों की व्यामोहन शक्ति का वर्णन । उर्वरित अर्थात् वेश्याओं द्वारा अनाकृष्ट, भरसक उनके मोहजाल में न फंसे हुए, उबरे हुए । खण्डित अर्थात् जिनका शील व्रत उनके सम्पर्क से समाप्त हो चुका है ॥ ७४ ॥

विरहेण मन्दरेण व हिअअं दुद्धोअहिं व महिऊण ।
उम्मूलिआइँ अव्वो अम्हं रअणाइँ व सुहाइं ॥ ७५ ॥

[विरहेण मन्दरेणेव हृदयं दुग्धोदधिमिव मथित्वा ।
उन्मूलितानि कष्टमस्माकं रत्नानीव सुखानि ॥]

मन्दरपर्वत की भांति विरह ने क्षीर-समुद्र की भांति हृदय को, हाय मथकर रत्नों की भांति हमारे सुखों को जड़ से निकाल लिया ।

विमर्श—नायिका द्वारा विदग्ध शैली में अपने अनुभूत विरह दुःख का आवेदन, प्रवास से लौटे नायक के प्रति । अर्थात् मैंने जिस किसी प्रकार ये विरह के कष्टपूर्ण दिन बिताए, अब ऐसा न करना ॥ ७५ ॥

उज्जुअरए ण तूसइ वक्कम्मि वि आअमं विअप्पेइ ।
एत्थ अहव्वाएँ मए पिए पिअं कहँ णु काअव्वं ॥ ७६ ॥

[ऋजुकरते न तुष्यति वक्रेऽप्यागमं विकल्पयति ।
अत्राभव्यया मया प्रिये प्रियं कथं नु कर्त्तव्यम् ॥]

सरल रत में सन्तुष्ट नहीं होता, वक्र रत में शङ्का करने लगता है कि सीखा कहां से ? यहां अभागिन मैं प्रियका प्रिय सम्पादन कैसे कर सकती हूँ ?

विमर्श—सखी के इस कथन पर कि हमेशा पति का प्रिय ही सम्पादन करना चाहिए, नायिका द्वारा पति के वैदग्ध्य और ईर्ष्या का उद्वेग-पूर्ण प्रकाशन । ऋजुक या सरल रत, जिसमें हाव, भाव आदि नहीं होते; वक्र रत, जिसमें हाव, भाव, मणित, सीत्कृत, दन्तक्षत, नखक्षत, चुम्बन, आसन विशेष आदि किए जाते हैं । मैं जब उसके साथ ऋजुक रत में प्रवृत्त होती हूं, तब सन्तुष्ट नहीं होता और वक्र रत में प्रवृत्त होने पर सोचने लगता है कि यह आखिर इस कार्य कलाप को इसने कहां से सीखा है ? फलतः मुझे गणिका समझ बैठता है । अन्ततः मेरे सामने उसे प्रसन्न करने का कोई उपाय ही नहीं रह जाता ! ठीक ही, दुर्विदग्ध को प्रसन्न करना बहुत कठिन है—अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः । ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि तं नरं न रञ्जयति ।" 'अलङ्काररत्नाकर' में यह 'अशक्य' अलङ्कार का उदाहरण है, 'प्रतिबन्धकादेर्विधानासामर्थ्यमशक्यम्' ॥ ७६ ॥

बहुविहविलाससरसिए सुरए महिलाणँ को उवज्झाओ ।
सिक्खइ असिक्खिआइँ वि सव्वो णेहाणुबन्धेण ॥ ७७ ॥

[बहुविधविलाससरसिके सुरते महिलानां क उपाध्यायः ।
शिक्ष्यते अशिक्षितान्यपि सर्वः स्नेहानुबन्धेन ॥]

बहुत प्रकार के विलासों के रसिक सुरत में महिलाओं का उपाध्याय (शिक्षक) कौन है ? स्नेहानुबन्ध के कारण सभी लोग बिना सीखे हुए विषयों को भी सीख लेते हैं ।

विमर्श—सखी का वचन नायिका के रतिचातुर्य के प्रति शङ्कित नायक की शङ्का के निवारणार्थ । नायक इसलिए शङ्कित है कि बहुत प्रकार के विलास नायिका ने कहां से सीखे ? कहीं उसने पहले किसी अन्य के समागम का अनुभव तो नहीं कर लिया है ? इस शङ्का के निवारणार्थ सखी का तात्पर्य है कि नायिका ही क्या, दुनियां में सभी लोग उन अशिक्षित विषयों को यूं ही सीख जाते हैं, जिनके प्रति उनके मन में स्नेह होता है । रति-विलासों के प्रति महिलाओं का स्नेहानुबन्ध स्वाभाविक रूप से होता है, अतः उन्हें सीखने के

लिए किसी उपाध्याय (उस्ताद) की आवश्यकता नहीं होती। किसी का तो यह कहना है—

'श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्ध चरितानाम् ।
उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि' ॥ ७७ ॥

वण्णवसिए विअत्थसि सच्चं विअ सो तुए ण संभविओ ।
ण हु होन्ति तम्मि दिट्ठे सुत्थावत्थाइँ अङ्गाइं ॥ ७८ ॥
[वर्णवशिते विकत्थसे सत्यमेव स त्वया न सम्भावितः ।
न खलु भवन्ति तस्मिन्दृष्टे स्वस्थावस्थान्यङ्गानि ॥]

अरी, तू तो उसके वर्णन मात्र से वश में हो चुकी है और डींग मारती है, सच ही तूने उसे नहीं निहारा है; उसके देख जाने पर अङ्गों का हाल ठीक नहीं रहता !

विमर्श—नायिका के प्ररोचनार्थ दूती द्वारा नायक के सौन्दर्य का प्रकाशन। अभी तो मैंने उसका वर्णन ही किया और तू इस प्रकार डींग मारने लगी कि तूने उसे देख लिया है। अगर तूने उसे देखा होता तो तू इसी हाल में न रहती, किन्तु स्वेद, कम्प, रोमाञ्च, जृम्भा, अङ्ग-भङ्ग, मोट्टायित आदि दुरवस्थाओं का पात्र बन गई होती ! तात्पर्य यह कि जल्दी से उस निसर्ग-सुन्दर का अनुसरण कर। 'अलङ्कार रत्नाकर' में यह अनुमान अलङ्कार का उदाहरण है ॥ ७८ ॥

आसण्णविआहदिणे अहिणववहुसङ्गमस्सुअमणस्स ।
पढमघरिणीअ सुरअं वरस्स हिअए ण संठाइ ॥ ७९ ॥
[आसन्नविवाहदिने अभिनववधूसङ्गमोत्सुकमनसः ।
प्रथमगृहिण्याः सुरतं वरस्य हृदये न संतिष्ठते ॥]

शादी का दिन नजदीक आने पर नई दुल्हन के मुलाकात के लिए बेकरार मन वाले दूल्हे के दिल में पहली औरत का सुरत-सम्भोग नहीं कायम रहता।

विमर्श—'नये विषय के प्रति अनुरक्त व्यक्ति पूर्व अनुभूत विषय को छोड़ देता है' इस वक्तव्य के निदर्शनार्थ किसी का वचन, साथी के प्रति ॥ ७९ ॥

जइ लोअणिन्दिअं जइ अमङ्गलं जइ विमुक्कमज्जाअं ।
पुप्फवइदंसणं तह वि देइ हिअअस्स णिव्वाणं ॥ ८० ॥
[यदि लोकनिन्दितं यद्यमङ्गलं यदि विमुक्तमर्यादम् ।
पुष्पवतीदर्शनं तथापि ददाति हृदयस्य निर्वाणम् ॥]

यद्यपि पुष्पवती (रजस्वला) का दर्शन लोक में निन्दित है, यद्यपि अमङ्गल है और यद्यपि मर्यादा से विरुद्ध है, तथापि हृदय को मोक्षसुख देता है।

विमर्श—कामवासना से आक्रान्त नायक का वचन, नायिका की सहचरी के प्रति। नायक का मन उत्कट राग से अभिभूत हो चुका है, वह जानबूझ कर निषिद्ध की ओर प्रवृत्त है। साधारणदेव के अनुसार पुष्पवती के प्रति किसी द्वारा अपने दृढ़ अनुराग की सूचना, इस गाथा का अवतरण है ॥ ८० ॥

जइ ण छिवसि पुप्फवइं पुरओ ता कीस वारिओ ठासि।
छित्तोसि चुलचुलन्तेहिँ धाविऊण अम्ह हत्थेहिं ॥ ८१ ॥

[यदि न स्पृशसि पुष्पवतीं पुरतस्तत्किमिति वारितस्तिष्ठसि।
स्पृष्टोऽसि चुलचुलायमानैर्धावित्वास्माकं हस्तैः ॥]

यदि रजस्वला को नहीं छूते हो तो मना करने पर क्यों कर हमारे आगे खड़े हो? चुलचुलाते हमारे हाथों ने दौड़कर तुम्हें छू लिया।

विमर्श—रजस्वला नायिका का सविनय-उपालम्भ वचन, स्पर्श से उद्विग्न होते हुए नायक के प्रति। हाथों का चुलचुलाना यहां प्राकृत प्रयोग के अनुसार अतिशय उत्कण्ठित होना है। अर्थात् मेरे हाथ कुछ इस प्रकार उत्कण्ठित हो उठे कि तुम्हें दौड़कर उन्होंने छू ही लिया, और तुम भी, जब कि मैंने सामने खड़े रहने के लिए तुम्हें मना किया था और स्वयं तुम रजस्वला के स्पर्श से डरते हो, खड़े ही रहे, आखिर मैं अपने इन हाथों को क्या कर सकती थी? 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के अनुसार यहां नायिका में 'हाव' का वर्णन है। 'चित्त का वह उल्लास, जो राग के कारण सहसा प्रवृत्ति का कारण बन जाता है, 'हेला' कहलाता है और वचनविन्यास के सहित 'हेला' ही 'हाव' की आख्या ग्रहण कर लेती है' ॥ ८१ ॥

उज्जागरअकसाइअगुरुअच्छी मोहमण्डणविलक्खा।
लज्जइ लज्जालुइणी सा सुहअ सहीहिँ वि वराई ॥ ८२ ॥

[उज्जागरककषायितगुरुकाक्षी मोघमण्डनविलक्षा।
लज्जते लज्जाशीला सा सुभग सखीभ्योऽपि वराकी ॥]

हे सुभग, जागे रहने से कसैली एवं बोझिल आंखों वाली, निरर्थक सिंगार-पटार से लजाई, लजीली वह बेचारी सखियों से भी लजा जाती है।

विमर्श—प्रोषितभर्तृका की सखी का सन्देश-वचन, नायक के समीप जाने वाले पथिक के प्रति। नायिका विरह में रात भर जागी रहती है, इस कारण उसकी आंखें कसैली (कसायित) एवं बोझिल हो जाती हैं। उनके इस दोष के, जिससे कि उसकी विरहावस्था का कष्ट खुल न जाय, संवरणार्थ वह सिङ्गार-पटार करती है, परन्तु उनकी निष्फलता के कारण लजीली वह सखियों से

भी लजा जाती है, जब कि उनसे लजाने की वजह नहीं है। तात्पर्य यह कि उसकी रातें बहुत ही कष्ट से बीत रही हैं, फिर लज्जापरवशता के कारण दिन भी कष्टमय हो चुके हैं। वक्तव्य यह कि तू शीघ्र आकर इसे विरह के इन कष्टों से उबार ॥ ८२ ॥

ण वि तह अइ गरुएण वि तम्मइ हिअए भरेण गब्भस्स।
जह विपरीअणिहुअणं पिअम्मि सोह्णा अपावन्ती ॥ ८३ ॥

[नापि तथातिगुरुकेणापि ताम्यति हृदये भरेण गर्भस्य।
यथा विपरीतनिधुवनं प्रिये स्नुषा अप्राप्नुवती ॥]

बहू अधिक भारी गर्भ के बोझ से प्रिय के प्रति उतना खिन्न नहीं होती, जितना कि विपरीत रति को न पाकर खिन्न होती है।

विमर्श—गर्भिणी नायिका के सम्बन्ध में सखी का परिहास-वचन, अन्य सखी के प्रति। विपरीत रति गर्भिणी के लिए निषिद्ध है। जैसा कि 'साधारण-देव' ने वचन उद्धृत किया है—

'विपरीतरते स्त्रीणां ऋतुस्नातां न गर्भिणीम्।
योजयेद् घ्नन्ति (?) शास्त्रज्ञाः सद्योभुक्तामपि स्त्रियम्' ॥ ८३ ॥

अगणिअजणाववाअं अवहत्थिअगुरुअणं वराईए।
तुह गलिअदंसणाए तीए वलिऊण चिरं रुण्णं ॥ ८४ ॥

[अगणितजनापवादमपहस्तितगुरुजनं वराक्या।
तव गलितदर्शनया तया वलित्वा चिरं रुदितम् ॥]

तुम्हारे दर्शन से वियुक्त होकर बेचारी लोकनिन्दा की परवा न करके और बड़ों को परे हटाकर, मुड़कर देर तक रोती रही।

विमर्श—दूती द्वारा नायिका के अनुरक्त का प्रकाशन, नायक के उत्कण्ठार्थ। जब तक तुम उसकी आंखों के गोचर रहे तब तक तुम्हारे दर्शन के सुख से वह स्थिर रही, परन्तु दृष्टिपथ से तुम्हारे ओझल होते ही उससे न रहा गया, वह फूट पड़ी, यहां तक कि उसे लोगों की शिकायत की परवा और गुरुजनों का भय भी न रहे। तात्पर्य यह कि वह बिलकुल तुम्हारे प्रणय के अधीन है, उसके दैन्य पर तरस खाओ ॥ ८४ ॥

हिअअं हिअए णिहिअं चित्तालिहिअ व्व तुह मुहे दिट्ठी।
आलिङ्गणरहिआइं णवरं खिज्जन्ति अङ्गाइं ॥ ८५ ॥

[हृदयं हृदये निहितं चित्रालिखितेव तव मुखे दृष्टिः।
आलिङ्गनरहितानि केवलं क्षीयन्तेऽङ्गानि ॥]

हृदय को तेरे हृदय में स्थापित कर दिया है, दृष्टि तेरे मुख में चित्र में

आलिखित की भांति हो गई है, परन्तु केवल आलिङ्गन से रहित अङ्ग दुबराते जा रहे हैं।

विमर्श—प्रोषितपतिका अथवा उसकी सखी का नायक को प्रणय-पत्र ॥ ८५ ॥

अहअं विओअतणुई दुसहो विरहाणलो चलं जीअं।
अप्पाहिज्जउ किं सहि जाणसि तं चेव जं जुत्तं ॥ ८६ ॥

[अहं वियोगतन्वी दुःसहो विरहानलश्चलं जीवम्।
अभिधीयतां किं सखि जानासि त्वमेव यद्युक्तम् ॥]

हे सखी, मैं विरह के मारे दुबरा गई हूँ, विरह की आग दुसह है, प्राण चंचल है, कहूँ क्या? जो उचित है तू जानती ही है।

विमर्श—प्रोषितभर्तृका का वचन, सखी के प्रति। नायिका का उद्देश्य है कि सखी यथाशीघ्र उसके प्रिय को बुलवाने का प्रयत्न करे ॥ ८६ ॥

तुह विरहुज्जागरओ सिविणे वि ण देइ दंसणसुहाइं।
वाहेण जहालोअणविणोअणं से हअं तं पि ॥ ८७ ॥

[तव विरहोज्जागरकः स्वप्नेऽपि न ददाति दर्शनसुखानि।
बाष्पेण यदालोकनविनोदनं तस्या हतं तदपि ॥]

तेरे विरह का जागरण सपने में भी उसे दर्शन के मजे नहीं देता है और जो तेरे दर्शन से उसका मन-बहलाव है, वह भी वाष्प के कारण मारा जाता है।

विमर्श—दूती द्वारा कलहान्तरिता नायिका के विरहदुःख का प्रतिपादन, नायक के प्रति ॥ ८७ ॥

अण्णावराहकुविओ जहतह कालेण गम्मइ पसाअं।
वेसत्तणावराहे कुविअं कहँ तं पसाइस्सं ॥ ८८ ॥

[अन्यापराधकुपितो यथातथा कालेन गच्छति प्रसादम्।
द्वेष्यत्वापराधे कुपितं कथं तं प्रसादयिष्यामि ॥]

दूसरे वेजांय से खिसिया कर जैसे-तैसे समय से खुश हो जाता है, परन्तु सहज वैर के अपराध से खिसियाए उसे कैसे मनाऊंगी?

विमर्श—अननुरक्त नायक को उद्देश्य करके नायिका का सोपालम्भ वचन ॥ ८८ ॥

दीससि पिआणि जम्पसि सब्भावो सुहअ एत्तिअ ब्वेअ।
फालेइऊण हिअअं साहसु को दावए कस्स ॥ ८९ ॥

[दृश्यसे प्रियाणि जल्पसि सद्भावः सुभग एतावानेव ।
पाटयित्वा हृदयं कथय को दर्शयति कस्य ॥]

दीख जाते हो, प्रिय बोलते हो, सुभग ! तुम्हारा स्नेह इतना ही है। वर्ना, हृदय को उघार कर कहो, कौन किसे दिखाता है ?

विमर्श—नायिका का उपालम्भ-वचन, अन्यासक्त प्रियभाषी नायक के प्रति। दर्शन दे देना और कुछ मीठी बातें बोल देना, यह प्रणय के वाह्य उपचार हैं, इनसे प्रणय को यथार्थ नहीं समझा जा सकता। नायिका का तात्पर्य यह कि सिर्फ तुम्हारी बातें मीठी हैं, किन्तु तुम्हारा हृदय कालकूट से भरा है। सौभाग्यदर्पित तुम्हारे इस प्रकार के कृत्रिम उपचार व्यर्थ हैं ॥ ८९ ॥

उअअं लहिऊण उत्ताणिआणणा होन्ति के वि सविसेसं ।
रित्ता णमन्ति सुइरं रहट्टघडिअ व्व कापुरिसा ॥ ९० ॥

[उदकं लब्ध्वा उत्तानिताननाः भवन्ति केऽपि सविशेषम् ।
रिक्ता नमन्ति सुचिरं रहट्ट (अरघट्ट) घटिका इव कापुरुषाः ॥]

रहट के घड़ों की भांति कुछ ओछे लोग जल लेकर खूब ऊपर की ओर मुंह कर देते हैं और रिक्त होकर खूब झुक जाते हैं।

विमर्श—थोड़े लाभ से ही दुर्जन उन्मत्त हो जाते हैं, इस उद्देश्य की सूक्ति। गङ्गाधर के अनुसार अस्थिर स्नेह पति को अन्यापदेश से उलाहना। गङ्गाधर ने इस गाथा का समानार्थी प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है—

'जीवनग्रहणे नम्रा गृहीत्वा पुनरुद्गताः ।
किं कनिष्ठाः किमु ज्येष्ठा घटीयन्त्रस्य दुर्जनाः' ॥ ९० ॥

भग्गपिअसङ्गमं केत्तिअं व जोह्लाजलं णहसरम्मि ।
चॅन्दअरपणालणिज्झरणिवहपडन्तं ण णिट्ठाइ ॥ ९१ ॥

[भग्नप्रियसङ्गमं कियदिव ज्योत्स्नाजलं नभःसरसि ।
चन्द्रकरप्रणालनिर्झरनिवहपतन्न निस्तिष्ठति ॥]

आकाश के सरोवर में प्रिय-सङ्गम को भग्न कर देनेवाला ज्योत्स्ना का जल कितना है कि चन्द्रकिरणों के नालों से झरने के रूप में बहता हुआ भी नहीं समाप्त होता।

विमर्श—चांदनी के कारण प्रिय-समागम से वञ्चित अन्धकाराभिसारिका का स्वगत वचन ॥ ९१ ॥

सुन्दरजुआणजणसङ्कुले वि तुह दंसणं विमग्गन्ती ।
रण्ण व्व भमइ दिट्ठी वराइआए समुव्विग्गा ॥ ९२ ॥

[सुन्दरयुवजनसङ्कुलेऽपि तव दर्शनं विमार्गयन्ती।
अरण्य इव भ्रमति दृष्टिर्वराकिकायाः समुद्विग्ना ॥]

खूबसूरत जवानों की भरमार में भी तेरे दर्शन की तलाश करती हुई बेचारी की दृष्टि व्याकुल होकर मानों जङ्गल में भटकती है।

विमर्श—नायक को उत्कण्ठित करने के लिए दूती द्वारा नायिका के अनुराग की सूचना। जिस प्रकार शून्य प्रदेश जंगल में भटकता कोई किसी को नहीं देखता, उसी प्रकार एक मात्र तुम्हारे प्रति आसक्त वह बहुत-बहुत जवानों को आंख नहीं लगाती। 'समुव्विग्गा' के स्थान पर 'अनुव्विग्गा' पाठ मानने पर अर्थ होगा कि तुम्हारे दर्शन के कौतुक वश खेद की परवा न करके भटकती है ॥ ९२ ॥

अइकोवणा वि सासू रुआविआ गअवईअ सोह्लाए।
पाअपडणोण्णआए दोसु वि गलिएसु वलएसु ॥ ९३ ॥
[अतिकोपनापि श्वश्रू रोदिता गतपतिकया स्नुषया।
पादपतनावनतया द्वयोरपि गलितयोर्वलययोः ॥]

चरण पर प्रणाम के लिए झुकी हुई प्रोषितपतिका पतोहू के दोनों वलयों के गिर जाने से खिसियानी सासू भी रो पड़ी।

विमर्श—सखी द्वारा प्रोषितपतिका की विरहावस्था का निवेदन, उसके प्रिय के समीप जानेवाले पथिक से। खिसियानी सासू भी उसकी कृशता से अवगत होकर और यह सोचकर कि यह इसकी दशा मेरे पुत्र के वियोग के कारण हुई है, दयार्द्र ही नहीं हुई बल्कि वह अपने कारुण्य का संवरण न कर सकी। किसी के अनुसार यह नायिका-सखी की लेखगाथा है। निश्चय ही, गाथाकार ग्राम्य-जीवन में प्रायः मिलने वाली खिसियानी सासों की प्रवृत्तियों की सूक्ष्मेक्षिका रखता है। सखी का तात्पर्य यह है कि उसकी इस दयनीय स्थिति की कल्पना करके तुम्हें शीघ्र आना चाहिए ॥ ९३ ॥

रोवन्ति व्व अरण्णे दूसहरइकिरणफंस संतत्ता।
अइतारझिल्लिविरुएहिँ पाअवा गिम्हमज्झह्णे ॥ ९४ ॥
[रुदन्तीवारण्ये दुःसहरविकिरणस्पर्शसंतप्ताः।
अतितारझिल्लीविरुतैः पादपा ग्रीष्ममध्याह्ने ॥]

गर्मी की दोपहर में दुःसह सूर्य-किरणों के स्पर्श से सन्तप्त होकर जंगल में वृक्ष दीर्घतर झींगुरों की आवाज से मानों रो रहे हैं।

विमर्श—ग्रीष्मकाल में प्रवासोद्यत प्रिय के गमन से निवारणार्थ नायिका का वचन। इस प्रकार जब कि इस समय अरण्यवासी अचेतन वृक्षों की यह

दशा है तब तुम जैसे नागरिक की क्या दशा होगी ? प्रस्थान-काल में रुदन की आवाज भी अपशकुन है, अतः यात्रा ठीक नहीं। अथवा, संकेतवन पर पहुँच कर लोगों के आगमन की शङ्का कर रहे कान्त के प्रति अभिसारिका का वचन, कि लोगों के चलने से पत्तों के खड़खड़ाने की आवाज नहीं है, किन्तु झिल्लियों (झींगुरों) की आवाज है, अतः निःशङ्क होकर रमण करो ॥ ९४ ॥

पढमणिलीणमहुरमहुलोहल्लालिउलबद्धझंकारं।
अहिमअरकिरणणिउरम्बचुम्बिअं दलइ कमलवणं ॥ ९५ ॥

[प्रथमनिलीनमधुरमधुलुब्धालिकुलबद्धझंकारम्।
अहिमकरकिरणनिकुरम्बचुम्बितं दलति कमलवनम् ॥]

पहले बैठे हुए मधु मधुर के लोभी भौंरों की झंकार से भरा, सूर्य के किरण-समूह से परिचुम्बित कमल का वन खिल रहा है।

विमर्श—जार को यह सुनाती हुई कि संकेत सरोवर के तीर पर मैं गई थी पर तू न पहुँचा, कमलवन के वर्णन के व्याज से नायिका का वचन, सखी के प्रति। पाठान्तर के अनुसार 'प्रथमनिलीनमधुकरीलुब्ध' का अर्थ है, 'पहले से बैठी हुई भौंरी के प्रति लुभाए भौंरों की झंकार से भरा'। किसी के अनुसार सुप्त राजा के प्रबोधनार्थ यह वैतालिक का वचन है। अथवा, जैसा कि गङ्गाधर लिखते हैं, सन्ध्याकालीन नियम का अनुष्ठान कीजिए, खुशबू छोड़िए, बेच की चीजें फैलाइए, अब पिशाच आदि का भय नहीं रहा, पथिक! तू अब प्रस्थान कर, इत्यादि प्रस्ताव, देश, काल आदि के भेद से अनेक प्रकार के व्यङ्ग्य अर्थों को सहृदय लोग स्वयं ऊह कर लें ॥ ९५ ॥

गोत्तक्खलणं सोऊण पिअअमे अज्ज तीअ खणदिअहे।
वज्झमहिसस्स माल व्व मण्डणं उअह पडिहाइ ॥ ९६ ॥

[गोत्रस्खलनं श्रुत्वा प्रियतमे अद्य तस्याः क्षणदिवसे।
वध्यमहिषस्य मालेव मण्डनं पश्यत प्रतिभाति ॥]

आज परब के दिन प्यारे के मुंह से नाम की चूक (गोत्रस्खलन) सुनकर उसका सिंगार चढ़ाये जाते हुए (वध्य) भैंसे की माला की भांति शोभा दे रहा है, देख लो।

विमर्श—नायिका के मानापनोदनार्थ नायक को त्वरित करने के लिए दूती का वचन, उसके सहचर के प्रति। तात्पर्य यह कि आसन्न-मृत्यु होने के कारण वध्य महिष की माला जिस प्रकार शोभा नहीं देती, उसी प्रकार आज उत्सव के दिन गोत्रस्खलन (प्रिय के मुख से सपत्नी नायिका का उच्चरित नाम) सुनकर वह मानहानि के कटु अनुभव की उस सीमा तक पहुंच गई

है कि सम्भव है यदि कोई शीघ्र उपाय न किया जाय तो प्राण दे बैठे। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में अनुभावों में सपत्नी के प्रति द्वेष के उदाहरण स्वरूप यह गाथा उद्धृत है ॥ ९६ ॥

महमहइ मलअवाओ अत्ता वारेइ मं घराणेन्तीं।
अङ्कोल्लपरिमलेण वि जो क्खु मओ सो मओ च्चेअ ॥ ९७ ॥
[महमहायते मलयवातः श्वश्रूर्वारयति मां गृहान्निर्यान्तीम्।
अङ्कोटपरिमलेनापि यः खलु मृतः स मृत एव ॥]

मलय की हवा महमहा रही है, घर से निकलने लगती हूँ तो सास रोक देती है। जो अंकोट (गुलदस्ता) के परिमल से भी मरा तो मरा ही होता है।

विमर्श—अपने प्रियतम के आनयनार्थ सखी को त्वरित करने के लिए नायिका द्वारा विरह-वेदना का निवेदन। सासू डर जाती है कि मलय की हवा कहीं इस विरहिणी की जान न ले ले। लेकिन सासू को यह पता नहीं कि मलय की हवा से ही क्या आदमी मरता है, गुलदस्ते की हवा से क्या जान नहीं जाती? तात्पर्य यह कि अब तो मलय की हवा की बात क्या, विरह-वेदना कुछ इस हद से गुजर रही है कि 'अंकोट' का परिमल भी मेरे लिए जानलेवा बन गया है। गङ्गाधर के अनुसार 'अङ्कोट' घर की बाड़ियों में बहुत मात्रा में होता है। प्रस्तुत में ठीक परिचय के अभाव में 'गुलदस्ता' अंकोट का आधुनिक अर्थ है ॥ ९७ ॥

मुहपेच्छओ पई से सा वि हु सविसेसदंसणुम्मइआ।
दोविं कअत्था पुहइं अमहिलपुरिसं व मण्णन्ति ॥ ९८ ॥
[मुखप्रेक्षकः पतिस्तस्याः सापि खलु सविशेषदर्शनोन्मत्ता।
द्वावपि कृतार्थौ पृथिवीममहिलापुरुषामिव मन्येते ॥]

पति उसका मुंह निहारता रहता है और वह भी खूब उसके निहारने से मतवाली रहती है, कृतार्थ दोनों धरती को महिलारहित और पुरुषरहित-सी मानते हैं।

विमर्श—कामुक को दूती की सूचना कि नायिका असाध्य है। उनकी आंखें एक दूसरे पर टंगी रहती हैं, उन्हें भान ही नहीं होता कि इमसे अतिरिक्त दुनियां में कोई स्त्री और पुरुष हैं। पति समझता है कि उसकी पत्नी के अतिरिक्त कोई महिला नहीं और पत्नी समझती है कि उसके पति के अतिरिक्त कोई पुरुष नहीं ॥ ९८ ॥

खेमं कन्तो खेमं जो सो खुज्जम्बओ घरद्दारे।
तस्स किल मत्थआओ को वि अणत्थो समुप्पण्णो ॥ ९९ ॥

[क्षेमं कुतः क्षेमं योऽसौ कुब्जाम्रको गृहद्वारे।
तस्य किलमस्तकात्कोऽप्यनर्थः समुत्पन्नः ॥]

कुशल ? कहाँ कुशल ? घर के दुआर पर जो यह कुबड़ा आया है, उसके माथे से कोई अनर्थ पैदा हो चुका है।

विमर्श—सखी के कुशल-प्रश्न पर प्रोषितपतिका का उत्तर। अनर्थ अर्थात् वसन्तकाल। आम के सिर पर का मुकुल वसन्त के आगमन का सूचक है। आम के कुबड़ा होने से उसके माथे का यह अनर्थ हमेशा दिखाई पड़ता है। अन्य अवतरण के अनुसार नायिका द्वारा यह सूचना कि अन्य वृक्षों की अपेक्षा वसन्त में आम का वृक्ष अधिक कामोद्रेककारी है, जैसा कि साधारणदेव ने इस प्रसंग में विरहिणी का वचन उद्धृत किया है—'सृष्टो विधुर्यदि ततः किमियं मृगाक्षी ? सेयं पुनर्यदि ततः किमयं वसन्तः ? सोऽप्यस्तु सर्वजगतः प्रतिपक्षभूमिश्चूतद्रुमः किमिति निर्मित एव धात्रा ? ॥ ९९ ॥

आउच्छणविच्छाअं जाआइ मुहं णिअच्छमाणेण।
पहिएण सोअणिअलाविएण गन्तुं व्विअ ण इट्ठं ॥ १०० ॥

[आपृच्छनविच्छायं जायायाः मुखं निरीक्षमाणेन।
पथिकेन शोकनिगडितेन गन्तुमेव नेष्टम् ॥]

विदा माँगने से मुर्झाये पत्नी के मुख को निहारता हुआ शोक से जकड़ा पथिक जाना ही नहीं चाहा।

विमर्श—दूती द्वारा कामुक को यह सूचना कि तेरी अभीष्ट नायिका का पति प्रवास पर जाने के लिए तैयार था, पर पत्नी के मुर्झाये मुख को देख कर शोकनिगडित हो रुक गया। अब तुम्हें अवसर मिलने की सम्भावना नहीं ॥ १०० ॥

रसिअजणहिअअदइए कइवच्छलपमुहसुकइणिम्मइए।
सत्तसअम्मि समत्तं पञ्चमं गाहासअं एअ ॥ १०१ ॥

[रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविनिर्मिते।
सप्तशतके समाप्तं पञ्चमं गाथाशतकमेतत् ॥]

रसिक जनों के हृदयाभिमत, कविवत्सल (हाल) के प्रमुख सुकवियों द्वारा निर्मित 'सप्तशतक' में यह पञ्चम गाथाशतक समाप्त हुआ ॥ १०१ ॥

षष्ठं शतकम्

सूईवेहे मुसलं विच्छुहमाणेण दड्ढलोएण ।
एक्कग्गामे वि पिओ समअं अच्छीहिँ वि ण दिट्ठो ॥ १ ॥
[सूचीवेधे मुसलं निक्षिपता दग्धलोकेन ।
एकग्रामेऽपि प्रियः समाभ्यामक्षिभ्यामपि न दृष्टः ॥]

सूई के बेध की जगह मूसर डालते हुए मुहझौंसे लोगों के कारण एक ही गाँव में भी प्रिय को पूरी आँखों से नहीं निहारा।

विमर्श—उत्कण्ठित होने पर भी लोकापवाद के भय से प्रिय को न देख पाई, छिनाल का निर्वेद-वचन, सखी के प्रति। सूई के बेध की जगह मूसर डालना अर्थात् छोटा अपराध को बड़ा बनाना। आखिर दो प्रेमी मिलते हैं तो लोगों को क्या पड़ी है कि बात ले उड़ते हैं? प्रेमभाव से कटाक्ष करके देखना तो दूर रहे, ये लोग नजर भर उसे निहारने भी नहीं देते ॥ १ ॥

अज्जं पि ताव एक्कं मा मं वारेहि पिअसहि रुअन्तिं ।
कल्लि उण तम्मि गए जइ ण मुआ ता ण रोदिस्सं ॥ २ ॥
[अद्यापि तावदेकं मा मां वारय प्रियसखि रुदतीम् ।
कल्ये पुनस्तस्मिन्गते यदि न मृता तदा न रोदिष्यामि ॥]

प्रिय सखी, एक आज ही मुझे रोने से मत रोक, कल उसके चले जाने पर मैं यदि न मरी तब नहीं रोऊंगी।

विमर्श—नायक के परदेश गमन के निवारणार्थ प्रवत्स्यत्पतिका का वचन, सखी के प्रति। प्रिय के प्रस्थान कर देने पर मेरे जीवित रहने में सन्देह है, अगर जीवित रही तो नहीं रोऊँगी। कम से कम एक दिन आज मुझे रोने से विरत मत कर। भोज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में 'जइ ण मरिस्सं ण रोदिस्सम्' (यदि न मरिष्यामि न रोदिष्यामि) यह पाठ स्वीकार किया है ॥ २ ॥

एहि त्ति वाहरन्तम्मि पिअअमे उअह ओणअमुहीए ।
विउणावेट्ठिअजहणत्थलाइ लज्जाणअं हसिअं ॥ ३ ॥
[एहीति व्याहरति प्रियतमे पश्यतावनतमुख्या ।
द्विगुणावेष्टितजघनस्थलया लज्जावनतं हसितम् ॥]

प्यारे के 'आओ' यह कहने पर मुंह नीचा करके जघनस्थल को दुगुना ढंक कर, लज्जा से झुके उसने हँस दिया, देखो।

विमर्श—किसी द्वारा सखी के शिक्षणार्थ ऋतुमती अचिरयुवति के वैदग्ध्य की सूचना। अपने इस आचरण से विदग्धा नायिका ने व्यञ्जित कर दिया कि इस समय अवसर नहीं है। टीकाकार पीताम्बर के अनुसार इस गाथा से व्यञ्जित धर्म यह है कि पापकार्य में प्रवृत्त पति को आदरपूर्वक निवारण करना चाहिए, एवं नीति है कि इस प्रकार कुशलता से इङ्गित प्रकट करना चाहिए ॥ ३ ॥

मारेसि कं ण मुद्धे इमेण पेरन्तरत्तविसमेण।
भुलआचावविणिग्गअतिक्खअरद्धच्छिभल्लेण ॥ ४ ॥
[मारयसि कं न मुग्धे अनेन पर्यन्तरक्तविषमेण।
भ्रूलताचापविनिर्गततीक्ष्णतरार्धाक्षिभल्लेन ॥]

री भोलीभाली, अग्रभाग में रक्त, विषम, भौंहों की धनुर्लता से निकले तीखे अर्ध-नेत्रों के इस भाले से तू किसे नहीं मारती है ?

विमर्श—युवति के कटाक्ष वर्णन से नायक द्वारा अपने अभिलाष का प्रकाशन। यह काम तू खेल-खेल में कर गुजरती है, तुझे क्या मालूम कि तेरे अर्ध-नेत्रों के भालों से घायल हम जैसों पर क्या गुजरती है? 'भल्ल' यहाँ अर्धचन्द्राकृति वाण के अर्थ में प्रयुक्त है, जो प्रचलित 'भाला' से भिन्न है। कटाक्ष अर्धचन्द्राकृति वाण का ठीक चित्र है। अग्रभाग में रक्त (रक्तान्त) नेत्र स्वभावतः होता है, और वाण रुधिर के सम्पर्क से, इस प्रकार अन्य विशेषणों को उभय-पक्ष में संगतार्थ कर लेना चाहिए ॥ ४ ॥

तुह दंसणे सअह्णा सद्दं सोऊण णिग्गदा जाइं।
तइ वोलीणे ताइं पआइँ वोढव्विआ जाआ ॥ ५ ॥

[तव दर्शने सतृष्णा शब्दं श्रुत्वा निर्गता यानि।
त्वयि व्यतिक्रान्ते तानि पदानि वोढव्या जाता ॥]

तुझे देखने के लिए तरस-भरी वह आवाज सुनकर जितने पग (घर से) निकली उतने पग तेरे चले जाने पर उठाकर पहुँचाने योग्य बन गई।

विमर्श—दूती द्वारा नायिका के अतिशय प्रणय के प्रकाशन से उपपति को प्रोत्साहन। तेरे विरह में कृश हुई उसने ज्यों ही तेरी आवाज सुनी त्यों ही तेरे दर्शन के लिए घर से निकल पड़ी, उसे इसकी खबर ही नहीं कि उसके शरीर में चलने-फिरने की ताकत नहीं है। तेरे दर्शन की आशा ने उसके शरीर में तत्काल जोश पैदा कर दिया, पर जब तू बिल्कुल निकल गया, तब वह निराश हो गई, उसकी हिम्मत चली गई और जहां तक गई थी वहां से उठाकर पहुंचाने योग्य बन गई। तात्पर्य यह कि तेरे विरह में वह

किस दशा को पहुंच गई है और तू है कि उससे बेखबर है। चरम तात्पर्य यह कि शीघ्र उसका अभिसरण कर ॥ ५ ॥

ईसामच्छररहिएहिँ णिव्विआरेहिँ मामि अच्छीहिं।
एह्निं जणो जणम्मिव णिरिच्छए कहँ ण छिज्जामो ॥ ६ ॥
[ईर्ष्यामत्सररहिताभ्यां निर्विकाराभ्यां मातुलान्यक्षिभ्याम्।
इदानीं जनो जनमिव निरीक्षते कथं न क्षीयामहे ॥]

मामी, अब जब कि आदमी ईर्ष्या और मत्सर से रहित निर्विकार नेत्रों से साधारण आदमी की तरह हमें देखता है तो कैसे हम न दुबली हों?

विमर्श—'क्यों दुबराती जा रही है?' रहस्ययुक्त मातुलानी के यह पूछने पर नायिका का उत्तर। वह देखना कोई देखना नहीं, जिसमें प्रणय-जनित कुछ ईर्ष्या न हो, कुछ मत्सर न हो, विकार न हो, सचमुच ऐसे देखने में कोई लुत्फ नहीं, न देखने वाले को और न देखे जाने वाले को। जिसके प्रति मैं प्रणय की भावना रखती थी, वह भी जब साधारण आदमी की भांति देखने लगा तो चिन्ताजनित दुर्बलता स्वाभाविक है। उसका मुझे इस प्रकार देखना, जैसे वह मुझसे कोई सम्बन्ध ही नहीं रखता, मुझे मारे जा रहा है ॥ ६ ॥

वाउद्धअसिचअविहाविओरुदिट्ठेण दन्तमग्गेण।
वहुँमाआ तोसिज्जइ णिहाणकलसस्स व मुहेण ॥ ७ ॥
[वातोद्धतसिचयविभावितोरुदृष्टेन दन्तमार्गेण।
वधूमाता तोष्यते निधानकलशस्येव मुखेन ॥]

हवा से कपड़े के उठने पर दिखे ऊरु पर नजर आए खजाने के कलसे के मुख की भांति दन्तमार्ग से वधू की माता सन्तोष अनुभव करती है।

विमर्श—पुत्री के सौभाग्य से माता को सन्तोष होता है, इस उद्देश्य से किसी का वचन। दन्तमार्ग अर्थात् दन्तक्षत। कामशास्त्र के अनुसार सुरत-काल में ऊरु देश में नखदन्तादि प्रहार विहित हैं। गाथाकारने माता की इस स्वाभाविक मनोवृत्ति का, कि वह अपनी पुत्री को अपने पति का अतिशय प्रणय-भाजन अनुभव करके फूली नहीं समाती, सूक्ष्मता के साथ परिचय है। कालिदास भी इस सूक्ष्मेक्षिका से अपरिचित न थे—'भर्तृवल्लभतया हि मानसीं मातुरस्यति शुचं वधूजनः' (कुमारसम्भव, ८।१२)। किसी के अनुसार नायिका के ऊरु देश का व्रण कामशास्त्रीय पद्धति के अनुसार 'बिन्दुमा-लाकृति' है ॥ ७ ॥

हिअअम्मि वससि ण करेसि मण्णुअं तह वि णेहभरिएहिं।
सङ्किज्जसि जुअइसुहावगलिअधीरेहिँ अम्हेहिं ॥ ८ ॥

[हृदये वससि न करोषि मन्युं तथापि स्नेहभृताभिः ।
शङ्क्यसे युवतिस्वभावगलितधैर्याभिरस्माभिः ॥]

हृदय में रहते हो, अपराध (या क्रोध) नहीं करते हो, तथापि स्नेह-भरी एवं युवति के स्वभाव के कारण धीरज खोई हम तुम पर सन्देह करती हैं ।

विमर्श—प्रियतम के प्रति अतिशय प्रेम की सूचना द्वारा हमेशा के लिए प्रणय की प्रार्थना । हमारे हृदय में रहते हो, अर्थात् तुम्हें हम हमेशा याद करती हैं और तुम कोई मन्यु (अपराध या क्रोध) भी नहीं करते, जिससे हमारे स्नेह में किसी प्रकार का उत्पात सम्भव माना जाता । ऐसी स्थिति में भी, तुम्हारे प्रति अतिशय प्रेम ही हमारे मन में पाप की शङ्का ('अतिस्नेहः पापशङ्की' के अनुसार) उत्पन्न कर रहा है, इस कारण धीरज के खोने में हम अपने स्वभाव से लाचार हैं । तुम्हारी ओर से किसी प्रकार की त्रुटि न होने पर भी हमारा मन हमेशा शङ्कित रहता है । यह केवल मेरा नहीं, सभी स्नेह करने वालियों का स्वभाव होता है, अतः हमें दोष देना उचित नहीं ॥ ८ ॥

अण्णं पि किं पि पाविहिसि मूढ मा तम्म दुक्खमेत्तेण ।
हिअअ पराहीणजणं मग्गॅन्त तुह केत्तिअं एअं ॥ ९ ॥
[अन्यदपि किमपि प्राप्स्यसि मूढ मा ताम्य दुःखमात्रेण ।
हृदय पराधीनजनं मृगयमाण तव कियन्मात्रमिदम् ॥]

पराधीन जन की खोज करने वाला मूढ़ हृदय, दुःख-मात्र से मत पीड़ित हो, यह तेरे लिए कितना है ? तू और भी कुछ प्राप्त करेगा !

विमर्श—किसी के प्रति उत्पन्न-अभिलाष नायिका का निर्वेद-वचन, उसकी भार्यापरायणता को सूचनापूर्वक अपने हृदय के प्रति । जिस पर अपना कुछ अधिकार नहीं उसकी खोज में कष्ट ही मिला तो क्या मिला ? सिर्फ इतने से घबड़ाना ठीक नहीं । अभी तो और भी कुछ मिलेगा ! यहां गाथाकार ने मरण का 'मरण' पद से अभिधान अमङ्गल समझ कर नहीं किया और उसकी सूचना 'किमपि' (कुछ) पद से करके अपने कौशल का अच्छा परिचय दिया है । नायिका का तात्पर्य है कि मैं तुम्हारे स्नेह में मरने पर आ पहुंची हूं और तुम इस प्रकार निष्ठुर हो कि अभी तक मेरे न हुए ॥ ९ ॥

वेसोसि जीअ पंसुल अहिअअरं सा हु वल्लभा तुज्झ ।
इअ जाणिऊण वि मए ण ईसिअं दड्ढपेम्मस्स ॥ १० ॥
[द्वेष्योऽसि यस्याः पांसुल अधिकतरं सा खलु वल्लभा तव ।
इति ज्ञात्वापि मया न ईर्ष्यितं दग्धप्रेम्णः ॥]

हे पांसुल ! तुम जिसके द्वेष का पात्र हो वह तुम्हारी बहुत-बहुत प्यारी है, यह जानकर मैंने जले प्रेम के लिए ईर्ष्या नहीं की।

विमर्श—प्रिय का सपत्नी में अनुराग, उसका उसमें द्वेष, अपना उसमें अनुराग तथा प्रिय का अपने प्रति द्वेष सूचित करती हुई नायिका का वचन, नायक के प्रति। जो तुमसे द्वेष करती है वह तुम्हारी प्रिया है तो मैं जब कि तुममें अनुरक्त हूँ तब क्यों तुम्हारी प्रिया नहीं हूँ? यह सचमुच ईर्ष्या की बात है, पर मैंने प्रेम के अनुचितकारित्व को जान करके भी ईर्ष्या नहीं की। क्योंकि मैं जानती हूँ कि तुम पर मेरा कुछ वश न चलेगा, पर क्या करूँ जो कि मैं अपने हृदय को भी निवारण नहीं कर पा रही हूँ? पांसुल अर्थात् हलिक, बनिहार। तात्पर्य यह कि मैं तुम्हें अन्यासक्त जानकर भी अनुराग करती हूँ और तुम उसमें अनुरक्त हो जो तुमसे द्वेष करती है, प्रेम का औचित्य तुम्हें बिलकुल विदित नहीं॥ १०॥

सा आम सुहअ गुणरूअसोहिरी आम णिग्गुणा अ अहं।
भण तीअ जो ण सरिसो किं सो सव्वो जणो मरउ॥ ११॥

[सा सत्यं सुभग गुणरूपशोभनशीला सत्यं निर्गुणा चाहम्।
भण तस्या यो न सदृशः किं स सर्वो जनो म्रियताम्॥]

हे सुभग, ठीक है कि वह गुण और रूप के कारण सुहावनी है और ठीक है कि मैं गुणहीन हूँ, तो कहो, जो उसके समान न हों, क्या वह सब आदमी मर जायँ?

विमर्श—नायिका का ईर्ष्या-वचन, निर्गुणा प्रेयसी के प्रशंसक प्रिय के प्रति। विपरीतलक्षणा से तात्पर्य यह कि तुम बिलकुल रागान्ध हो, गुण और रूप का विवेक तुम्हें विदित नहीं, क्योंकि तुम उस अधमा के प्रति भी अनुरक्त हो। प्राकृत में 'आम' इस स्वीकारोक्ति की संस्कृत छाया 'सत्यं' की गई है जिसके अनुसार 'ठीक है' यह रूपान्तर है॥ ११॥

सन्तमसन्तं दुक्खं सुहं च जाओ घरस्स जाणन्ति।
ता पुत्तअ महिलाओ सेसाओँ जरा मनुस्साणं॥ १२॥

[सदसद्दुःखं सुखं च या गृहस्य जानन्ति।
ताः पुत्रक महिलाः शेषा जरा मनुष्याणाम्॥]

बेटा, जो घर के भाव-अभाव और सुख-दुःख जानती हैं, वे महिलाएं हैं, अन्य (स्त्रियाँ तो) पुरुषों की जरावस्था हैं।

विमर्श—दुर्लभ पुरुष की इच्छा रखनेवाली अपनी पतोहू में वैराग्य की भावना उत्पन्न करने के लिए वृद्धा का वचन, पुत्र के प्रति। जो स्त्रियाँ अपने

घर के भाव-अभाव तथा सुख-दुःख से अपरिचित हैं वह जरावस्था इस लिए हैं कि जिस प्रकार जरावस्था शरीर के साथ चिपक कर उसका निरन्तर क्षय करती जाती है, एवं उसे कोई अपने शरीर से पृथक् नहीं कर सकता उसी प्रकार ऐसी स्त्रियाँ मनुष्य को निरन्तर क्षीण करती रहती हैं, और उनका लोकापवाद के भय से किसी प्रकार निराकरण भी सम्भव नहीं होता। परन्तु गृह की सच्ची महिला तो वह है जो प्रत्येक अवस्था—भाव या अभाव, सुख या दुःख में अपने पति का साथ नहीं छोड़ती। साधारणदेव के अनुसार जैसा कि वचन है—

सम्पत्तौ च विपत्तौ च मरणे या न मुञ्चति।
सा स्वीया तां प्रति प्रेम जायते पुण्यकर्मणः॥ १२॥

हसिएहिँ उवालम्भा अच्चुवचारेहिँ रूसिअव्वाइं।
अंसूहिँ भण्डणाइं एसो मग्गो सुमहिलाणं॥ १३॥

[हसितैरुपालम्भा अत्युपचारैः खेदितव्यानि।
अश्रुभिः कलहा एष मार्गः सुमहिलानाम्॥]

यह सुमहिलाओं का ढंग है कि (उनके) उलहने हासों से, रूसने ज्यादा आवभगत से और झगड़े आंसुओं से (प्रकट) होते हैं।

विमर्श—मानग्रहण में कुलमहिलाओं के चरित्र की शिक्षा। अर्थात् कुलीन महिलाएं उलहने हँसी प्रकट करके दिया करती हैं, न कि रोने लगती हैं; रोष अपने अत्युपाचर—ज्यादा आवभगत—द्वारा प्रकट करती हैं; न कि घर का काम-काज छोड़ बैठती हैं; तथा झगड़े के भाव आँसू बहाने मात्र से प्रकट कर देती हैं न कि वचन का प्रयोग करती हैं। प्राकृत 'भण्डन' शब्द युद्ध या कलह के अर्थ में देशी है॥ १३॥

उल्लावो मा दिज्जउ लोअविरुद्ध त्ति णाम काऊण।
सँमुहापडिए को उण वेसे वि दिट्ठिं ण पाडेइ॥ १४॥

[उल्लापो मा दीयतां लोकविरुद्ध इति नाम कृत्वा।
संमुखापतिते कः पुनर्द्वेष्येऽपि दृष्टिं न पातयति॥]

लोकविरुद्ध समझ कर बातचीत मत करे, पर कौन सम्मुख आए शत्रु पर भी दृष्टि-पात नहीं करता?

विमर्श—दूती के यह कहने पर कि लोकनिन्दा के भय से प्रिय ने बातें न कीं, तेरा उद्विग्न होना ठीक नहीं, नायिका का प्रणय-रोष के साथ वचन। माना कि लोकनिन्दा के डर से वह मुझसे कुछ नहीं बोला, पर यह कहाँ का तरीका है कि उसने मेरी ओर ताका तक नहीं? जब कि सम्मुख आने पर शत्रु

पर भी दृष्टिपात कर देते हैं। किसी के अनुसार साध्वी के प्रति कुट्टनी का वचन, कि लोकविरुद्ध जानकर उससे भाषण न किया न सही, पर उसे देखा भी क्यों नहीं ॥ १४ ॥

साहीणपिअअमो दुग्गओ वि मण्णइ कअत्थमप्पाणं ।
पिअरहिओ उण पुहविं वि पाविउण दुग्गओ च्चेअ ॥ १५ ॥

[स्वाधीनप्रियतमो दुर्गतोऽपि मन्यते कृतार्थमात्मानम् ।
प्रियरहितः पुनः पृथिवीमपि प्राप्य दुर्गत एव ॥]

प्रियतमा जिसके अधीन है वह दरिद्र भी अपने को कृतार्थ मानता है, पर प्रिय से रहित व्यक्ति पृथ्वी को पाकर भी दरिद्र ही रहता है।

विमर्श—नायक का उद्वेग-पूर्ण वचन, सङ्केत-समय का अतिक्रमण करके पहुँची प्रिया के प्रति। अथवा किसी के यह पूछने पर कि इस प्रकार कृश क्यों हो, अनुरूप प्रियतमा के अभाव के कारण किसी नायक का उत्तर। अथवा, हृदङ्गम कान्ता से रहित किसी धनवान् व्यक्ति का परिताप-वचन ॥ १५ ॥

किं रुवसि किं अ सोअसि किं कुप्पसि सुअणु एक्कमेक्कस्स ।
पेम्मं विसं व विसमं साहसु को रुन्धिउं तरइ ॥ १६ ॥

[किं रोदिषि च शोचसि किं कुप्यसि सुतनु एकैकस्मै ।
प्रेम विषमिव विषमं कथय को रोद्धुं शक्नोति ॥]

हे सुतनु, तू क्यों रोती है, शोक करती है और हरेक पर क्यों कुपित होती है? विष की भाँति विषम प्रेम को बता, कौन रोक सकता है।

विमर्श—सखी का वचन किसी नायिका के प्रति, जो प्रियतम को प्राप्त नहीं है और दिलदार में अपने प्रेमभाव को अप्रकट रखती है। सखी का तात्पर्य है कि इस प्रकार शरीरशोभा को क्षीण करनेवाली चेष्टाओं को छोड़कर वह अपने अभिमत प्रिय को बता दे, क्योंकि जिस प्रकार सर्वाङ्ग में विष के फैल जाने पर कोई चिकित्सा सम्भव नहीं, उसी प्रकार प्रेम भी विषम व्याधि है, यह सर्वथा अप्रतिरोध्य होता है ॥ १६ ॥

ते अ जुआणा ता गामसंपआ तं च अम्ह तारुण्णं ।
अक्खाणअं व लोओ कहेहि अम्हे वि तं सुणिमो ॥ १७ ॥

[ते च युवानस्ता ग्रामसंपदस्तच्चास्माकं तारुण्यम् ।
आख्यानकमिव लोकः कथयति वयमपि तच्छृणुमः ॥]

वे जवान लोग, गांव की वह सुख-सम्पदाएँ और हमारी वह जवानी; लोग कहानी के तौर पर कहते हैं और हम भी सुना करते हैं।

विमर्श—दूती द्वारा स्वानुभूत विषयों की अनित्यता का कथन, न स्वीकार करती हुई नायिका के प्रति। इस प्रकार जब कि संसार अनित्य है, फिर विदग्ध प्रिय के समागम सुख का परिहार क्यों करती है ? अथवा, कुट्टनी द्वारा अनित्यता-कथन, न मानती हुई नायिका से स्वीकार कराने के लिए। अथवा, वृद्धावस्था में तरुण जनों के उपस्थित न होने पर सन्तप्त कुलटा का सनिर्वेद वचन। अथवा, इस तात्पर्य का कथन कि समय से जो होता है उसे सहना ही पड़ता है ॥ १७ ॥

वाहोहभरिअगण्डाहराएँ भणिअं विलक्खहसिरीए।
अज्ज वि किं रूसिज्जइ सवहावत्थं गअं पेम्मं ॥ १८ ॥
[बाष्पौघभृतगण्डाधरया भणितं विलक्षहसनशीलया।
अद्यापि किं रुष्यते शपथावस्थां गतं प्रेम ॥]

उसके गाल और अधर वाष्पसमूह से भर आए, वह लज्जा और हंसी प्रकट करते हुए बोली—'आज भी क्या शपथ की अवस्था तक पहुंचे प्रेम पर रोप किया जा सकता है ?'

विमर्श—सखी द्वारा सखी के प्रति प्रिय से शपथ करके मनाई जाती हुई प्रियतमा के उद्वेगवाद का कथन। जब उसका प्रिय शपथ खाकर अपना प्रेम प्रमाणित करने लगा, तब वह आक्रोश से भर उठी, उसने कहा कि शपथ से ही जब प्रेम के अस्तित्व का ज्ञान होता है तो वहां अनुभव की बात ही नहीं। लज्जा और हंसी का तात्पर्य यह कि तुम अलीक दाक्षिण्य द्वारा अपना प्रेम साधना चाहते हो, तुम्हारी चालाकी पर ताज्जुब होता है ! ॥ १८ ॥

वण्णअघअलित्तमुहिं जो मं अइआअरेण चुम्बन्तो।
एह्णि सो भूसणभूसिअं पि अलसाअइ छिवन्तो ॥ १९ ॥
[वर्णघृतलिप्तमुखीं यो मामत्यादरेण चुम्बन्।
इदानीं स भूषणभूषितामप्यलसायते स्पृशन् ॥]

जो अधिक आदर-वश वर्णघृत से लिपे मुंह वाली मुझको चूम लेता था, अब वह गहने से सजी भी मुझे छूता हुआ अलसाने लगता है।

विमर्श—अन्यासक्ति के कारण नायक की मन्दस्नेहता के सूचनार्थ नायिका का निर्वेद-वचन, सखी के प्रति। 'वर्णघृत' का उल्लेख अन्य गाथाओं में भी आ चुका है, यह स्थानविशेष का प्राचीन आचार था कि स्त्रियाँ पुष्पवती अवस्था में मुंह में घी का लेप कर लेती थीं। नायक के आचरण में इस परिवर्तन से इसका पता चलता है कि दूसरी से फंस चुका है ॥ १९ ॥

णीलपडपाउअङ्गी त्ति मा हु णं परिहरिज्जासु।
पट्टंसुअं पि णद्धं रअम्मि अवणिज्जइ च्चेअ ॥ २० ॥

[नीलपटप्रावृताङ्गीति मा खल्वेनां परिहर ।
पट्टांशुकमपि नद्धं रतेऽपनीयत एव ॥]

यह मैला वस्त्र पहने हुई है, इस कारण इसे मत छोड़; पहना हुआ पट्ट-वस्त्र भी रतकाल में हटा ही दिया जाता है ।

विमर्श—दूती द्वारा किसी नायिका के मलिनवसना होने के दोष का परिहार-पूर्वक वस्त्र की रतकाल में अनुपयोगिता का कथन । तात्पर्य यह कि स्त्रियों के सहज गुण अङ्गसौन्दर्यादि ही उपादेय होते हैं न कि आहार्य । यदि सुरत-सुख की तुम्हें अपेक्षा है, तब इन बाह्य बातों के फेर में पड़कर रस-भङ्ग करना बुद्धिमानी नहीं ॥ २० ॥

सच्चं कलहे कलहे सुरआरम्भा पुणो णवा होन्ति ।
माणो उण माणंसिणि गरुओ पेम्मं विणासेइ ॥ २१ ॥

[सत्यं कलहे-कलहे सुरतारम्भाः पुनर्नवा भवन्ति ।
मानः पुनर्मनस्विनि गुरुकः प्रेम विनाशयति ॥]

ठीक है कि कलह-कलह में सुरत-कार्य फिर नये हो जाते हैं, तब भी, हे मनस्विनी, अति-मान प्रेम को विनष्ट कर डालता है ।

विमर्श—अधिक मान करने वाली नायिका को दूती की शिक्षा, मान के परित्यागार्थ । 'मनस्विनी' इस सम्बोधन से यह उपालम्भ ध्वनित होता है कि तू ही एक अपूर्व मनस्विनी है, जो बहुत-बहुत अनुनय करने पर भी मान परित्याग नहीं करती ॥ २१ ॥

माणुम्मत्ताइ मए अकारणं कारणं कुणन्तीए ।
अद्दंसणेण पेम्मं विणासिअं पोढवाएण ॥ २२ ॥

[मानोन्मत्तया मया अकारणं कारणं कुर्वत्या ।
अदर्शनेन प्रेम विनाशितं प्रौढवादेन ॥]

मान से उन्मत्त, अकारण को भी कारण बनाती हुई मैंने (प्रिय को) न देखने और जबर बात से प्रेम को खतम कर दिया ।

विमर्श—कलहान्तरिता का वचन, दूती के प्रति । वक्त्री नायिका का तात्पर्य है कि उसने यह सोचकर कि मान के द्वारा प्रिय के प्रेम की परीक्षा लूंगी, अनभिज्ञतावश, मान का जो कारण (दोष) नहीं हो सकता उसे भी कारण (दोष) बनाया और साथ ही प्रिय की ओर न देखना, तथा उसे प्रौढवाद या जबर बात अर्थात् (गङ्गाधर के अनुसार) प्रतिज्ञासहित प्रत्याख्यान से भी व्यथित किया । फलतः प्रिय उसके प्रति अधिक रुष्ट हो गया और उसका वह प्रेम-भाव जाता रहा ॥ २२ ॥

अणुऊलं विअ वोत्तुं बहुवल्लह वल्लहे वि वेसे वि ।
कुविअं अ पसाएउं सिक्खइ लोओ तुमाहित्तो ॥ २३ ॥
[अनुकूलमेव वक्तुं बहुवल्लभवल्लभेऽपि द्वेष्येऽपि ।
कुपितं च प्रसादयितुं शिक्षते लोको युष्मत्तः ॥]

हे बहुवल्लभ, प्रिय के प्रति भी और शत्रु के प्रति भी अनुकूल ही बोलना और कुपित को प्रसन्न करना लोग तुमसे सीखते हैं ।

विमर्श—विदग्धा नायिका का उपालम्भ-वचन, अपराधी एवं चाटूक्ति-परायण नायक के प्रति । बहुवल्लभ अर्थात् बहुत महिलाओं से प्रेम करने वाला । तात्पर्य यह कि मैं तुम्हारी शत्रु हूँ, मुझसे अनुकूल बोलना एवं मुझे प्रसन्न करना यह तुम्हारी विशिष्ट कला है, चरम तात्पर्य यह कि सभी व्यवहार तुम्हारे दिल से ताल्लुक नहीं रखता, अपराध साफ होते हुए भी तुम भुलावा दे रहे हो ॥ २३ ॥

लज्जा चत्ता सीलं अ खण्डिअं अजसघोसणा दिण्णा ।
जस्स कएणं पिअसहि सो च्चेअ जणो जणो जाओ ॥ २४ ॥
[लज्जा त्यक्ता शीलं च खण्डितमयशोघोषणा दत्ता ।
यस्य कृतेन (कृतेमनु) प्रिय सखि स एव जनो जनो जातः ॥]

हे प्रियसखी, जिसके लिए मैंने लाज-सरम गँवाई, शील तोड़ा, बदनामी की डुगडुगी फेरी, वही आदमी आदमी हो गया ।

विमर्श—नायिका द्वारा सखी के प्रति पहले प्रेम का दिखावा करके पीछे मन्दस्नेह नायक की अकृतज्ञता का प्रकाशन । मैंने तो उसके लिए यह सारी बिपत झेली पर वह आदमी आदमी निकला, पहले स्नेही होकर पीछे उदासीन हो गया—जनः (वल्लभः) जनः (उदासीनः) जातः । इस प्रकार का प्रयोग पीछे ६।६ गाथा में भी आ चुका है । अथवा, अकार का प्रश्लेष करके (अजनो जनः) अर्थ होगा कि वही मन्दस्नेह हो गया ॥ २४ ॥

हसिअं अदिट्ठदन्तं भमिअमणिक्कन्तदेहलीदेसं ।
दिट्ठमणुक्खित्तमुहं एसो मग्गो कुलवहूणं ॥ २५ ॥
[हसितमदृष्टदन्तं भ्रमितमनिष्क्रान्तदेहलीदेशम् ।
दृष्टमनुत्क्षिप्तमुखमेष मार्गः कुलवधूनाम् ॥]

दाँत न दिखाई दे ऐसा हंसना, चौखट को न लाँघकर घूमना, मुँह न उठाये देखना, यह कुलवन्तियों का ढंग है ।

विमर्श—कुलवन्ती के आचरण की शिचा ॥ २५ ॥

धूलिमइलो वि पङ्कङ्किओ वि तणरइअदेहभरणो वि ।
तह वि गइन्दो गरुअत्तणेण ढक्कं समुव्वहइ ॥ २६ ॥
[धूलिमलिनोऽपि पङ्काङ्कितोऽपि तृणरचितदेहभरणोऽपि ।
तथापि गजेन्द्रो गुरुकत्वेन ढक्कां समुद्वहति ॥]

हाथी धूल-धक्कड़ से मैला भी होता है, कीचड़ से भरा भी होता है एवं घास खाकर पेट भी भरता है, तब भी भारी होने के कारण डंका धारण करता है ।

विमर्श—जननिन्दित नायक के प्रति नायिका को अनुकूल करने के लिए दूती का प्रशंसा-वचन । लोग चाहे उसकी निन्दा-शिकायत करें, उसकी रहन-सहन एवं भोजन का मजाक उड़ावें, फिर भी वह अपने उत्कर्ष में किसी से कम नहीं, इस कारण वह हमेशा यशस्वी रहने वाला है । इसके समागम के सम्बन्ध में हिचकिचाहट ठीक नहीं । 'अलंकारकौस्तुभ' में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का उदाहरण ॥ २६ ॥

करमरि कीस ण गम्मइ को गव्वो जेण मसिणगमणासि ।
अदिट्ठदन्तहसिरीअ जम्पिअं चोर जाणिहिसि ॥ २७ ॥
[बन्दि किमिति न गम्यते को गर्वो येन मसृणगमनासि ।
अदृष्टदन्तहसनशीलया जल्पितं चोर ज्ञास्यसि ॥]

'री बन्दी, क्यों नहीं चलती ? गरूर क्या है जिससे मेरहती चाल से चल रही है ?' (तब) दांत विना दिखाए हंसनेवाली ने कहा, 'चोर, तुझे पता चल जायगा' ।

विमर्श—उदाहरण द्वारा सखी को यह शिक्षा, कि विपत्ति के अवसर में भी बड़े लोग अपने मन को नीचे नहीं गिरने देते । करमरी (पाठान्तर—'किरिमरी, करिमरी, किरमरी) अर्थात् हठ से हरी हुई महिला । बन्दी महिला के हंसने के निर्दिष्ट प्रकार से उसका कुलवधूत्व व्यक्षित किया है । उसके उत्तर का तात्पर्य यह है कि मुझमें गरूर है या नहीं, मेरा पराक्रमी पति आ जायगा तो तुझे सब कुछ पता चल जायगा, तेरे प्रश्न के लिए अन्य उत्तर अपेक्षित नहीं ॥ २७ ॥

थोरंसुएहिं रुण्णं सवत्तिवग्गेण पुप्फवइआए ।
भुअसिहरं पइणो पेच्छिऊण सिरलग्गतुप्पलिअं ॥ २८ ॥
[स्थूलाश्रुभी रुदितं सपत्नीवर्गेण पुष्पवत्याः ।
भुजशिखरं पत्युः प्रेक्ष्य शिरोलग्नवर्णघृतलिप्तम् ॥]

पति के कन्धे को पुष्पवती के सिर पर लगे वर्णघृत से लिपा देखकर सौतें मोटे-मोटे आसुओं से रोने लगीं।

विमर्श—अतिशय प्रणय के कारण अवसर-अनवसर की प्रतीक्षा नहीं होती, इस तात्पर्य से कथन। सौतों को पता चल गया कि पुष्पवती अवस्था में भी नायिका पति के कन्धे पर सिर रखकर सोई थी, वे ईर्ष्या के मारे भर उठीं। भुजशिखर अर्थात् स्कन्ध, कंधा। 'तुप्प' शब्द 'वर्णघृत' (आचार के रूप में रजस्वला की स्थिति में मुंह में लगाया जानेवाला घी) के अर्थ में देशी है ॥ २८ ॥

लोओ जूरइ जूरउ वअणिज्जं होउ होउ तं णाम।
एहि णिमज्जसु पासे पुप्फवइ ण एइ मे णिद्दा ॥ २९ ॥
[लोकः खिद्यते खिद्यतु वचनीयं भवति भवतु तन्नाम।
एहि निमज्ज पार्श्वे पुष्पवति नैति मे निद्रा ॥]

लोग खीझते हैं तो खीझें, निन्दा होती है तो हो, हे पुष्पवती, आ, पास में लेट, मुझे नींद नहीं आती।

विमर्श—अत्यन्त राग से आविष्ट नायक का वचन, रजस्वला के प्रति। सरस्वतीकण्ठाभरण के अनुसार यहां पुरुषनिष्ठ 'हाव' है ॥ २९ ॥

जं जं पुलएमि दिसं पुरओ लिहिअ व्व दीससे तत्तो।
तुह पडिमापडिवाडिं वहइ व्व सअलं दिसाअक्कं ॥ ३० ॥
[यां यां प्रलोकयामि दिशं पुरतो लिखित एव दृश्यसे तत्र।
तव प्रतिमापरिपाटीं वहतीव सकलं दिशाचक्रम ॥]

जिस जिस दिशा को देखती हूँ, वहां सामने लिखित ही दिखाई देते हो, सारा दिक्चक्र तुम्हारी प्रतिमाओं को मानों धारण कर रहा है।

विमर्श—लेख द्वारा नायिका का अनुराग प्रकाशन, नायक के प्रति। (भवभूति, मालतीमाधव ५।४१) ॥ ३० ॥

ओसरइ धुणइ साहं खोक्खामुहलो पुणो समुल्लिहइ।
जम्बूफलं ण गेह्णइ भमरो त्ति कई पढमडक्को ॥ ३१ ॥
[अपसरति धुनोति शाखां खोक्खामुखरः पुनः समुल्लिखति।
जम्बूफलं न गृह्णाति भ्रमर इति कपिः प्रथमदष्टः ॥]

पहले, भौंरों के काट खाने पर वानर भगा रहता है, डाल को झाड़ लेता है, फिर खौखियाता हुआ निखोरता है और जामुन का फल नहीं पकड़ता।

विमर्श—किसी का इस तात्पर्य से अन्यापदेश-वचन, कि जब कोई एक

जगह कष्ट पा लेता है तब उसके सदृश अन्य का ग्रहण करते हुए डरता है, दूध का जरा माठे को भी फूँक कर पीता है ॥ ३१ ॥

ण छिवइ हत्थेण कई कण्डूइभएण पत्तलणिउञ्जे ।
दरलम्बिअगोच्छकइकच्छुसच्छहं वाणरीहत्थं ॥ ३२ ॥

[न स्पृशति हस्तेन कपिः कण्डूतिभयेन पत्रलनिकुञ्जे ।
ईषल्लम्बितगुच्छकपिकच्छुसदृशं वानरीहस्तम् ॥]

वानर पत्तों वाले निकुञ्ज में थोड़ा लटके हुए गुच्छेदार केवांछ के समान वानरी के हाथ को खुजान के डर से अपने हाथ से नहीं छूता ।

विमर्श—इस तात्पर्य से किसी का अन्यापदेश-वचन, कि मूर्ख अभिमत वस्तु को भी प्रतिकूल बुद्धि के कारण छोड़ देता है । पूर्वोक्त गाथा भी कुछ इसी ढंग की है ॥ ३२ ॥

सरसा वि सूसइ च्चिअ जाणइ दुक्खाइँ मुद्धहिअआ वि ।
रत्ता वि पण्डुर च्चिअ जाआ वरई तुह वि विओए ॥ ३३ ॥

[सरसापि शुष्यत्येव जानाति दुःखानि मुग्धहृदयापि ।
रक्तापि पाण्डुरैव जाता वराकी तव वियोगे ॥]

बेचारी तेरे वियोग में सरस होकर भी सूखती जा रही है, मुग्धहृदय होकर भी दुःखों का ज्ञान रखती है, रक्त होकर भी पाण्डुर हो गई है ।

विमर्श—दूती का वचन, नायक के प्रति नायिका के विरहदुःख के सूचनार्थ । विरोध—सरस अर्थात् आर्द्र होकर भी सूख रही है, अविरोध—सरस अर्थात् सानुराग होकर क्षीण हो रही है, विरोध—मुग्ध-हृदय अर्थात् अचेतन होकर भी दुःखों को जानती है, अविरोध—मुग्धा होकर भी दुःख महसूस करती है; विरोध—रक्त अर्थात् लाल होकर भी पाण्डुर अर्थात् पीली है, अविरोध—अनुरूप होकर विरह के कारण पीली पड़ गई है । इस 'विरोध' से व्यञ्जित तात्पर्य यह कि 'सुख का साधन भी तेरे विरह में दुःख का साधन बन गया है ।' 'अलङ्कारकौस्तुभ' में 'विरोध' का उदाहरण ॥ ३३ ॥

आरुहइ जुण्णअं खुज्जअं वि जं उअह वल्लरी तउसी ।
णीलुप्पलपरिमलवासिअस्स सरअस्स सो दोसो ॥ ३४ ॥

[आरोहति जीर्णं कुब्जकमपि यत्पश्यत वेल्लनशीला त्रपुसी ।
नीलोत्पलपरिमलवासितायाः शरदः स दोषः ॥]

देखो, जो कि लपेट लेने वाली ककड़ी पुराने और कुबड़े (वृक्ष) पर भी चढ़ जाती है, वह नीलकमलों के परिमल से बसी शरदृतु का दोष है ।

विमर्श—शरद्वर्णन के व्याज से नवयौवना द्वारा वृद्ध के आलिङ्गन की खिल्ली उड़ाते हुए किसी सहृदय का वचन, सहचर के प्रति। त्रपुसी अर्थात् ककड़ी। अन्य छाया के अनुसार 'नीलोत्पलपरिमलवासितस्य सरकस्य दोषः' होता है। सरक अर्थात् इक्षुमद्य। इसके अनुसार जो कि ककड़ी की भाँति वेष्टित नामक आलिङ्गन में चतुर नवयौवना किसी बूढ़े कुब्जाङ्ग को पकड़ लेती है, वह नीलकमल के सौरभ से वासित इक्षुमद्य का दोष है। गंगाधर ने नायिका को 'गलितयौवना' एवं 'शीधुपान के कारण जातमन्मथविकारा' कहा है। प्रस्तुत गाथा में उसे 'गलितयौवना' कहने का कोई संकेत नहीं है जब कि पुरुष के लिए 'जीर्ण' और 'कुब्जक' शब्द प्रयुक्त हैं ॥ ३४ ॥

उप्पहपहाविहजणो पविजिम्हिअकलअलो पहअतूरो।
अव्वो सो च्चेअ छणो तेण विणा गामडाहो व्व ॥ ३५ ॥

[उत्पथप्रधावितजनः प्रविजृम्भितकलकलः प्रहततूर्यः।
दुःखं स एव क्षणस्तेन बिना ग्रामदाह इव ॥]

लोग बेरास्ते दौड़ पड़ते हैं, हो-हल्ला मच उठता है, नगाड़े बजाए जाने लगते हैं, हाय! वही उत्सव उसके बिना ग्रामदाह के समान लगता है।

विमर्श—प्रिय के साथ होली के मजे पाई नायिका प्रिय के विरह में पुनः प्राप्त होली के अवसर पर खेद प्रकट करती है। होली का वही दृश्य जो प्रिय के साथ रहने पर कुछ और मजा देता था, प्रिय के विरह में दूसरा ही रूप धारण कर चुका है। यहाँ 'मधूत्सव' आधुनिक होली का उत्सव है। होली में लोग मतवाले होकर बेरास्ते दौड़ पड़ते हैं और जब गाँव में आग लग जाती है तब भी लोग बुझाने के लिए बेराह दौड़ते नजर आते हैं, होली में और ग्रामदाह में भी हो-हल्ला मचा रहता है, होली में नगाड़े बजना स्वाभाविक है और ग्रामदाह में अन्य गाँवों के लोगों को सहायतार्थ एकत्र करने के लिए नगाड़े बजाया करते थे। परिस्थिति-भेद प्रयुक्त वस्तुभेद का यह सुन्दर चमत्कारी उदाहरण है ॥ ३५ ॥

उल्लावन्तेण ण होइ कस्स पासट्ठिएण ठड्ढेण।
सङ्का मसाणपाअवलम्बिअचोरेण व खलेण ॥ ३६ ॥

[उल्लापयमानेन न भवति कस्य पार्श्वस्थितेन स्तब्धेन।
शङ्का श्मशानपादपलम्बितचोरणेव खलेन ॥]

अभिभूत करते हुए, फँसरी पड़े और निश्चल, श्मशान वृक्ष में लटके चोर की भाँति, बात कराते हुए, पास में खड़े और अड़े दुष्ट से किसे शङ्का नहीं होती?

विमर्श—किसी का वचन, दुष्ट जन के संग के निषेधार्थ सखी के प्रति। गङ्गाधर लिखते हैं—'उल्लापयमानेन सम्भापयमाणेन पक्षे अभिभवता (?), पार्श्वस्थितेन सन्निहितेन पक्षे पाशस्थितेन, स्तब्धेन अहङ्कारात् पक्षे प्राणवायुविरहात्, शङ्का वितर्कः पक्षे भयम्।' पहले, चोर को श्मशान स्थित वृक्ष में गले में फँसरी लगाकर लटका देते थे, वह निष्प्राण होकर लटका रहता और रात्रि में आने-जाने वालों के भूतादि वितर्क का पात्र होता था। दुष्ट पुरुष बोलवाता, पास में खड़ा और अभिमान से अड़ा रह कर हमेशा डर पैदा करता रहता है। ऐसे पुरुष से बच कर रहने में ही कल्याण है ॥ ३६ ॥

असमत्तगुरुअकज्जे एह्णि पहिए घरं णिअत्तन्ते।
णवपाउसो पिउच्छा हसइ व कुडअट्टहासेहिं ॥ ३७ ॥

[असमाप्तगुरुककार्ये इदानीं पथिके गृहं प्रतिनिवर्तमाने।
नवप्रावृट् पितृष्वसः हसतीव कुटजाट्टहासैः ॥]

जरूरी काम को बिना पूरा किए, अब जब बटोही घर लौटने लगा तो फुआ, नई बरसात कुटजों की खिलखिलाहट से मानों हँसती है।

विमर्श—प्रोषितपतिका प्रियसखी के समाश्वासनार्थ सखी का वचन, पितृस्वसा (फुआ) के प्रति। कुटज श्वेतवर्ण का एक बरसाती पुष्प है और कविसमय के अनुसार हंसी का भी वर्ण श्वेत होता है। व्यञ्जना यह कि बरसात में बड़े-बड़े कार्यों को भी जब छोड़कर बटोही अपने घर का रास्ता लेते हैं तब वह तो किसी साधारण काम के लिए परदेस गया है, और अभी बरसात शुरू ही हुई है। घबड़ा मत, वह पहुँच कर रहेगा ॥ ३७ ॥

दट्ठूण उण्णमन्ते मेहे आमुक्कजीविआसाए।
पहिअघरिणीअ डिम्भो ओरुण्णमुहीअ सच्चविओ ॥ ३८ ॥

[दृष्ट्वा उन्नमतो मेघानामुक्तजीविताशया।
पथिकगृहिण्या डिम्भोऽवरुदितमुख्या दृष्टः ॥]

उठान लेते हुए मेघों को देखकर बटोही की घरनी ने जीने की आशा छोड़ दी और रोती हुई बच्चे को देखने लगी।

विमर्श—बटोही को वर्षाकाल में शीघ्र गृहगमनार्थ प्रवृत्त करने के लिए किसी द्वारा प्रोषितपतिका के वृत्तान्त का निवेदन। वर्षाकाल में मेघों का प्रथम दर्शन विरहिणी के चित्त को अन्यथावृत्ति ही नहीं कर देता, बल्कि स्वभावतः उन्हें जीने की आशा तक नहीं रह जाती। ऐसी स्थिति में रुदनपूर्ण मुखड़े से विरहिणी ने जो अपने बच्चे की ओर ताका उसका अभिप्राय यह है कि अब इसकी कौन देखभाल करेगा? अभी तो यह नन्हा है। गाथा में प्रयुक्त 'घरिणी'

शब्द इस अर्थ को और भी सम्पुष्ट करता है, अर्थात् घर का सारा काम-काज वही अपने से सम्भालती है, उसके न रहने पर यह अनाथ हो जायगा ॥३८॥

अविहवलक्खणवलअं ठाणं णेन्तो पुणो पुणो गलिअं ।
सहिसत्थो च्चिअ माणंसिणीअ वलआरओ जाओ ॥ ३९ ॥
[अविधवालक्षणवलयं स्थानं नयन्पुनः पुनर्गलितम् ।
सखीसार्थ एव मनस्विन्या वलयकारको जातः ॥]

सौभाग्य के चिह्न, बार-बार गिरे जाते हुए वलय को जगह पर पहुँचाती हुई सखियाँ ही मनस्विनी की वलय पहनाने वालियां बन गईं ।

विमर्श—सखी का नायक के प्रति वचन, कि कलहान्तरिता ने कोप के कारण अपने सारे गहने उतार दिए पर सौभाग्य के चिह्न वलय को नहीं उतारा और तुम्हारे विरह से इस प्रकार कृश एवं अन्यमनस्क हो चुकी है कि सहेलियाँ ही उसके बार-बार गिरे जाते हुए वलय को पहना देती हैं । यह अवतरण गङ्गाधर के अनुसार है । *गङ्गाधर ने 'वलआरओ' की छाया 'वलयकारकः मानी* है, जिसका अर्थ किया है 'वलयपरिधापकः अर्थात् वलय पहनाने का काम करने वाले । श्री मथुरानाथशास्त्री के अनुसार इसकी अन्य छाया 'बलकारकः' है । इनका अवतरण है, प्रोषितपतिका की सखी का वचन उसके प्रिय के समीप जाने वाले पथिक के प्रति । इस प्रकार गाथार्थ यह होता है कि सखियाँ नायिका के सौभाग्य चिह्न वलय को पहना-पहना करके उसके निराश मन में आश्वासन द्वारा बलसंचार कर रही हैं । 'मनस्विनी' के प्रयोग का तात्पर्य यह कि सखियों के बार-बार आसाश्वन प्राप्त करके वह सिर्फ मनोबल द्वारा ही अपने आपको धारण कर रही है । वस्तुतः इन दोनों व्याख्यानों में कष्टकल्पना या खींचातानी है, प्रथम व्याख्यान में कलहान्तरिता की स्वल्पकाल में ही बहुत अधिक कृशता असमञ्जस हो जाती है तथा 'वलआरओ' का 'वलयकारकः' बनाना भी कुछ अस्वाभाविकता का विषय बन जाता है, तथा दूसरे व्याख्यान में 'बवयोरभेदः' वाली बात पर ध्यान न भी दिया जाय तो भी 'मनस्विनी' का प्रयोग उपर्युक्त प्रकार से लगाने पर भी सन्तोषजनक रूप में सार्थक प्रतीत नहीं होता । अस्तु, मेरी बुद्धि भी तत्काल किसी निर्णय-पथ पर नहीं पहुंच रही है ॥ ३९ ॥

पहिअवहू विवरन्तरगलिअजलोल्ले घरे अणोल्लं पि ।
उद्देसं अविरअवाहसलिलणिवहेण उल्लेइ ॥ ४० ॥
[पथिकवधूर्विवरान्तरगलितजलार्द्रे गृहेऽनार्द्रमपि ।
उद्देशमविरतबाष्पसलिलनिवहेनार्द्रयति ॥]

बटोही की बहू छेद के भीतर से टपकते पानी से भींगे घर में न भींगे भी स्थान को निरन्तर बाष्प जल-समूह से भिंगो देती है।

विमर्श—पथिक को वर्षाकाल में शीघ्र घर जाने के लिए प्रवर्तनार्थ किसी द्वारा विरहिणियों की वेदना का वर्णन। किसी के देखभाल न करने से घर की छान्ह उजड़ गई है। बरसात में झर-झर पानी टपकता है। अपने बचाव के के लिए वह जिस स्थान को सूखा एवं सुरक्षित जानती है, वहां पहुँचकर तेरे विरह के कष्ट के कारण निरन्तर बाष्पधारा से उस स्थान को भी आर्द्र कर डालती है। इस प्रकार विरह और दारिद्र्य के अपार कष्टों में पड़ी हुई उसे उबार, वर्ना उससे हाथ धो बैठेगा॥ ४०॥

जीहाइ कुणन्ति पिअं भवन्ति हिअअम्मि णिव्वुइं काउं।
पीडिज्जन्ता वि रसं जणन्ति उच्छू कुलीणा अ॥ ४१॥
[जिह्वायां (पक्षे-जिह्वया) कुर्वन्ति प्रियं भवन्ति हृदये निर्वृतिं कर्तुम्।
पीड्यमाना अपि रसं जनयन्तीक्षवः कुलीनाश्च॥]

कुलीन लोग और ईख जीभ पर प्रिय करते हैं, हृदय में ठंढक पहुंचाते हैं और पीड़ित होकर भी रस देते हैं।

विमर्श—कलहान्तरिता का सपरितोष वचन, अनुनयार्थ आए प्रियवादी नायक के प्रति। ईख जीभ पर मधुर होने के कारण प्रिय होती है, और कुलीन जन प्रियवंद होने के कारण; ईख सन्ताप का और कुलीन जन उद्वेग का प्रशमन करते हैं। ईख दांत से पीड़ित होकर रस (द्रव) को और कुलीन जन निष्ठुर वचन से पीड़ित होकर प्रीति को अर्पित करते हैं॥ ४१॥

दीसइ ण चूअमउलं अत्ता ण अ वाइ मलअगन्धवहो।
पत्तं वसन्तमासं साहइ उक्कण्ठिअं चेअं॥ ४२॥
[दृश्यते न चूतमुकुलं श्वश्रु न च वाति मलयगन्धवहः।
प्राप्तं वसन्तमासं कथयत्युत्कण्ठितं चेतः॥]

ईयाजी आम का बौर नहीं नजर आता और न तो मलय का पवन ही बह रहा है, फिर भी उत्कण्ठित चित्त कहता है कि वसन्त का महीना आ गया!

विमर्श—नायिका का वचन वसन्तागम के सम्बन्ध में शङ्काशील श्वश्रू के प्रति। प्राकृत 'अत्ता' को किसी ने श्वश्रू और किसी ने मातृस्वसा (मौसी) भी माना है॥ ४२॥

अम्बवणे भमरउलं ण विणा कज्जेण ऊसुअं भमइ।
कत्तो जलणेण विणा धूमस्स सिहाउ दीसन्ति॥ ४३॥

[आम्रवने भ्रमरकुलं न विना कार्येणोत्सुकं भ्रमति ।
कुतो ज्वलनेन विना धूमस्य शिखा दृश्यन्ते ॥]

आम के वन में भौंरे बिना काम के नहीं चकराते; आग के बिना धुएं की लकीरें कहां नजर आती हैं ?

विमर्श—आश्वासन में प्रवृत्त सखी के प्रति नायिका द्वारा वसन्तागम का साधन। जिस प्रकार धूमशिखा वह्नि का साधक हेतु है उसी प्रकार भौंरों का आम्रवन में भ्रमण वसन्तागम का साधक है। यहां गाथाकार ने बड़ी कुशलता से आम्रमुकुलों का अग्निसादृश्य और भौंरों का धूमसादृश्य सूचित किया है। नायिका का तात्पर्य यह कि अब आश्वासन से काम चलने वाला नहीं। वसन्त आ गया है, प्रियतम को बुलाने का प्रयत्न कर ॥ ४३ ॥

दइअकरग्गहलुलिओ धम्मिल्लो सीहुगन्धिअं वअणं ।
मअणम्मि एत्तिअं चिअ पसाहणं हरइ तरुणीणं ॥ ४४ ॥
[दयितकरग्रहलुलितो धम्मिलः सीधुगन्धितं वदनम् ।
मदने एतावदेव प्रसाधनं हरति तरुणीनाम् ॥]

प्रिय के करग्रह से छितराया जूरा और मदिरा से बसा हुआ मुंह, मदनोत्सव में तरुणियों का इतना ही प्रसाधन मन हर लेता है।

विमर्श—विदग्ध नायक का वचन, सहचर के यह पूछने पर कि तू अनलङ्कृत अवस्था में ही इसे पसंद करता है ? यहां 'मदन' का प्रयोग वसन्तोत्सव या मदनत्रयोदशी के प्राचीन सामुदायिक उत्सव के अर्थ में प्रयुक्त है। कुलनाथ के अनुसार 'सअणम्मि' पाठान्तर है; 'शयने' अर्थात् 'सेज पर' इस अर्थ में पर्याप्त स्पष्टता है खासकर मदनोत्सव के प्रसंग में सुरतरसिक प्रमदाजनों के लिए सुरत के प्रबन्धक अन्य अलङ्कार शोभा नहीं देते, बस ये ही दोनों प्रसाधन उनकी शोभा के लिए पर्याप्त हैं। करग्रह से बिखरे बालों और मदिरागन्धित मुख में शोभा की यह अनुभूति गाथाकार की अनुपम सौन्दर्य प्रेक्षा का परिचायक है ! किसी अन्य के अवतरण के अनुसार दूती का वचन नायिका के प्रति, कि अलङ्कार की अपेक्षा क्या ? शीघ्र प्रिय का अभिसरण कर ॥ ४४ ॥

गामतरुणीओ हिअअं हरन्ति छेआणँ थणहरिल्लीओ ।
मअणे कुसुम्भरअिअकञ्चुआहरणमेत्ताओ ॥ ४५ ॥
[ग्रामतरुण्यो हृदयं हरन्ति विदग्धानां स्तनभारवत्यः ।
मदने कुसुम्भरागयुक्तकञ्चुकाभरणमात्राः ॥]

मदनोत्सव में कुसुम्भी रङ्ग में रंगे कञ्चुक मात्र आभरण वाली, स्तनों से बोझिल ग्राम-तरुणियां छैलों का दिल चुरा लेती हैं।

विमर्श—वसन्त की स्तुति के प्रसङ्ग में किसी का सहचर के प्रति वचन, कि ग्राम-तरुणियां भी इन दिनों बिना किसी अलंकार के रमणीय हो जाती हैं। प्राचीन कञ्चुक ने आधुनिक चोली का रूप ले लिया है ॥ ४५ ॥

आलोअन्त दिसाओ ससन्त जम्भन्त गन्त रोअन्त।
मुच्छन्त पडन्त खलन्त पहिअ किं ते पउत्थेण ॥ ४६ ॥
[आलोकयन्दिशः श्वसञ्जृम्भमाणो गायन्रुदन्।
मूर्च्छन्पतन्स्खलन्पथिक किं ते प्रवसितेन ॥]

बटोही, कभी दिशाओं को देखता, कभी सांस लेता, कभी जंभाई लेता, कभी गाता, कभी रोता, कभी मूर्च्छित होता, कभी गिरता चलेगा तो तेरे प्रवास करने से क्या लाभ है ?

विमर्श—किसी द्वारा अनभ्यस्तप्रवास पथिक के प्रवासप्रतिषेधार्थ विरह-वैधुर्य की चर्चा। गंगाधर लिखते हैं, चकित होकर दिशाओं को देखता है, प्रिया की याद से सांस लेता है, मदनायास से जंभाई लेता है, दुःख के विनोद के लिए गाता है और फिर निर्वेद के कारण रोने लगता है, प्रिया में एकमात्र आसक्तचित्त होने के कारण मूर्च्छा आदि विकार को प्राप्त करता है; जब कि अभी उसकी यह हालत है, दूर चला जायगा तो न जाने क्या होगी ? ॥४६॥

दट्ठूण तरुणसुरअं विविहविलासेहिँ करणसोहिल्लं।
दीओ वि तग्गअमणो गअं पि तेल्लं ण लक्खेइ ॥ ४७ ॥
[दृष्ट्वा तरुण सुरतं विविधविलासैः करणशोभितम्।
दीपोऽपि तद्गतमना गतमपि तैलं न लक्षयति ॥]

नाना प्रकार के विलासों एवं करणों से शोभित, तरुण-तरुणी सुरत देखकर दीपक भी उसमें इतना रम गया कि समाप्त हुए तेल का उसे ध्यान नहीं रहा !

विमर्श—सखी के यह पूछने पर कि नायक-नायिका के रहस्यवृत्तान्त को छिपकर देखने गई तूने इतनी देर क्यों लगा दी, सखी का उत्तर। विलास अर्थात् आलिङ्गन, चुम्बन आदि नानाविध प्रकार। करण अर्थात् कामशास्त्र में वर्णित विपरीत, उत्तानक, तिर्यक्, उत्थितक आदि आसनबन्ध। जब कि अचेतन होकर दीप भी देखने में रम गया तो सचेतना मैं क्यों न देर लगाती ? कालिदास द्वारा वर्णित अतैलपूर रत्नप्रदीपों में रसिकता की यह बात कहां सम्भव थी, जो नायिका के हाथों से प्रेरित चूर्ण-मुष्टि को विफल बना देने के सामर्थ्य में ही अपनी पूर्णता का पर्यवसान मान लेते हैं ? (मेघ-२-८) ॥४७॥

पुणरुत्तकरप्फालणउहअतडुल्लिहरणवड्ढणसआइं।
जूहाहिवस्स माए पुणो वि जइ णम्मआ सहइ ॥ ४८ ॥

[पुनरुक्तकरास्फालनोभयतटोल्लिखनपीडनशतानि ।
यूथाधिपस्य मातः पुनरपि यदि नर्मदा सहते ॥]

ओ मइया झुण्डपति का दुबारा हाथ का फेरना, दोनों किनारों पर खरोचना, सैकड़ों पीड़ाएं फिर भी नर्मदा यदि सह ले।

विमर्श—दूती द्वारा प्रौढ़ कामिनी को उत्कण्ठित करने के लिए नायक की सुरतमल्लता का अन्यापदेश की शैली में विदग्धतापूर्ण प्रकाशन। अप्रस्तुत यूथपति हाथी है और प्रस्तुत गोष्ठी-नायक है। हाथी अपने शुण्डादण्ड से जल में आस्फालन करता है, नदी के दोनों किनारों को तोड़ता-फोड़ता है, पानी को रोक देता है, इसी प्रकार कामशास्त्रीय कला में विशारद गोष्ठी-नायक भी नायिका की पीठ पर हाथों का आस्फालन, अगल-बगल में नखविलेखन, गाढालिङ्गन आदि सैकड़ों पीड़ाएं प्रदान करता है। नर्मदा अप्रस्तुत में नदी, प्रस्तुत में क्रीड़ानुकूल सुख देने वाली नायिका। फिर इस प्रकार नायक के साथ पीड़ाओं के सहन में नायिका प्रवृत्त हो तो मजा आ जाय। 'मातः' प्रयोग आश्चर्य का सूचक है, जो लोक में 'ओ मइया' के रूप में स्त्रीजनोचित भाषा में प्रयुक्त होता है ॥ ४८ ॥

वोडसुणओ विअण्णो, अत्ता मत्ता, पई वि अण्णत्थो ।
फलिहं व मोडिअं महिसएण, को तस्स साहेउ ॥ ४९ ॥

[दुष्टशुनको विपन्नः श्वश्रूर्मत्ता पतिरप्यन्यस्थः ।
कार्पास्यपि भग्ना महिषकेण कस्तस्य कथयतु ॥]

बौराह कुत्ता बीमार पड़ गया है, सासू पागल हो गई है, मरद दूसरी जगह ठहरा है, भैंसे ने कपास की खेती भी चौपट कर दी, उसे (जाकर) कौन कहे ?

विमर्श—नायिका द्वारा उपनायक को सूचना कि पूर्वसंकेतित कपास के खेत पर न जाकर घर ही पर आ जाय, किसी प्रकार के विघ्न की शङ्का नहीं ॥ ४९ ॥

सकअग्गहरहसुत्ताणिआणणा पिअइ पिअमुहविइण्णं ।
थोअं थोअं रोसोसहं व उअ माणिणी मइरं ॥ ५० ॥

[सकचग्रहरभसोत्तानितानना पिबति प्रियमुखवितीर्णाम् ।
स्तोकं स्तोकं रोषौधमिव पश्य मानिनी मदिराम् ॥]

देखो, प्रिय मानिनी के मुख को कचग्रह द्वारा जोर से ऊपर उठाकर अपने मुंह की मदिरा अर्पित कर रहा है और वह रोष की औषध की भांति उसे धीरे-धीरे पी रही है।

विमर्श—सहचर का वचन, सहचर के प्रति। जिस प्रकार रोगी कड़ी दवा को बहुत धीरे-धीरे जिस-किसी प्रकार पीता है, उसी प्रकार नायिका ने मानवश नायक के अत्यधिक अनुनय करने पर कुछ-कुछ मदिरा को सुड़कते हुए पान किया ॥ ५० ॥

गिरिसोत्तो त्ति भुअंगं महिसो जीहइ लिहइ संतत्तो।
महिसस्स कह्णवत्थरभ्करो त्ति सप्पो पिअइ लालं ॥ ५१ ॥

[गिरिस्रोत इति भुजंगं महिषो जिह्वया लेढि संतप्तः।
महिषस्य कृष्णप्रस्तरभ्कर इति सर्पः पिबति लालाम् ॥]

गर्मी से सन्तप्त भैंसा पहाड़ का झरना समझ कर साँप को जीभ से चाटता है और साँप काले चट्टान से (निकलता पानी का झरना) समझकर भैंसे की लार को पीता है।

विमर्श—ग्रीष्म के मध्याह्न के वर्णन के व्याज से नागरिक का सहचर के प्रति कथन कि आर्त व्यक्ति तत्त्व का विचार नहीं कर पाता। प्रस्तुत में भैंसा और सर्प स्वाभाविक परस्पर वैरी होकर भी सर्वथा वैरभाव से मुक्त होकर तत्त्वज्ञान से विरहित हो गए हैं। इससे ग्रीष्म-मध्याह्न की करालता प्रकट की गई है 'अलङ्कारकौस्तुभ' में भ्रान्तिमान् का उदाहरण ॥ ५१ ॥

पञ्जरसारिं अत्ता ण णेसि किं एत्थ रइहराहिन्तो।
वीसम्भजम्पिआइं एसा लोआणँ पअडेइ ॥ ५२ ॥

[पञ्जरशारीं मातुलानि न नयसि किमत्र रतिगृहात्।
विस्रम्भजल्पितान्येषा लोकानां प्रकटयति ॥]

मामी, तू यहाँ पिंजड़े की मैना को रतिगृह से क्यों नहीं ले जा रही है? यह लोगों के सामने आपस की बातचीत को जाहिर कर देती है।

विमर्श—नायिका का वचन, मातुलानी के प्रति पञ्जर-सारिका के सम्बन्ध में। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में जैसा कि बताया है, प्राचीन मध्ययुगीन साहित्य में शुक-सारिका (तोता-मैना) से प्रायः तीन काम लिए गए हैं (१) कथा के कहनेवाले के रूप में, (२) कथा की गति को अग्रसर करनेवाले संदेशवाहक या प्रेमसम्बन्धघटक के रूप में और (३) कथा के रहस्यों को खोलनेवाले अनपराद्ध भेदिया के रूप में। अन्तिम रूप में सारिका अधिक उपयोगी समझी गई है। 'रत्नावली' नाटिका में सारिका ने प्रस्तुत गाथा की भाँति रहस्य की बात को खोल दिया है। रत्नावली का श्लोक है—

'दुर्वारां मदनव्यथां वहन्त्या कामिन्या यदभिहितं पुरः सखीनाम्।

तद्भूयः शुकशिशुसारिकाभिरुक्तं धन्यानां श्रवणपथातिथित्वमेति' ॥ ५२ ॥

एद्दहमेत्ते गामे ण पडइ भिक्ख त्ति कीस मं भणसि ।
धम्मिअ करञ्जभञ्जअ जं जीअसि तं पि दे बहुअं ॥ ५३ ॥

[एतावन्मात्रे ग्रामे न पतति भिक्षेति न किमिति मां भणसि ।
धार्मिक करञ्जभञ्जक यज्जीवसि तदपि ते बहुकम् ॥]

अरे, करञ्ज का भञ्जक धार्मिक ! 'इतने बड़े गाँव में भीख नहीं पड़ती है यह मुझसे क्यों कहता है ? जो जी रहा है वही तेरे लिए बहुत है !

विमर्श—संकेतस्थान करञ्जकुञ्ज के दन्तधावनादि के लिए तोड़ने वाले धार्मिक को रोकने के लिए डराते हुए कुलटा का वचन। करञ्जकुञ्ज को तोड़ने का एक तो अपराध भी करता है और 'इतने बड़े गाँव में भिक्षा नहीं पड़ती' यह दोष भी लगाता है, यदि लोग तेरी इस चाल को देख लें तो तुझे जीता न छोड़ेंगे, जी रहा है इसे ही ग़नीमत समझ। गाथा में 'भिक्षा न पतति' यह प्रयोग 'लोकोक्ति' प्रतीत होता है, हिन्दी में अब इसका रूपान्तर 'भीख नहीं पड़ती' सुरक्षित है ॥ ५३ ॥

जन्तिअ गुलं विमग्गसि ण अ मे इच्छाइ वाहसे जन्तं ।
अणरसिअ किं ण आणसि ण रसेण विणा गुलो होइ ॥ ५४ ॥

[यांत्रिक गुडं विमार्गयसे न च ममेच्छया वाहयसि यन्त्रम् ।
अरसिक किं न जानासि न रसेन विना गुडो भवति ॥]

अरे कोल्हू चलानेवाला ! गुड़ खोजता है और मेरी इच्छा के अनुसार कोल्हू नहीं चलाता ! अरे अरसिक ! तू क्या नहीं जानता कि रस के विना गुड़ नहीं होता !

विमर्श—वचन के चातुर्य से अनुराग का सूचन करती हुई नायिका का वचन, गुड़ के वेतन पर काम करनेवाले यन्त्रचालक के प्रति। दूसरा अर्थ यह कि सुरतसाधन यन्त्र को मेरी मर्जी के मुताबिक न चलाकर रस अर्थात् अनुराग को जब तक उत्पन्न नहीं करेगा तब तक वेतन के रूप में तुझे गुड़ नहीं दूँगी, यह तुझे मालूम होना चाहिए। 'वज्जालग्ग' में इसकी छाया इस प्रकार है—'यान्त्रिक (मैथुनकर्तर्) गुलं (द्रवीकरणत्वं) विमार्गयसे न च ममेच्छया वहसे यन्त्रं (मैथुनं)। अरसज्ञ किं न जानासि न रसेन (शोभनमैथुनेन) विना गुलो भवति ॥ ५४ ॥

पत्तणिअम्बप्फंसा ण्हाणुत्तिण्णाएँ सामलङ्गीए ।
जलबिन्दुएहिँ चिहुरा रुअन्ति बन्धस्स व भएण ॥ ५५ ॥

[प्राप्तनितम्बस्पर्शा स्नानोत्तीर्णायाः श्यामलाङ्ग्याः।
जलबिन्दुकैश्चिकुरा रुदन्ति बन्धस्येव भयेन ॥]

नहाने के बाद ऊपर आई साँवरे अङ्गोंवाली के बाल नितम्ब का स्पर्श (सुख) पाकर मानों बँध जाने के भय से जलबिन्दुओं के रूप में रो रहे हैं (आँसू बहा रहे हैं)।

विमर्श—सद्यःस्नाता श्यामाङ्गी को देखकर मनचले कामुक का वचन, सहचर के प्रति। नितम्ब का सुख जब उन बालों को प्राप्त हुआ तब वे तत्काल अपने बँध जाने के कारण उस सुख के प्राप्त न होने से दुःखी होकर मानों जलबिन्दुओं के रूप में आँसू बहाने लगे। नायक का गूढ़ अभिप्राय यह कि काश मेरे साथ सुरतासक्त होकर इन बालों को पुनः विमुक्त होकर नितम्बस्पर्श के मजे लेने देती, अथवा जब कि अचेतन बालों को इसके नितम्बस्पर्श का सुख इस प्रकार का प्राप्त हो रहा है कि वे अपने को उस सुख से वञ्चित होने के भय से रुदन करते हैं, तो मुझे कितना सुख प्राप्त होगा, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती ॥ ५५ ॥

गामङ्गणणिअडिअकह्नवक्ख वड तुज्झ दूरमणुलग्गो।
तित्तिल्लपडिक्खकभोइओ वि गामो ण उव्विग्गो ॥ ५६ ॥

[ग्रामाङ्गणनिगडितकृष्ण वट तव दूरमनुलग्नः।
दौः सन्धिकप्रतीक्षकभोगिकोऽपि ग्रामो नोद्विग्नः ॥]

गाँव के सीवान में कृष्णपक्ष की रात को बाँध रखनेवाले हे वटवृक्ष, तेरी छाया में दूरपर्यन्त आश्रित गाँव उद्विग्न नहीं होता, जब कि कामुक लोगों के आदमी मालिक के आने के इन्तजार में भी तैनात रहते हैं।

विमर्श—विट को यह सूचनार्थ कुलटा का वचन, कि गाँव के समीप का वटवृक्ष हमारे अभिसार के योग्य स्थान है। गाथा का तृतीय चरण 'तित्तिल्ल-पडिक्खकभोइओ' की संस्कृत छाया के अनुसार यह अर्थ लगाया गया है कि गाँव के भोगी (सुखी) लोग दौःसाधिक (गाँव के अधिपति) की प्रतीक्षा करनेवाले पुरुषों को वहाँ तैनात कर देते हैं, जिससे उन्हें तुरन्त सूचना मिल जाती है कि दौःसाधिक पकड़-धकड़ के लिए पहुंच रहा है अथवा नहीं। इस चरण के विभिन्न पाठान्तर भी विचारणीय हैं ॥ ५६ ॥

सुप्पं डड्ढं चणआ ण भज्जिआ सो जुआ अइक्कन्तो।
अत्ता वि घरे कुविआ भूआणँ व वाइओ वंसो ॥ ५७ ॥

[शूर्पं दग्धं चणका न भृष्टाः स युवातिक्रान्तः।
श्वश्रूरपि गृहे कुपिता भूतानामिव वादितो वंशः ॥]

सूप जल गया, चने न भूंज पाई, वह जवान भी निकल गया, घर में सासू जी खिसिया गई हैं, मानों उसने बहरों के आगे बाँसरी बजाई।

विमर्श—सपत्नी द्वारा पति को सपत्नी के दुश्चरितों की सूचना। काम में इस तरह असावधानी रखती है कि एक सूप था, सो भी जल गया, तुम्हारे लिए चना भूंजने लगी तो न भूंज पाई, पता नहीं, कौन जवान था, जिसे देखने के लिए निकली, तो वह भी निकल गया घर में सासूजी इसकी हरकतों से तंग आ गई हैं, इसका यह सब कुछ बहरों के आगे बाँसरी बजाने के समान हुआ, अर्थात् इसके सारे प्रयत्न बेकार गए। प्राकृत 'भूअ' यह 'बधिर' के अर्थ में देशी शब्द है। निश्चय ही इस गाथा में कवि ने ग्राम्य-जीवन के चलतू प्रयोग को उतार लिया है॥ ५७॥

पिसुणन्ति कामिणीणं जललुक्कपिआवऊहणसुहेल्लिं।
कण्डइअकवोलुप्फुल्लणिच्चलच्छीइँ वअणाइं॥ ५८॥

[पिशुनयन्ति कामिनीनां जलनिलीनप्रियावगूहनसुखकेलिम्।
कण्टकितकपोलोत्फुल्लनिश्चलाक्षीणि वदनानि॥]

कामिनियों के रोमाञ्चित गालों और विकसित एवं निश्चल आंखों वाले मुखड़े पानी में लुके प्रियतम के आलिङ्गनों की सुखकेलि की चुगली खाते हैं।

विमर्श—नागरिक का वचन, सहचर के प्रति कि विदग्ध लोग छिपी बात को भी समझ लेते हैं। सं० कण्ठाभरण में भोज का कहना है, कि इस गाथा में ग्रीष्मकालीन क्रीड़ा वर्णित है (५।३१८)॥ ५८॥

अहिणवपाउसरसिएसु सोँहइ साआइएसु दिअहेसु।
रहसपसारिअगीवाणँ णच्चिअं मोरवुन्दाणं॥ ५९॥

[अभिनवप्रावृड्रसितेषु शोभते श्यामायितेषु दिवसेषु।
रभसप्रसारितग्रीवाणां नृत्यं मयूरवृन्दानाम्॥]

नई पावस की गरज-तरज-भरे, अंधियारे दिनों में खुशी से गर्दन फैलाए मोरों का नृत्य शोभा देता है।

विमर्श—वर्षा की प्रशंसा के बहाने कुलटा का वचन जार के प्रति कि वनमयूरों से शोभित संकेतित लतागृह तक मैं गई परन्तु तू नहीं गया। अथवा दूती द्वारा यह सूचना कि संकेत स्थान दिन में ही अभिसार के योग्य है! 'साहित्यदर्पण' में इस गाथा को इस प्रकार पढ़ा गया है—

'अहिणअपओअरसिएसु पहिअसामाइएसु दिअहेसु।
रहसपसारिअगीआणं णच्चिजं मोरावन्दाणं॥ ५९॥

महिसक्खन्धविलग्गं घोलइ सिङ्गाहअं सिमिसिमन्तं ।
आहअवीणाझंकारसद्दमुहलं मसअवुन्दं ॥ ६० ॥

[महिषस्कन्धविलग्नं घूर्णते शृङ्गाहतं सिमसिमायमानम् ।
आहतवीणाझंकारशब्दमुखरं मशकवृन्दम् ॥]

भैंसे के कंधे पर लगे, सींग से आहत होकर सिम-सिम की आवाज करते हुए मच्छड़ बजाई हुई वीणा के झंकार शब्द की भांति मुखर होकर घूमते हैं।

विमर्श—नायिका द्वारा गोठ के दोष को गुण के रूप में वर्णन (गङ्गाधर)। इस गाथा की नायिका अपना वीणावादनकौशल ध्वनित करती है (साधारणदेव) ॥ ६० ॥

रेहन्ति कुमुअदलणिच्चलट्ठिआ मत्तमहुअरणिहाआ ।
ससिअरणीसेसपणासिअस्स गण्ठि व्व तिमिरस्स ॥ ६१ ॥

[राजन्ते कुमुददलनिश्चलस्थिता मत्तमधुकरनिकायाः ।
शशिकरनिःशेषप्रणाशितस्य ग्रन्थय इव तिमिरस्य ॥]

कुमुद के दलों पर निश्चल होकर बैठे मतवाले भौंरे चन्द्र की किरणों द्वारा निःशेष नष्ट किए गए अंधकार की ग्रन्थियों की भाँति लगते हैं।

विमर्श—कुलटा को यह सुनाते हुए किसी का वचन, कि मैं कुमुद-सरोवर के तीर के लतागृह में चन्द्रोदयपर्यन्त ठहरा, किन्तु तू न गई। 'अपह्नुति' अलंकार ॥ ६१ ॥

उअह तरुकोडराओ णिक्कन्तं पुंसुआणँ रिञ्छोलिं ।
सरिए जरिओ व्व दुमो पित्तं व्व सलोहिअं वमइ ॥ ६२ ॥

[पश्यत तरुकोटरान्निष्क्रान्तां पुंशुकानां पङ्क्तिम् ।
शरदि ज्वरित इव द्रुमः पित्तमिव सलोहितं वमति ॥]

पेड़ के खोढ़ले से निकली सुग्गों की पांत को देखो, मानों शरत्काल में ज्वरग्रस्त की भांति वृक्ष रक्त के साथ पित्त को वमन करता है।

विमर्श—सुरत में त्वरा करनेवाले जार को अन्यमनस्क करने के लिए शालिगोपी का वचन ॥ ६२ ॥

धाराधुव्वन्तमुहा लम्बिअवक्खा णिउञ्चिअग्गीवा ।
वइवेढनेसु काआ सूलाहिण्णा व्व दीसन्ति ॥ ६३ ॥

[धाराधाव्यमानमुखा लम्बितपक्षा निकुञ्चितग्रीवाः ।
वृतिवेष्टनेषु काकाः शूलाभिन्ना इव दृश्यन्ते ॥]

घर के घेरों पर (बैठे) कौवे शूल से भिदे हुए जैसे लगते हैं, उनका मुख जलधाराओं से धुल रहा है, अपने पांख फैला दिए हैं और गर्दन को सिकोड़ लिया है।

विमर्श—दुर्दिनाभिसारिका का वचन, रमणकार्य में त्वरा करते हुए उपपति के प्रति, कि अभी दुर्दिन ठहरेगा, जल्दीबाजी की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उसके ठहरने के लक्षण अभी दिखाई पड़ रहे हैं। अथवा, पत्नी का वचन, प्रवास के निषेधार्थ पति के प्रति, कि कौवे इस प्रकार चुप हैं तो अपशकुन है, अन्यथा आवाज करते। अथवा, दूती का वचन अभिसार के निषेधार्थ नायिका के प्रति ॥ ६३ ॥

ण वि तह अणालवन्ती हिअअं दूमेइ माणिणी अहिअं।
जह दूरविअम्भिअगरुअरोसमज्झत्थभणिएहि ॥ ६४ ॥

[नापि तथा नालपन्ती हृदयं दुनोति मानिन्यधिकम्।
यथा दूरविजृम्भितगुरुकरोषमध्यस्थभणितैः ॥]

मानिनी बातें न करती है तो उतना अधिक हृदय को नहीं दुखाती, जितना कि लंबी जंभाई और भारी रोष के साथ उदासीन बातों से दुखाती है।

विमर्श—कलहान्तरिता सखी के शिक्षणार्थ वचन। तात्पर्य यह कि प्रिय के प्रति उदासीन की भांति निष्ठुर वचन न बोलने चाहिए। गङ्गाधर ने इस अवतरण को देते हुए मातृगुप्ताचार्य के इस वचन को उद्धृत किया है—

'निष्ठुराणि न वक्तव्यो नातिक्रोधं च दर्शयेत्।
न वाक्यैर्वाच्यसंमिश्रैरुपालभ्यो मनोरमः ॥

परन्तु सरस्वती कण्ठाभरण में इस गाथा को यत्नापनेयमाना धीरा के प्रसङ्ग में उदाहृत किया है ॥ ६४ ॥

गन्धं अग्घाअन्तअ पक्ककलम्बाणँ वाहभरिअच्छ।
आससु पहिअजुआणअ घरिणिमुहं मा ण पेच्छिहिसि ॥ ६५ ॥

[गन्धमाजिघ्रन्पक्वकदम्बानां बाष्पभृताक्ष।
आश्वसिहि पथिकयुवन् गृहिणीमुखं मा न प्रेक्षिष्यसे ॥]

युवक बटोही, पके कदम्बों की गन्ध सूंघता हुआ, बाष्प से भरी आंखों वाला, तू धीरज रख। घरनी का मुंह नहीं देखेगा, ऐसा मत मान।

विमर्श—बरसात के कष्टों की सम्भावना से पत्नी को मृत अनुमान करके रुदन करते हुए युवक पथिक को किसी अनुभवी द्वारा सान्त्वना। पथिक के अनुमान का आधार कदम्बों का पक जाना है, अर्थात् बरसात बहुत दिनों से वर्तमान है, इसी कारण कदम्ब के फूल इस अवस्था तक पहुंच गए हैं।

इसलिए निश्चय ही पत्नी विरह के कष्टों को सह न पाकर मर चुकी होगी। परन्तु अनुभवी की सान्त्वना का तात्पर्य यह है कि तू उत्कण्ठाकातर होकर ऐसा सोच रहा है, तू नादान है, मेरी बात पर विश्वास करके धीरज रख ॥ ६५ ॥

गज्ज महं चिअ उवरिं सव्वत्थामेण लोहहिअअस्स ।
जलहर लम्बालइअं मा रे मारेहिसि वराइं ॥ ६६ ॥
[गर्ज ममैवोपरि सर्वस्थाम्ना लोहहृदयस्य ।
जलधर लम्बालकिकां मा रे मारयिष्यसि वराकीम् ॥]

अरे जलधर, लोहे के दिल वाले मेरे ऊपर ही सारा जोर लगाकर गरज, लम्बी अलकों वाली उस बेचारी को मत मारना।

विमर्श—पथिक का वचन, प्रियतमा के मरण की आशङ्का से मेघ के प्रति। मेरा हृदय लोहे का बना है, क्योंकि मैंने जान-बूझकर उस बेचारी को विरह की आग में झोंक दिया है। अतः उसके प्रति सारा कोप मुझ पर ही उतार। तेरा कोप उसके प्रति स्वाभाविक है, क्योंकि उसके कृष्णवर्ण केशकलाप को देखकर तू जलता है। वह विरहिणी है, अतः दयनीय है ॥ ६६ ॥

पङ्कमइलेण छीरेक्कपाइणा दिण्णजाणुवडणेण ।
आनन्दिज्जइ हलिओ पुत्तेण व सालिछेत्तेण ॥ ६७ ॥
[पङ्कमलिनेन क्षीरैकपायिना दत्तजानुपतनेन ।
आनन्द्यतेहालिकः पुत्रेणेव शालिक्षेत्रेण ॥]

पांक से मैले, एकमात्र दूध पीने वाले, घुटने तक बढ़कर गिरे हुए, पुत्र की भांति धान के खेत से हलवाहा आनन्दित होता है।

विमर्श—नायिका द्वारा नायक को अभिसार योग्य शालिक्षेत्र की अन्यापदेश से सूचना। धान का खेत (शालिक्षेत्र) पांक से मलिन, तण्डुलारम्भ की अवस्था में 'क्षीर' रूप जल का पान करनेवाला, तथा घुटने तक बढ़कर गिरी फसल वाला हो जाता है ॥ ६७ ॥

कहँ मे परिणइआले खलसङ्गो होहिइ त्ति चिन्तन्तो ।
ओणअमुहो ससूओ रुवइ व साली तुसारेण ॥ ६८ ॥
[कथं मे परिणतिकाले खलसङ्गो भविष्यतीति चिन्तयन् ।
अवनतमुखः सशूको रोदितीव शालिस्तुषारेण ॥]

'क्या मेरे पक जाने पर खल (दुष्ट; खलिहान) से साथ होगा' यह चिन्ता करता हुआ, मुंह झुकाए, शूक (सूआ; शोक) से युक्त शालि ओस के ब्याज से मानों रो रहा है।

विमर्श—जार को यह सुनाते हुए कि प्रातःकाल ही मैं संकेतस्थान शालिक्षेत्र पर गई थी, पर तू न गया, नीहाराभिसारिका का वचन, कि शालि भी खल के संयोग से उद्वेग अनुभव करता है (गङ्गाधर)। पक जाना अर्थात् तरुणाई की अवस्था। शालि अपने फलभार से सिर झुका लेता है ॥ ६८ ॥

संझाराओत्थइओ दीसइ गअणम्मि पडिवआचन्दो।
रत्तदुऊलन्तरिओ थणणहलेहो व्व णववहुए ॥ ६९ ॥

[संध्यारागावस्थगितो दृश्यते गगने प्रतिपच्चन्द्रः।
रक्तदूकूलान्तरितः स्तननखलेख इव नववध्वाः ॥]

आकाश में संध्या की लाली से ढंका प्रतिपदा का चन्द्र लाल दुकूल से ढंके नववधू के स्तन पर के नखचिह्न की भाँति दिखाई दे रहा है।

विमर्श—अभिसार के स्थान पर जाने के लिए प्रदोषाभिसारिका को त्वरित करती हुई दूती द्वारा प्रदोष का वर्णन। 'अलङ्कारकौस्तुभ' में बिम्बप्रतिबिम्बभाव का उदाहरण ॥ ६९ ॥

अइ दिअर किं ण पेच्छसि आआसं किं मुहा पलोएसि।
जाआइ बाहुमूलम्मि अद्धअन्दाणँ परिवाडिं ॥ ७० ॥

[अयि देवर किं न प्रेक्षसे आकाशं किं मुधा प्रलोकयसि।
जायाया बाहुमूलेऽर्धचन्द्राणां परिपाटीम् ॥]

ऐ देवर जी, आकाश में व्यर्थ क्यों देखते हो ? पत्नी के बाहुमूल में अर्धचन्द्रों की कतार पर क्यों नजर नहीं डालते ?

विमर्श—भाभी का परिहास, देवर के प्रति। अर्धचन्द्र अर्थात् नखक्षत के होने से उत्पन्न अर्धचन्द्र की आकृतियां। तात्पर्य यह कि प्रियतमा का गोपनीय समागम भी मैंने विदग्धता से जान लिया। सरस्वतीकण्ठाभरण में स्त्रीकृत परिहास में उदाहृत। काव्यानुशासन के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार का उदाहरण ॥ ७० ॥

वाआइ किं भणिज्जउ केत्तिअमेत्तं व लिक्खए लेहे।
तुह विरहे जं दुक्खं तस्स तुमं चेअ गहिअत्थो ॥ ७१ ॥

[वाचया किं भण्यतां कियन्मात्रं वा लिख्यते लेखे।
तव विरहे यद्दुःखं तस्य त्वमेव गृहीतार्थः ॥]

वचन से क्या कहा जाय अथवा लेख में कितना लिखा जाय, तुम्हारे विरह में जो दुःख है, तुम्हीं उसके समझने वाले हो।

विमर्श—प्रोषितभर्तृका का सन्देश-वचन, प्रियतम के समीप जानेवाले पथिक के प्रति ॥ ७१ ॥

मअणग्गिणो व्व धूमं मोहणपिच्छिं व लोअदिट्ठीए ।
जोव्वणधअं व मुद्धा वहइ सुअन्धं चिउरभारं ॥ ७२ ॥
[मदनाग्नेरिव धूमं मोहनपिच्छिकामिव लोकदृष्टेः ।
यौवनध्वजमिव मुग्धा वहति सुगन्धं चिकुरभारम् ॥]

मुग्धा सुगन्धित चिकुरभार को (हृदय में प्रज्वलित) मदनाग्नि के धूम की भांति, लोगों की दृष्टि को मोह लेने वाली (जादूगर की) पिच्छिका की भाँति, एवं यौवन के ध्वज की भाँति धारण करती है ।

विमर्श—नायिका के प्रति साभिलाष नायक द्वारा उसके केशपाश का वर्णन ॥ ७२ ॥

रूअं सिट्ठं चिअ से असेसपुरिसे णिअत्तिअच्छेण ।
वाहोल्लेण इमीए अजम्पमाणेण वि मुहेण ॥ ७३ ॥
[रूपं शिष्टमेव तस्याशेषपुरुषे निवर्तिताक्षेण ।
वाष्पार्द्रेणास्या अजल्पतापि मुखेन ॥]

इसके मुख ने अशेष पुरुषों से आंखें मोड़कर एवं बाष्प से आर्द्र होकर, विना कुछ कहते हुए भी उस (नायक) का रूप बयान कर दिया ।

विमर्श—नायिका से सखी के यह पूछने पर कि जिसमें तू अनुरक्त है उसका रूप वर्णन कर, अन्य सखी का वचन । नायक के अतिरिक्त अशेष पुरुषों से आंखें मोड़ लेने से ही जाहिर हो जाता है कि वह कोई बेहद खूबसूरत जवान होगा और स्मरणजनित उत्कण्ठा के कारण इसके बाष्पार्द्र नेत्र उसके प्रति इसके अनन्यभाव के भी सूचक हैं ॥ ७३ ॥

रुन्दारविन्दमन्दिरमअरन्दाणन्दिआलिरिञ्छोली ।
झणझणइ कसणमणिमेहल व्व महुमासलच्छीए ॥ ७४ ॥
[बृहदरविन्दमन्दिरमकरन्दानन्दितालिपंक्तिः ।
झणझणायते कृष्णमणिमेखलेव मधुमासलक्ष्म्याः ॥]

बृहत् कमल-भवनों में मकरन्द से आनन्दित भ्रमरपंक्ति वसन्तलक्ष्मी की कृष्णमणिनिर्मित मेखला की भांति झनझना रही है ।

विमर्श—प्रिय के साथ क्रीडारस में प्रभात होने की खबर न रखनेवाली सखी के प्रतिबोधनार्थ सखी द्वारा प्रभातवर्णन (गङ्गाधर) । किसी के अनुसार उद्दीपन-विभाव के प्रतिपादन से संकेतस्थान की स्तुति के तात्पर्य से दूती का वचन ॥ ७४ ॥

कस्स करो बहुपुण्णप्फलेक्कतरुणो तुहं विसम्मिहइ ।
थणपरिणाहे मम्महणिहाणकलसे व्व पारोहो ।। ७५ ।।
[कस्य करो बहुपुण्यफलैकतरोस्तव विश्रमिष्यति ।
स्तनपरिणाहे मन्मथनिधानकलश इव प्ररोहः ।।]

बहुत पुण्य रूप फलों के एकमात्र वृक्ष के नवपल्लव (प्ररोह) की भांति किसका हाथ तेरे कामदेव के निधान-कलश विशाल स्तन पर विश्राम लेगा ?

विमर्श—कामुक का वचन, कामिनी के प्रति। शकुन और शोभा के लिए स्थापित कलश के ऊपर नये पल्लव रखे जाते हैं, गाथाकार ने इसी आचार को प्रस्तुत ढंग के चमत्कारी रूप में ढालकर अलौकिकता भर दी है। वक्ता का तात्पर्य है कि वह आदमी बड़ा ही पुण्यवान् होगा जिसका हाथ रूपी नवपल्लव तुम्हारे विशाल स्तन पर विश्राम करके अन्यत्र फिर चलने के लिए प्रयत्नशील न होगा, अर्थात् संसार में तुमसे अधिक सौन्दर्यशालिनी का मिलना सम्भव ही न होगा, जिससे उसकी इस प्रवृत्ति में बाधा होगी। 'निधानकलश' का संकेत यह है कि धन की खोज करनेवाला हाथ जिस प्रकार खजाने के कलश को पाकर रुक जाता है, उसी प्रकार वह भी रुक जायगा। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में अनूढा कुमारी के प्रसङ्ग में उदाहृत गाथा ।। ७५ ।।

चोरा सभअसतह्हं पुणो पुणो पेसअन्ति दिट्ठीओ ।
अहिरक्खिअणिहिकलसे व्व पोढवइआथणुच्छङ्गे ।। ७६ ।।
[चोराः सभयसतृष्णं पुनः पुनः प्रेषयन्ति दृष्टीः ।
अहिरक्षितनिधिकलश इव प्रौढपतिकास्तनोत्सङ्गे ।।]

सर्प से रक्षित निधिकलश की भांति जबर पतिवाली स्त्री के स्तन-पृष्ठ पर चोर (कामुक) भय और तृष्णा के सहित बार-बार नजरों को लपकाते हैं।

विमर्श—नागरिक का वचन, सहचर के प्रति, कि जो जिस वस्तु को चाहता है उसे वह विघ्नसहित होने पर भी अपना मन उसकी ओर से नहीं लौटाता है (गङ्गाधर)। प्राचीन काल में यह धारणा प्रचलित थी कि निधि को सर्पराज रक्षा करते हैं, एक ओर तो निधि के प्रति मन की लोलुपता दूसरी ओर सर्पराज का त्रास जिस प्रकार चोर के मन को उद्वेलित करते हैं, वह निधि को हाथ से न पकड़ पाकर अपनी नजरों को ही वहां पहुँचाता है, ठीक वही दशा मानों किसी जबरदस्त पति वाली स्त्री के स्तनपृष्ठ को पकड़ने के लिए

प्रयत्नशील प्रौढ़ कामुक की होती है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के अनुसार भय और अनुराग की संकर अवस्था होने पर भी यहां 'उपमा' अलङ्कार का ही प्राधान्य है ॥ ७६ ॥

उव्वहइ णवतणङ्कुररोमञ्चपसाहिआइँ अंगाइँ।
पाउसलच्छीअ पओहरेहिँ परिपेल्लिओ विञ्झो ॥ ७७ ॥

[उद्वहति नवतृणाङ्कुररोमाञ्चप्रसाधितान्यङ्गानि।
पावृड्लक्ष्म्याः पयोधरैः परिप्रेरितो विन्ध्यः ॥]

विन्ध्य पर्वत पावसलक्ष्मी के पयोधरों (मेघों, पक्ष में स्तनों) से परिप्रेरित होकर नये तृणांकुरों के रोमाञ्च से प्रसाधित अङ्गों को धारण करता है।

विमर्श—वर्षावर्णन के व्याज से नायिका द्वारा नायक की परदेश यात्रा निवारणार्थ प्रयत्न। नायक भी नायिका के स्तनों से संस्पृष्ट होकर रोमाञ्चित हो जाता है। तात्पर्य यह कि इस समय जब कि अचेतन विन्ध्यपर्वत भी रसिकता करने पर तुला है और सचेतन होकर तुम इस भरी बरसात में प्रवास करने के लिए तैयार हो! सरस्वतीकण्ठाभरण में भोज के अनुसार विन्ध्यगत रतिभाव के वर्णन रति के गौणविषयक होने से यह रसाभास का उदाहरण है। 'अलङ्कारकौस्तुभ' में रूपक अलङ्कार का उदाहरण ॥ ७७ ॥

आम बहला वणाली मुहला जलरङ्कुणो जलं सिसिरं।
अण्णणईणँ वि रेवाइ तह वि अण्णे गुणा के वि ॥ ७८ ॥

[सत्यं बहला वनाली मुखरा जलरङ्कवो जलं शिशिरम्।
अन्यनदीनामपि रेवायास्तथाप्यन्ये गुणाः केऽपि ॥]

ठीक है कि अन्य नदियों की भी वनपंक्ति विस्तृत है, जलपक्षी मुखर हैं और पानी शीतल है, तथापि रेवा के गुण कुछ और ही हैं!

विमर्श—अन्यापदेश से प्रियतमा के गुण की प्रशंसा, प्रिय सुहृद के प्रति। गाथा का अन्यार्थ में अनुरणन यह कि अन्य महिलाएँ भी खूब फैली हुई साड़ी पहनती हैं, उनके भी नूपुर मुखर रहते हैं तथा उनका भी अंगस्पर्श पर्याप्त निर्वापक होता है, मगर मेरी प्रियतमा की बात कुछ और है। किसी के अनुसार नायक के प्ररोचनार्थ दूती का वचन ॥ ७८ ॥

एइ इमीअ णिअच्छइ परिणअमालूरसच्छहे थणए।
तुङ्गे सप्पुरिसमणोरहे व्व हिअए अमाअन्ते ॥ ७९ ॥

[आगच्छतास्या निरीक्षध्वं परिणतमालूरसदृशौ स्तनौ।
तुङ्गौ सत्पुरुषमनोरथाविव हृदये अमान्तौ ॥]

आओ और देखो पके बेल के सदृश इसके स्तन सत्पुरुष के उन्नत मनोरथों की भांति हृदय में नहीं अंट रहे हैं।

विमर्श—कामुक नायक द्वारा नायिका का कुचवर्णन, मित्र से। हृदय अर्थात् वक्ष में नहीं अंट रहे हैं, बाहर निकले जाते हैं। सज्जन के मनोरथ हृदय के भीतर नहीं रहते, छलरहित होने के कारण उसके हृदय से बाहर आ जाते हैं। मतलब यह कि बहुत तरह से जब्त करने पर भी इसे पाने की ख्वाहिश दिल के बाहर निकली जा रही है ॥ ७९ ॥

हत्थाहत्थि अहमहमिआइ वासागमम्मि मेहेहिं।
अव्वो किं पि रहस्सं छण्णं पि णहङ्गणं गलइ ॥ ८० ॥

[हस्ताहस्ति अहमहमिकया वर्षागमे मेघैः।
आश्चर्यं किमपि रहस्यं छन्नमपि नभोङ्गणं गलति ॥]

बरसात की शुरूआत में हम-हम करके हाथों-हाथ मेघों से ढँका भी आसमान का आंगन; ओहो, गिरा जा रहा है, यह कोई रहस्य है !

विमर्श—प्रिय के आनयनार्थ नायिका द्वारा वर्षाकाल में विरह वेदना की सूचना सखी के प्रति ॥ ८० ॥

केत्तिअमेत्तं होहिइ सोहग्गं पिअअमस्स भमिरस्स।
महिलामअणछुहाउलकडक्खविक्खेवघेप्पन्तं ॥ ८१ ॥

[कियन्मात्रं भविष्यति सौभाग्यं प्रियतमस्य भ्रमणशीलस्य।
महिलामदनक्षुधाकुलकटाक्षविक्षेपगृह्यमाणम् ॥]

घूमघाम करनेवाले प्रिय का महिलाओं के कामक्षुधा से आकुल कटाक्ष-विक्षेप से वश में किया जाता हुआ सौभाग्य कितना होगा ?

विमर्श—पति को उद्देश्य करके गुणगर्विता नायिका का वचन, सखी के प्रति। वह एक में अनुराग करनेवाला नहीं है, घूमघाम करने की प्रवृत्ति रखता है। उसका यह सौभाग्य कि वह बहुत-सी काम-क्षुधा से पीड़ित महिलाओं के कटाक्ष-विक्षेप के अधीन है, कब तक टिका रहेगा ? सत्य प्रेम करनेवाली मेरे आगे उन महिलाओं का कृत्रिम प्रेम कबतक टिकेगा ? एक न एक दिन वह अवश्य मेरे अनुकूल होगा ॥ ८१ ॥

णिअघणिअं उवऊहसु कुक्कुडसद्देन झत्ति पडिबुद्ध।
परवसइवाससङ्किर णिअए वि घरम्मि, मा भासु ॥ ८२ ॥

[निजगृहिणीमुपगूहस्व कुक्कुटशब्देन झटिति प्रतिबुद्ध।
परवसतिवासशङ्किन्निजकेऽपि गृहे मा भैषीः ॥]

मुर्गे की आवाज से झट जगा हुआ, दूसरे के घर की शङ्का करनेवाला तू अपनी घरनी को आलिङ्गन कर अपने भी घर में मत डर।

विमर्श—नायिका का उपालम्भवचन, प्रातःकाल होते ही पराये घर से भाग निकलने के अभ्यासी परनारीलम्पट पति के प्रति। अपने अभ्यास के अनुसार अपने घर में भी प्रातःकाल मुर्गे की आवाज सुनकर भाग पड़ने के लिए उतावला हो गया। नायिका का तात्पर्य है कि ऐसे लम्पट भी तुझमें मेरा प्रणय स्थिर भाव से विद्यमान है? मूल गाथा में प्रयुक्त 'गृहिणी' के स्थान पर 'धणिअं' पाठ विचारणीय है। यह अपनी भार्या के अर्थ में प्रयुक्त देशी शब्द है। ऐसा लगता है कि संस्कृत 'धन्या' शब्द प्राचीन काल में सौभाग्यवती स्त्री के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त होता था; जिसका संकेत विशाखदत्त-प्रणीत 'मुद्राराक्षस' के प्रथम मंगलाचरण के श्लोक में मिलता है—'धन्या केयं स्थिता ते०' इत्यादि। इसी 'धन्या' का प्रस्तुत ग्राम्य प्रयोग 'धनिआ' है। 'धन्या' न होकर भी नायिका का अपने को 'धन्या' कहना उसके उपालम्भ को और भी मार्मिक बना देता है! ॥ ८२ ॥

खरपवणरअगलत्थिअगिरिऊडावडणभिण्णदेहस्स।
धुक्काधुक्कइ जीअं व विज्जुआ कालमेहस्स ॥ ८३ ॥

[खरपवनरयगलहस्तितगिरिकूटापतनभिन्नदेहस्य।
धुकधुकायते जीव इव विद्युत्कालमेघस्य ॥]

तेज हवा के वेग से धकियाए गए और पहाड़ की चोटी से गिरने के कारण छितराए अंगों वाले श्याममेघ के प्राण की भांति बिजली धुकधुका रही है।

विमर्श—मेघदर्शन से सन्तप्त प्रोषितपतिका का वचन, सखी के प्रति। अर्थात् मेरे प्राण विरहजनित व्यथा के कारण कण्ठ में आ गए हैं। मेरा जीवित रहना मुश्किल है। अथवा, प्रिय को अन्यमनस्क करने के लिए दुर्दिनाभिसारिका का वचन (गङ्गाधर)। श्वासकम्प या धक्के के अर्थ में 'धुकधुकाना' प्रयोग हिन्दी में प्रचलित है ॥ ८३ ॥

मेहमहिसस्स णज्जइ उअरे सुरचावकोडिभिण्णस्स।
कन्दन्तस्स सविअणं अन्तं व पलम्बए विज्जू ॥ ८४ ॥

[मेघमहिषस्य ज्ञायते उदरे सुरचापकोटिभिन्नस्य।
क्रन्दतः सवेदनमन्त्रमिव प्रलम्बते विद्युत् ॥]

इन्द्रधनुष की नोंक से फाड़ दिए गए, आर्तनाद करते मेघ रूपी भैंसे की आंत की भांति बिजली लटक रही है।

विमर्श—उपर्युक्त गाथा के अनुसार इसका भी अवतरण ज्ञातव्य है। काले मेघ पर भैंसे का आरोप करके बिजली की उसके आंत के रूप में सम्भावना की गई है। प्रस्तुत गाथा में प्रसिद्ध महिषासुर के वध की कथा का संकेत महसूस करके गाथासप्तशती के काल-निर्णय के सम्बन्ध का तर्क अनुपयुक्त है, इन्द्रधनुष के द्वारा महिष का वध का संकेत मात्र देवी द्वारा महिषासुर के वध के साथ संघटित नहीं होता, तथा इन्द्र और वृत्र के युद्ध से भी इस गाथा का जोड़ना कोई महत्त्व नहीं रखता ॥ ८४ ॥

णवपल्लवं विसण्णा पहिआ पेच्छन्ति चूअरुक्खस्स ।
कामस्स लोहिउप्पङ्कराइअं हत्थभल्लं व ॥ ८५ ॥

[नवपल्लवं विषण्णाः पथिकाः पश्यन्ति चूतवृक्षस्य ।
कामस्य लोहितसमूहराजितं हस्तभल्लमिव ॥]

दुखियारे बटोही आम्रवृक्ष के नये पल्लव को रक्त-समूह से चमकते कामदेव के हाथ के भाले के समान देखते हैं।

विमर्श—प्रिय के प्रवासगमन के निषेधार्थ नायिका द्वारा वसन्त के प्रवासी विरहियों के कष्टप्रद होने की सूचना। यहां 'उप्पङ्क' शब्द 'समूह' के अर्थ में देशी प्रयोग है ॥ ८५ ॥

महिलाणं चिअ दोसो जेण पवासम्मि गव्विआ पुरिसा ।
दोतिण्णि जाव ण मरन्ति ता ण विरहा समप्पन्ति ॥ ८६ ॥

[महिलानामेव दोषो येन प्रवासे गर्विताः पुरुषाः ।
द्वे तिस्रो यावन्न म्रियन्ते तावन्न विरहाः समाप्यन्ते ॥]

यह महिलाओं का ही दोष है जिससे पुरुष प्रवास में गर्व रखते हैं, जब तक दो-तीन मर नहीं जाती हैं, तब तक विरह समाप्त होने वाले नहीं।

विमर्श—नायक के परदेश-गमन के निवारणार्थ निपुणा नायिका का वचन, सखी के प्रति। तात्पर्य यह कि तुम्हारे परदेश जाने पर विरहव्यथा के कारण मेरी मृत्यु निश्चित है ॥ ८६ ॥

बालअ दे वच्च लहुं मरइ वराई अलं विलम्बेण ।
सा तुज्झ दंसणेण वि जीवेज्जइ णत्थि संदेहो ॥ ८७ ॥

[बालक हे व्रज लघु म्रियते वराकी अलं विलम्बेन ।
सा तव दर्शनेनापि जीविष्यति नास्ति सन्देहः ॥]

हे नासमझ, जल्द जा, बेचारी मरी जा रही है, देर ठीक नहीं, सन्देह नहीं कि वह तेरे दर्शन से भी जी जायगी।

विमर्श—दूती द्वारा नायिका के समीप शीघ्र पहुंचने के लिए नायक को प्रेरणा और नहीं तो उसे सिर्फ अपना दर्शन भी दे दे तो उस बेचारी के प्राण बच जायंगे, इसमें सन्देह नहीं। 'नासमझ' (बालक) इसलिए कि उसके प्रणय में इस अवस्था तक पहुंची भी उसे अब तक नहीं समझा ॥ ८७ ॥

तम्मिरपसरिअहुअवहजालालिपलीविए वणाहोए।
किंसुअवणन्ति कलिऊण मुद्धहरिणो ण णिक्कमइ ॥ ८८ ॥
[ताम्रवर्णप्रसृतहुतवहज्वालावलिप्रदीपिते वनाभोगे।
किंशुकवनमिति कलयित्वा मुग्धहरिणो न निष्क्रामति ॥]

ताम्रवर्ण की फैली आग की लपटों से वन-प्रदेश के प्रदीप्त हो जाने पर भोला हिरन 'परास का जंगल' समझकर नहीं निकलता है।

विमर्श—अन्यापदेश से सहचर को शिक्षा। प्रकृत में, परललनालम्पट ! तू बाहर का दिखावा करने वाले—'पयोमुख विषकुम्भ' व्यक्तियों से घिरा होकर अपने भोलापन के कारण अपने सौभाग्य पर इतराता है, तुझे पता नहीं कि यह तेरे लिए अनिष्टकर स्थिति उपस्थित है ॥ ८८ ॥

णिहुअणसिप्पं तह सारिआइ उल्लाविअं म्ह गुरुपुरओ।
जह तं वेलं माए ण आणिमो कत्थ वच्चामो ॥ ८९ ॥
[निधुवनशिल्पं तथा शारिकयोल्लपितमस्माकं गुरुपुरतः।
यथा तां वेलां मातर्न जानीमः कुत्र व्रजामः ॥]

ओ मा ! मैनी ने बड़े लोगों के आगे हमारे रति-विलास का वर्णन इस प्रकार किया कि उस समय हम कहां चले जांय यह जान न सके।

विमर्श—कामकला में अपने कौशल के ख्यापनार्थ उपपति को सुनाते हुए नायिका का वचन, अन्तरङ्ग सखी के प्रति। अर्थात् हममें यह तत्काल बुद्धि न जाग सकी कि अपने को कहां जाकर छिपाएं, सर्वत्र अपने देख लिए जाने की शङ्का बन गई। श्रीजोगलेकर ने आचार्य गोवर्धन की 'आर्यासप्तशती' से प्रस्तुत गाथा के तुलनार्थ यह आर्या उद्धृत की है—'सदनादपैति दयितो हसति सखी विशति धरणिमिव बाला। ज्वलति सपत्नी कीरे जल्पति मुग्धे प्रसीदेति ॥ (६५१) अर्थात् जब सुग्गे ने 'मुग्धे, प्रसन्न हो' यह उचारा तब प्रिय भवन से भाग पड़ा, सखी हंसने लगी, बाला (नायिका) मानों जमीन में गड़ गई और सौत जलने लगी ॥ ८९ ॥

पच्चग्गफुल्लदलुल्लसन्तमअरन्दपाणलेहलओ।
तं णत्थि कुन्दकलिआइ जं ण भमरो महइ काउं ॥ ९० ॥

[प्रत्यग्रोत्फुल्लदलोल्लसन्मकरन्दपानलुब्धः ।
तन्नास्ति कुन्दकलिकाया यन्न भ्रमरो वाञ्छति कर्तुम् ॥]

ताजा खिले दलों वाली कुन्दकलिका के मकरन्दपान के लिए लुभाया भौंरा जिसे करना नहीं चाहता वह नहीं है ।

विमर्श—किसी का अन्यापदेश-वचन, बाला नायिका में अनुरक्तचित्त नायक के प्रति । रसपानलम्पट भौंरा जो कुन्दकली के चारों तरफ घूम रहा है, उससे प्रतीत होता है कि वह कुछ शेष रखना चाहता है । प्रस्तुत में तात्पर्य यह कि तू जो बाला प्रियतमा के समागम की सुखाशा से चक्कर काट रहा है, समय की प्रतीक्षा किए बिना ही सब कुछ कर लेना चाहता है । हमने तेरा मनोरथ ताड़ लिया ॥ ९० ॥

सो को वि गुणाइसओ ण आणिमो मामि कुन्दलइआए ।
अच्छीहिं च्चिअ पाउं अहिलस्सइ जेण भमरेहिं ॥ ९१ ॥

[स कोऽपि गुणातिशयो न जानीमो मातुलानि कुन्दलतिकायाः ।
अक्षिभ्यामेव पातुमभिलष्यते येन भ्रमरैः ॥]

मामी, कुन्दलतिका का वह कोई अतिशय गुण है, (जिसे) हम नहीं जानते कि जिस कारण भौंरे आंखों से ही पी लेना चाहते हैं ।

विमर्श—नवयौवना सपत्नी के ऊपर कामुक जनों की प्यासी आंखें पड़ने लगी हैं, यह पति को सूचनार्थ नायिका का अन्यापदेश-वचन, मातुलानी के प्रति । अभी इस पर बन्धन हैं, इसलिए कामुकजन देख भर लेते हैं, थोड़ा भी शिथिलबन्ध हुई कि हाथ में नहीं आवेगी ॥ ९१ ॥

एक्क च्चिअ रूअगुणं गामणिधूआ समुव्वहइ ।
अणिमिसणअणो सअलो जीए देवीकओ गामो ॥ ९२ ॥

[एकैव रूपगुणं ग्रामणीदुहिता समुद्वहति ।
अनिमिषनयनः सकलो यया देवीकृतो ग्रामः ॥]

गाँव के प्रधान की एक ही लड़की रूप का गुन रखती है जिसने अपलक नयन वाले सारे गांव को देवता बना दिया है ।

विमर्श—नायक को उत्कण्ठित करने के लिए दूती द्वारा नायिका का सौन्दर्य-वर्णन । देवताओं की पलकें नहीं गिरतीं यह बात प्रसिद्ध है । प्रस्तुत में, नायिका को निहारने वाले लोग निहारते ही रह जाते हैं, उसके रूपगुण से तृप्त न होने के फलस्वरूप अपनी पलकें नहीं गिराते । इस प्रकार सारे गांव को उसने देवता बना दिया है । तात्पर्य यह कि ऐसी रूपवती को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर ॥ ९२ ॥

मण्णे आसाओ च्चिअ ण पाविओ पिअअमाहररसस्स ।
तिअसेहिँ जेण रअणाअराहि अमअं समुद्धरिअं ॥ ९३ ॥
[मन्ये आस्वाद एव न प्राप्तः प्रियतमाधररसस्य ।
त्रिदशैर्येन रत्नाकरादमृतं समुद्धृतम् ॥]

मैं मानता हूँ कि देवताओं ने प्रियतमा के अधर-रस का आस्वाद ही नहीं पाया, जिस कारण उन्होंने रत्नाकर समुद्र से अमृत निकालने का प्रयत्न किया।

विमर्श—नायक की चाटूक्ति। यदि देवताओं ने उसके अधर-रस का पान किया होता तो अमृत के लिए समुद्रमन्थन जैसा श्रान्तिकारक कार्य न करते। 'अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।' (पीताम्बर)। अमरुक के निम्नलिखित श्लोक से प्रस्तुत गाथा तुलनीय है ॥ ९३ ॥

संदष्टेऽधरपल्लवे सचकितं हस्ताग्रमाधुन्वती
मा मा मुञ्च शठेति कोपवचनैरानर्तितभ्रूलता।
सीत्काराञ्चितलोचना सरभसं यच्चुम्बिता मानिनी
प्राप्तं तैरमृतं श्रमाय मथितो मूढैः सुरैः सागरः ॥ ३२ ॥

आअण्णाअड्ढिअणिसिअभल्लमम्माहआइ हरिणीए ।
अद्दंसणो पिओ होहिइ त्ति वलिउं चिरं दिट्ठो ॥ ९४ ॥
[आकर्णाकृष्टनिशितभल्लमर्माहतया हरिण्या ।
अदर्शनः प्रियो भविष्यतीति वलित्वा चिरं दृष्टः ॥]

कान तक खिंचे तेज भल्लक (एक प्रकार का बाण) से मर्माहत हिरनी ने 'प्रिय का दर्शन न होगा' (यह सोच) मुड़कर देर तक निहारा।

विमर्श—प्राण के विनाश का कारण भी उस प्रकार कष्ट नहीं देता जितना प्रिय का विरह सताता है, इस तात्पर्य से अन्यापदेश द्वारा नायिका का वचन, नायक के प्रति स्नेहशिक्षार्थ (गङ्गाधर) ॥ ९४ ॥

विसमट्ठिअपिक्केक्कम्बदंसणे तुज्झ सत्तुघरिणीए ।
को को ण पत्थिओ पहिआअं डिम्भे रुअन्तम्मि ॥ ९५ ॥
[विषमस्थितपक्वैकाम्रदर्शने तव शत्रुगृहिण्या ।
कः को न प्रार्थितः पथिकानां डिम्भे रुदति ॥]

ऊबटाह जगह में पके एक आम को देखकर जब बच्चा रोने लगा तब तुम्हारे शत्रु की घरनी ने राहगीरों में किस-किस से चिरौरी न की।

विमर्श—कवि द्वारा राजा (सातवाहन ?) का कीर्तिगान। तुमने अपने प्रताप से शत्रु को इस दशा तक पहुंचा दिया कि उसकी पत्नी बच्चे को लेकर मारी-मारी फिरती एक आम तक के लिए तरस जाती है ॥ ९५ ॥

मालारी ललिउल्लुलिअबाहुमूलेहिँ तरुणहिअआइं ।
उल्लूरइ सज्जुल्लूरिआइँ कुसुमाइँ दावेन्ती ॥ ६६ ॥
[मालाकारी ललितोल्ललितबाहुमूलाभ्यां तरुणहृदयानि ।
उल्लुनाति सद्योऽवलूनानि कुसुमानि दर्शयन्ती ॥]

सुन्दर उठाये बाहुमूलों वाली मालिन तुरत के तोड़े फूलों को दिखाती हुई जवानों के हृदयों को तोड़ती है ।

विमर्श—मालिन को देखकर लुभाये सहचर के प्रति वचन। तुरत के तोड़े फूलों को दिखाती हुई वह यह सूचित करती है कि जिस तरह मैंने इन फूलों को तोड़ डाला है उसी तरह जो मुझसे लगेंगे उन सबके हृदय तोड़ डालूँगी। अपने हृदय की गत करानी हो तो इससे लग, वर्ना परे हट जा ॥ ९६ ॥

मज्झो, पिओ, कुअण्डो, पल्लिजुआणा, सवत्तीओ ।
जह जह वड्ढन्ति थणा तह तह छिज्जन्ति पञ्च वाहीए ॥ ६७ ॥
[मध्यः प्रियः कुटुम्बं पल्लीयुवानः सपत्न्यः ।
यथा यथा वर्धेते स्तनौ तथा तथा क्षीयन्ते पञ्च व्याध्याः ॥]

बहेलिया की पत्नी के स्तन जैसे-जैसे बढ़ते जाते हैं, वैसे-वसे मध्य, प्रिय, कुटुम्ब, गाँव के जवान और सौतें ये पांच दुबले होते जाते हैं ।

विमर्श—कामुक द्वारा व्याधपत्नी के स्तनोद्गम का वर्णन। 'मध्य' अर्थात् कमर, स्वभावतः यौवनकाल में स्तनवृद्धि और कटिक्षय एक साथ होते हैं। किसी के अनुसार 'मध्य' अर्थात् किमी एक पक्ष में अवलम्बित न रहनेवाला मध्यस्थ-तात्पर्य यह कि उसके यौवन का उठान देखकर अपनी मध्यस्थता छोड़ बैठते हैं, अब मध्यस्थ रहने वालों की संख्या कम हो गई है। प्रिय उसके साथ रतिविलास में निरन्तर आसक्त रहने से दुबला होता जा रहा है। 'कुटुम्ब' (परिवार) के लोग घर का बोझ संभालने वाले व्याध की 'बढ़ती जाती दुर्बलता से चिन्तित होकर क्षीण होते जा रहे हैं'। 'कुटुम्ब' का पाठान्तर 'कोदण्ड' है, श्रीजोगलेकर के अनुसार यही पाठ उचित है, इसका तात्पर्य है कि व्याध जितना ही दुर्बल होता जाता है, उठा न सकने के कारण अपने 'कोदण्ड' (धनुष) को उतना ही हल्का या पतला करता जाता है। गाँव के जवान उसके लिए उत्कण्ठित होकर दुबराते जा रहे हैं, तथा सौतें ईर्ष्यावश क्षीण हो रही हैं ॥ ९७ ॥

मालारीए वेल्लहलबाहुमूलावलोअणसअह्णो ।
अलिअं पि भमइ कुसुमग्घपुच्छिरो पंसुलजुआणो ॥ ६८ ॥
[मालाकार्याः सुन्दरबाहुमूलावलोकनसतृष्णः ।
अलीकमपि भ्रमति कुसुमार्घप्रश्नशीलः पांसुलयुवा ॥]

मालिन के सुन्दर बाहुमूल को देखने से ललचाया लम्पट तरुण फूल के दाम पूछता हुआ बेकार भी घूमता है।

विमर्श—'जो जिसकी चाह रखता है, वह छल से भी अपना काम साध लेता है' इस बात के निदर्शनार्थ किसी का वचन, सहचर के प्रति (गङ्गाधर)। 'वेल्लहल' सुन्दर के अर्थ में देशी प्रयोग ॥ ९८ ॥

अकअण्णुअ घणवण्णं घणपण्णन्तरिअतरणिअरणिअरं।
जइ रे रे वाणीरं रेवाणीरं पि णो भरसि ॥ ९९ ॥

[अकृतज्ञ घनवर्णं घनपर्णान्तरिततरणिकरनिकरम्।
यदि रे रे वानीरं रेवानीरमपि न स्मरसि ॥]

अकृतज्ञ, जो वेतस निकुञ्ज मेघ के समान वर्ण वाला था और जिसके भीतर सूर्य की किरणें नहीं आ पाती थीं, उसे अगर भूल गया तो अरे, अरे, क्या रेवा (नर्मदा) का जल भी याद नहीं रहा ?

विमर्श—नायिका का वचन, अकृतज्ञ नायक के प्रति। दोनों में कोई एक भी तो तुझे स्मरण होना चाहिए ! ॥ ९९ ॥

मन्दं पि ण आणइ हलिअणन्दणो इह हि डड्ढगामम्मि।
गहवइसुआ विवज्जइ अवेज्जए कस्स साहामो ॥ १०० ॥

[मन्दमपि न जानाति हलिकनन्दन इह हि दग्धग्रामे।
गृहपतिसुता विपद्यतेऽवैद्यके कस्य कथयामः ॥]

बिना वैद के इस जले गाँव में गिरस्त की लड़की तकलीफ पा रही है और हलवाहे के लड़के को कुछ भी पता नहीं, किससे कहें ?

विमर्श—किसी द्वारा हलिकपुत्र को उपालम्भ, कि अनुराग तो कर बैठा, मगर जब वह तकलीफ में पड़ी तो उसकी कुछ भी खबर नहीं लेता। इस जले गाँव में कोई वैद भी नहीं कि कोई उपाय भी हो। आखिर यह बात किससे कहूँ ? ॥ १०० ॥

रसिअजणहिअअदइए कइवच्छलपमुहसुकइणिम्मिइए।
सत्तसअम्मि समत्तं छट्ठं गाहासअं एअं ॥ १०१ ॥

[रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविनिर्मिते।
सप्तशतके समाप्तं षष्ठं गाथाशतकमेतत् ॥]

रसिक जनों के हृदय-प्रिय, कविवत्सल (हाल) के प्रमुख सुकवियों द्वारा निर्मित 'सप्तशतक' में यह षष्ठ गाथाशतक समाप्त हुआ ॥ १०१ ॥

सप्तमं शतकम्

एक्कक्कमपरिरक्खणपहारसँमुहे कुरङ्गमिहुणम्मि ।
वाहेण मण्णुविअलन्तवाहधोअं अणुं मुक्कं ॥ १ ॥
[अन्योन्यपरिरक्षणप्रहारसंमुखे कुरङ्गमिथुने ।
व्याधेन मन्युविगलद्बाष्पधौतं धनुर्मुक्तम् ॥]

जब व्याध ने हिरन की जोड़ी को मारने के लिए बाण का निशाना साधा, तभी वे दोनों (हिरनी और हिरन) एक दूसरे को बचाने के लिए प्रहार के सामने होने लगे, इस प्रकार उन दोनों का एक-दूसरे के प्रति स्नेह देखकर व्याध के हृदय में करुणा उमड़ आई और उसने अपने धनुष को, जो उसके आंसुओं से तर हो चुका था, छोड़ दिया ।

विमर्श—मन्दस्नेह नायक के प्रति नायिका की सखी का उपालम्भ-वचन । सखी ने व्याध के द्वारा मारे जाते हुए और स्वयं मार खाकर एक दूसरे को बचाने में लगे हुए कुरङ्ग-मिथुन का परस्पर स्नेह इस गाथा में व्यक्त कर प्रस्तुत में नायक और नायिका के परस्पर अनुराग की ओर संकेत किया है । जब कि पशु होकर हिरन और हिरनी अपनी जान देकर एक दूसरे के प्रति अपना स्नेह-सद्भाव रखते हैं, तब मनुष्य होकर तुम्हें भी उससे कहीं बढ़कर अपनी प्रियतमा में स्नेह करना चाहिए । इस गाथा की अवतरणिका चाहे जो भी कल्पित कर ली जाय, परन्तु गाथाकार का वक्तव्य कुछ भिन्न ही जान पड़ता है । इस गाथा में स्नेह के अनुपम दृश्य को देखकर हत्या के अभिनिवेश से भरे व्याध जैसे प्राणी के कठोर हृदय का करुणाजनित आकस्मिक परिवर्तन प्रस्तुत किया गया है । व्याध के हृदय की क्षणभर की करुणा से उसके जीवन भर का अर्जित सारा पाप धुल जाता है । फिर व्याध के हाथ से वह धनुष छूटकर जमीन पर गिर जाता है, अर्थात् इस दृश्य का उसपर इतना प्रभाव पड़ा कि वह अब से हिंसा न करने का प्रतिज्ञा कर लेता है । करुणा का यह मार्मिक प्रसंग क्रौंचवध वाले प्रसङ्ग का स्मरण दिलाता है । प्राचीन युग में बोधि-सत्वों की करुणा-भावना का वर्णन जैसा कथानक के रूप में जातकों में प्राप्त होता है, उसी के किसी प्रसंग का इस गाथा में एक चित्र प्रस्तुत किया गया, जान पड़ता है ॥ १ ॥

ता सुहअ विलम्ब खणं भणामि कीअ वि कएण अलमह वा ।
अविआरिअकज्जारम्भआरिणी मरउ ण भणिस्सं ॥ २ ॥

[तत्सुभग विलम्बस्व क्षणं भणामि कस्या अपि कृतेनालमथ वा।
अविचारितकार्यारम्भकारिणी म्रियतां न भणिष्यामि ॥]

हे सुभग, क्षणभर रुक जा, मैं किसी के बारे में कुछ कहने जा रही हूं, अथवा कहना व्यर्थ है, जैसा कि वह बिन सोचे-समझे काम करने लगी है तो फिर मर ही क्यों न जाय, मैं न कहूँगी।

विमर्श—मन्दस्नेह नायक के प्रति नायिका की सखी अथवा दूती की उक्ति। गाथा उस प्रसङ्ग में कही गई है कि जब नायक दूती को अपनी इतर प्रियतमा के पास शीघ्रता से जाते हुए भिन्न मार्ग में मिलता है, दूती ने उसे 'खणं विलम्ब' कहकर रोक लिया। संबोधन में 'सुभग' का प्रयोग है, अर्थात् वह नायक जिसमें अनुराग करने वालियां बहुत हों। दूती ने इस संबोधन से पहले नायक के गर्व को एक झटका दिया है क्योंकि वह अनेकों अनुरक्ताओं में फंस कर अपने कर्तव्य को भूल चुका है। 'खणं विलम्ब' अर्थात् माना कि तुम्हें बहुत शीघ्र किसी के पास जाना है, वहां तुम्हारी प्रतीक्षा की जा रही होगी, फिर भी मैं अपने लिए तुम्हें नहीं रोकती, किसी दूसरी के बारे में तुमसे कहना चाहती हूँ, इसमें मेरा कुछ स्वार्थ नहीं है। इतना कहते-कहते दूती का मन बदल जाता है, वह जो बात कहने जा रही है उसे न कहकर कहती है कि बिना विचारे काम करनेवाली मर ही क्यों न जाय, मैं कुछ (उसके बारे में) न कहूँगी; अर्थात् तुम्ह जैसे पुरुष में अनुराग करने के पहले उसने यह नहीं सोचा कि इसका क्या नतीजा होगा। अब जब मर रही है तो मरे, किए का फल तो उसे मिलना ही चाहिए! उसके बारे में अब कह के ही क्या होगा, क्योंकि वह ऐसी स्थिति में (तुम्हारे विरह के कारण) पहुँच चुकी है कि मरना निश्चित है। तात्पर्य यह कि उस अभागिन के प्रति तुम्हारा सच्चा अनुराग न सही तो कम से कम कहीं तुम्हारे कारण उसके मर जाने से स्त्रीवध का पातक न लग जाय, इस डर से भी तुम जाकर उसे बचा सकोगे। इस समय अन्यत्र न जाकर उसी के पास जहां तक शीघ्र हो सके जाना बहुत जरूरी है। नायिका की विरहजनित दुर्दशा वह दूती कहने जा रही थी, कि उसे अनिर्वचनीय समझ कर 'न भणिस्सं' कहकर निषेध कर दिया। इस प्रकार के उक्तिवैचित्र्य को 'आक्षेपालंकार' कहते हैं, जैसा कि लक्षण है—

निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपः''' ॥ (मम्मट)

काव्यप्रकाश में इस गाथा की प्रथम पंक्ति का पाठ इस प्रकार है—

'ए एहि किं पि कीएवि णिक्किव भणामि अलमह वा।
(ए एहि किमपि कस्या अपि कृते निष्कृप भणामि अलमथ वा।) ॥ २ ॥

भोइणिदिण्णपहेणअचक्खिअदुस्सिक्खिओ हलिअउत्तो।
एत्ताहे अण्णपहेणआणँ छीओल्लअं देई ॥ ३॥

[भोगिनी दत्तप्रहेणका स्वादनदुःशिक्षितो हलिक पुत्रः।
इदानीमन्य प्रहेणकानां छी इति वचनं ददाति ॥]

सहुआइन के दिए हुए बायन को चखते-चखते हलवाहे का लड़का इस तरह चटोर हो गया है कि इन दिनों दूसरे के बयान को 'छी' करके रख देता है।

विमर्श—सखी के प्रति नायिका की उक्ति। नायिका का प्रिय हलिकपुत्र (हलवाहे का लड़का) एक भोगिनी के जाल में फँसा हुआ है। वह उसे पहेणक (बायन) खिलाकर अपना बना चुकी है, वह किसी के पहेणक को पसंद ही नहीं करता—'छी' कहकर छोड़ देता है। नायिका की यह ईर्ष्योक्ति है कि जबकि मैं अनुराग से उसे बायन देती हूँ तो उसे 'छी' कर देता है और सहुआइन के बायन को मन से चखता है, उसी रार ने उसे बहका दिया है! इस गाथा में प्रयुक्त 'भोगिनी' 'पहेणक', 'छीओल्लअं', ये तीन शब्द विशेष झगड़े के हैं। भोगिनी 'भोइणि' का संस्कृत रूप है, संस्कृत टीकाकार इसका अर्थ करते हैं 'ग्रामव्यापारिक स्त्री' अर्थात् गँवैये ब्योपारी की स्त्री, जिसे बनियाइन, अथवा सहुआइन कहते हैं। इस शब्द के साथ कोई कोश प्रमाण नहीं है, सिर्फ 'भोग' अर्थात् 'सुख' करनेवाली इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के अनुसार प्रस्तुत अर्थ किया गया है। हारावली कोश के अनुसार 'प्रहेणक' का अर्थ 'वायनक' है। 'मोनियर विलियम' ने इसका अर्थ—A kind of Pastry किया है, अर्थात् एक प्रकार की टिकरी। ठीक ही आज के भी ग्रामीण जीवन में बायन के रूप में टिकरियां बांटते हैं। 'बायन' शब्द संस्कृत 'उपायन' का ही बिगड़ा रूप है, जो देशी के रूप में संस्कृत में भी सुरक्षित रह गया है। दिहातों में अब भी यह शब्द प्रचलित है। हम इन शब्दों के विषय में जो अर्थ कर चुके हैं बहुत अंश में वह भ्रामक भी सिद्ध हो सकते हैं, क्योंकि इन अर्थों के पीछे कोई पुष्ट प्रणाम नहीं है। तीसरा शब्द 'छीवोल्लअं' का संस्कृत रूप 'छी इति वचनं' किया है, जो बहुत अंश में जंचने पर भी भ्रामक प्रतीत होता है। यह कहना कठिन है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का संस्कृत रूपान्तर कब किया गया। सम्भव है, यह बहुत इधर किया गया हो। तिरस्कार या घृणा को व्यक्त करने के लिए 'छी' शब्द का प्रयोग बहुत पुराना नहीं कहा जा सकता, संस्कृतकार उसी संस्कार से ऐसा रूपान्तर कर बैठा है। कुलबालदेव इसका अर्थ 'छीवोल्लणं' के आधार पर 'मुखविकार' करते हैं। इन शब्दों का प्रमाणसंगत अर्थ अब भी गवेषणीय है ॥ ३ ॥

पच्चूसमऊहावलिपरिमलणसमूससन्तवत्ताणं।
कमलाणं रअणिविरमे जिअलोअसिरी महम्महइ ॥ ४ ॥
[प्रत्यूषमयूखावलिपरिमलनसमुच्छ्वसत्पत्राणाम्।
कमलानां रजनिविरामे जितलोकश्रीर्महमहायते ॥]

रात बीतने पर भिनसार के कोमल किरन-समूह का सम्पर्क होते ही कमलों की पंखुड़ियाँ उभरने लगीं और जगत को जीतने वाली कमलों की शोभा चारों ओर महमहा उठी।

विमर्श—प्रिय के साथ क्रीड़ासक्त होने के कारण रात बीत जाने पर भी बेखबर अपनी सखी के प्रति दूती द्वारा प्रभात-वर्णन के निमित्त प्रभात होने की सूचना; अथवा, मैं रातभर संकेत-स्थल पर तेरे इन्तजार में भोर तक बैठी रह गई, पर तू नहीं आया, इस प्रकार के कथन के प्रसंग में नायक के प्रति नायिका की उक्ति; अथवा, संकेत का समय प्रातःकाल है, यह दूती द्वारा नायक को सूचना। 'पच्चूह' या 'प्रत्यूष' शब्द जो दिनारम्भ के अर्थ में प्रसिद्ध है, उसे किसी ने इस गाथा में 'सूर्य' के अर्थ में पढ़ा है (जब कि सप्तमी तत्पुरुष समास करने पर प्रभात में किरणों का 'समूह' यह अर्थ संगत हो जाता है, तथापि प्रत्यूष अर्थात् 'सूर्य की किरणों का समूह' अर्थ करना कोई विशेष उपयोगी नहीं है।) 'जिअलोअसिरी' की संस्कृत छाया 'जीवलोकश्रीः' भी है, परन्तु पाठान्तर के अनुसार 'आमोअसिरी' अर्थात् 'आमोदश्रीः' उचित जंचता है। 'महम्महइ' की छाया 'महमहायते' हिन्दी में प्रचलित मह-मह करना, या महमहाना क्रिया के सर्वथा अनुकूल है। गन्ध के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला फारसी 'महक' शब्द इसके सन्निकट जान पड़ता है। 'कमलों का महमहाना अर्थात् खुशबू बिखेर देना' यह प्रचलित सामान्य प्रयोग न करके गाथाकार ने कमलों की शोभा के महमहाने का जो विशेष प्रयोग किया है वह अधिक चमत्कारी है ॥ ४ ॥

वाउव्वेल्लिअसाउलि थएसु फुडदन्तमण्डलं जहणं।
चडुआरअं पइं मा हु पुत्ति जणहासिअं कुणसु ॥ ५ ॥
[वातोद्वेल्लितवस्त्रे स्थगय स्फुटदन्तमण्डलं जघनम्।
चटुकारकं पतिं मा खलु पुत्रि जनहास्यं कुरु ॥]

बिटिया, हवा से तेरी लुगरी फड़फड़ा रही है, तेरी जांघ पर दाँतों के दाग साफ नजर आते हैं, जांघ ढंक ले, अपने चापलूस प्यारे की लोगों में खिल्ली उड़ने न दे।

विमर्श—जरनियाह सौतों के बीच नायिका के सौभाग्य के वर्णन के प्रसंग में किसी प्रौढ़ा सखी की उक्ति। किसी टीकाकार के अनुसार यह कथन कि प्रस्तुत गाथा किसी सपत्नी की उक्ति है, इसलिए संगत नहीं है कि 'पुत्रि' का प्रयोग एक सौत के मुंह सम्भावित नहीं। 'चड्डुआरअं' का पाठान्तर 'चौररअं' या छाया 'चौररतं' उपर्युक्त सखी या दूती की उक्ति के 'सास की उक्ति' मान लेने की अपेक्षा अधिक अनुकूल है। गाथा में प्रयुक्त 'साउलि' शब्द वस्त्र के अर्थ में देशी है। सखी के कथन का तात्पर्य सौतों पर यह घटित होता है कि प्रिय तुम लोगों से ज्यादा इसे ही प्यार करता है, क्योंकि अतिशय प्रेम के कारण इसकी जांघों में भी चुम्बन करते हुए दांत गड़ा देता है ॥ ५ ॥

वीसत्थहसिअपरिसक्किआणँ पढमं जलञ्जली दिण्णो ।
पच्छा वहूअ गहिओ कुडम्बभारो णिमज्जन्तो ॥ ६ ॥

[विस्रब्धहसितपरिक्रमाणां प्रथमं जलाञ्जलिर्दत्तः ।
पश्चाद्वध्वा गृहीतः कुटुम्बभारो निमज्जन् ॥]

जो वह बहू लापरवाह हंसती और ठमक कर चला करती थी, अब उसने सबकी जलांजलि पहले दे डाली (अर्थात् हमेशा के लिए हंसी, ठमक-चाल सब कुछ छोड़ दिया) और पीछे कुटुम के लोगों की बदनामी देखकर घर का बोझ अपने सिर पर ले लिया।

विमर्श—कामुक जनों के प्रति दूती का वचन। नायिका अब किसी प्रकार जाल में नहीं आ सकती, उसने अपने को बिलकुल बदल डाला है। अब उसका हंसता हुआ मुखड़ा और ठमक-चाल देखने को नहीं मिलेंगे। इस प्रकार दूती ने उन कामुकों को, जो नायिका के लिए बेकरार थे, निषेध किया। गाथा में प्रयुक्त 'परिसक्किआणं' की संस्कृत छाया 'परिक्रमाणां' की गई है, जिसका अनुवाद 'ठमक-चाल' है। गाथा को पढ़कर ऐसा कहा जा सकता है कि नायिका 'वधू' की सीमा में रहकर ही घेरे के बाहर पांव रखने लगी थी और जल भरने आदि कामों के लिए बाहर जाते समय उसका लापरवाह हंसते हुए और ठमकते हुए चलना दिलवालों के दिल पर कहर बनकर गिरता था। फिर क्या कहना 'दिलवाले' लोग उसके पीछे पड़े। इसी बीच उसके कुटुम की बदनामी होने की नौबत आई कि वह (नायिका) सम्हल गई और अपने घर के भीतर का काम-काज करने लगी ॥ ६ ॥

गम्मिहिसि तस्स पासं सुन्दरि मा तुरअ वड्ढउ मिअङ्को ।
दुद्धे दुद्धं मिअ चन्दिआइ को पेच्छइ मुहं दे ॥ ७ ॥

[गमिष्यसि तस्य पार्श्वं सुन्दरि मा त्वरस्य वर्धतां मृगांकः ।
दुग्धे दुग्धमिव चन्द्रिकायां कः प्रेक्षते मुखं ते ॥]

अरी सुन्दरी, उसके पास जाना है तो इतनी जल्दी क्या पड़ी है? (जो तू बेताब हो रही है), जरा चांद को आसमान में उठ जाने दे, फिर चांदनी में तू उस तरह मिल जायगी जिस तरह दूध में दूध मिल जाता है, तब तेरा मुंह कौन देख पायेगा?

विमर्श—शुक्लाभिसारिका के प्रति उसकी सखी की परिहासपूर्ण उक्ति। प्रिय के पास जाने का समय सन्निकट है, नायिका के मन में विकलता स्वाभाविक है। नायिका की जल्दीबाजी से उसकी आन्तरिक विकलता प्रतीत होती है। उस विकलता को ही सखी ने 'मा तुरअ' कहकर परिहास का विषय बनाया और साथ ही चाँदनी में उसके उज्ज्वल शरीर के दूध में दूध की भांति मिलकर एक हो जाने की बात कहकर उसके सौन्दर्य की प्रशंसा भी की। यह गाथा 'अलंकार कौस्तुभ' में सामान्य अलङ्कार के उदाहरण के रूप में उद्धृत है—स्वगुणसजातीय गुणाश्रयैकरूप्यं तु सामान्यम्। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में अभिसारिका के प्रसंग में उद्धृत है॥ ७॥

जइ जूरइ जूरउ णाम मामि परलोअवसणिओ लोओ।
तह वि बला गामणिणन्दणस्स वअणे वलइ दिट्ठी॥ ८॥

[यदि खिद्यते खिद्यतां नाम मातुलानि परलोकव्यसनिको लोकः।
तथापि बलाद्ग्रामणीनन्दनस्य वदने वलते दृष्टिः॥]

अरी मामी, परलोक से डरनेवाले लोग अगर रंज होते हैं तो हों, तब भी, मेरी नजर मुखिया के छोकरे के मुँह की ओर जबरन् घूम जाती है।

विमर्श—मामी के प्रति नायिका की उक्ति। नायिका मुखिया के छोकरे के प्रति हुए अपने अनुराग को स्पष्ट शब्दों में कहती है। उसे उन लोगों की परवाह बिलकुल नहीं, जो परलोक से डर कर कहा करते हैं कि परपुरुष को देखने से सतीत्व के भङ्ग होने का पाप लगता है, फलतः असती स्त्री को नरक में जाना पड़ता है। प्रस्तुत नायिका चार्वाकों की भांति उन धार्मिकों के रंज होने की परवाह बिलकुल नहीं करती और कह पड़ती है कि उसकी दृष्टि मुखिया के छोकरे के मुँख पर बलात् पहुँच जाती है। कमाल है, जो लोग यह कहते हैं कि परपुरुष के मुँख देखने से पाप लगता है। पाप लगने का अर्थ है दुःख होना, पर नायिका को उस छोकरे के मुख में ऐसा आकर्षण है कि वह अपने को सम्हाल नहीं पाती—उसके मुख में उसे बेहद सुख मिलता है, फिर धार्मिकों का कहना कहाँ तक ठीक है? फिर वे रंज होकर ही क्या कर लेंगे?॥ ८॥

गेहं व वित्तरहिअं णिज्झरकुहरं व सलिलसुण्णविअं।
गोहणरहिअं गोट्ठं व तीअ वअणं तुह विओए॥ ९॥

[गृहमिव वित्तरहितं निर्झरकुहरमिव सलिलशून्यम् ।
गोधनरहितं गोष्ठमिव तस्या वदनं तव वियोगे ॥]

धन के न रहने पर घर की जो दशा हो जाती है, पानी के बह जाने पर उस स्थान की, जिससे झरना झरता है, जो दशा हो जाती है और गो-धन से रहित बथान की जो दशा हो जाती है ठीक वही दशा तुम्हारे विरह में उस (बेचारी) के मुख की हो रही है ।

विमर्श—नायक के प्रति दूती की उक्ति । दूती ने नायक के विरह में नायिका के मुख की दशा की तीन वस्तुओं से उपमा दी है, धनरहित गृह, जलशून्य निर्झर कुहर और गोधनरहित गोष्ठ । धनरहित गृह पर कोई संवार-बनाव नहीं होता, वह अनलंकृत पड़ा रहता है, वही मुख की हालत है; जल-शून्य निर्झर कुहर सूख जाने से अरम्य हो जाता है, वही मुख की स्थिति है, तथा गोधन-रहित गोष्ठ नीरव या सुनसान हो जाता है वही मुख की दशा है, अर्थात् वह सूनी-सूनी चुपचाप पड़ी रहती है, जैसे उसकी आवाज ही छिन गई हो । अभिप्राय यह कि तुम्हारे प्रेम में उसकी हालत ठीक नहीं, अब तुम्हीं उसके सब कुछ हो 'मालोपमा' ॥ ९ ॥

तुह दंसणेण जणिओ इमीअ लज्जाउलाइ अणुराओ ।
दुग्गअमणोरहो विअ हिअअ च्चिअ जाइ परिणामं ॥ १० ॥

[तव दर्शनेन जनितोऽस्या लज्जालुकाया अनुरागः ।
दुर्गतमनोरथ इव हृदय एव याति परिणामम् ॥]

तुम्हें देखते ही इस लजीली के अनुराग पैदा हो गया है और वह दरिद्र के मनोरथ की भाँति उसके हृदय में ही जीर्ण हो रहा है ।

विमर्श—नायक के प्रति दूती की उक्ति । नायिका नायक को देखते ही अनुराग कर बैठी है, किन्तु अनुराग पर लज्जा का आवरण पड़ गया है, जिससे वह प्रकट नहीं हो पाता । जिस प्रकार दरिद्र व्यक्ति बहुत-बहुत इच्छाएं संजोए रखता है, लेकिन धन के अभाव में उन्हें वह पूर्ण नहीं कर पाता, फलतः वे उसके हृदय में ही विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार उस नायिका का अनुराग है जो लज्जा के कारण उसके हृदय में ही जीर्ण हो रहा है । इस प्रकार दूती ने नायक को भी प्रोत्साहित किया है । नायिका मुग्धा है, वह लज्जा और मन्मथ दोनों के बीच में पड़कर स्वयं आन्दोलित हो रही है ॥ १० ॥

जं तणुआअइ सा तुह कएण किं जेण पुच्छसि हसन्तो ।
अह गिम्हे मह पअई एव्वं भणिऊण ओरुण्णा ॥ ११ ॥

[या तनूयते सा तव कृतेन किं येन पृच्छसि हसन् ।
असौ ग्रीष्मे मम प्रकृतिरिति भणित्वावरुदिता ।।]

जो कोई स्त्री दुबरा जाती है वह क्या तेरे ही कारन से ? दुबरा जाने का कारन हंसते हुए पूछ कर मेरा उपहास क्यों करते हो ? मेरी प्रकृति ही ऐसी है कि गर्मी के दिनों में दुबरा जाती हूँ—यह कह कर वह रो पड़ी ।

विमर्श—दूसरी नायिका के सम्बन्ध में किसी की अपनी सखी के प्रति उक्ति । जिसके सम्बन्ध में दो सखियों की बात हो रही है वह नायिका प्रवास से लौटे हुए और हँसकर कृशता का कारण पूछते हुए अपने प्रिय को अन्यानुरक्त जानकर कहती है कि जो तुम्हें अभिमान हो गया है कि मैं तुम्हारे वियोग में कृश हो गई हूँ और उसी अभिमान में चूर होकर मेरी कृशता का कारण पूछते हुए जो हँस रहे हो, यह तुम भूल कर रहे हो, क्योंकि यह कोई आवश्यक नहीं कि जो स्त्री दुबरा जाय, वह तुम्हारे कारण ही माना जाय । गर्मी के दिन मेरे स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं पड़ते, अतः मैं दुबरा गई हूँ । यह कहकर वह रोने लगी । जब कि यह स्पष्ट है कि नायिका उस नायक के वियोग में कृश हो गई है, यह स्वयं नायक को मालूम भी है, फिर भी वह उसकी कृशता का कारण वो भी हँसते हुए, पूछता है ! अर्थात् सिद्ध है कि वह नायिका की कृशता से दुःखी नहीं है, उसका स्नेह अगर शुद्ध रूप से उस पर होता तो निश्चय ही वह उसे देखकर दुःखी होता, वह तो सिर्फ व्यवहारमात्र के रूप में उसके दुबारा जाने का कारण पूछ लेता है और उसका हँसकर पूछना ही उसकी मानसिक समस्त दूषित प्रवृत्तियों को स्पष्ट कर देता है । फलतः, नायिका ने उसके कुशल-संप्रश्न का उत्तर अव्यक्त रूप से कुपित होकर दिया । नायक अनेक नायिकाओं में अनुरक्त है, इसकी व्यञ्जना नायिका के 'जो कोई स्त्री दुबरा जाती है वह क्या तेरे ही कारण से ?' इस कथन से व्यक्त होता है, क्योंकि तुम पर मरनेवाली बहुत हैं, तुम्हारे विरह में जो वे कृश हो जाती हैं, उन्हीं की तरह समझ कर मेरी कृशता का कारण भी जो तुम अभिमान से पूछ रहे हो यह मैं खूब समझती हूँ ।। ११ ।।

वण्णक्कमरहिअस्स वि एस गुणो णवरि चित्तकम्मस्स ।
णिमिसं पि जं ण मुञ्चइ पिओ जणो गाढमुवऊढो ।। १२ ।।

[वर्णक्रमरहितस्याप्येष गुणः केवलं चित्रकर्मणः ।
निमिषमपि यन्न मुञ्चति प्रियो जनो गाढमुपगूढः ।।]

जिस रेखाचित्र में न कोई रङ्ग ही भरा रहता है और न कोई अंकन की व्यवस्था (क्रम) ही होती है, केवल उसमें भी यह विशेषता पाई जाती है कि

उसमें अंकित प्रियतमा के द्वारा आलिङ्गन में कसकर बांधा गया प्रिय पलक भर भी उसे (प्रिया को) नहीं छोड़ता।

विमर्श—अनुकूल नायक के अविश्रान्त आलिङ्गन की इच्छा से उसके प्रति किसी नायिका की उक्ति! आजकल उस चित्र को जिसमें न कोई रङ्ग भरते हैं और न अङ्कन की कोई व्यवस्था या क्रम ही रहता है, रेखाचित्र कहते हैं। नायिका ने ऐसे वर्णक्रमहीन रेखाचित्र की भी विशेषता प्रकट करते हुए कहा कि उसमें अंकित नायक-नायिकाओं का आलिंगन अनियत अवधि तक वर्तमान रहता है, वे एक दूसरे से क्षणभर भी पृथक् नहीं रहते। प्रकृतार्थ यह कि तुम तो प्रेम के रंग से भरे और कामविषयक क्रम (व्यवस्थाओं) से पूर्ण परिचित हो। ऐसी स्थिति में कम से कम तुम्हारा आलिंगन रेखाचित्र की आलिंगन मुद्रा से किसी प्रकार कम नहीं ही होना चाहिए। नायिका ने प्रियतमा के द्वारा आलिंगन किये जाने और प्रिय के द्वारा नहीं छोड़ने का कथन करके यह व्यञ्जित किया है कि मैं तुम्हें नहीं छोड़ने की मगर तुम मुझे न छोड़ो तब जानूँ। एक टीकाकार ने 'चित्रकर्मणः' का अर्थ 'विविध सुरत प्रकार' किया है, अर्थात् विविध प्रकार के सुरत के बदलने पर भी आलिंगन की स्थिति में परिवर्तन नहीं होता। 'चित्तकम्मस्स' का पाठान्तर 'चित्तअम्मणो' संस्कृत छाया 'चित्तजन्मनः' है; अर्थ है चित्त से पैदा होनेवाला, अर्थात् कामदेव। तात्पर्य यह गृहीत होगा कि ब्राह्मण आदि वर्णों के क्रम से रहित भी कामदेव का यह एक गुण है कि प्रिय और प्रिया क्षणभर भी एक दूसरे को नहीं छोड़ते। पीताम्बर के कथनानुसार इस गाथा की नायिका चित्रवर्णन के निमित्त अपनी आसक्ति व्यक्त करती है और उसका अभिलाष किसी हीनवर्ण पुरुष के प्रति है ॥ १२ ॥

अविहत्तसंधिबन्धं पढमरसुब्भेअपाणलोहिल्लो।
उव्वेलिउं ण आणह खण्डइ कलिआमुहं भमरो ॥ १३ ॥

[अविभक्तसंधिबन्धं प्रथमरसोद्भेदपानलुब्धः।
उद्वेल्लितुं न जानाति खण्डयति कलिकामुखं भ्रमरः ॥]

जिस कली की पंखुड़ियां खुली नहीं हैं और जिसमें रस का उद्गम अभी पहले-पहल हुआ है उसके रस-पान का लोभी भौंरा उसके मुख को खण्डित कर डालता है, उसे विकसित करना नहीं जानता।

विमर्श—मुग्धा नवोढा नायिका के किसी अविदग्ध नायक के द्वारा रमण के सम्बन्ध में अपनी सखी के प्रति किसी का कथन। अथवा कलिका और भ्रमर के वृत्तान्त के निमित्त मुग्धा नायिका को परेशान न करने के लिए दूती द्वारा अविदग्ध नायक को सूचना। भौंरे की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है

कि वह रसपान के लिए इतना व्यग्र रहता है कि कली के खिलने की प्रतीक्षा न करके उसे तत्काल खण्डित कर डालता है, उसी प्रकार अविदग्ध नायक भी प्रथम बार रतिरस के लोभी होने के कारण इतना अन्धा हो जाता है कि नायिका की अवस्था को नहीं देखता और उसे सब प्रकार से परेशान कर डालता है। नायिका के पक्ष में उसके सन्धिबन्ध का विभक्त न होने का अर्थ है उसका रतिक्षमा न होना। प्रथम बार हुए 'रसोद्भेद के लोभी होने की व्यंजना यह है, कि कली के पूर्ण रूप से विकसित हो जाने पर उसका रसपान कोई मूल्य नहीं रखता. अरे जब रस आया तभी पी लिया, तब तो पीने का मजा क्या है? इस प्रकार भ्रमर की अतिशय लोलुपता व्यञ्जित होती है। गङ्गाधर 'उद्वेलितुं' का अर्थ 'विकासयितुं' करते हैं। नायक पक्ष में अर्थ होगा कि अविदग्ध नायक उस नवोढा को विकसित (प्रसन्न) करना नहीं जानता—बल्कि विदग्ध नायक ऐसी अवस्था में भी उसे किसी प्रकार खेद न पहुँचाते हुए रमण करता है॥ १३॥

दरवेविरोरुजुअलासु मउलिअच्छीसु लुलिअचिहुरासु।
पुरिसाइरीसु कामो पिआसु सज्जाउहो वसइ॥ १४॥
[ईषद्वेपनशीलोरुयुगलासु मुकुलिताक्षीषु लुलितचिकुरासु।
पुरुषायितशीलासु कामः प्रियासु सज्जायुधो वसति॥]

जिनकी दोनों जांघें कुछ-कुछ डोलने लगती हैं, जिनकी आंखें मुंद जाती हैं और बाल हिलने लगते हैं, पुरुषायित करनेवाली ऐसी नवेलियों में कामदेव अपना शस्त्र साधे हुए निवास करता है।

विमर्श—विपरीत-रत के इच्छुक नायक की प्रियतमा के प्रति उक्ति। नायिका को वह उस कार्य के लिए उत्साहित कर रहा है। जांघें कुछ-कुछ डोलती हैं, क्योंकि शरीर का सारा भार उन पर आ जाता है, आंखों का मुंद जाना आनन्द प्रयुक्त है और बालों का हिलना लटक जाने से स्वाभाविक है। शस्त्र साधे कामदेव का निवास का अर्थ है कि ऐसी पुरुषायितशीला ही पुरुषों को मोहित एवं वशीकृत करती हैं। उनमें ही उनका स्वाभाविक प्रेम होता है। अतः यदि तू मेरा प्रेम चाहती है तो मेरी प्रार्थना मान और पुरुषायित के लिए प्रवृत्त हो। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में यह गाथा पुरुषायित के उदाहरण के प्रसंग में उद्धृत है॥ १४॥

जं जं ते ण सुहाअइ तं तं ण करेमि जं ममाअत्तं।
अहअं चिअ जं ण सुहामि सुहअ तं किं ममाअत्तं॥ १५॥
[यद्यत्ते न सुखायते तत्तन्न करोमि यन्ममायत्तम्।
अहमेव यन्न सुखाये सुभग तत्किं ममायत्तम्॥]

हे सुभग, जो-जो मेरे अधीन है और तुम्हें सुहाता नहीं है, उस-उस को, मैं नहीं करती हूँ, लेकिन जब खुद मैं ही तुम्हें नहीं सुहाती हूँ तब वह क्या मेरे अधीन है ?

विमर्श—नायिका अन्यासक्त नायक के इस उपालंभ का कि 'वह उसके सुख के अनुकूल नहीं आचरण करती' उत्तर देते हुए कहती है। हिन्दी में 'सुखायते' का सटीक अर्थ 'सुहाता है' जान पड़ता है। नायिका का कथन है कि उसे बिलकुल नहीं करती हूँ जो तुम्हें नहीं सुहाता, पर इसे मैं क्या करूं कि मैं खुद ही तुम्हें नहीं सुहाती हूँ। इसका भी एकमात्र यह उपाय है कि मैं जीवित न रहूं। मेरा जीना ही तुम्हें सुहाता नहीं है, ऐसी स्थिति में मेरा मर जाना ही अच्छा है, पर दुर्भाग्य जो प्रबल है कि जिए जा रही हूँ ? ॥१५॥

वावारविसंवाअं सअलावअवाणँ कुणइ हअलज्जा ।
सवणाणँ उणो गुरुसंणिहे वि ण णिरुज्झइ णिओअं ॥ १६ ॥

[व्यापारविसंवादं सकलावयवानां करोति हतलज्जा ।
श्रवणयोः पुनर्गुरुसंनिधावपि न निरुणद्धि नियोगम् ॥]

मुई लाज सब अङ्गों के व्यापार बन्द कर देती है, परन्तु गुरुजनों के पास भी यह कानों का व्यापार नहीं बन्द करती।

विमर्श—नायक के प्रति नायिका की अपनी लाज के सम्बन्ध में उक्ति। जब वह अपने प्रिय के सामने रहती है तो मारे लज्जा के उसकी आँखें प्रिय को देख नहीं पातीं, कान प्रिय की बातें सुन नहीं पाते—अभिप्राय यह कि तत्काल सब अङ्गों के व्यापार में विसंवाद या विघात उपस्थित हो जाता है। 'विसंवाद' का यह भी अभिप्राय सम्भव है कि जो व्यापार जिस अङ्ग का है वह उसे न करके दूसरे अङ्ग के व्यापार में प्रवृत्त हो जाता है जो सर्वथा असम्भव है। यह गड़बड़ी खासकर मुई लज्जा ही उत्पन्न कर देती है। संस्कृत में 'हत' शब्द को प्रायः तिरस्कार व्यक्त करने के लिए तिरस्कार्य के साथ जोड़ देते हैं। आज भी विशेषकर स्त्रियों की उर्दू बोलियों में 'हत' के समानार्थक 'मुआ' या 'मुई' का प्रयोग मिलता है। द्वितीयार्ध में नायिका के कथनानुसार जब वह अपने गुरुजनों के पास बैठी-बैठी प्रिय के सम्बन्ध में उनकी बातचीत सुना करती है, तब लज्जा का नियोग या विसंवाद उसके कानों पर नहीं रहता। उसे परेशानी सिर्फ इस बात की है कि लज्जा उसे प्रिय के सामने भी उसी प्रकार क्यों नहीं छूट दे देती है। नायिका ने इस प्रकार नायक के प्रति अनुराग व्यक्त किया है। यह भी अभिप्राय सम्भव है कि अब मेरे पिता-माता

तुम्हारे सम्बन्ध में परस्पर बातें करते हैं, तुम्हारा गुणगान करते हैं, निश्चय ही मेरी शादी तुम्हीं से होगी ॥ १६ ॥

किं भणह मं सहीओ मा मर दीसिहइ सो जिअन्तीए ।
कज्जालाओ एसो सिणेहमग्गो उण ण होइ ॥ १७ ॥
[किं भणथ मां सख्यो मा म्रियस्व द्रक्ष्यते स जीवन्त्या ।
कार्यालाप एष स्नेहमार्गः पुनर्न भवति ॥]

'तू न मर, प्रिय को जीवित ही दर्शन करेगी—हे सखियो, यह बात तुम सब क्यों कहती हो ? यह तो मतलब की बात हुई फिर प्रेम का मार्ग यह तो नहीं है !

विमर्श—सखियों के प्रति प्रोषितभर्तृका की उक्ति। प्रिय अभी तक प्रवास से नहीं लौटा है, प्रतीक्षा का कष्ट हद से ज्यादा बढ़ चुका है—यहाँ तक कि निराशा ने प्राण जाने की स्थिति उत्पन्न कर दी है। यों, नायिका को दृढ़ विश्वास है कि प्रिय का दर्शन मर जाने पर भी उसे प्राप्त होगा, ऐसी स्थिति में भी जब उसकी सखियाँ उसे आश्वासन देती हैं कि प्रिय का दर्शन वह जीती हुई प्राप्त करेगी अतः उसे मर जाना ठीक नहीं, तब नायिका को ऐसा लगता है कि वह प्रेममार्ग के अनुकूल नहीं चलती। सच्चा प्रेममार्ग तो यह है कि प्रिय के विरह में वह अपने आपको मिटा दे, उसकी प्रतीक्षा में अपने मतलब के लिए जीवित न रहे। उसका अभीष्ट तो प्रिय का सिर्फ दर्शन है, जो उसे मरने के बाद भी प्राप्त हो ही जायगा—फिर उसका विरह में जीना किस लाभ का ? इस गाथा में नायिका का प्रिय के प्रति अत्युत्कृष्ट प्रेम की सूचना है ॥ १७ ॥

एक्कल्लमओ दिट्ठीअ मइअ तह पुलइओ सअह्णाए ।
पिअजाअस्स जह धणुं पडिअं वाहस्स हत्थाओ ॥ १८ ॥
[एकाकी मृगो दृष्ट्या मृग्या तथा प्रलोकितः सतृष्णया ।
प्रियजायस्य यथा धनुः पतितं व्याधस्य हस्तात् ॥]

एक ओर खड़े हिरन को हिरनी ने चाहभरी नजर से इस तरह देखा कि अपनी पत्नी को प्यार करने वाले शिकारी व्याध के हाथ से धनुष तत्काल छूट कर गिर पड़ा।

विमर्श—नायक को अन्यापदेश द्वारा नायिकासखी का उपालम्भ-वचन। जब शिकारी ने हिरनी को सतृष्ण दृष्टि से हिरन को देखते हुए देखा तो उसे अपनी पत्नी याद आ गई। उसे यह हुआ कि इस मृगी का कितना अधिक अपने प्रिय में स्नेह है, जो मरने के अवसर में भी उसी की ओर सतृष्ण दृष्टि

से देख रही है, जैसे मरण से उसे कोई भय ही नहीं। निश्चय ही स्त्रियों का इस प्रकार ही प्रेम अपने प्रिय पति के प्रति होता है, मेरी पत्नी भी मुझे इसी प्रकार स्नेह करती है। हन्त, मैं कितना अधन्य हूँ जो ऐसी पतिपरायणा को उसके प्रिय पति से वियुक्त कर रहा हूँ। इस प्रकार स्नेह और दयाभाव के होते ही उस व्याध के हाथ से धनुष गिर पड़ा। प्रस्तुत में अभिप्राय यह है कि जब इतना कठोर शिकारी भी स्त्रियों के प्रेमातिशय को जान कर अपनी पत्नी को अधिक प्यार करने लगता है और तुम तो एक नागरक हो, फिर भी तुम्हें ऐसा ख्याल नहीं हुआ? अभी तक उसके प्रति तुम निष्करुण और मन्द-स्नेह बने रहते हो ॥ १८ ॥

णलिणीसु भमसि परिमलसि सत्तलं मालइं पि णो मुअसि।
तरलत्तणं तुइ अहो महुअर जइ पाडला हरइ ॥ १९ ॥
[नलिनीषु भ्रमसि परिमृद्नासि सप्तलां मालतीमपि नो मुञ्चसि।
तरलत्वं तवाहो मधुकर यदि पाटला हरति ॥]

हे मधुकर, तू नलिनियों के चक्कर लगाया करता है, नवमालिका को मसल डालता है और मालती तक को नहीं छोड़ता, तेरी इस चपलता को पाटला ही दूर कर सकती है।

विमर्श—चपल नायक के प्रति अन्यापदेश द्वारा दूती का उपालम्भ-वचन। भौंरा तब तक नलिनियों में चक्कर लगाता, नवमालिका को मसलता और मालती को चूसता रहता है जब तक वह पाटला पर नहीं पहुँच जाता। पाटला को छोड़ फिर किसी को प्यार नहीं करता, अतः पाटला का नाम '*अलिप्रिया*' है। *उसी प्रकार प्रकृत में तुम किन्हीं के पास चक्कर लगाते हो,* किसी को मसलते हो और किसी को नहीं छोड़ते हो, यह तुम्हारी चपलता तब तक है जब तक मेरी मालकिन के प्रभाव में नहीं आते। अर्थात् उसमें इतना अधिक सौन्दर्य है कि उसके वशीभूत होकर इस तरह की चप-लता त्याग दोगे ॥ १९ ॥

दो अङ्गुलअकवालअपिणद्धसविसेसणीलकञ्चुइआ।
दावेइ थणत्थलवण्णिअं व तरुणी जुअजणाणं ॥ २० ॥
[द्व्यङ्गुलककपाटपिनद्धसविशेषनीलकञ्चुकिका।
दर्शयति स्तनस्थलवर्णिकामिव तरुणी युवजनेभ्यः ॥]

तरुणी नीले रंग की खास तरह की चोली पहन रखी है, चोली में बीच के दो अंगुल भर का पाट जुड़ा है (जिसके फांफर से उसके स्तन का कुछ भाग झलक रहा है) मानों वह अपने स्तनों का नमूना जवानों को दिखा रही है।

विमर्श—नायिका को सुनाते हुए किसी की अपने सहचर के प्रति उक्ति। नीले रंग की चोली के पाट के बीच से नायिका का गौरवर्ण स्तनभाग दिखाई दे रहा है, मानों, वह अपने स्तन का नमूना (वर्णिका) युवजनों को दिखा रही हो। जिस प्रकार बाजार में बेचनेवाला बनिया अपनी चीजों का पहले नमूना दिखाता है, तब लोग आकृष्ट होकर वस्तुओं को खरीदने लगते हैं, उसी प्रकार नायिका भी अपने स्तन का जो भाग दिखा रही है वह क्या है? उसके स्तन का नमूना है, जिसे युवजन लोग यथार्थ मूल्य पर खरीद सकते हैं। चोली के दोनों भाग का जोड़ जहाँ मिलता है उस स्थान को 'कपाट' कहा है। वह प्रायः पिनद्ध होने पर भी स्तन के कार्कश्यवश ढीला हो जाने के कारण छिद्रयुक्त हो जाता है। इसीसे उसके भीतर स्तन के भाग के कुछ यहाँ दृष्टिगोचर होने की चर्चा है। कामुकजन के प्रलोभनार्थ दूती द्वारा नायिका के स्तन का वर्णन (गङ्गाधर) ॥ २० ॥

रक्खेइ पुत्तअं मत्थएण ओच्छोअअं पडिच्छन्ती।
अंसुहिँ पहिअघरिणी ओल्लिज्जन्तं ण लक्खेइ ॥ २१ ॥

[रक्षति पुत्रकं मस्तकेन पटलप्रान्तोदकं प्रतीच्छन्ती।
अश्रुभिः पथिकगृहिणी आर्द्रीभवन्तं न लक्षयति ॥]

विरहिन छप्पर से टपकती हुई बरखा की बूँदों को सिर पर ओढ़ कर अपने बेटे को बचाती है, पर उसे यह पता नहीं की उसका बच्चा उसके आँसुओं से भींग रहा है।

विमर्श—पथिक द्वारा प्रोषितपतिका की दशा का उसके प्रवासी पति से वर्णन। पति प्रवास पर गया है, घर में हर तरह की तकलीफ उसकी पत्नी उठा रही है, एक तो पति का विरह उसे खाये जाता है। दूसरे, द्रव्य के अभाव में घर का खर्च भी चलना कठिन है। बरखा में छप्पर की मरम्मत न होने से जगह-जगह से पानी जब टपकने लगता है, तो वह अपने नवप्रसूत बच्चे को गोद में उठा लेती है और सिर से पानी को ओढ़ लेती है, जिससे उसका बच्चा न भींगे, अन्यथा उसे सर्दी लग जायगी। पर यह वह नहीं जानती कि उसके आँसुओं से वह बच्चा भींग रहा है। ऐसी स्थिति में, जब कि उसे हर तरह की सावधानी रखनी चाहिए, वह तुम्हारे ही सोच में दिन-रात पड़ी रोती रहती है, बिलकुल असावधान रहती है अभिप्राय यह कि तत्काल तुम्हारा वापस जाना ही एकमात्र आवश्यक है। गङ्गाधर के अनुसार प्रतीकार भी कहीं अपकार के लिए सिद्ध हो जाता है, इस बात के प्रसंग में उदाहरण के रूप में इस गाथा को किसी ने अपने मित्र से कहा है। गाथा में 'ओच्छोअअं' जिसकी संस्कृत छाया 'पटल-प्रान्तोदक' है, चिन्त्य है, साम्य

ही 'आर्द्रीभवन्तं' का विकास 'ओल्लिज्जन्तं' के रूप में कसे हुआ यह भी अनुसन्धेय है ॥ २१ ॥

सरए सरम्मि पहिआ जलाइँ कन्दोट्टसुरहिगन्धाइं ।
धवलच्छाइँ सअण्हा पिअन्ति दइआण व मुहाइं ॥ २२ ॥
[शरदि सरसि पथिका जलानि नीलोत्पलसुरभिगन्धीनि ।
धवलाच्छानि सतृष्णाः पिबन्ति दयितानामिव मुखानि ॥]

शरद् ऋतु के दिनों में जब तालाब के पानी बिलकुल सफेद और साफ हो जाते हैं और नीले कमलों के पराग की गन्ध उनमें भर जाती है तब राही लोग इस प्रकार चाव से उन्हें पान करते हैं मानों प्रियाओं के सुन्दर और सुगन्धित मुख का आस्वाद उन्हें मिलता हो ।

विमर्श—नायिका को संकेत-भङ्ग की सूचना । अब शरद आ गई है, पथिक लोग अपने मार्ग में चल पड़े हैं । तालाब के नीलकमलों को देखते ही उन्हें अपनी प्रियतमाओं के मुख का स्मरण हो उठता है, अतः वे सुगन्धित और स्वच्छ जल को प्रियतमा के सुगन्धित और स्वच्छ मुख का आस्वाद मानते हुए बड़े चाव से (सतृष्ण होकर) पान करते हैं । अभिप्राय यह कि तत्काल तालाब पर संकेत निर्धारित करना ठीक नहीं, वहाँ अब मिलना सम्भव नहीं । अथवा, सखी नायिका को उसके प्रिय के इस अवसर में प्रवास से लौटने का आश्वासन देती है । उसके पहुँचने में विलम्ब इसलिए हो रहा है कि प्रियतमा के मुख के पान का अभिलषित आस्वाद तालाबों के सुरभित और स्वच्छ जलों के पान करने में ही मिलता है और वह उसका मजा लेता हुआ आ रहा है ॥ २२ ॥

अब्भन्तरसरसाओ उवरिं पव्वाअबद्धपङ्काओ ।
चङ्कम्मन्तम्मि जणे समुस्ससन्ति व्व रच्छाओ ॥ २३ ॥
[अभ्यन्तरसरसा उपरि प्रवातबद्धपङ्काः ।
चङ्क्रममाणे जने समुच्छ्वसन्तीव रथ्याः ॥]

राहें अन्दर से गीली हैं, और ऊपर-ऊपर तेज हवा चलने से पांक कड़ी हो गई है । जब उन राहों पर लोग चलते हैं तब उनके पांवों से दबकर मानों वे उसास छोड़ने लगती हैं ।

विमर्श—नायक के प्रति दूती की उक्ति । नायिका ऊपर-ऊपर रूच जान पड़ती है, लेकिन अन्दर से वह सरस है, तुम्हारे पहुँचने में विलम्ब के कारण ऊपर से कड़ी और भीतर से सरस उस राह की भांति है जो लोगों के चङ्क्रमण से फिसक (उच्छ्वसित हो) जाती है और तत्काल उसास छोड़ती है ॥ २३ ॥

मुहपुण्डरीअछाआइ संठिआ उअह राअहंसे व्व।
छणपिट्ठकुट्टणुच्छलिअधूलिधवले थणे वहइ ॥ २४ ॥
[मुखपुण्डरीकच्छायायां संस्थितौ पश्यत राजहंसाविव ।
क्षणपिष्टकुट्टनोच्छलितधूलिधवलौ स्तनौ वहति ॥]

देखो, परब के दिन पिसान के चालने से उड़कर जो धूल उसके स्तनों पर बैठ गई है, तो ऐसा लगता है कि वह मुख कमल की छांव में बैठे हुए दो राजहंस की भांति अपने दोनों स्तनों का धारण कर रही है।

विमर्श—अपने सहचर के प्रति किसी कामुक की उक्ति। नायिका के दोनों स्तन परव के दिन पिसान चालने से धूलि-धूसरित हो गए हैं, लगता है उसके मुखरूपी कमल की छाया में घुरमुरिया कर दो राजहंस बैठे हों। जिस प्रकार ऐसे बैठे हुए वर्तुलाकार राजहंसों को पकड़ने में कोई परेशानी नहीं, उसी प्रकार इन स्तनों को भी पकड़ सकते हैं। गाथा में प्रयुक्त 'पिट्ठकुट्टण' संस्कृत छाया 'पिष्टकुट्टन' का स्पष्ट अर्थ 'पिसान का कूटना' प्रतीत होता है, पर प्रकृतार्थ में पिष्ट या पिसान जो स्वयं गेहूँ को पीसकर तैयार किया जा चुका है, कूटने की बात नहीं बनती। यद्यपि उच्छलित' का अर्थ कूटने की स्थिति में ही बैठता है, तथापि हमने चालने का अर्थ माना है। क्योंकि पिसान को चालने के समय उसकी धूल का स्तनों पर (उच्छालित होकर) पड़ना स्वाभाविक है ॥ २४ ॥

तह तेणवि सा दिट्ठा तीअ वि तह तस्स पेसिआ दिट्ठी।
जह दोण्ह वि समअं चिअ णिव्वुत्तर आइँ जाआइं ॥ २५ ॥
[तथा तेनापि सा दृष्टा तयापि तथा तस्मै प्रेषिता दृष्टिः ।
यथा द्वावपि सममेव निर्वृत्तरतौ जातौ ॥]

उसने (नायक ने) भी उसे (नायिका को) उस प्रकार देखा और उसने (नायिका ने) भी उसकी (नायक की) ओर उस प्रकार अपनी आंखें फैलाईं, कि इस देखादेखी से उन दोनों का एक-दूसरे के प्रति प्रेम हो गया।

विमर्श—सहचर के प्रति किसी विदग्ध नागरक की उक्ति। नायक और नायिका की परस्पर देखादेखी ही कुछ ऐसी हुई कि दोनों में प्रेम उत्पन्न हो गया। उस विलक्षण देखादेखी ही ने सूचित कर दिया कि इन दोनों का परस्परानुराग हो गया। प्रस्तुत गाथा में उस देखादेखी की ओर 'तथा' का प्रयोग करके गाथाकार ने सहृदयों पर निर्णय का भार छोड़ दिया है। सामान्य दृष्टि से अनुराग भरी दृष्टि कुछ विलक्षण होती ही है, इसे विदग्ध लोग बहुत शीघ्र पहचान लेते हैं। 'सममेव निर्वृत्तरतौ जातौ' का यह अर्थ करना कि 'दोनों

ने ऐसी देखादेखी की कि उन्हें बराबर रत के सम्पर्क करने का सुख मिल गया' कुछ भद्दा-सा जान पड़ती है। यहां 'रत' रति या प्रेम के अर्थ में है; 'सुरत' के अर्थ में नहीं। प्रेम की दृष्टि कुछ और ही होती है उसे कवियों ने प्रायः शब्दों में बाँधना ठीक नहीं समझा है। जैसा कि उर्दू के महाकवि 'अकबर' इलाहाबादी लिखते हैं—

जरा देखना फिर उन्हीं चितवनों से।
ये प्यारी अदा दिल को भाई हुई है॥

कवि ने 'उन्हीं' कहकर सिर्फ इशारा कर दिया है। फिर भी उन दृष्टिपातों को महाकवि अमरुक के एक श्लोक में हम शब्दबद्ध पाते हैं, जिसको इस प्रसंग में उद्धृत करना अनुपयुक्त न होगा—

'अलसवलितैः प्रेमार्द्रार्द्रैर्मुहुर्मुकुलीकृतैः
क्षणमभिमुखैर्लज्जालोलैर्निमेषपराङ्मुखैः।
हृदयनिहितं भावाकूतं वमद्भिरिवेक्षणैः
कथय सुकृती कोऽयं मुग्धे त्वयाऽद्य विलोक्यते॥

(अमरुकशतक श्लो. सं. ४)

इस श्लोक में आंख के जितने विशेषण दिए गए हैं वे साभिप्राय और बहुत ही मनोवैज्ञानिक हैं। एक मुग्धाप्रकृति नायिका विशेष से प्रथम अनुराग के अवसर में नायक को इसी प्रकार देखती है। कुमारसम्भव में भी नायक और नायिका—शिव और पार्वती—के परस्पर दृष्टिपात का आकलनीय चित्रण है—एक ओर शिव 'उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि' की स्थिति में होते हैं और उधर पार्वती अपना रत्याख्य भाव व्यञ्जित करती हुई 'साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन' की स्थिति में पहुंच जाती हैं। प्रस्तुत गाथा में कुछ ऐसी ही 'देखादेखी' की ओर संकेत है॥२५॥

वाडिलआपरिसोसण कुडङ्गपत्तलणसुलहसंकेअ।
सोहग्गकणअकसवट्ट गिम्ह मा कह वि झिज्जिहिसि॥ २६॥
[स्वल्पखातिकापरिशोषण निकुञ्जपत्रकरण सुलभसंकेत।
सौभाग्यकनककषपट्ट ग्रीष्म मा कथमपि क्षीणो भविष्यसि॥]

हे ग्रीष्म, बौलियों को तू सोख डालता है, निकुञ्जों को पत्तों से लाद देता है, इस लिए तेरे रहते प्रिय-मिलन के संकेत-स्थान सुलभ हो जाते हैं और तू तो सौभाग्य के सोने की कसौटी है, किसी तरह तू थोड़ा भी क्षीण न होना।

विमर्श—अभिसार-रसिक कुलटा द्वारा ग्रीष्मकाल का अभिनन्दन। नायिका ग्रीष्म-काल का अभिनन्दन इसलिए विशेष रूप से कर रही है कि इसमें

संकेत-स्थल या प्रिय-मिलन के स्थान ढूँढ़ने में ज्यादा परेशानी नहीं होती। अन्य ऋतुओं में संकेत-स्थल बहुत मुश्किल से ढूँढ़ने पर मिल पाते हैं। नायिका ने ग्रीष्म के सुलभ-संकेत होने के दो कारण बताए, एक तो इस काल में बौलियाँ बिलकुल सूख जाती हैं। आज भी जगह-जगह उजाड़ महाभवनों के पास में वापिकाएं मिलती हैं, जिनके लिए 'बौलिया' शब्द का ग्राम्य प्रयोग प्रचलित है। अन्य दिनों में यह स्थान जल से भरा रहने पर लोगों के स्नानार्थ पहुँचने के कारण संकेत के योग्य नहीं रहता। ग्रीष्म में वहां किसी के जाने की सम्भावना ही नहीं रहती। दूसरे, उन दिनों निकुञ्ज पत्तों से लद जाते हैं, इसलिए जहां कहीं भी उनकी आड़ में संकेत बन सकता है। नायिका ने ग्रीष्म को सौभाग्य के सोने की कसौटी इसलिए कहा कि ऐसे उपयुक्त अवसर में जिसने प्रियमिलन का सुख नहीं पाया उसे सौभाग्यहीन समझना चाहिए, अपने सौभाग्य के आजमाने के लिये इससे बढ़िया कोई अवसर ही नहीं। नायिका ऐसे ग्रीष्म से कहती है कि वह किसी प्रकार मन्द न पड़े, उसके मन्द पड़ने की स्थिति को जब वह अपना अनभीष्ट मानती है तब ग्रीष्म का समाप्त हो जाना उसे स्वभावतः कितना कष्टप्रद होगा! संस्कृत छायाकार ने 'वाउलिया' को 'स्वल्पखातिका' लिखा है, जो छाया न होकर रूपान्तर हो गया है। 'छिज्जिहिसि' के स्थान पर 'क्षीणो भविष्यसि' से ज्यादा उपयुक्त 'क्षेष्यसि' है ॥ २६ ॥

> दुस्सिक्खिअरअणपरिक्खएहिँ घिट्टोसि पत्थरे ताव।
> जा तिलमेत्तं वट्टसि मरगअ का तुज्झ मुल्लकहा ॥ २७ ॥
> [दुःशिक्षितरत्नपरीक्षकैर्घृष्टोऽसि प्रस्तरे तावत्।
> यावत्तिलमात्रं वर्तसे मरकत का तव मूल्यकथा ॥]

हे मरकत, अपने में रत्न की परख की शक्ति मानने वाले लोगों ने तुझे पाकर पत्थर पर रगड़ा है, तू इनके सामने तिल भर का है (तेरी बिसात ही क्या है ?), तेरे मूल्य के निर्धारण की बात तो दूर है!

विमर्श—नायक के समक्ष अपनी गुणज्ञता जाहिर करती हुई नायिका द्वारा मरकतान्योक्ति। प्रस्तुत में, नायक के प्रति अभिप्राय यह कि तेरे गुणों को न समझकर लोग तुझे नाना प्रकार के कष्ट देते हैं, उनके सामने तेरी कोई बिसात ही नहीं। पर मैं तेरे गुणों के कारण ही तुझमें अनुरक्त हूं। तेरी कीमत कोई मुझसे पूछे! ऐसा लगता है कि नायक कोई साधारण वर्ग का व्यक्ति है और नायिका कोई कुलजा है। प्रेम कुल और आचार की सीमा में नहीं उत्पन्न होता, बल्कि उसका क्षेत्र सर्वथा इन सीमाओं से मुक्त है। नायक गुणी

अवश्य है, पर उसके गुण उसके दलित कुल में उत्पन्न होने के कारण सर्वथा अप्रकाशित हैं। लोगों की दृष्टि सिर्फ उसके दलित वर्ग में उत्पन्न होने पर पड़ती है, पर नायिका को उसमें गुण ही गुण दिखाई देते हैं। वह उस समाज को विद्रोह की दृष्टि से देखती है, जिसने उसके प्रेमी के मूल्य का अंकन नहीं किया है, बल्कि उसे कष्ट ही देता रहा है!॥ २७ ॥

जह चिन्तेइ परिअणो आसङ्कइ जह अ तस्स पडिवक्खो।
बालेण वि गामणिणन्दणेण तह रक्खिआ पल्ली ॥ २८ ॥

[यथा चिन्तयति परिजन आशङ्कते यथा च तस्य प्रतिपक्षः।
बालेनापि ग्रामणीनन्दनेन तथा रक्षिता पल्ली ॥]

कुटुम्ब के लोग सोच में पड़े ही रह गए और शत्रु को भी उसके आक्रमण की शंका बनी रही, लेकिन मुखिया के बेटे ने बालक होकर भी सारे गांव की रक्षा की।

विमर्श—नायिका को अनुरक्त करने के उद्देश्य से दूती द्वारा नायक के पराक्रम की प्रशंसा। कुटुम के लोग अपनी रक्षा बालक द्वारा कैसे सम्भव है इस सोच में पड़े हैं और शत्रु भी इस कारण शंकित है कि वह मुखिया का बेटा खुद मुझ पर आक्रमण न कर दे। सम्भवतः गांव पर लुटेरों के चढ़ आने की खबर है पर गांव के लोग अपनी रक्षा के लिए चिन्तित हैं, और शत्रु भी अपने फँस जाने के डर से आ नहीं रहे हैं। गङ्गाधर के अवतरण के अनुसार गांव में रहनेवाली नायिका से मिलने के लिए नायक गांव के लुटेरों द्वारा सद्यः लूट लिए जाने की शंका से नहीं आ रहा है, तब दूती ने ऐसी घटना के सम्भव न होने की सूचना देते हुए यह गाथा कही है ॥ २८ ॥

अण्णेसु पहिअ! पुच्छसु वाहअपुत्तेसु पुसिअचम्माइं।
अम्हं वाहजुआणो हरिणेसु धणुं ण णामेइ ॥ २९ ॥

[अन्येषु पथिक पृच्छ व्याधकपुत्रेषु पृषतचर्माणि।
अस्माकं व्याधयुवा हरिणेषु धनुर्न नामयति ॥]

अय पथिक, दूसरे बहेलियों के यहाँ चीतल हिरन के छाले के बारे में पता लगा, हमारे मरद तो हिरनों पर धनुष ही नहीं नवाते हैं।

विमर्श—पथिक के प्रति व्याधपत्नी द्वारा अपने सौभाग्य का ख्यापन। व्याध पत्नी से जब पथिक ने मृगचर्म के बारे में पूछा तब अन्य व्याधपत्नियों को सुनाते हुए उसने उत्तर में कहा कि पथिक, तू दूसरे व्याधक पुत्रों के घर जाकर पता लगा। व्याधपत्नी के इस कथन का अभिप्राय यह है कि वे दूसरे बहेलिये मासूम हिरनों को मार-मार कर जीते हैं और वे ही नहीं उनके

खानदान में यही चला आता है। पर हमारे व्याधयुवा उन वहेलियों में नहीं हैं, ये तो हिरनों पर अपना धनुष ही नहीं नवाते, उन्हें मारने की बात तो दूर है। व्याधपत्नी ने अपने पति के लिए 'अम्हं वाहजुवाणो' अर्थात् 'हमारे जवान मरद' का प्रयोग करके अपना अधिकार और अपना सौभाग्य दोनों को सूचित किया। इस गाथा में व्याधपत्नी के उत्तर मात्र से पथिक द्वारा मृगचर्म पूछने के प्रश्न का उन्नयन किया गया है, अतः यहाँ 'उत्तरालंकार' है। 'अलंकारकौस्तुभ' में इसे उत्तरालंकार के उदाहरण में उद्धृत किया है ॥ २९ ॥

गअवहुवेहव्वअरो पुत्तो मे एक्ककण्डविणिवाई ।
तह सोण्हाइ पुलइओ जह कण्डकरण्डअं वहइ ॥ ३० ॥
[गजवधूवैधव्यकरः पुत्रो मे एककाण्डविनिपाती ।
तथा स्नुषया प्रलोकितो यथा काण्डसमूहं वहति ॥]

मेरा बेटा एक ही बाण का ऐसा निशाना दागता था कि हथिनियाँ बेवा हो जाती थीं और अब वही बहू की नजर पड़ते ही सिर्फ बाणों का समूह लिए फिरता है।

विमर्श—व्याधमाता द्वारा गांव-घर के लोगों से अपनी पतोहू की निन्दा। यह आज भी ग्राम्यजीवन में देखा जाता है कि माताएँ अपनी पतोहुओं से चिढ़कर उनकी निन्दा करती रहती हैं। प्रस्तुत गाथा में, व्याधमाता ने अपने पुत्र के शौर्य की प्रशंसा करते हुए अपनी पतोहू की करनी कही है। व्याधमाता ने पतोहू में आकृष्ट होकर पुत्र के दुर्बल होने की सारी स्थिति को 'स्नुषया प्रलोकितः' के द्वारा संकेत मात्र से व्यक्त कर दिया है। अब उसका पुत्र सिर्फ एक नहीं, बहुत से बाण लिए फिरता रहता है, अब क्या उसमें वह ताकत है जो पहले थी ? हाय करम, पतोहू ने लेढ़ा लगाकर ही दम लिया ॥ ३० ॥

विञ्झारुहणालावं पह्णी मा कुणउ गामणी ससइ ।
पच्चज्जिविओ जइ कह वि सुणइ ता जीविअं मुअइ ॥ ३१ ॥

[विन्ध्यारोहणालापं पल्ली मा करोतु ग्रामणीः श्वसिति ।
प्रत्युज्जीवितो यदि कथमपि शृणोति तज्जीवितं मुञ्चति ॥]

गांव विन्ध्य पर चढ़ चलने की बात मत करे, ग्रामनायक जी रहा है; यदि फिर जी जाने की अवस्था में किसी प्रकार सुन ले तो प्राणत्याग कर दे।

विमर्श—'समर जीतकर लौटे, शस्त्रों से भिन्नशरीर पति यदि शत्रुओं

के भय से विन्ध्यपर्वत पर लुककर गांव के लोगों द्वारा अपनी रक्षा की बात सुन लेगा तो निश्चय ही मानभङ्ग का कष्ट वह बर्दाश्त न कर सकेगा, फलतः प्राण त्याग देगा। अतः गांव का कोई आदमी इस सम्बन्ध की बात न करें' इस प्रकार निवारण करते हुए ग्रामनायक की पत्नी का कथन गांव के लोगों के प्रति। अपने पति की वीरता और साहस की गाथाएँ आगे चलकर राजस्थान के 'डिंगल-साहित्य' में विशेष रूप से मिलती हैं। उसे इसी प्रकार की गाथाओं की परम्परा में क्षेत्रभेद से विकसित समझना कोई अनुचित नहीं प्रतीत होता॥ ३१॥

अप्पाहेइ मरन्तो पुत्तं पल्लीवई पअत्तेण।
मह णामेण जह तुमं ण लज्जसे तह करेज्जासु॥ ३२॥
[शिक्षयति म्रियमाणः पुत्रं पल्लीपतिः प्रयत्नेन।
मम नाम्ना यथा त्वं न लज्जसे तथा करिष्यसि॥]

मरा जाता हुआ गांव का मालिक पुत्र को प्रयत्न से सिखाता है कि मेरे नाम से जैसे तुम लज्जित न होना वैसा करना।

विमर्श—किसी का सहचर को उदाहरण देकर यह समझाना कि प्रेमी आदमी अपने लोगों को मरने-मरने तक कल्याण का उपदेश कर जाते हैं। वक्ता का तात्पर्य यह कि अपनी वंश-मर्यादा के अनुसार ही तुम सारे काम करना॥ ३२॥

अणुमरणपत्थिआए पच्चागअजीविए पिअअमम्मि।
वेहव्वमण्डणं कुलवहूअ सोहग्गअं जाअं॥ ३३॥
[अनुमरणप्रस्थितायाः प्रत्यागतजीविते प्रियतमे।
वैधव्यमण्डनं कुलवध्वाः सौभाग्यकं जातम्॥]

प्रियतम के जी उठने पर अनुमरण के लिए चल पड़ी कुलवधू का वैधव्य-मण्डन सोहाग बन गया।

विमर्श—विधाता के अनुकूल होने पर अमङ्गल भी मङ्गल हो जाते हैं, यह निदर्शन करते हुए किसी का वचन॥ ३३॥

महुमच्छिआइ दट्ठं दट्ठूण मुहं पिअस्स सूणोट्ठं।
ईसालुई पुलिन्दी रुक्खच्छाअं गआ अण्णं॥ ३४॥
[मधुमक्षिकया दष्टं दृष्ट्वा मुखं प्रियस्योच्छूनोष्ठम्।
ईर्ष्यालुः पुलिन्दी वृक्षच्छायां गतान्याम्॥]

मधुमक्खी से डँसे जाने से प्रिय के सूजे ओठ वाले मुंह को देखकर वनचरी अन्य पेड़ की छाया में चली गई।

विमर्श—दूती द्वारा अनुनयपराङ्मुख नायक को मानिनी नायिका के मनावन के लिए प्रवृत्त करना। जब कि साधारण वनचरी भी अपने प्रिय के मुखड़े को उच्छूनोष्ठ देखकर प्रणयकोप से भर जाती है, तो फिर कुलीन मनस्विनी नायिका की बात ही क्या? माना कि तुम्हारा ओठ किसी अन्य कारण से सूज गया था, लेकिन वह तो कुछ और ही उसे समझ गई! अतः किसी प्रकार उसका मानापनोदन करो। किन्हीं के अनुसार जार के प्रति दूती का वचन, कि नायिका पति से कलह करके निर्जन में तुम्हारे समागम की प्रतीक्षा में बैठी है ॥ ३४ ॥

> धण्णा वसन्ति णीसङ्कमोहणे बहलपत्तलवइम्मि।
> वाअन्दोलणओणविअवेणुगहणे गिरिग्गामे ॥ ३५ ॥
> [धन्या वसन्ति निःशङ्कमोहने बहलपत्रलवृतौ।
> वातान्दोलनावनामितवेणुगहने गिरिग्रामे ॥]

डोंगरगांव में धनभाग लोग रहते हैं, बहुत पत्तेदार पेड़ों से वह ढंका रहता है, हवा चलने से घने बंसवाड़ झुक जाते हैं और बिना शङ्का के सुरत-व्यापार होते हैं।

विमर्श—डोंगरगांव की प्रशंसा के व्याज से छिनाल स्त्री द्वारा जार के प्रति स्वच्छन्दाभिसार की स्पृहा का निवेदन (गङ्गाधर)। पहाड़ के ऊपर बसे गांव (गिरिग्राम) को बोली में 'डोंगरगांव' कहते हैं। प्रस्तुत नायिका का वक्तव्य है कि यदि यहां रहेगा तो तेरा-मेरा मिलन स्वच्छन्द रूप से होता रहेगा ॥ ३५ ॥

> पप्फुल्लघणकलम्बा णिद्धोअसिलाअला मुइअमोरा।
> पसरन्तोज्झरमुहला ओसाहन्ते गिरिग्गामा ॥ ३६ ॥
> [प्रोत्फुल्लघनकदम्बा निर्धौत शिलातला मुदितमयूराः।
> प्रसरन्निर्झरमुखरा उत्साहयन्ति गिरिग्रामाः ॥]

डोंगरगांव, जिनमें घने कदम्ब गदरा गए हैं चट्टाने धुल गई हैं मोर खुश हैं, पसरते झरनों की आवाज है, उत्साह भर देते हैं।

विमर्श—वर्षा के दिनों में, डोंगरगावों में रमण की प्रशंसा। कदम्बों के गदरा जाने से उनकी भीनी सुरभि से मन उन्मादित हो उठता है, चट्टानें सब प्रकार से शयन के योग्य हो जाती हैं, मोरों की प्रसन्नताकलित आवाज मन को कुछ कम नहीं बहकाता देती है और पसरते झरनों की मुखरता भी, बस मत पूछिए, एक समा बांध देती है! गङ्गाधर के अनुसार क्रमशः विशेषणों से उद्दीपन, शयनस्थान, मनोविनोद और मणितादि ध्वनि की सूचना है ॥ ३६ ॥

तह परिमलिआ गोवेण तेण हत्थं पि जाण ओल्लेइ।
स च्चिअ धेणू एह्णिं पेच्छसु कुडदोहिणी जाआ ॥ ३७॥
[तथा परिमलिता गोपेन तेन हस्तमपि या नार्द्रयति।
सैव धेनुरिदानीं प्रेक्षध्वं कुटदोहिणी जाता ॥]

जो लगहर गाय हाथ भी नहीं भिगाती थी, वही उस प्रकार उस ग्वाले ने सहलाया कि अब देखो घड़े भर दूध करती है।

विमर्श—दूती द्वारा अन्यापदेश से नायक का दाक्षिण्य-ख्यापन, कि जो नायिका बिल्कुल हाथ में नहीं आती थी, वही उस कामकला में निपुण नायक के सुरतोपचारों से सरस बन गई। अन्य नायिकाओं के प्रति तात्पर्य यह कि तुम भी उससे मिलो, तो तुम्हारी भी वही दशा हो जायगी। उसके हाथ में ही कुछ ऐसा कमाल है कि वह जिस मानिनी पर फेर देता है, वह अवश भाव से पिघल जाती है। गाथा में प्रयुक्त 'धेनु' शब्द का पाठ भेद 'खडणा' है, यह सम्भवतः खारी या दूध न देने वाली गाय के अर्थ में देशी प्रयोग है। 'धेनु' दुधार या लगहर गाय को कहते हैं। प्रस्तुत में 'धेनु' की अपेक्षा 'खडणा' प्रयोग अधिक औचित्यपूर्ण है ॥ ३७ ॥

धवलो जिअइ तुह कए धवलस्स कए जिअन्ति गिट्ठीओ।
जिअ तम्बे अम्ह वि जीविएण गोट्ठं तुमाअत्तं ॥ ३८॥

[धवलो जीवति तव कृते धवलस्य कृते जीवन्ति गृष्टयः।
जीव हे गौः अस्माकमपि जीवितेन गोष्ठं त्वदायत्तम् ॥]

तेरे लिए धौला (सांड़) जीता है, धौले के लिए पहली वियान की गायें जीती हैं; और हे गाय, तू जीती रह, क्योंकि हमारी गोठ भी तेरे सहारे है।

विमर्श—सखी द्वारा अन्यापदेश से परिहासपूर्वक नायिका को उसके सर्वातिशायी सौभाग्य की सूचना। तात्पर्य यह कि नायक तेरा प्रेम पाकर जीता है, उसे देखकर हम जीती हैं, हमारी शुभकामना है कि तू जीती रह, क्योंकि हमारा समाज तेरी जान से है। यदि तू न रहेगी तो नायक नहीं रहेगा और वह नहीं रहेगा तो हमारा समाज भी नहीं रहेगा। मतलब यह, कि हमारे समाज की तू ही जान है, तेरा सौभाग्य सबसे बढ़-चढ़ कर है ॥ ३८ ॥

अग्घाइ छिवइ चुम्बइ ठेवइ हिअअम्मि जणिअरोमञ्चो।
जाआकवोलसरिसं पेच्छह पहिओ महुअपुप्फं ॥ ३९॥
[आजिघ्रति स्पृशति चुम्बति स्थापयति हृदये जनितरोमाञ्चः।
जायाकपोलसदृशं पश्यत पथिको मधूकपुष्पम् ॥]

देखो, बटोही पत्नी के कपोल के समान महुए के फूल को सूंघता है, छूता है, चूमता है, हृदय पर रखता है; उसके रोंगटे खड़े हो गए हैं।

विमर्श—सहचर के प्रति यह निदर्शन, कि जो जिसका प्रिय है उसके अङ्गों की समानता रखने वाली वस्तु में भी उसके प्रेमी का स्वाभाविक प्रेम हो जाता है। प्रस्तुत में, पथिक प्रियतमा के कपोल की समानता रखने वाले महुए के फूल के प्रति भी उसी प्रकार भावविह्वल हो गया है ॥ ३९ ॥

उअ ओल्लिज्जइ मोहं भुअंगकित्तीअ कडअलग्गाइ।
ओज्झरधारासद्धालुएण सीसं वणगएण ॥ ४० ॥
[पश्यार्द्रीक्रियते मोघं भुजङ्गकृत्तौ कटकलग्नायाम्।
निर्झरधाराश्रद्धालुकेन शीर्षं वनगजेन ॥]

देखो, झरने की धारा का प्रेमी वनैला हाथी कांटों में लगे सांप के केंचुल में व्यर्थ सिर को भिगाने का प्रयत्न करता है।

विमर्श—आर्त्त व्यक्ति तत्त्वविचार की क्षमता नहीं रखता, इसका निदर्शन करते हुए किसी द्वारा मध्याह्न का वर्णन (गङ्गाधर)। किसी के अनुसार जार को अन्यमनस्क करने के लिए मध्याह्नाभिसारिका का वचन ॥ ४० ॥

कमलं मुअन्त महुअर पिक्ककइत्थाणँ गन्धलोहेण।
आलेक्खलड्डुअं पामरो व्व छिविऊण जाणिहिसि ॥ ४१ ॥
[कमलं मुञ्चन्मधुकर पक्वकपित्थानां गन्धलोभेन।
आलेख्यलड्डुकं पामर इव स्पृष्ट्वा ज्ञास्यति ॥]

हे मधुकर, कमल को छोड़कर पके कपित्थों की गन्ध के लोभ से, चित्र के लड्डू को पामर की भांति स्पर्श करके समझेगा।

विमर्श—गुणवती नायिका को छोड़कर गुणहीन नायिका के चाकचिक्य में पड़े नायक को अन्यापदेश से शिक्षा। जैसे कोई पामर पुरुष चित्र में लड्डू को देखकर उसकी प्राप्ति के लिए अपने हाथ की स्वादिष्ट वस्तु को छोड़कर भी लपक पड़ता है, और विफल-प्रयत्न होता है उसी प्रकार भौंरा कमल को छोड़कर कर्कश कपित्थ की गन्ध के फेर में आकर बेवकूफ बनता है। तात्पर्य यह कि गुणवती को छोड़कर उस गुणहीना के फेर में मत पड़, कुछ भी हाथ न आयेगा ॥ ४१ ॥

गिज्जन्ते मङ्गलगाइआहिँ वरगोत्तदिण्णअण्णाए।
सोउं व णिग्गओ उअह होन्तवहुआइ रोमञ्चो ॥ ४२ ॥
[गीयमाने मङ्गलगायिकाभिवरगोत्रदत्तकर्णायाः।
श्रोतुमिव निर्गतः पश्यत भविष्यद्वधूकाया रोमाञ्चः ॥]

मङ्गल गीत गाने वालियों के द्वारा गाये जाने के समय वर के नाम में कान लगाये होनेवाली वधू का रोमाञ्च मानों सुनने के लिए निकल पड़ा है, देखो।

विमर्श—किसी का परिहास-वचन, आसन्नविवाहा नायिका की सखियों के प्रति। जब कि विवाह होने के पूर्व की यह अवस्था है कि वर के नाम सुनने से अङ्ग-अङ्ग रोमाञ्चित हो जाते हैं, तो—'आगे कौन हवाल ?' ॥ ४२ ॥

मण्णे आअण्णन्ता आसण्णविआहमङ्गलुग्गाइं।
तेहिँ जुआणेहिँ समं हसन्ति मं वेअसकुडङ्गा ॥ ४३ ॥

[मन्ये आकर्णयन्त आसन्नविवाहमङ्गलोद्गीतम्।
तैर्युवभिः समं हसन्ति मां वेतसनिकुञ्जाः ॥]

मुझे लगता है, आसन्न विवाह का मङ्गलगीत सुनते हुए वेतस के निकुञ्ज उन जवानों के साथ हंसते हैं।

विमर्श—आसन्नविवाहा व्यभिचारिणी नायिका द्वारा संकेत के वेतस-कुञ्जों को देखकर उत्प्रेक्षा। मेरा विवाह नजदीक है, मङ्गलगीत गाया जा रहा है। विकसित वेतसनिकुञ्ज, जिन्हें मेरा सारा रहस्य विदित है, मानों उन जवानों के साथ मुझे हँस रहे हैं। शायद उनका तात्पर्य है कि सब खेल हो चुके, और अब विवाह की तैयारी है, क्या कमाल है ! ॥ ४३ ॥

उअगअचउत्थिमङ्गलहोन्तविओअसविसेसलग्गेहिं।
तीअ वरस्स अ सेअंसुएहिँ रुण्णं व हत्थेहिं ॥ ४४ ॥

[उपगतचतुर्थीमङ्गलभविष्यद्वियोगसविशेषलग्नाभ्याम्।
तस्या वरस्य च स्वेदाश्रुभी रुदितमिव हस्ताभ्याम् ॥]

उसके और वर के हाथ प्राप्त चतुर्थीमंगल के बाद होने वाले वियोग के कारण सविशेष चिपक कर मानों स्वेद के आंसू बहाने लगे।

विमर्श—नायिकासखी द्वारा नायिका के वर द्वारा पाणिपीडन काल में परिहास। देखो, अभी से इनकी परस्पर प्रीति कितनी है, कि दोनों के हाथ पसीने-पसीने हो गए। बल्कि दोनों परस्पर के वियोग के भय से चिपक कर रुदन करने लगे हैं। लोकाचार के अनुसार वर विवाह के पश्चात् अपने घर लौट जाता है और द्विरागमन के अवसर पर वधू से मिलता है ॥ ४४ ॥

ण अ दिट्ठिं णेइ मुहं ण अ छिविअं देइ णालवइ किं पि।
तह वि हु किं पि रहस्सं णववहुसङ्गो पिओ होइ ॥ ४५ ॥

[न च दृष्टिं नयति मुखं न च स्प्रष्टुं ददाति नालपति किमपि ।
तथापि खलु किमपि रहस्यं नववधूसङ्ग प्रियो भवति ॥]

मुंह तक नजर नहीं ले जाती और न छूने देती है, न कुछ भी बात करती है, तब भी कुछ रहस्य है कि नववधू का मिलन प्रिय होता है ।

विमर्श—नववधू के मिलन के अलौकिक सुख का प्रतिपादन, सहचर के प्रति । इतनी प्रतिकूलताओं के बावजूद भी वह जब प्रिय होता है तो कुछ-न-कुछ उसमें रहस्य जरूर है, अन्यथा अन्यत्र ऐसा नहीं देखा जाता ॥ ४५ ॥

अलिअपसुत्तवलन्तम्मि णववरे णववहूअ वेवन्तो ।
संवेल्लिओरुसंजमिअवत्थगण्ठि गओ हत्थो ॥ ४६ ॥
[अलीकप्रसुप्तवलमाने नववरे नववध्वा वेपमानः ।
संवेष्टितोरुसंयमितवस्त्रग्रन्थि गतो हस्तः ॥]

नया दूल्हा ने जब झूठ-मूठ के सोये हुए करवट लिया तब नई दुल्हन का हाथ जांघ में घुमाकर बांधे हुए कपड़े की गांठ पर पहुँच गया ।

विमर्श—प्रौढ़ा द्वारा नववधू के स्वभाव की सूचना, नायक के प्रति । नायक को यह गलतफहमी हो गई है, कि किसी प्रकार के प्रयत्न पर नायिका उसके प्रतिकूल आचरण करती है, इसलिए वह उसे नहीं चाहती । प्रौढ़ा का तात्पर्य यह है कि वह ऐसी अवस्था में ही है कि उसका मन हमेशा शङ्कित बना रहता है, ऐसा नहीं कि वह तुझे नहीं चाहती । प्रस्तुत गाथा में, नायिका के भय, लज्जा, रति का मधुर मिश्रण सूचित किया गया है ॥ ४६ ॥

पुच्छिज्जन्ती ण भणइ गहिआ पप्फुरइ चुम्बिआ रुअइ ।
तुण्हिक्का णववहुआ कआवराहेण उवऊढा ॥ ४७ ॥
[पृच्छ्यमाना न भणति गृहीता प्रस्फुरति चुम्बिता रोदिति ।
तूष्णीका नववधूः कृतापराधेनोपगूढा ॥]

पूछने पर नहीं बोलती, पकड़ने पर भाग पड़ती है, चूमने पर रोने लगती है, चुपचाप पड़ी नववधू को अपराधी नायक ने आलिङ्गन किया ।

विमर्श—विस्रम्भणानभिज्ञ नायक द्वारा कोपित नायिका की अवस्था का किसी द्वारा निवेदन, सखी के प्रति । एक तो अपराध किया, दूसरे, उसे अनुकूल नहीं किया । फिर वह कहाँ तब बर्दाश्त कर सकती है, नववधू जो ठहरी ! ऐंठ गई । तब चालाक नायक ने फिर कुछ न किया, आलिङ्गन किया । तात्पर्य यह कि नववधू की सम्मति की प्रतीक्षा के विना ही, क्योंकि उसकी सम्मति किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं हो सकती, आलिङ्गन आदि कार्य कर लेने चाहिए ॥ ४७ ॥

तत्तो च्चिअ होन्ति कहा विअसन्ति तहिं तहिं समप्पन्ति ।
किं मण्णे माउच्छा एक्कजुआणो इमो गामो ॥ ४८ ॥
[तत एव भवन्ति कथा विकसन्ति तत्र तत्र समाप्यन्ते ।
किं मन्ये मातृष्वसः एकयुवकोऽयं ग्रामः ॥]

उसीसे कथाएं बनती हैं, उस पर ही विकसित होती हैं और उसी पर समाप्त होती हैं। मौसी, मुझे लगता है कि इस गांव में एक ही युवक है।

विमर्श—नायिका का मातृभागिनी के प्रति वचन, किसी एक तरुण की बार-बार चर्चा करती हुए सखी का उपहास करते हुए। क्या कोई दूसरा युवक इस गांव में नहीं है कि बार-बार एक ही युवक की बातें सुनी-सुनाई जाती हैं? सुनते-सुनते कान पक गए? ॥ ४८ ॥

जाणि वअणाणि अम्हे वि जम्पिओ ताइँ जम्पइ जणो वि ।
ताइं च्चिअ तेण पजम्पिआइं हिअअं सुहावेन्ति ॥ ४९ ॥
[यानि वचनानि वयमपि जल्पामस्तानि जल्पति जनोऽपि ।
तान्येव तेन प्रजल्पितानि हृदयं सुखयन्ति ॥]

जिन बातों को हम भी कहते हैं, उन्हें लोग भी कहते हैं, उनके द्वारा कही जाने पर वे ही बातें हृदय को सुख पहुँचाती हैं।

विमर्श—प्रियवचनों की सुखकारिता के सम्बन्ध में विरहोत्कण्ठिता का अनुभव-वचन अन्तरंग सखी के प्रति। वे ही बातें अपने तई कही जाने पर प्रिय तो लगती ही हैं, पर दूसरे लोग भी जब उन्हीं को कहते हैं तो भी प्रिय लगती हैं! ॥ ४९ ॥

सव्वाअरेण मग्गह पिअं जणं जइ सुहेण वो कज्जं ।
जं जस्स हिअअदइअं तं ण सुहं जं तहिं णत्थि ॥ ५० ॥
[सर्वादरेण मृगयध्वं प्रियं जनं यदि सुखेन वः कार्यम् ।
यद्यस्य हृदयदयितं तन्न सुखं यत्तत्र नास्ति ॥]

अगर तुम लोगों को सुख से मतलब हो तो पूरे आदर के साथ प्रियजन की तलाश करो, जो जिसका दिली प्यारा है, ऐसा सुख नहीं, जो उसमें नहीं है।

विमर्श—पति से कलह करके विमुख नायिका को जार के समागम के लिए उत्साहित करती हुई दूती का वचन। यह बात किसी एक के लिए नहीं, बल्कि सबके लिए समानरूप से हितकर है, इसलिए कहती हूं कि प्रियजन की तलाश में पूरे आदर के साथ रहना चाहिए और उसे पाकर ही दम लेना चाहिए, क्योंकि सारे सुख उसमें ही मिलते हैं ॥ ५० ॥

दीसन्तो दिट्ठिसुओ चिन्तिज्जन्तो मणवल्लहो अत्ता ।
उल्लावन्तो सुइसुहो पिओ जणो णिच्चरमणिज्जो ॥ ५१ ॥

[दृश्यमानो दृष्टिसुखश्चिन्त्यमानो मनोवल्लभः श्वश्रु ।
उल्लप्यमानः श्रुतिसुखः प्रिय जनो नित्यरमणीयः ॥]

ईया जी, देखते हैं तो आँखों को सुख देता है, सोचते हैं तो मन को प्यारा लगता है, बातचीत करते हैं तो कानों को मजा आता है, प्रियजन हमेशा सुहावना लगता है ।

विमर्श—कामुक का वचन, वेश्यामाता के प्रति, जब वह अपनी बेटी को बिना सिंगार-पटार के उपस्थित देखकर बिगड़ने लगी । अथवा, गंगाधर के अनुसार पूर्वगाथा की भांति दूती का वचन, नायिका को जार-समागम के लिए किसी प्रौढ़ा के प्रति ॥ ५१ ॥

ठाणब्भट्ठा परिगलिअपीणआ उण्णईअ परिचत्ता ।
अम्हे उण ठेरपओहर व्व उअरे च्चिअ णिसण्णा ॥ ५२ ॥

[स्थानभ्रष्टाः परिगलितपीनत्वा उन्नत्या परित्यक्ताः ।
वयं पुनः स्थाविरापयोधरा इवोदर एव निषण्णाः ॥]

स्थान से गिरे, मोटपन से रहित, उन्नति को न प्राप्त, हम तो वृद्धा स्त्री के स्तनों की भांति पेट ही पर पड़े रहे ।

विमर्श—भुजंग का वेश्यामाता को प्रत्याख्यान । जब उसके पास धन था तब उसने बड़े आवभगत से अपने यहाँ आने दिया और जब वह धनरहित हो गया तब उसे धक्के देखकर और यह कह कर निकाल दिया कि 'पेट पर पड़ा रहता है अर्थात् खाने के लिए जमा रहता है, पेटू कहीं का !' अब जब उसने अपने पास धन इकट्ठा कर लिया तब अपनी बेटी का प्यार जताने लगी । उस समय उसकी बेटी का प्यार कहाँ चला गया था ? जिस प्रकार वृद्धा स्त्री के स्तन स्थानभ्रष्ट, पीनत्वविच्छित्त, उन्नतिरहित होकर पेट पर ही पड़े रहते हैं उसी प्रकार उन दिनों मैं भी (भुजङ्ग के कथनानुसार) इन सभी दोषों को प्राप्त होकर पेट पर पड़ा रहता था । तात्पर्य यह कि तुम तो पैसे की दासी हो, तुमसे वह लगे जो गाँठ का पूरा हो ! ॥ ५२ ॥

पच्चूसागअ रञ्जिअदेह पिआलोअ लोअणाणन्द ।
अण्णत्त खविअसव्वरि णहभूसण दिणवइ णमो दे ॥ ५३ ॥

[प्रत्यूषागत रक्तदेह प्रियालोक लोचनानन्द ।
अन्यत्र क्षपितशर्वरीक नभोभूषण दिनपते नमस्ते ॥]

भोर में आए, लाल देह वाले, प्रियदर्शन आँखों के आनन्दकर, अन्यत्र

रात बिताए हे आकाश के भूषण दिनपति (सूर्य भगवान्) तुम्हें नमस्कार है।

विमर्श—खण्डिता नायिका का वचन सूर्य नमस्कार के व्यपदेश से नायक के प्रति। नायक-पक्ष में सपत्नी के घर रातभर रहकर उसके नखचिह्नों से अलंकृत होकर भोर ही में तू पहुँचा है, तुझे नमस्कार है। हाय! मेरा तो सिर्फ तू पतिमात्र है, प्रिय तो किसी और का बन गया है। सूर्य भगवान्—जैसे तुझे प्रणाम ही करना चाहिए। स० कण्ठाभरण में खण्डिता का उदाहरण ॥५३॥

विवरीअसुरअलेहल पुच्छसि मह कीस गब्भसंभूइं।
ओअत्ते कुम्भमुहे जललवकणिआ वि किं ठाइ ॥ ५४ ॥

[विपरीतसुरतलम्पट पृच्छसि मम किमिति गर्भसंभूतिम्।
अपवृत्ते कुम्भमुखे जललवकणिकापि किं तिष्ठति ॥]

विपरीतसुरत का लम्पट! तू मेरे गर्भ की सम्भावना क्यों पूछ रहा है? घड़ा का मुँह औंधने पर क्या पानी की बूँद तक भी ठहरती है।

विमर्श—प्रिय के यह पूछने पर कि क्या तू गर्भिणी है, नायिका का वचन ॥ ५४ ॥

अच्चासण्णविवाहे समं जसोआइ तरुणगोवीहिं।
वड्ढन्ते महुमहणे सम्बन्धा णिण्हुविज्जन्ति ॥ ५५ ॥

[अत्यासन्नविवाहे समं यशोदया तरुणगोपीभिः।
वर्धमाने मधुमथने सम्बन्धा निह्नूयन्ते ॥]

कृष्ण बढ़ने लगे और जब उनका विवाह-काल बहुत समीप आने लगा तब तरुण गोपियाँ यशोदा के साथ सम्बन्ध छिपाने लगीं।

विमर्श—नायिका के प्रोत्साहनार्थ दूती का वचन। यदि प्रिय की चाह है तो किसी दूर के सम्बन्ध से उसके कुछ लगने पर भी परवाह नहीं करनी चाहिए, यहाँ तक कि गोपियां भी श्रीकृष्ण के विवाहयोग्य होने पर यशोदा के साथ अपना सम्बन्ध छिपाने लगती थीं, जिससे उनके साथ कृष्ण के विवाह में कोई अड़चन पैदा न हो! ॥ ५५ ॥

जं जं आलिहइ मणो आसावट्टीहिँ हिअअफलअम्मि।
तं तं बालो व्व विही णिहुअं हसिऊण पम्हुसइ ॥ ५६ ॥

[यद्यदालिखति मन आशावर्तिकाभिर्हृदयफलके।
तत्तद्बाल इव विधिर्निभृतं हसित्वा प्रोञ्छति ॥]

हृदय के पाटे पर आशा की बत्तियों से मन जो-जो लिखता है उसे उसे बालक की भांति विधाता हँसता हुआ पूरा पोंछ देता है।

विमर्श—भग्नमनोरथा नायिका द्वारा विधाता को उपालम्भ। वर्तिका = बत्ती, अर्थात् तूलिका, ब्रश। चित्रकार तूलिकाओं से किसी फलक (पाटे) पर चित्र का निर्माण करता हुआ उसमें बहुत से रंग भरता है। इसी प्रकार मन आशा की बहुरंगी तूलिकाओं से हृदय पर बहुत-बहुत बातें लिख डालता है, पर विधाता को इन्हें मिटाते हुए कुछ भी हिचकिच नहीं होती, बालक की भांति हँसते-हँसते उन्हें मिटा देता है। उसे पता नहीं कि आशाओं के रंग भरने में मैंने कितना श्रम किया है, और कितनी तकलीफें उठाई हैं? ॥ ५६ ॥

अणुहुत्तो करफंसो सअलअलापुण्ण पुण्णदिअहम्मि।
बीआसङ्गकिसङ्गअ एहिं तुह वन्दिमो चलणे ॥ ५७ ॥

[अनुभूतः करस्पर्शः सकलकलापूर्ण पूर्णदिवसे।
द्वितीयासङ्गकृशाङ्ग इदानीं तव वन्दामहे चरणौ ॥]

हे सकल कलाओं से पूर्ण चन्द्र, पूर्ण-दिवस में हमने तेरे करों का स्पर्श अनुभव किया; हे द्वितीया के संग से कृश, अब हम तेरे चरणों की वन्दना करते हैं।

विमर्श—खण्डिता का वचन, चन्द्र के व्यपदेश से नायक के प्रति। सकल-कलाओं से पूर्ण = सोलह कलाओं से युक्त; पक्ष में, विविध कलाओं के प्रयोग में निपुण। करस्पर्श=किरणों का स्पर्श; पक्ष में हाथों का स्पर्श। पूर्णदिवस=पूर्णिमा, पक्ष में, पुण्य दिन, प्राकृत पुण्ण की छाया पूर्ण और पुण्य दोनों हो सकती है। द्वितीया = दूज तिथि; पक्ष में, अन्य नायिका या सपत्नी। चन्द्रमा पूर्णिमा के बाद द्वितीया या दूज तिथि में घट जाता है और नायक द्वितीया अर्थात् अन्य महिला के साथ रमण करने से घट जाता है। चन्द्रपक्ष में, दूज तिथि का कृश चन्द्र सबका श्रद्धाभाव से प्रणम्य होता है, परन्तु यहाँ प्रस्तुत नायक के पक्ष में प्रणाम का अभिप्राय है कि तुमसे अब अलग रहना ही अच्छा है। जब विवाह आदि के शुभ दिन थे तब तो मैंने तेरा करस्पर्श अनुभव किया, अब तो दूसरी का सङ्ग करके तू घटता जा रहा है, तुझे प्रणाम है, मैं तेरे इस ढंग से तङ्ग आ चुकी हूँ ॥ ५७ ॥

दूरन्तरिए वि पिए कह वि णिअत्ताइँ मज्झ णअणाइँ।
हिअअं उण तेण समं अज्ज वि अणिवारिअं भमइ ॥ ५८ ॥

[दूरान्तरितेऽपि प्रिये कथमपि निवर्तिते मम नयने।
हृदयं पुनस्तेन सममद्याप्यनिवारितं भ्रमति ॥]

प्रिय के दूर ओझल हो जाने पर किसी प्रकार मेरी आँखें लौट आईं, पर हृदय उसके साथ आज भी बेरोक घूमता है।

विमर्श—विरहोत्कण्ठिता का वचन, दूती के प्रति (गङ्गाधर)। आँखें बेचारी तो अपने विषय तक ही पहुँच सकती हैं, परन्तु हृदय तो अप्रत्यक्ष को भी गोचर करनेवाला ठहरा; भला वह कैसे माने ? वह अब तक प्रिय के साथ ही लगा-लगा रहता है ॥ ५८ ॥

तस्स कहाकण्टइए सद्दाअण्णणसमोसरिअकोवे ।
सम्मुहालोअणकम्पिरि उवऊढा किं पिवज्जिहिसि ॥ ५९ ॥

[तस्य कथाकण्टकिते शब्दाकर्णनसमपसृतकोपे ।
संमुखालोकनकम्पनशीले उपगूढा किं प्रपत्स्यसे ॥]

उसकी बात चल पड़ती है तो तू पुलक से भर जाती है, उसका शब्द सुन लेती है तो तेरा कोप दूर सरक जाता है और उसे सम्मुख देख कर काँपने लगती है, फिर जब वह आलिङ्गन करेगा तो तेरी क्या हालत होगी ?

विमर्श—मान करने में असमर्थ नायिका के प्रति दूती का सप्रणय-कोप वचन (गङ्गाधर) ॥ ५९ ॥

भरणमिअणीलसाहग्गखलिअचलणद्धविहुअवक्खउडा ।
तरुसिहरेसु विहंगा कह कह वि लहन्ति संठाणं ॥ ६० ॥

[भरनमितनीलशाखाग्रस्खलितचरणार्थविधुतपक्षपुटाः ।
तरुशिखरेषु विहंगाः कथं कथमपि लभन्ते संस्थानम् ॥]

पेड़ की फुनगियों पर पंछी किसी-किसी प्रकार टिकाव पाने लगे; क्योंकि बोझ से झुकी नीली टहनियों की टूंग पर से उनका आधा पैर फिसल जाता है और वे अपने पांख फड़फड़ाने लगते हैं ।

विमर्श—दूती का वचन, अभिसारिका नायिका को त्वरित करने के लिए (गंगाधर)। तात्पर्य यह कि सन्ध्यासमय हो पहुँचा है, अभिसार की तैयारी कर ले, अवसर हाथ से न जाय ॥ ६० ॥

अहरमहुपाणधारिल्लिआइ जं च रमिओ सि सविसेसं ।
असइ अलाज्जिरि बहुसिक्खिरि त्ति मा णाह मण्णुहिसि ॥ ६१ ॥

[अधरमधुपानलालसया यच्च रमितोऽसि सविशेषम् ।
असती अलज्जाशीला बहुशिक्षितेति मा नाथ मंस्थाः ॥]

अधर का मधु पीने की लालसा से जो विशेष प्रकार से तुम्हारे साथ रमण किया है, हे नाथ ! इससे मत समझना कि यह न लजानेवाली और बहुत सीखी होने से छिनाल है ।

विमर्श—नायिका का वचन, नायक के मन की शङ्का के निवारणार्थ । बहुत

कला-कौशल के साथ नायिका द्वारा रमण करने पर यह मन में आना स्वाभाविक है कि इसके गुरुजन पहले मिल चुके हैं जिन्होंने इस प्रकार रमण-कला की सीख इसे दी है, मगर यह खयाल सरासर गलत है। गंगाधर ने इस गाथा को दूसरे ही अवतरण की कल्पना करके समझाया है। उनके अनुसार छिनाल (असती) का वचन, असती के प्रशंसक नायक के प्रति यह है कि असती होने का मतलब यह नहीं होता कि वह लाज छोड़ बैठती है और रतिकला के प्रकारों को सीखी होती है। बल्कि वह अपने प्रिय के अधर-मधु के पान की लालसा से इस प्रकार चपलता कर बैठती है ॥ ६१ ॥

खाणेण अ पाणेण अ तह गहिओ मण्डलो अडअणाए।
जह जारं अहिणन्दइ भुक्कइ घरसामिए एन्ते ॥ ६२ ॥
[खादनेन च पानेन च तथा गृहीतो मण्डलोऽसत्या।
यथा जारमभिनन्दति भुक्कति गृहस्वामिन्येति ॥]

छिनाल ने खिलाने और पिलाने से कुत्ते को इस प्रकार मना रखा है कि वह जार का स्वागत करता है और घर के मालिक के आने पर भूंकता है।

विमर्श—किसी स्त्री का वचन, छिनाल के प्रति कि छिनाल की रक्षा कर पाना मुश्किल है (गंगाधर)। 'मण्डल' शब्द का अर्थ 'कुक्कुर' कोषसम्मत है ॥ ६२ ॥

कण्डन्तेण अकण्डं पल्लीमज्झम्मि विअडकोअण्डं।
पइमरणाहिँ वि अहिअं वाहेण रुआविआ अत्ता ॥ ६३ ॥
[कण्डूयता अकाण्डे पल्लीमध्ये विकटकोदण्डम्।
पतिमरणादप्यधिकं व्याधेन रोदिता श्वश्रूः ॥]

असमय में विशाल धनुष को रगड़ते हुए (पतला करते हुए) व्याध ने माता को पति के मरने से भी अधिक रुलाया।

विमर्श—दूसरी नायिका में अनुरक्त जमाता को देखने से अपनी पुत्री के लिए सोच में पड़ी व्याध की सास को देखकर किसी का वचन (गंगाधर)। गंगाधर ने 'अत्ता' को प्रायः 'श्वश्रू' ही माना है, अन्य लोग 'माता' के लिए भी इसका प्रयोग यत्र-तत्र समझते हैं। ग्राम्य-जीवन में लड़की के लिए पति तक को छोड़ देने की घटनाएँ सुन पड़ती हैं जो इस गाथा को समझने में बहुत कुछ सहायक प्रतीत होती हैं। निम्न श्रेणी की ग्राम्य महिलाएं घर आए दामाद से झगड़ते हुए कहने लगती हैं कि मुझे मरद के मरने की तकलीफ उतनी न हुई जितनी कि मेरी बेटी को तुम्हारे द्वारा कष्ट दिए जाने से तकलीफ

हुई है। आखिर जब तुम्हें इसकी देखभाल ही न करनी थी तो इसके साथ शादी तुमने क्यों की, आदि आदि ॥ ६३ ॥

अम्हे उज्जुअसीला पिओ वि पिअसहि विआरपरिओसो।
ण हु अण्णा का वि गई वाहोहा कहँ पुसिज्जन्तु ॥ ६४ ॥
[वयं ऋजुकशीलाः प्रियोऽपि प्रियसखि विकारपरितोषः।
न खल्वन्या कापि गतिर्बाष्पौघाः कथं प्रोञ्छ्यन्ताम् ॥]

हे प्रियसखी, हम सीधी-साधी (औरत) हैं, प्रिय भी हाव-भाव के विकारों से प्रसन्न होनेवाला है, दूसरी कोई भी गति नहीं है, बाष्पसमूह कैसे पोछूँ ?

विमर्श—क्यों बराबर रोती रहती है ? सखी के यह पूछने पर नायिका का उत्तर। जैसे हम सरलता के स्वभाव को छोड़नेवाली नहीं, उसी प्रकार मेरा प्रिय भी चटक-मटक (हाव-भाव) का अनुराग नहीं छोड़ता। इस निराशा से कि अब प्रिय को अनुकूल करने का कोई उपाय नहीं, आँसू बहाने के सिवा और क्या हो सकता है ? ॥ ६२ ॥

धवलो सि जइ वि सुन्दर तह वि तुए मज्झ रञ्जिअं हिअअं।
राअभरिए वि हिअए सुहअ णिहित्तो ण रत्तो सि ॥ ६५ ॥
[धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर तथापि त्वया मम रञ्जितं हृदयम्।
रागभृतेऽपि हृदये सुभग निहितो न रक्तोऽसि ॥]

यद्यपि हे सुन्दर ! तुम धवल हो, तथापि तुमने मेरे हृदय को रञ्जित कर दिया है और हे सुभग, रागभरे भी हृदय में रखने पर तुम रक्त न हुए।

विमर्श—नायिका का उपालम्भ, नायक को। धवल होकर भी हृदय को रञ्जित अर्थात् लाल बना दिया, इस विरोध का श्लेष से समाधान यह कि अनुरक्त कर दिया, मेरा हृदय तुम्हारे आने से स्नेह से भर गया। राग-भरे अर्थात् लाली युक्त हृदय में रखने पर भी उसका लाल-गुण तुममें संक्रान्त न हुआ, तुम रक्त अर्थात् रागयुक्त न हुए, तात्पर्य यह कि मेरे अनुरागयुक्त हृदय में स्थान पाकर भी तुम अनुरागयुक्त न हुए। इस गाथा के पूर्वार्ध में 'विरोध' और उत्तरार्ध से 'अतद्गुण' अलङ्कार समझना चाहिए। नायिका ने पूर्वार्ध में 'सुन्दर' और उत्तरार्ध में 'सुभग' सम्बोधन का प्रयोग किया है, उसका तात्पर्य यह है कि मैंने तो तुम्हें प्रथम दृष्टिपात में ही तुम्हारे सौन्दर्य पर मुग्ध होकर अपने हृदय में रख लिया और तुम इस प्रकार सौभाग्यदृप्त हुए कि मेरे समग्र सद्भावों को ठुकरा दिया, तुम बड़े वो हो ! ॥ ६५ ॥

चञ्चुपुडाहअविअलिअसहआररसेण सित्तदेहस्स ।
कीरस्स मग्गलग्गं गन्धन्धं भमइ भमरउलं ॥ ६६ ॥

[चञ्चुपुटाहतविगलितसहकाररसेन सिक्तदेहस्य ।
कीरस्य मार्गलग्नं गन्धान्धं भ्रमति भ्रमरकुलम् ॥]

चञ्चुपुट से आहत होने से आम के चूते रस से भींगे शरीरवाले शुक के मार्ग में लगकर गन्धान्ध भौंरे घूमते रहते हैं।

विमर्श—कामुक लोग गुणहीन परन्तु बाहर से चमक-दमकवाली औरतों के पीछे पड़े रहते हैं, इस तात्पर्य से अन्यापदेश द्वारा नायिका द्वारा नायक को अपने गुणोत्कर्ष का सूचन। शुक के शरीर की सुरभि न तो उसका स्वाभाविक गुण है, गन्ध के अन्धे भौंरे उसे क्या जानें? नायक के प्रति तात्पर्य यह कि अन्य युवतियों की चटक-मटक से उनके प्रति लुभाना नादानी है, हम जैसी गुणशालिनियों के साथ प्रणय के मजे कुछ और ही हैं! गाथा में प्रयुक्त 'भ्रमर' पद भौंरों का वाचक होते हुए उनके भ्रमणशीलता दोष को व्यञ्जित करता है ॥ ६६ ॥

एत्थ णिमज्जइ अत्ता एत्थ अहं एत्थ परिअणो सअलो ।
पन्थिअ रत्तीअन्धअ मा महँ सअणे णिमज्जिहिसि ॥ ६७ ॥

[अत्र निमज्जति श्वश्रूरत्राहमत्र परिजनः सकलः ।
पथिक रात्र्यन्धक मा मम शयने निमङ्क्ष्यसि ॥]

यहां सासू जी गहरी नींद सोती हैं, यहां मैं और यहां परिवार के सारे लोग सोते हैं; रतौंधी के रोगी बटोही, मेरी खाट पर ही मत पड़ जाना।

विमर्श—प्रोषितपतिका तरुणी द्वारा प्रवृद्धमदनांकुर पथिक को रात्रि-निवास के लिए सूचना। नायिका बात को इस ढंग से प्रस्तुत करती है कि रहस्यभेद भी न हो और पथिक को विदित हो जाय कि रात में उसे वह अपने घर के किस स्थान में मिलेगी। 'निमज्जति' अर्थात् डूब जाती है, गहरी नींद सोती है, उसे सो जाने पर कुछ भी हव-खब नहीं रहती। नायिका ने अपने लिए स्वाप-बोधक 'स्वपिमि' आदि प्रयोग नहीं किया, उसका तात्पर्य यह है कि मुझे तो रातभर नींद ही नहीं आती, सिर्फ सेज पर लेटी करवटें बदलती रहती हूँ। उसने परिवार के लोगों के सम्बन्ध में बताया कि वे एक साथ सोते हैं। परस्पर बातें करते हैं और देर के बाद गहरी नींद लेते हैं, अतः उनसे भी डरने की बात नहीं। यह सब बात बिना पूछे बताने का मतलब क्या है? कोई सुननेवाला रहस्य को समझ न ले इसलिए नायिका ने पथिक को रतौन्धी का रोगी बताया और साथ ही 'मेरी खाट पर पड़ मत जाना' इस

विमर्श—साभिलाष व्यक्ति द्वारा किसी नायिका के मुखचन्द्र का वर्णन। चन्द्र जब उदय लेने लगता है तब उसका प्रत्येक भाग शनैः-शनैः स्पष्टतर होता जाता और उसकी क्रम से मन में सुखवृद्धि होती जाती है, ठीक वही दृश्य चोली उतारते समय उसके मुँह का होता है। चन्द्रोदय को नहीं देखा उस समय उसके मुख को देखा ॥ ७२ ॥

समविसमणिव्विसेसा समन्तओ मन्दमन्दसंआरा।
अइरा होहिन्ति पहा मणोरहाणं पि दुल्लङ्घा ॥ ७३ ॥
[समविषमनिर्विशेषाः समन्ततो मन्द-मन्दसञ्चाराः।
अचिराद्भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्याः ॥]

बराबर और ऊँचखाल में कोई अन्तर नहीं रह जायगा, चारों ओर चलना-फिरना धीमा पड़ जायगा (या लोग धीरे चलकर रास्ता तय करेंगे), इस प्रकार मार्ग तुरन्त मनोरथों के भी दुर्लङ्घ्य हो जायँगे।

विमर्श—अब ग्रीष्म समाप्त हो रहा है, प्रिय बाहर से घर नहीं लौटा, तो क्या भरे वर्षाकाल में उसका आना सम्भव होगा, जब कि मार्ग मनोरथों द्वारा भी दुर्लङ्घ्य हो जाते हैं? यह वचन, नायिका द्वारा सान्त्वना देती हुई सखी के प्रति। अथवा, सखी द्वारा यह सूचना कि मार्ग के समीप का कुञ्ज अभी सङ्केतयोग्य नहीं है, वर्षाकाल में ही उसका उपयोग सम्भव होगा ॥७३॥

अइदीहराइँ बहुए सीसे दीसन्ति वंसवत्ताइं।
भणिए भणामि अत्ता तुम्हाणँ वि पण्डुरा पुट्ठी ॥ ७४ ॥
[अतिदीर्घाणि वध्वाः शीर्षे दृश्यन्ते वंशपत्राणि।
भणिते भणामि श्वश्रु युष्माकमपि पाण्डुरं पृष्ठम् ॥]

बधू के सिर पर बांस के बहुत लम्बे पत्ते दिखाई देते हैं, यह कहने पर मैं कहती हूँ कि सास जी, आप की भी पीठ तो पीली है।

विमर्श—वधू द्वारा सास को प्रत्युत्तर। जो अपराध आप मुझ पर लगाती हैं, ऐसा न समझिए कि मैं कहने से बाज आऊंगी, सरासर आप भी उसी तरह अपराधिनी हैं। मैं अगर बांस के वन में किसी के साथ रमण कर आई हूँ तो आप भी खरहरी जमीन पर किसी के साथ सोई हैं! ॥ ७४ ॥

अत्थक्करूसणं खणपसिज्जणं अलिअवअणणिब्बन्धो।
उम्मच्छरसंतावो पुत्तअ पअवी सिणेहस्स ॥ ७५ ॥
[आकस्मिकरोषकरणं क्षणप्रसादनमलीकवचननिर्बन्धः ;
उन्मत्सरसंतापः पुत्रक पदवी स्नेहस्य ॥]

अचानक रूस जाना, छिन में खुश होना, झूठी बातों में हठ, बहुत सन्ताप, बेटा ! यह सनेह का ढंग है ।

विमर्श—नायिका के मान को विरक्ति समझ कर विरज्यमान नायक के बोधनार्थ वृद्धा दूती का वचन । वह मान करके तुझमें स्नेह का ढंग अपनाती है और तू समझता है कि वह तुझे नहीं चाहती । मैं तेरा शुभ चाहने वाली हूं, तू मुझ पर विश्वास कर और मेरी बात मान । प्राकृत 'उम्मच्छर' (उन्मत्सर) को गङ्गाधर से 'बहुल' अर्थ में समझा है । अन्यत्र 'उन्मूर्च्छन' को संस्कृत पाठान्तर मानकर 'प्रतिकूल वचन से कुपित करना' यह अर्थ किया है ॥ ७५ ॥

पिज्जइ कण्णञ्जलिहिं जणरवमिलिअं वि तुज्झ संलावं ।
दुद्धं जणसंमिलिअं सा बाला राअहंसि व्व ॥ ७६ ॥

[पिबति कर्णाञ्जलिभिर्जनरवमिलितमपि तव संलापम् ।
दुग्धं जलसंमिलितं सा बाला राजहंसीव ॥]

वह बाला जल से मिले दूध को राजहंसी की भांति जनरव से मिले तेरे संलाप को कान की अञ्जलियों से पान करती है ।

विमर्श—नायिका के अनुराग में सन्देहशील नायक के प्रोत्साहनार्थ दूती का वचन । आखिर वह बाला ठहरी, स्वभावतः लजीली ! वह कैसे लोगों के सामने तुम्हारी ओर निहारती । फिर भी, उसने जनरव—बातों के बीच से तुम्हारी बातों को सुना ही, उसी प्रकार जैसे राजहंसी जल को छोड़ देती है और दूध पी लेती है । तात्पर्य यह कि उसके प्रति तुम्हारा यह अन्यथा-भाव सब प्रकार से गलत है, तुम उसके अनुराग को नजदीक से अनुभव करने का जो प्रयास नहीं करते, उसी का यह फल है कि उसके प्रति गलत धारणा कर बैठे हो ॥ ७६ ॥

अइ उज्जुए ण लज्जसि पुच्छिज्जन्ती पिअस्स चरिआइं ।
सव्वङ्गसुरहिणो मरुवअस्स किं कुसुमरिद्धीहिं ॥ ७७ ॥

[अयि ऋजुके न लज्जसे पृच्छन्ती प्रियस्य चरितानि ।
सर्वाङ्गसुरभेर्मरुबकस्य किं कुसुमर्द्धिभिः ॥]

अयि सरले ! प्रिय के चरित पूछती हुई तू लजाती नहीं, अङ्ग-अङ्ग में खुशबूदार मरुवक की पुष्पसमृद्धि से क्या ?

विमर्श—बार-बार प्रिय के गुणों को पूछती हुई नायिका के प्रति सखी का साभिप्राय वचन । जो सौन्दर्य, सौष्ठव आदि विशिष्ट गुणों से युक्त है, उसके अन्य गुणों के बारे में प्रश्न ही क्या ? तुझे तो शर्म भी करनी चाहिए ।

हुआ है, रात में उसका पति गाया करता है, शरद् की चांदनी छिटकी रहती है, अतः वह सुखसाध्य नहीं है। अथवा, शरत्काल में धान पक जाने पर हलिक अपने घर रहता है और जब तक नहीं धान पका रहता तब तक उनकी रक्षा के लिए खेत पर रहता है, अतः हलिकवधू शरत्काल के अतिरिक्त काल में सुलभ है, यह किसी द्वारा किसी को बोधन (गङ्गाधर) ॥ ८९ ॥

अलिहिज्जइ पङ्कअले हलालिचलणेण फलमगोत्रीए।
केआरसोअरुम्भणत सट्ठिअ कोमलो चलणो ॥ ९० ॥
[आलिख्यते पङ्कतले हलालिचललेन कलमगोप्याः।
केदारस्रोतोवरोधतिर्यक् स्थितः कोमलश्चरणः ॥]

धान की रखवालिन का पांक में (छाप के रूप में पड़ा) खेत के बहाव के रोकने के लिए टेढ़ा (अथवा तीन हिस्से में गड़ा) स्थित कोमल चरण हल चलने से जोत दिया गया है।

विमर्श—वर्षाकाल में धान की रखवालिन (कलमगोपी) के पैर से चिह्नित खेत का जोता जाना देखकर पथिक का वचन (गङ्गाधर)। यहां गङ्गाधर ने प्राकृत 'तंस' को तिर्यक् न समझकर 'त्र्यंश' समझा है। उनका तात्पर्य है कि धान की रखवालिन पहले दिन धान के खेत का पानी सूखता हुआ देखकर अपने संकेत के भङ्ग हो जाने के कष्ट से पैर के तीन हिस्से को ही खेत में रखा ॥ ९० ॥

दिअहे दिअहे सूसइ सङ्केअभङ्गवड्ढिआसङ्का।
आवण्डुणअमुही कलमेण समं कलमगोवी ॥ ९१ ॥
[दिवसे दिवसे शुष्यति सङ्केतकभङ्गवर्धिताशङ्का।
आपाण्डुरावनतमुखी कलमेन समं कलमगोपी ॥]

सङ्केत के भङ्ग होने की आशङ्का से भरी, पीले और झुके मुख वाली धान की रखवालिन धान के साथ दिन-दिन सूखती जा रही है।

विमर्श—धान के खेत की रखवालिन को सुनाते हुए उसके चाहनेवाले अपने मित्र के प्रति किसी का वचन। तात्पर्य यह कि धान के पूरे पककर कट जाने से पहले ही वह तुझे सुलभ है और उसकी इच्छा भी तू पूरी कर सकेगा ॥ ९१ ॥

णवकम्मिएण हअपामरेण दट्ठूण पाउहारीओ।
मोत्तव्वे जोत्तअपग्गहम्मि अवहासिणी मुक्का ॥ ९२ ॥
[नवकर्मिणा पश्य पामरेण दृष्ट्वा भक्तहारिकाम्।
मोक्तव्ये योक्त्रप्रग्रहेऽवहासिनी मुक्ता ॥]

नई बनिहारी करनेवाले गँवार ने भात लानेवाली को देखकर जोत का पगहा खोलना चाहिए तो नाथ खोल दिया।

विमर्श—किसी पामर के चरित का कथन। 'पाठहारी' शब्द खेत पर भात पहुँचाने वाली के अर्थ में देशी शब्द है। पाठान्तर 'पाणिहारिओ' अर्थात् 'पानीयहारिकाम्' पानी पहुँचाने वाली खेत पर काम करनेवाले बनिहारों की पत्नियाँ समय पर भोजन-पानी पहुँचाया करती हैं। प्रस्तुत में, एक तो वह बनिहारी का काम सीख रहा है, थोड़े ही श्रम से भूख और प्यास से तड़फड़ा उठा; अथवा, दूसरे अपनी प्रिय पत्नी के हाथ का पका भात खाने की अपार उत्कण्ठा से वह इतना विह्वल हो गया कि वह क्या कर रहा है उसे इसकी बिलकुल खबर ही न रही। 'जोत्त' (=योक्त्र) अर्थात् जोत, बैलों के गले में से ले जाकर हल के जुआठ में लगाई गई रस्सी। अवहासिनी अर्थात् नाथ नाक की रस्सी, यां नाथा ॥ ९२ ॥

दट्ठूण हरिअदीहं गोसे णइजूरए हलिओ।
असईरहस्समग्गं तुसारधवले तिलच्छेत्ते ॥ ९३ ॥

[दृष्ट्वा हरितदीर्घं प्रातर्नातिखिद्यते हलिकः।
असतीरहस्यमार्गं तुषारधवले तिलक्षेत्रे ॥]

प्रातःकाल बरफ से सफेद तिल के खेत में हलवाहा दूर तक हरा छिनाल का रहस्य-मार्ग देखकर अत्यन्त कुपित नहीं होता।

विमर्श—नागरिक का वचन, सहचर के प्रति। हलवाहा देखकर क्यों कुपित नहीं होता, इसके उत्तर में गाथाकार ने कुछ भी नहीं संकेत किया है। कल्पना कर सकते हैं, कि वह इस कार्य को कोई महत्त्व नहीं देता हो, या इससे कोई नुकसान न समझता हो। 'णइजूरए' (नातिखिद्यते) का पाठान्तर 'सण्ढाणँ जूरए' माना जाय, तो 'वृषाभानां खिद्यते' अर्थात् साँडों पर कुपित होता है, यह अर्थ प्रस्तुत में 'हलिक' पद के प्रयोग के औचित्य के अनुसार जान पड़ता है। वह इतना गँवार है कि किसी छिनाल के रहस्य-मार्ग को साँड़ का गमन-मार्ग समझता है, और उस पर कुपित होता है ॥ ९३ ॥

सङ्खेल्लिओ व्व णिज्जइ खण्डं खण्डं कओ व्व पीओ व्व।
वासागमम्मि मग्गो घरहुत्तसुहेण पहिएण ॥ ९४ ॥

[सङ्कोचित इव नीयते खण्डं खण्डं कृत इव पीत इव।
वर्षागमे मार्गो गृहभविष्यत्सुखेन पथिकेन ॥]

बरसात में घर में होनेवाले सुख के कारण पथिक मार्ग को मानों संक्षिप्त कर देता है, मानों खण्ड-खण्ड कर देता है और मानों पी डालता है।

विमर्श—प्रियतमा के मिलनसुख की प्रत्याशा से बरसात में भी सुदूर मार्ग की बटोही परवा नहीं करते। गङ्गाधर के अनुसार इस कारण नायिका को भी यह ध्यान चाहिए कि उन्हें किसी प्रकार का दुःख न हो ॥ ९४ ॥

धण्णा बहिरा अन्धा ते च्चिअ जीअन्ति माणुसे लोए।
ण सुणंति पिसुणवअणं खलाणँ ऋद्धिं ण पेक्खन्ति ॥ ९५ ॥

[धन्या बधिरा अन्धास्त एव जीवन्ति मानुषे लोके।
न शृण्वन्ति पिशुनवचनं खलानामृद्धिं न प्रेक्षन्ते ॥]

मनुष्य-लोक में वे बहरे और अन्धे धन्य होकर जीवित हैं जो चापलूसों की बातें नहीं सुनते और दुष्टों की बढ़ती नहीं देखते।

विमर्श—दुर्जन का उपचय देखकर किसी उत्तम महिला का परिताप (कुलबालदेव), अर्थात् मैं पिशुन जनों की बातें सुनते-सुनते और खल जनों की समृद्धि देखते-देखते तंग आ गई हूं, जीना हराम हो गया है ॥ ९५ ॥

एण्हि वारेइ जणो तइआ मूइल्लओ कहिं व्व गओ।
जाहे विसं व्व जाअं सव्वङ्गपहोलिरं पेम्म ॥ ९६ ॥

[इदानीं वारयति जनस्तदा मूलकः कुत्रापि वा गतः।
यदा विषमिव जातं सर्वाङ्गघूर्णितं प्रेम ॥]

तब कहीं पर चुपचाप चले गए थे। अब जब प्रेम विष की भांति सर्वाङ्ग में फैल गया, तो लोग निवारण करते हैं।

विमर्श—असदृशी नायिका के साथ अनुरक्त नायक का वचन, सखी (या मित्र) के द्वारा वारण करने पर उसके प्रति। 'मूइल्लओ' अर्थात् 'मूकः'। कुलबालदेव ने 'मूलकः' छाया देकर गाथार्थ को संगत नहीं किया है। प्रेम होने के पूर्व रोका जा सकता है, पर प्रेम हो जाने के बाद उसका रोकना उसी प्रकार सम्भव नहीं जिस प्रकार विष के वेग को ॥ ९६ ॥

कहँ तंपि तुइ ण णाअं जह सा आसन्दिआणँ बहुआणं।
काऊण उच्चवच्चिअं तुह दंसणलेहला पडिआ ॥ ९७ ॥

[कथं तदपि त्वया न ज्ञातं यथा सा आसंदिकानां बहूनाम्।
कृत्वा उच्चावचिकां तव दर्शनलालसा पतिता ॥]

क्यों तुमने उसे भी न जाना कि बहुत सी आसन्दियों (एक प्रकार की बेंत की कुर्सियों) को नीचे-ऊपर लगाकर तुझे देखने की लालसा से गिर पड़ी ?

विमर्श—सखी द्वारा नायिका के अतिशय अनुराग के सम्बन्ध में नायक

सूचना (कुलबालदेव)। वह इतनी धड़फड़ी में हो गई कि ठीक से उन कुर्सियों को लगा न पाई और तेरे दर्शन की लालसा का दुष्परिणाम भुगत रही है, और तू है कि उसकी कोई खबर ही नहीं लेता ।। ९७ ।।

चोराणँ कामुआणँ अ पामरपहिआणँ कुक्कुडो वअइ ।
रे रमह वहह वाहयह एत्थ तणुआअए रअणी ।। ९८ ।।

[चौरान्कामुकांश्च पामरपथिकांश्च कुक्कुटो वदति ।
रे रमत पहत वाहयत अत्र तन्वी भवति रजनी ।।]

चोरों, कामुकों और बटोहियों से मुर्गा कहता है 'अरे, ले जा, रमण कर ले, हाँक चल, अब रात थोड़ी बच रही है ।

विमर्श—रात्रिशेष में मुर्गे की आवाज पर किसी की उत्प्रेक्षा । चोरों से कहता है कि चोरी का माल असबाब ले जा, कामुकों से कि रमण का कार्य समाप्त कर ले, और नीच बटोहियों से कि गाड़ियों पर माल चढ़ा कर हाँक चल ।। ९८ ।।

अण्णोण्णकडक्खन्तरपेसिअमेलीणदिट्ठिपसराणं ।
दो च्चिअ मण्णे कअभण्डणाइँ समहं पहसिआइं ।। ९९ ।।

[अन्योन्यकटाक्षान्तरप्रेषितमिलितदृष्टिप्रसरौ ।
द्वावपि मन्ये कृतकलहौ समकं प्रहसितौ ।।]

परस्पर कटाक्ष के भीतर से नजर को भेजकर मिलाते हुए, झगड़े हुए दोनों, लगता है, साथ ही हंस पड़े ।

विमर्श—नायिका और नायक के प्रणयकलह के सम्बन्ध में सखी का वचन । कर तो बैठे झगड़ा, फिर तिरछी नजरों से परस्पर आंखें भी भेजने और मिलाने भी लगे ! आखिर प्रणयकोप कब तक विद्यमान रहता, दोनों हंस पड़े और कलह फुर्र हो गया ।। ९९ ।।

संझागहिअजलञ्जलिपडिमासंकन्तगोरिमुहकमलं ।
अलिअं चिअ फुरओट्ठ विअलिअमन्तं हरं णमह ।। १०० ।।

[संध्यागृहीतजलाञ्जलिप्रतिमासंक्रान्तगौरीमुखकमलम् ।
अलीकमेव स्फुरितोष्ठं विगलितमंत्रं हरं नमत ।।]

सन्ध्या के लिए ली हुई जलाञ्जलि में प्रतिबिम्ब रूप से पड़ते गौरी के मुखकमल को देखकर झूठ के ही फुरफुराते ओठ और विगलित मन्त्रवाले शिव को नमन करो ।

विमर्श—ग्रन्थ की समाप्ति में शिवजी का नमस्कार रूप मङ्गलाचरण ।

स्मरणीय है कि ग्रन्थ के प्रारम्भ में कवि ने प्रातःकालीन सन्ध्या का प्रसङ्ग किया है और प्रस्तुत गाथा में, चूंकि यह ग्रन्थ के अन्त में दी गई है, सायंकालीन सन्ध्योपासन प्रासङ्गिक है। प्रस्तुत गाथा का सामान्य लौकिक अवतरण यह दिया गया है कि अनुरक्त नायिका के प्रति अनुराग न रखनेवाले नायक को यह किसी का उपदेश है। यहां तक की शिवजी भी सन्ध्योपासन के समय अपनी प्रियतमा पार्वती के अनुराग से अपने को विमुख नहीं करते, और तू है कि इस प्रकार की अनुरागवती को गरूर में पड़कर ठुकरा रहा है! गाथा के उत्तरार्ध में अन्यथा भाव से अभिभूत शिव के चित्र को बड़ी सफलता से प्रस्तुत किया है, ओठ तो सिर्फ फुरफुराते जा रहे हैं और मंत्र हवा हो गए हैं। यह ठीक उसी ढंग का चित्र है जो कभी-कभी काशी के घाटों पर धर्मानुष्ठान के अवसर में किसी सद्यः स्नाता को देखने में परायण और मन्त्र बुदबुदाते धार्मिक जनों को देखने पर मन में आता है ॥ १०० ॥

इअ सिरि हालविरइए पाउअकव्वम्मि सत्तसए।
सत्तमसअं समत्तं गाहाणँ सहावरमणिज्जं* ॥ १०१ ॥

[इति श्रीहालविरचिते प्राकृतकाव्ये सप्तशते।
सप्तमशतं समाप्तं गाथा स्वभावरमणीयम् ॥]

इस प्रकार श्री हालविरचित प्राकृत काव्य सप्तशतक में गाथाओं का स्वभावतः रमणीय सप्तम शतक समाप्त हुआ।

विमर्श—'हाल' यह राजा शालिवाहन की दूसरी संज्ञा है (गङ्गाधर) ॥ १०१ ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

---

* एसो कइणामंकिअ गाहापडिवद्धवड्ढिआमोओ।
सत्तसअओ समत्तो सालाहणविरइओ कोसो ॥
[एष कविनामाङ्कितगाथाप्रतिबद्धवर्धितामोदः।
सप्तशतकः समाप्तः शालवाहनविरचितः कोषः ॥
इति पाठान्तरम् ॥

गाथासप्तशती

(उत्तरार्धम्)

सुहअ ! इयं मज्झ सही तुज्झ विओएण धारिउं पाणे ।
सव्वह च्चिअ ण समत्थ त्ति बुज्झिउं विरम गमणाओ ॥ ७०१ ॥

[सुभग ! इयं मम सखी तव वियोगेन धारयितुं प्राणान् ।
सर्वथैव न समर्थेति बुद्ध्वा विरम गमनात् ॥]

गमन से विरत—हे सुभग, यह मेरी सखी तेरे वियोग में प्राण धारण करने में किसी प्रकार समर्थ नहीं, यह बूझ कर गमन से विरत हो।

विमर्श—नायिका-सखी का वचन, नायक के प्रति ॥ ७०१ ॥

गामारुह[1] म्हि, गामे वसामि[2], णअरट्ठिइं ण आणामि ।
णाअरिआणं पइणो[3] हरेमि, जा होमि सा होमि ॥ ७०२ ॥

[[4]ग्रामारुहाऽस्मि ग्रामे वसामि नगरस्थितिं न जानामि ।
नागरिकाणां पतीन् हरामि या भवामि सा भवामि ॥]

ग्राम्या—गँवार हूं, गाँव में रहती हूं, शहरी रिवाज नहीं जानती हूं, शहरवालियों के मरदों को मोह लेती हूँ, जो हूँ, सो हूँ।

विमर्श—गर्विता ग्राम्या (नायिका) का वचन, सखियों के प्रति। छाया काव्यप्रकाश से गृहीत। 'चन्द्रालोक' की गागाभट्टलिखित 'राकागम' व्याख्या में यह समानार्थी श्लोक मिलता है—

ग्राम्याऽस्मि नागरीवृत्तेरनभिज्ञाऽस्मि तादृशी ।
रमणानां मानसानि नागराणां हराम्यहम् ॥ ७०२ ॥

ओसर, रोत्तुं च्चिअ णिम्मिइआइँ मा पुससु मे हअच्छीइं ;
दंसणमेत्तुम्मइएहि[5] जेहि सोलं[6] तुह ण णाअं ॥ ७०३ ॥

[अपसर, रोदितुमेव निर्मिते मा उत्पुंसय[7] हते अक्षिणी मे ।
दर्शनमात्रोन्मत्ताभ्यां याभ्यां तव हृदयमेवंरूपं न ज्ञातम् ॥]

---

१. गम्मड्डरि अम्हि, गामेरहामि। २. वसम्मि। ३. पहिणो। ४. ग्राम्याऽस्मि ग्रामे जाता। ५. दंसमेत्तुम्मत्तेहिं। ६. हिअअं। ७. प्रोञ्छ, मार्जय।

मुई आँखें—हटो, मेरी मुई आँखें रोने के लिए ही बनी हैं, मत पोंछो, केवल दर्शन पाकर मतवाली जिन्होंने तेरे शील को नहीं पहचाना।

विमर्श—अपराधी नायक को अपने अनुराग की सूचनापूर्वक नायिका द्वारा तिरस्कार। छाया 'ध्वन्यालोक' से गृहीत। उत्तरार्ध की छाया के कुछ परिवर्तित पाठ का अर्थ इस प्रकार है—'केवल दर्शन पाकर मतवाली जिन (आँखों) ने तेरे ऐसे हृदय को नहीं पहचाना॥ ७०३॥

रणरणअसुण्णहिअओ चिन्तन्तो विरहदुब्बलं जाअं।
[1]अमुणिअणिअवसही सो वोलीणो गाममज्झेण॥ ७०४॥

[रणरणकशून्यहृदयश्चिन्तयन् विरहदुर्बलां जायाम्।
अज्ञातनिजवसतिः स व्यतिक्रान्तो ग्राममध्येन॥]

बेसुध—उत्कण्ठा से सूना हृदयवाला, विरह से दुबराई पत्नी के ध्यान में लगा वह अपने घर की ओर बिना मुड़े ही गाँव के बीच से निकल गया।

विमर्श—नायक के सहचर का वचन, अन्य लोगों के प्रति। नायक को यह सुध-बुध नहीं रही कि वह अपने ही गाँव से जा रहा है, जो उसका गन्तव्य है॥ ७०४॥

सुअणो ण दीसइ च्चिअ खलबहुले जीअलोअम्मि।
जह काअसंकुला तह अ हंसपरिवारिआ पुहवी॥ ७०५॥

[सुजनो न दृश्यत इव खलबहुले जीवलोके।
यथा काकसंकुला तथा न हंसपरिवारिता पृथ्वी॥]

सुजन का अभाव—दुष्ट जनों से व्याप्त इस जगे संसार में सुजन दिखाई नहीं देता; पृथ्वी जैसी कौओं से भरी है, वैसी हँसों से घिरी नहीं है।

विमर्श—खल नायक को उद्देश्य करके नायिका का वचन। यह गाथा पीताम्बर की टीका 'गाथासप्तशतीप्रकाशिका' (सम्पादक श्री जगदीशलाल शास्त्री) में क्रमाङ्क ४०५ में मिलती है॥ ७०५॥

जं मुच्छिआइ ण सुओ कलंबगंधेण तं गुणे [2]पडिअं।
इअरा गज्जिअसद्दो जीएण विणा ण वोलन्तो॥ ७०६॥

[यन्मूर्च्छिता न च श्रुतः कदम्बगन्धेन तद्गुणे पतितम्।
इतरथा गर्जितशब्दो जीवेन विना न व्यतिक्रामेत्॥]

---

१. अगणिअणिअवसइ, आसंकिअवसही, उवलक्खिअणिअवसही।

२. तं से गुणम्मि जाअं कलम्बगन्धेण जं गआ मोहं।

सुयोग—जो कि कदम्ब की गन्ध से मूर्च्छित हो गई और नहीं सुना यह अच्छा हुआ, नहीं तो (मेघ का) गर्जन प्राण लिए बिना नहीं छोड़ता ।

विमर्श—दूती द्वारा नायिका का विरह-निवेदन, नायक के प्रति । छाया 'सरस्वती कण्ठाभरण' से प्राप्त । यदि वह मूर्च्छित नहीं होती तो जीना सम्भव नहीं था । अर्थात् वह इस वर्षाकाल में तेरे विरह में व्याकुल हो रही है । और तू, न जाने किस चक्कर में पड़ा है ! ॥ ७०६ ॥

पीणपओहरलग्गं दिसाणँ पवसन्तजलअसमअविइण्णं ।
सोहग्गपढमइण्हं पम्माअइ सरसणहवअं[1] इन्दधणुं ॥ ७०७ ॥
[पीनपयोधरलग्नं दिशां प्रसवज्जलदसमयवितीर्णम् ।
सौभाग्यप्रथमचिह्नं प्रम्लायति सरसनखपदमिन्द्रधनुः ॥]

इन्द्रधनुष—दिशाओं के पीन पयोधर में लगा, प्रवास करते हुए जलद-काल द्वारा अर्पित, सौभाग्य का प्रथम चिह्न सरस नखक्षतरूपी इन्द्रधनुष मलिन हो रहा है ।

विमर्श—नायक से विरह निवेदन । यह गाथा प्रवरसेन के सेतुबन्ध महाकाव्य (१।२४) में मिलती है । 'सेतुबन्ध' के टीकाकार रामदास के अनुसार प्रवास के समय नायिका के स्तन पर नखक्षत का अर्पण कामशास्त्र के अनुकूल है । प्रस्तुत में दिशाएँ नायिका हैं तथा जलदकाल नायक । पयोधर मेघ तथा स्तन इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त है । 'जलद' शब्द 'जडद' के रूप में आलिङ्गन द्वारा जाड्य अर्पित करनेवाले नायक के लिए भी सार्थक हो जाता है । यह गाथा 'अलंकारकौस्तुभ' में 'रूपक' के उदाहरण रूप में उद्धृत है ॥ ७०७ ॥

एत्ती मत्तम्मि थवा पुत्तीमत्तम्मि लअणा भत्तो ।
अगईअ अवत्थाए दिअहाइं भित्तरं तरइ ॥ ७०८ ॥

अगतिक अवस्था—अर्थ अस्पष्ट ।

विमर्श—एक टीकाकार लिखते है 'एतेन यस्य यदुचितं कर्म तस्य तत्परिशीलयतो वैरूप्यापत्तिरपि अलङ्कारायेति दर्शितम्' ॥ ७०८ ॥

जं असरणो व्व डड्ढो गामो साहीणवहुजुआणो वि ।
संभमविसंठुलाणं तं दुच्चरिअं तुह थणाणं ॥ ७०९ ॥
[यदशरण इव दग्धो ग्रामः स्वाधीनबहुयुवाऽपि ।
सम्भ्रमविसंष्ठुलयोस्तद् दुश्चरितं तव स्तनयोः ॥]

---

१. सरणहपहं ।

दुश्चरित—जो कि बहुत से जवानों के रहते हुए भी गाँव अनाथ की भाँति जल गया, वह हड़बड़ी से उघर पड़े तेरे स्तनों का दुश्चरित है।

विमर्श—नायक को सुनाते हुए दूती द्वारा नायिका के स्तनों की प्रशंसा। जब गाँव में आग लग गई तब नायिका के हड़बड़ाने से उघरे स्तनों के देखने में खोये युवकों ने आग बुझाना बन्द कर दिया, फलतः सारा गाँव जल गया ॥ ७०९ ॥

सो वि जुआ माणहणो, तुमं पि माणस्स[1] असहणा, पुत्ति !
मत्तच्छलेण गम्मउ सुराइ उवरिं पुससु हत्थं ॥ ७१० ॥

[सोऽपि युवा मानधनस्त्वमपि मानस्यासहना, पुत्रि !
मत्तच्छलेन गच्छ सुराया उपरि स्पृश हस्तम् ॥]

मानधन—वह तरुण भी मानी प्रकृति का है और हे पुत्रि, तू भी किसी का मान (शान) बर्दाश्त नहीं करती। (उत्तरार्ध अस्पष्ट)

विमर्श—दूती द्वारा कलहान्तरिता को अथवा कुट्टनी का पुत्री को अनुनयार्थ प्रेरणा ॥ ७१० ॥

केअइगन्धहगठिअरअरंजिआहणेहि।
कंठअसवलितणुतव छड्डिअभवलाणं ॥ ७११ ॥

केतकी—अर्थ अस्पष्ट ॥ ७११ ॥

अह[2] सुअइ दिण्णपडिवक्खवेअणा पसिढिलेहिँ अंगेहिँ।
णिव्वत्तिअसुरअरसाणुबंधसुहणिब्भरं वहुआ[3] ॥ ७१२ ॥

[अवस्वपिति दत्तप्रतिपक्षवेदनं प्रशिथिलैरङ्गैः।
निर्वर्तितसुरतरसानुबन्धसुखनिर्भरं स्नुषा ॥]

शिथिल अङ्ग—बहू ढीले पड़े अङ्गों से सम्पन्न सुरत के आनन्द लाभ से सम्यक् प्रकार सौतों को वेदना पहुँचाते हुए सो रही है।

विमर्श—दूती द्वारा नायिका के सौभाग्य का प्रकाशन। छाया 'सरस्वती-कण्ठाभरण' से प्राप्त ॥ ७१२ ॥

जइ तेण तुज्झ वअणं ण कअं, मह कारणेण अ, हआसे।
सा कीस खण्डिअतडं णिआहरं, दूइ ! दुम्मेसि ॥ ७१३ ॥

[यदि तेन तव वचनं न कृतं, मम कारणेन च, हताशे।
सा किमिति खण्डिततटं निजाधरं, दूति ! दुनोषि ॥]

---

१. मण्णुस्स। २. ओसुसइ। ३. सोण्हा।

खण्डित अधर—यदि उसने मेरे कारण तेरी बात न मानी तो री हताशे ! दूति ! अपने खण्डित अधर को किस कारण दुखाती है ?

विमर्श—नायिका का वचन नायक द्वारा उपभुक्त होकर लौटी दूती के प्रति ॥ ७१३ ॥

निर्मलगगनतडागे तारागणकुसुमभिते तिमिरे ।
भिकरवोबालं चरति मृगाङ्को मराल इव ॥ ७१४ ॥

गगनतडाग—अन्धकार में तारागण से पुष्पित निर्मल आकाश के सरोवर में चन्द्रमा हंस की भाँति भ्रमण करता है ।

विमर्श—अभिसारिका के उद्दीपनार्थ दूती का उद्गार । इस गाथा का प्राकृत एवं संस्कृत रूप उपलब्ध नहीं है । 'भिकरवोवालम्' यह पद बिलकुल अस्पष्ट है ॥ ७१४ ॥

दिट्ठाइ[1] जं ण दिट्ठो, सरलसहावाइ जं च णालविओ ।
उवआरो जं ण कओ तं चिअ कलिअं छइल्लेहिं ॥ ७१५ ॥
[दृष्टया यन्न दृष्टः, सरलस्वभावया यच्च नालपितः ।
उपकारो यन्न कृतस्तदेव कलितं विदग्धैः ॥]

अनुमान—जो कि दृष्टि से न देखा, सरल स्वभाववाली ने जो कि बातें न कीं और जो कि उपकार न किया उसे छैलों ने ताड़ लिया ।

विमर्श—स्नेह जाहिर करने का यह भी एक ढंग है, यह नागरिक का वचन मित्र के प्रति । 'वज्जालग्ग' में इस प्रकार पाठ है—

सहसत्ति जं ण दिट्ठो सरलसहावेहि जं ण आलत्तो ।
उवयारो जे ण कओ तं चिअ कलिअं छइल्लेहिं ॥
सहसा यन्न दृष्टः सरलस्वभावेन यन्नालपितः ।
उपकारो यन्न कृतस्तदेव कलितं छेकैः ॥

'अलङ्कार कौस्तुभ' में विषय (विचित्र) अलङ्कार का उदाहरण ॥ ७१५ ॥

अविरलणिग्गअपुलओ पअडिअकम्पो पमुक्कसिक्कारो ।
हेमन्ते पहिअजणो सुरआसत्तो व्व पडिहाइ ॥ ७१६ ॥
[अविरलनिर्गतपुलकः प्रकटितकम्पः प्रमुक्तसीत्कारः ।
हेमन्ते पथिकजनः सुरतासक्त इव प्रतिभाति ॥]

शीतार्त पथिक—रोमाञ्च सर्वत्र निकल आता है, कंपकपी प्रकट हो जाती है और सी-सी की आवाज निकलने लगती है; पथिक लोग हेमन्त में सुरत कर्मनिरत से प्रतीत होते हैं ।

---

1. दिट्ठीअ ।

विमर्श—शीतार्त पथिक की अवस्था के वर्णन के निमित्त से पथिक को सम्भोगार्थ आवाहन ॥ ७१६ ॥

बहुविहविलासभरिए सुरए लब्भन्ति जाइ सोक्खाइं।
विरहम्मि ताइ पिअसहि ! खाउग्गिण्णाइ कीरंति ॥ ७१७ ॥

[बहुविधविलासभरिते सुरते लभ्यन्ते यानि सौख्यानि।
विरहे तानि प्रियसखि ! खादितोद्गीर्णानि क्रियन्ते ॥]

अनुभूति—हे प्रियसखी, बहुत प्रकार के विलासों से भरे सुरत में जो मजे पाते हैं उन्हें विरह में उगल डालते हैं।

विमर्श—विरहिणी द्वारा अपने अनुभव का निवेदन सखी के प्रति। तुलनार्थ ७।६८ गाथा दर्शनीय ॥ ७१७ ॥

सेउल्लणिअंबालग्गसण्हसिचअस्स मग्गमलहन्तो।
सहि ! मोहघोलिरो अज्ज तस्स हसिओ मए हत्थो ॥ ७१८ ॥

[सेकार्द्रनितम्बालग्नश्लक्ष्णसिचयस्य मार्गमलभमानः।
सखि ! मोहघूर्णनशीलोऽद्य तस्य हसितो मया हस्तः ॥]

मोह—हे सखी, आज स्नान से भींगे नितम्ब पर चिपके महीन कपड़े के बीच रास्ता न पाने से उसका हाथ मोह में पड़ गया तो मुझे हंसी आ गई ॥ ७१८ ॥

दूईकज्जाअण्णणपडिरोहं मा करेहिइ इमं ति।
उत्थंघेइ व तुरिअं तिस्सा कण्णुप्पलं पुलओ ॥ ७१९ ॥

[दूतीकार्याकर्णनप्रतिरोधं मा कार्षीरिममिति।
ऊर्ध्वं ददातीव त्वरितं तस्याः कर्णोत्पलं पुलकः ॥]

कर्णोत्पल—'मुझे दूती के कार्य सुनने में विघ्न मत कर' इस प्रकार उसका रोमाञ्च शीघ्र कान पर के कमल को मानों ऊपर हटा देता है।

विमर्श—नायिका के अतिशय प्रियानुराग की नागरिक द्वारा कल्पना ॥ ७१९ ॥

मा वच्चसु वीसम्भं पुत्तअ ! चडुआरओ इमो लोओ।
सूईवेहो कण्णस्स पेच्छ किं णिज्जइ पमाणं ? ॥ ७२० ॥

[मा गच्छत विस्रम्भं पुत्रक ! चाटुकारकोऽयं लोकः।
सूचीवेधः कर्णस्य पश्यत किं नीयते प्रमाणम् ? ॥]

चाटुकारक—बेटा ! विश्वास मत कर, यह संसार मिटबोला है; सूई से कान का छेदना कोई प्रमाणित होता है ?

विमर्श—प्रौढा द्वारा वेश्या के जाल में फंसे नायक को हितोपदेश। मीठी वातों के फेरे में नहीं पड़ना चाहिए। कान छेदने के पूर्व गुड़ खिलाने की प्रथा है, लेकिन कान के छिदने का कष्ट जो होता है उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। वेश्याएं पहले मीठी बोल बोलती हैं और बाद में हृदय विदीर्ण करने लगती हैं। छाया पीताम्बर की टीका से प्राप्त ॥ ७२० ॥

अमिअमअं चिअ हिअअं, हत्था [1]तण्हाहरा सअण्हाणं।
चंदमुह[2] ! कत्थ णिवसइ अमित्तदहणो[3] तुह पआवो ॥ ७२१ ॥

[अमृतमेव हृदयं ! हस्तौ तृष्णाहरौ सतृष्णानाम्।
चन्द्रमुख ! कुत्र निवसति अमित्रदहनस्तव प्रतापः ॥]

चन्द्रमुख—हे चन्द्रसदृश मुखवाले ! तुम्हारा हृदय अमृतमय ही है, हस्त सतृष्ण लोगों की तृष्णा को दूर करनेवाला है, फिर शत्रुओं का दहन करनेवाला तुम्हारा प्रताप कहां रहता है ?

विमर्श— नायक के सौन्दर्य और प्रताप की प्रशंसा। पीताम्बर और वेवर ने 'चन्द्रमुहि' (चन्द्रमुखि) पाठ दिया है जो उचित नहीं प्रतीत होता। छाया पीताम्बर की टीका से प्राप्त ॥ ७२१ ॥

दिट्ठीअ जाव पसरो ताव तुमं सुहअ ! णिव्वुइं कुणसि।
वोलीणदंसणो तह तवेसि जह [4]होर्उदिट्ठेण ॥ ७२२ ॥

[दृष्टेर्यावत् प्रसरस्तावत्त्वं सुभग ! निर्वृतिं करोषि।
व्यतिक्रान्तदर्शनस्तथा तापयसि यथा होतृदृष्टेन ॥]

ऋत्विज दर्शन—जहां तक दृष्टि की गति है वहां तक तुम आनन्दित करते हो, दृष्टि से ओझल होने पर तुम्हारा दर्शन (स्वप्न में) ऋत्विज के दर्शन के समान है।

विमर्श—विदग्ध नायिका द्वारा प्रणय का निवेदन नायक के प्रति। स्वप्न में ऋत्विज का दर्शन अशुभ माना जाता है, जैसा कि 'स्वप्नाध्याय' में कहा है—

'रक्ताम्बरधरः कृष्णः स होताऽप्रियदर्शनः।
ददाति दारुणं दुःखं दृष्टः स्पृष्टो हिनस्ति च ॥

तात्पर्य यह कि स्वप्न में तुम्हारा दृष्टि पथ पर आना किसी विशेष अकुशल (मृत्यु) का सूचक है ॥ ७२२ ॥

---

१. तण्हाहरासअण्हाणं। २. चन्द्रमुहि। ३. अमित्तडहणोतुह पआवो। ४. होदुदिट्ठेण, दुट्ठसिविणेण (दुष्टस्वप्नेन)।

काचित् कृतार्थाभिसारा सपत्नीः श्रावयन्ती अभिसारगुप्तिं
आह—कुप्पासं इति। कूर्पासान्तरे त्वं पाक्षिकं (?) भण
ताः दुःखबलाधिकारेण सा स्तनयोर्मम कृतावस्था।
कूर्पासकश्चोलः, कञ्चुलिकेति यस्य प्रसिद्धिः ॥ ७२३ ॥

कूर्पासक—मूल गाथा प्राप्त नहीं है। वेबर ने उसकी टीका उद्धृत की है, इससे अर्थ का अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता। अवतरण के अनुसार कोई नायिका अभिसार पूर्ण होने पर अपनी सपत्नियों को अभिसार का रहस्य सुनाते हुए कहती है ॥ ७२३ ॥

गजंति घणा, पंथाणो वहुतणा अ, पसारिआ सरिआ।
अज्ज वि उज्जुअसीले! पइणो मग्गं पलोएसि ॥ ७२४ ॥

[गर्जन्ति घनाः, पन्थानो बहुतृणाश्च, प्रसारिताः सरितः।
अद्यापि ऋजुकशीले! पत्युर्मार्गं प्रलोकयसि ॥]

ऋजुकशीला—मेघ गरजने लगे, राहों में घास बढ़ गई, नदियाँ फैल गईं, अरी भोलीभाली! आज भी पति का बाट जोहती है?

विमर्श—नायिका को शीलत्याग के लिए दूती द्वारा प्रवर्तन। 'वज्जालग्ग' में पाठ और छाया इस प्रकार है—'गज्जन्ति घणा भग्गा य पन्थया पसरियाउ सरियाओ। अज्ज वि उज्जुअसीले पियस्स पन्थं पलोएसि ॥ ६४८ ॥ गर्जन्ति घना भग्नाश्च पन्थानः प्रसृताः सरितः। अद्याप्यृजुशीले प्रियस्य पन्थानं प्रलोकयसि ॥ ७२४ ॥

उण्हो त्ति समत्थिज्जइ डाहेण सरोरुहाण हेमंतो।
चरिएहि णज्जइ जणो संगोवंतो वि अप्पाणं ॥ ७२५ ॥

[उष्ण इति समर्थ्यते दाहेन सरोरुहाणां हेमन्तः।
चरितैर्ज्ञायते जनः संगोपायन्नप्यात्मानम् ॥]

हेमन्त नहीं, ग्रीष्म—कमलों को जला देने से हेमन्त 'उष्ण' समर्थन किया जाता है, अपने को छिपाता हुआ भी आदमी कार्य से पहचान लिया जाता है।

विमर्श—हेमन्त की निन्दा के निमित्त से अभिसार-स्थान के भंग की सूचना ॥ ७२५ ॥

उवहारिआइ समअं पिंडारे[1] उअ! कहं कुणंतम्मि।
णववहुआइ सरोसं सव्व च्चिअ वच्छआ मुक्का ॥ ७२६ ॥

---

१. पंडारो।

[उपहारिकया समकं उअ कथां कुर्वति ।
नववध्वा सरोषं सर्वं एव वत्सका मुक्ताः ॥]

बोझ होनेवाली—देखो, बोझ ढोनेवाली के साथ अहीर बात करने लगा तो नववधू ने क्रोध से सभी बछड़े खोल दिये ।

विमर्श—नागरिक का वचन सहचर के प्रति, कि स्त्री को अपने पति की अन्य युवती के साथ बातचीत सह्य नहीं होती । बछड़े खोल देने से गायें पिया जायंगी और दूध नहीं मिलेगा । 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में पाठ इस प्रकार है—

पढमघरिणीअ समअं उअ पिंडारे दरं कुणन्तम्मि ।
णववहुआइ सरोसं सव्व च्चिअ वच्छआ मुक्का ॥
प्रथमगृहिण्या समकं पश्याभीरे भयं कुर्वति ।
नववध्वा सरोषं सर्वेऽपि च वत्सका मुक्ताः ॥ ७२६ ॥

पज्जालिऊण अग्गि मुहेण पुत्तिए[1] ! किणो समोसरसि ।
थणअलसपडिअपडिमा फुरन्ति ण छिवंति ते जाला ॥ ७२७ ॥

[प्रज्वाल्याग्निं मुखेन पुत्रिके ! कुतः समवसरसि ! ।
स्तनकलशपतितप्रतिमाः स्फुरन्ति न स्पृशन्ति त्वां ज्वालाः ॥]

स्तनकलश—बेटी, मुंह से आग बढ़ाकर क्यों खिसकती है ? तेरे स्तन-कलश पर प्रतिबिम्बित लपटें चमकती हैं, स्पर्श नहीं करतीं ।

विमर्श—वेश्यामाता द्वारा पुत्री के मुग्धत्व और कान्ति की प्रशंसा भुजङ्ग के प्रलोभनार्थ । अथवा रन्धनकर्म में व्यग्र स्त्री को अनुकूल करने के लिए कुट्टनी का उद्गार । अथवा नायक के प्रलोभनार्थ पामर स्त्री के स्तनमण्डल की शोभा का वर्णन ॥ ७२७ ॥

अग्गि अब्भुत्तंतीअ पुत्ति ! पडिमागआ कवोलम्मि ।
कण्णोत्तं विअपल्लवलच्छि संधेइ ते जाला ॥ ७२८ ॥

[अग्निमभ्युत्तेजयन्त्याः पुत्रि ! प्रतिमागता कपोले ।
कर्णावलम्बितपल्लवलक्ष्मीं संधत्ते ते ज्वाला ॥]

कर्णपल्लव—बेटी, आग धधकाती हुई तेरे कपोल पर प्रतिबिम्बित ज्वाला कान में लटकते पल्लव की शोभावृद्धि करती है ॥ ७२८ ॥

कइ दे धूमंधारे अब्भुत्तणमग्गिणो समप्पिहइ ।
मुहकमलचुम्बणालेहडम्मि पासट्ठिए दिअरे ॥ ७२९ ॥

---

1. पुत्तलि ।

[कथं हे धूमान्धकारेऽभ्युत्तेजनमग्नेः समर्प्यते ।
मुखकमलचुम्बनोत्सुके पार्श्वस्थिते देवरे ।।]

देवर—री ! बोल, धुयें के अन्धेरे में आग को बढ़ावा देती है जब कि देवर मुखकमल की चूमाचाटी के लिए बगल में बैठा है ?

विमर्श—विदितरहस्य सखी का वचन नायिका के प्रति ।। ७२९ ।।

आअंबच्छं पअलंतबाहमावद्धथणहरुक्कंपं ।
असमत्तं चिअ चिट्ठउ सिहिणो अब्भुत्तणमिणं ते ।। ७३० ।।

[आताम्राक्षं प्रचलन्तबाष्पमाबद्धस्तनभरोत्कम्पम् ।
असमाप्तमेव तिष्ठतु शिखिनोऽभ्युत्तेजनमिदं ते ।।]

अग्निप्रज्वालन—तेरा अग्निप्रज्वालन असमाप्त ही रहे, आंखें लाल हो गई हैं, आंसू झड़ रहे हैं और बोझिल स्तनों में कम्प बंध गया है ।

विमर्श—नायक द्वारा अपने अभिलाष का प्रकाशन नायिका के प्रति ।। ७३० ।।

छणपाहुणिए त्ति किणो अज्ज वि णं भणइ अंगसंतावं ।
जाआ अम्ह घरिल्लअगुणेण घरसामिणि च्चेअ ।। ७३१ ।।

[क्षणप्राघुणिकेति किमिति अद्यापि ननु भणसि अङ्गसन्तापम् ।
जायाऽस्मि घरिल्लकगुणेन गृहस्वामिन्येव ।।]

पाहुनी—'थोड़ी देर की तू पाहुन है' यह कहकर क्यों आज भी मेरा अङ्ग-सन्ताप करते हो ? हम तो पत्नी हैं और 'घर' में रहने के गुण से घर की मालकिन ही हैं ।। ७३१ ।।

वण्णक्कमं ण आणसि, ठाणविसुद्धीवि दे ण णिव्वडिआ ।
चित्तअर ! तह वि मग्गसि [1]भोइणिकुड्डम्मि आलिहिउं ।। ७३२ ।।

[वर्णक्रमं न जानासि, स्थानविशुद्धिरपि ते न निर्वर्तिता ।
चित्रकर ! तथापि मार्गयसि भोगिनीकुड्ये आलिखितुम् ।।]

चित्रकार—हे चित्रकार, तू वर्णक्रम नहीं जानता और स्नान विशुद्धि का भी तुझे पता नहीं, तथापि सेठानी की भीत पर चित्रकारी के लिए प्रार्थना करता है ।

विमर्श—दूती द्वारा नायक की अन्यापदेश से अविदग्धता का प्रकाशन । वर्णक्रम और स्थानविशुद्धि ये दोनों चित्रकला के पारिभाषिक शब्द हैं । हरित,

---

१ आलिहि ।

पीत आदि वर्णों का यथौचित्य क्रम बैठाना और प्रत्येक स्थान को निखारने की प्रवृत्ति के लिए सम्भवतः इनका प्रयोग है। चित्रकारी के लिए प्रार्थना का प्रस्तुत तात्पर्य नखदन्तक्षत की प्रार्थना है। अर्थात् तुझे कोई ढंग मालूम नहीं और चला है परकीया का कामुक बनने ! ॥ ७३२ ॥

विअलिअकलाकलावो चंदो मित्तस्स मंडलं विसइ।
णिस्सरइ तादिसो च्चिअ, गअविहवं को समुद्धरइ ? ॥ ७३३ ॥
[विगलितकलाकलापश्चन्द्रो मित्रस्य मण्डलं विशति।
निःसरति तादृश एव, गतविभवं कः समुद्धरति ? ॥]

मित्रमण्डल—चन्द्र कलासमूह समाप्त हो जाने पर मित्र (= सूर्य) के मण्डल में प्रवेश कर जाता है और उस प्रकार (कलापूर्ण) होकर ही (उसे) निकाल देता है, विभवरहित को उद्धार कौन करता है ?

विमर्श—मित्र सूर्य ने तो चन्द्र पर विपत्ति पड़ने पर आश्रय में रखा पर स्वयं चन्द्र सम्पन्न होकर विपन्न सूर्य का उद्धार न कर सका। संसार में अकृतज्ञ प्रायः मिल जाते हैं ॥ ७३३ ॥

जो होइ रसाइसओ सुविणट्ठाणं वि पुंडइच्छूणं।
कत्तो सो होइ रसो मोहासाणं अणिच्छूणं ॥ ७३४ ॥

[यो भवति रसातिशयः सुविनष्टानामपि पुण्ड्रकेक्षूणाम्।
कुतः स भवति रसो मोहासानामनिच्छूनाम् ॥]

पोढ इक्षु—खूब तोड़ने पर भी पोढ इक्षु का जो अधिक रस होता है वह अन्य अन्य इक्षुओं का रस कहां से हो सकता है ?

विमर्श—गलितयौवना में अनुरक्ति होने पर उपहास का कामुक द्वारा उत्तर ॥ ७३४ ॥

जइ वि हु दिक्खिंदिलिआ[1] तह वि हु मा पुत्ति ! णग्गिआ भमसु।
दुद्देआ णअरजुवाणो माअं धूआइ [2]लक्खंति ॥ ७३५ ॥

नगरतरुण—अस्पष्ट ॥ ७३५ ॥

गअ-गंडअ-गवअ-सरभ-सेरिह-सद्दूल-रिक्खजाईणं।
थणआ वाहवहूए अभअं दाउं व णिक्कंता ॥ ७३६ ॥
[गज-गण्डक-शरभ-सैरिभ-शार्दूल-ऋक्षजातीनाम्।
स्तनकौ व्याधवध्वा अभयं दातुमिव निष्क्रान्तौ ॥]

---

१. दिलंदिलिआ, दुविलआ, मंदक्खिलिआ, थिंदिलिआ। २. अनुमांति, लेक्खन्ति।

अभय—व्याधवधू के स्तन गज, गण्डक, शरभ, सैरिभ, शार्दूल, ऋक्ष जातियों के अभय देने के लिए मानों निकल आए।

विमर्श—नागरिक द्वारा व्याधवधू के सौभाग्य का प्रकाशन। तात्पर्य यह कि व्याध श्वापद जन्तुओं की हिंसा में प्रवृत्त नहीं होगा और वे निर्भीक होकर विचरण करेंगे ॥ ७३६ ॥

भिउडीह पुलोइस्सं, णिब्भच्छिस्सं, परम्मुही होस्सं।
जं भणह तं करिस्सं सहीउ ! जइ तं ण पेच्छिस्सं ॥ ७३७ ॥

[भ्रूकुट्या प्रलोकयिष्ये, निर्भर्त्स्ये, पराङ्मुखी भविष्यामि।
यद् भणत तत् करिष्ये सख्यो यदि तं न प्रेक्षिष्ये ॥]

पराङ्मुखी—भौंह से देखूंगी, डांटूंगी और मुंह फेर लूंगी, सखियो ! जो तुम लोग कहो वह करूंगी, अगर उसे न देखूं।

विमर्श—मानधारणार्थ शिक्षा देनेवाली सखी के प्रति नायिका का उद्गार। वेबर ने यहां यह आर्या उद्धृत की है—

'सखि, कुरु तावत् यत्नं मम मनसिजवेदनाप्रतीकारे।
क्रोडीकृताऽपि पत्या न भवत्युपदेशयोग्या हि ॥

छाया सरस्वतीकण्ठाभरण से प्राप्त ॥ ७३७ ॥

जं केअवेण पेम्मं, जं च वला, जं च अत्थलोहेण।
जं उअरोहणिमित्तं, णमो णमो तस्स पेम्मस्स ॥ ७३८ ॥

[यत् कैतवेन प्रेम यच्च बलात्, यच्चार्थलोभेन।
यदुपरोधनिमित्तं, नमो नमस्तस्मै प्रेम्णे ॥]

प्रेम—जो प्रेम कैतव से, बल से, धन के लोभ से और प्रतिबन्ध से होता है उस प्रेम को नमस्कार है, नमस्कार है।

कस्स ण सद्धा गरुअत्तणम्मि पइणो पसाअमाणस्स।
जइ माणभञ्जणीओ ण होन्ति हेमन्तराईओ ॥ ७३९ ॥

[कस्य न श्रद्धा गुरुकत्वे पत्युः प्रसादयतः।
यदि मानभञ्जन्यो न भवन्ति हेमन्तरात्रयः ॥]

हेमन्तरात्रि—पति के द्वारा मनावन करने के गौरव में किसे श्रद्धा नहीं, अगर मान को भंग कर देनेवाली हेमन्त की रातें न होतीं।

विमर्श—मानधारणार्थ उपदेशिका सखी के प्रति नायिका का उत्तर ॥७३९॥

अज्जो तहिं तहिं च्चिअ गअणे भमिऊण वीसमन्तेण।
वोहित्तवाअसेण व्व हासिआ दड्ढपेम्मेण ॥ ७४० ॥

[अहो तत्र तत्रैव गगनं भ्रान्त्वा विश्रमता।
प्रवहणवायसेनेव हासिता दग्धप्रेम्णा ॥]

जहाज का कौवा—अहो ! आकाश में चक्कर काटकर वहीं वहीं (एक जगह) विश्राम करनेवाले कौवे की भांति (मेरा) उपहास किया है।

विमर्श—नायिका द्वारा अपने दुर्भाग्य की सूचना। अर्थात् प्रेम के कारण ही मुझे एक ही प्रिय का आसरा रहा और फल यह हुआ कि दरबदर मेरी खिल्ली उड़ाई गई। छाया 'वज्जालग्ग' से प्राप्त ॥ ७४० ॥

दइए दुमसु तुमं चिअ मा परिहर पुत्ति ! पढमदुमियं ति।
किं कुड्डं णिअमुहअंदकंतिदुमिअं ण लक्खेसि ? ॥ ७४१ ॥

मुखचन्द्र—दयित के लिए तू ही सफेदी कर, हे पुत्रि पहले की सफेदी को मत छोड़। क्या अपने मुखचन्द्र की कान्ति से सफेद दीवार को नहीं देखती ?

विमर्श—(यहां 'दुमसु' आदि का अर्थ सफेदी करने के अर्थ में किया गया है, पर इसकी वास्तविक छाया मेरे ध्यान में नहीं आती) ॥ ७४१ ॥

विज्झंति तणुं, उवणेंति वेअणं णेयताण खयमग्गे।
अव्वो ! अइट्ठपुव्वो अणङ्गबाणाण माहप्पो ॥ ७४२ ॥

[विध्यन्ति तनुमुपनयन्ति वेदनां नयतां क्षयमार्गे।
अहो ! अदृष्टपूर्वमनङ्गबाणानां माहात्म्यम् ॥]

अनङ्गबाण—अहो ! विनाश के मार्ग पर पहुंचा देने वाले कामबाणों का माहात्म्य अदृष्टपूर्व है, ये शरीर को वेध देते हैं और वेदना पहुंचाते हैं ॥७४२॥

आमोडऊण[1] बलाउ हत्थं मज्झं गओ सि भो पहिअ !
हिअआउ जइ अ णीहसि[2] सामत्थं तुज्झ जाणिस्सं ॥ ७४३ ॥

[आमोट्य बलाद् हस्तं मम गतोऽसि भोः पथिक !
हृदयाद् यदि च निर्वेदयसि सामर्थ्यं तव ज्ञास्यामि ॥]

पथिक—हे पथिक ! मेरा हाथ मरोड़कर तू चला गया, यदि तू हृदय से चला जाय तो तेरा सामर्थ्य जानूं।

विमर्श—(इस गाथा के ठीक अनुवाद के रूप में भक्तिमार्ग का यह दोहा प्रचलित है—

---

१. आयोढिऊण बलणा मम हत्थं (भुवनपाल)।   २. णिवेहसि।

हाथ छुवाए मात हो निवल जान के मोहि ।

हृदय से जब लाहुंगे सबल जानिहौं तोहि) ॥ ७४३ ॥

सद्धा मे तुज्झ पियत्तणस्स, अहयं तु तं ण याणामि ।
दे, पसिय, तुमं चिअ सिक्खवेसु जह ते पिया होमि ॥ ७४४ ॥
[श्रद्धा मे तव प्रियत्वस्य, अहं तु तन्न जानामि ।
हे पश्य, त्वमेव शिक्षय यथा ते प्रिया भवामि ॥]

सिखावन—तेरी प्रिया होने पर मुझे श्रद्धा है, परन्तु मैं वह (उपाय) नहीं जानती, प्रसन्न हो और तुम्हीं सिखावन दो कि जिससे तुम्हारी प्रिया बनूं ।

विमर्श—तिरस्कृता नायिका द्वारा गौरवोद्गार ॥ ७४४ ॥

पेम्मुम्मइयाइ मए उवऊढो हलिअउत्तबुद्धीए ।
फंसेमि जाव, फरुसो तणपुरिसो गामसीमाए ॥ ७४५ ॥
[प्रेमोन्मदितया मयोपगूढो हलिकपुत्रबुद्ध्या ।
स्पृशामि यावत्, स्पृष्टस्तृणपुरुषो ग्रामसीमायाः ॥]

तृणपुरुष—हलिकपुत्र समझकर प्रेममग्न मैंने आलिङ्गन किया; जब छूती हूँ तो गांव के सीवान के तृणपुरुष का स्पर्श हुआ ।

विमर्श—नायिका द्वारा अपने प्रेमोन्माद का निवेदन सखी के प्रति ॥ ७४५ ॥

वे मग्गा धरणियले माणिणि ! माणोण्णयाण पुरिसाण ।
अह वा पावंति सिरिं अह व भवंता समप्पंति ॥ ७४६]
[द्वौ मार्गौ भुवनतले मानिनि ! मानोन्नतानां पुरुषाणाम् ।
अथवा प्राप्नुवन्ति श्रियमथवा भ्रमन्तः समाप्यन्ते ॥]

मानोन्नत पुरुष—हे मानिनि ! संसार में मानोन्नत पुरुषों के दो मार्ग हैं, या तो श्री को प्राप्त करते हैं अथवा भ्रमण करते-करते समाप्त हो जाते हैं ।

विमर्श—छाया 'वज्जालग्ग' से प्राप्त ॥ ७४६ ॥

कत्तो कमलाण रई कत्तो कुमुयाण सीअलो चंदो ।
तह सज्जणाण णेहो ण चलइ दूरट्ठिआणं पि ॥ ७४७ ॥
[कुतः कमलानां रतिः कुतः कुमुदानां शीतलश्चन्द्रः ।
तथा सज्जनानां स्नेहो न चलति दूरस्थितानामपि ॥]

सज्जन स्नेह—दूर रहने पर भी सज्जनों का स्नेह नहीं जाता, कहां कमलों का सूर्य और कहां कुमुदों का शीतल चन्द्र !

विमर्श—'वज्जालग्ग' के पाठ के अनुसार—

कत्तो उग्गमइ रवी कत्तो वियसन्ति पङ्कयवणाइं।
सुयणाण जत्थ नेहो न चलइ दूरट्ठियाणं पि॥ ८०॥
कुत उद्गच्छति रविः कुतो विकसन्ति पङ्कजवनानि।
सुजनानां यत्र स्नेहो न चलति दूरस्थितानामपि॥ ७४७॥

हा हा किं तेण कयं मालइविरहम्मि पुत्ति! भसलेणं?।
कंकेल्लिकुसुममज्झे जलणो त्ति समप्पिओ अप्पा॥ ७४८॥
[हा हा किं तेन कृतं मालतीविरहे पुत्रि! भ्रमरेण?।
अशोककुसुममध्ये ज्वलन इति समर्पित आत्मा॥]

आत्मसमर्पण—हाय! हाय! हे पुत्रि! मालती के विरह में उस भौंरे ने क्या कर डाला? अशोक के फूलों के बीच आग समझकर आत्मसमर्पण कर दिया॥ ७४८॥

ढंखरसेसो वि हु महुअरेण मुक्को, ण मालईविडवो।
दरविअसिअकलियामोयबहुत्तियं संभरंतेण॥ ७४९॥
[ध्वांक्षरसैषोऽपि खलु मधुकरैर्मुक्तो न मालतीविटपः।
दरविकसितकलिकामोदबाहुल्यं संस्मरद्भिः॥]

भ्रमर—भौंरे ने थोड़ी विकसित कलिका की अधिक गन्ध का ध्यान करते हुए मालती की शाखा को भी न छोड़ा।

विमर्श—अच्छे अवसर की प्रतीक्षा करनी चाहिए इस तात्पर्य से नागरिक का वचन सहचर के प्रति। छाया 'वज्जालग्ग' से प्राप्त। 'ढंखरसेसो वि (ध्वांक्षरसेसैषोऽपि?) का अर्थ स्पष्ट नहीं होता॥ ७४९॥

समुहागयवोलंतम्मि सा तुमे अघडियंगसंठाणा।
रुंदं वि गामरच्छं णिंदइ तणुअं च अप्पाणं॥ ७५०॥
[सम्मुखागतव्यतिक्रान्ते सा त्वयि अघटिताङ्गसंस्थाना।
विशालामपि ग्रामरथ्यां निन्दति तनुकं चात्मानम्॥]

तन्वी—जब सामने आकर तुम निकल गए तब तुम्हारे अङ्ग का सम्पर्क न पाकर वह फैली भी गांव की गली की और अपनी पतली देह की निन्दा करती है।

विमर्श—दूती द्वारा नायिका के प्रणय का निवेदन मन्दस्नेह नायक के अनुकूलनार्थ॥ ७५०॥

सममच्छंति, णिअत्तंति, पसरिया रणरणंति तद्दियहं।
चलचित्त! तुज्झ लग्गा मणोरहा तीएँ हिययम्मि॥ ७५१॥

[सम तिष्ठन्ति, निवर्तन्ते, प्रसृता रणरणंति तद्दिवसम् ।
चलचित्त ! तव लग्ना मनोरथास्तस्या हृदये ॥]

चञ्चलचित्त—हे चञ्चलचित्त ! तेरे प्रति उसके हृदय में लगे मनोरथ उस दिन से बराबर उत्पन्न होते हैं, उमड़ते हैं, बेहाल करते हैं ।

विमर्श—दूती का वचन नायक के प्रति ॥ ७५१ ॥

डहिऊण सयलरण्णं अग्गी समविषमलंघणुव्वायो ।
तडलंबंततणेहिं तिसिय व्व णइं समोसरइ ॥ ७५२ ॥

[दग्ध्वा सकलारण्यमग्निः समविषमलङ्घनोद्वातः ।
तटलम्बमानतृणैस्तृषित इव नदीं समवसरति ॥]

अग्नि—सारे जंगल को जलाकर ऊंचखाल लांघने से थकामांदा अग्नि प्यासे की भांति तट पर के तृणों के सहारे नदी की ओर सरकता जा रहा है ॥ ७५२ ॥

सं च्चिय रामेउ तुमं पंडिय ! 'णिच्चं, अलं म्ह रमिएण ।
सब्भावबाहिराइं जा जाणइ अट्ठमट्ठाइं' ॥ ७५३ ॥

[तामेव रामय त्वं पण्डित ! नित्यं, अलं रमो रमितेन ।
सद्भावबाह्यानि या जानाति अट्टमट्टानि ॥]

आवभगत—हे पण्डित ! मेरे साथ रमण बहुत हो चुका, उसे ही तू नित्य रमण कर जो प्रेम से बाहर का आवभगत जानती है ।

विमर्श—वेश्यानुरक्त पति के अनुनय करने पर पत्नी द्वारा उपालम्भोद्गार ॥ ७५३ ॥

रअणायरस्स साहेसि[3] नम्मए ! अज्ज मुक्कदक्खिण्णा ।
वेडिसलयाहरंतेण मिलिया जं सि पूरेण ॥ ७५४ ॥

[रत्नाकरस्य साधयामि नर्मदे ! अद्य मुक्तदाक्षिण्या ।
वेतसलतागृहान्तेन मिलिता यदसि पूरेण ॥]

नर्मदा—री नर्मदे ! जो कि तू ने वेतस के लतागृह में प्रवाह के साथ सङ्गम किया, आज मैं शिष्टाचार छोड़कर (तेरे पति) समुद्र से कह दूँगी ॥ ७५४ ॥

रक्खइ अणण्णहियओ जीवं विय महुअरो पयत्तेण ।
[4]दरणेंतदीविदाढग्गसच्छहं मालईमउलं ॥ ७५५ ॥

---

१. इत्थिएँ, इद्दिएँ । २. उपचारविशेषान् । ३. काहे कहेमि, काहेसिमि । ४. दरनिग्गअदिवि ।

[रक्षति अनन्यहृदयो जीवमिव मधुकरः प्रयत्नेन ।
दरनयद्द्वीपिदंष्ट्राग्रसदृशं मालतीमुकुलम् ॥]

संरक्षण—चीते के कुछ निकले दांत के अग्रभाग के सदृश मालती के मुकुल को भौंरा अनन्यभाव से प्राण की भांति प्रयत्न से संरक्षण करता है ।

विमर्श—अन्यापदेश से लफंगे व्यक्ति का चरित्र-चित्रण ॥ ७५५ ॥

तह णेहलालियाण वि अवाहिरिल्लाण सयलकज्जेसु ।
जं कसणं होइ मुहं, तं भण्णइ किं पईवाणं ॥ ७५६ ॥

[तथा स्नेहलालितानामपि अबाह्यानां सकलकार्येषु ।
यत् कृष्णं भवति मुखं, तद् भण्यते किं प्रदीपानाम् ॥]

प्रदीप—इस प्रकार स्नेह से लालित होने पर भी सभी कार्यों में अबहिर्भूत प्रदीपों का मुँह जो काला हो जाता है उसे क्या कहा जाता है ? ॥७५६॥

तिसिया पियउ त्ति मओ, मओ वि तिसियो मई करेऊण ।
इय मयमिहुणं तिसियं पियइ ण सलिलं सिणेहेण ॥ ७५७ ॥

[तृषिता पिबत्विति मृगो मृगोऽपि तृषितो मृगी कृत्वा ।
इति मृगमिथुनं तृषितं पिबति न सलिलं स्नेहेन ॥]

तृषित—मृग चाहता है कि प्यासी मृगी पिये और मृगी चाहती है कि प्यासा मृग पिये, इस प्रकार मृग का प्यासा जोड़ा स्नेह के कारण पानी नहीं पी रहा है ॥ ७५७ ॥

तुह सामलि ! धवलचलंततरलतिक्खग्गलोयणबलेन ।
मयणो पुणो वि इच्छइ हरेण सह विग्गहारम्भं ॥ ७५८ ॥

[तव श्यामलि ! धवलचलत्तरलतीक्ष्णाग्रलोचनबलेन ।
मदनः पुनरपि इच्छति हरेण सह विग्रहारम्भम् ॥]

साँवरी—साँवरी ! तेरे सफेद, चञ्चल, तरल और तीखी नोंक वाले नेत्र के बल से मदन शिवजी के साथ फिर से लड़ाई शुरू करना चाहता है ॥७५८॥

सुहय ! सुहं चिय कुडलि व्व पेहुणो णिग्गयस्स चडुवस्स ।
जणरंजणिग्गहो ते घरम्मि सुणहो अतिहिवंतो ॥ ७५९ ॥

सुनख—अस्पष्टार्थ ॥ ७५९ ॥

णिवडिहिसि, सुण्णहिअए ! जलहरजलपंकिलम्मिमग्गम्मि ।
उप्पेक्खागयपिययमहत्थे हत्थं पसारेंती ॥ ७६० ॥

[निपतिष्यसि, शून्यहृदये ! जलधरजलपङ्किले मार्गे ।
उत्प्रेक्षागतप्रियतमहस्ते हस्तं प्रसारयन्ती ॥]

शून्यहृदया—री शून्यहृदये ! देखभाल के लिए आए प्रियतम के हाथ में हाथ फैलाती हुई तू मेघ के जल से पंकिल मार्ग में गिरेगी ! ॥ ७६० ॥

उच्छङ्गियाएँ पइणा अहिसारणपंकमलिणपेरंते ।
आसण्णपरियणो व्विअ सेअ च्चिय धुवइ से पाए ॥ ७६१ ॥

[उत्सङ्गिकया(?)पत्याऽभिसारणपङ्कमलिनपर्यन्तौ ।
आसन्नपरिजन इव सेक एव धाव्यति तस्याः पादौ ॥]

स्वेद-जल—अभिसार के समय पंक से (पैर के) मलिन होने के कारण पति द्वारा गोद में उठा ली गई उसके पैर को स्वेदजल ने समीप के परिजन की भाँति धो दिया ॥ ७६१ ॥

जह लंघेसि परवइं निययवइं भरसहं पि मोत्तूणं ।
तह मण्णे, कोहलिए ! अज्जं कल्लं पि फुट्टिहिसि ॥ ७६२ ॥

[यथा लङ्घयसि परवृतिं निजकवृतिं भरसहामपि मुक्त्वा ।
तथा मन्ये, कूष्माण्डिके ! अद्य कल्यमपि स्फुटिष्यसि ॥]

कुम्हड़ी—री कुम्हड़ी ! बोझ बर्दाश्त करनेवाले भी अपने घेरे (पलान) को छोड़कर जो तू दूसरे घेरे को लाँघती है तो मैं समझता हूँ, आजकल में ही तोड़ डाली जायगी ।

विमर्श—प्रौढ़ा द्वारा परपुरुष में अनुरागार्थ प्रयत्नशील नायिका को अन्यापदेश से चेतावनी । 'परवइं' और 'निययवइं' को परवृत्ति और निजकवृत्ति मानकर प्रस्तुत में अनुवाद किया गया है । 'कोहलिए' की अन्य छाया 'कौतूहलिके' और 'वइ' की 'पति' के आधार पर इसका प्रासङ्गिक अर्थ ही निकलेगा, जो यह होगा—'री कौतूहलिके, तेरे वहन (पोषण) की क्षमता रखनेवाले अपने पति को भी छोड़कर अन्य पति की ओर जो तू लाँघ-फाँद कर रही है तो मैं समझती हूँ कि आज, कल में ही (प्रचलित प्रयोग के अनुसार आज, नहीं तो कल अवश्य ही) तेरा विनाश होगा' ॥ ७६२ ॥

अणुसोयइ हलियबहू रइकिरणोलुग्गपंडुरच्छायं ।
रण्णुंदुरदंतुक्खुत्तविसमवलियं तिलच्छेत्तं ॥ ७६३ ॥

[अनुशोचति हलिकवधू रविकिरणावलग्नपाण्डुरच्छायम् ।
आरण्योन्दुरदन्तक्षतविषमवलितं तिलक्षेत्रम् ॥]

तिलखेत्र—सूर्य की किरणों से पीले पड़े और जंगली चूहों के दाँतों से कुतर जाने से ऊबड़-खाबड़ तिल के खेत पर हलवाहे की वधू सोच कर रही है ।

विमर्श—नायिका द्वारा सङ्केत-भङ्ग की चिन्ता ।। ७६३ ॥

[1]ओवालअम्मि सीआलुआण वइमूलमुक्खिहंताणं ।
डिंभाण [2]कलिंचयवावडाण सुण्णो जलइ अग्गी ।। ७६४ ।।
[वाटीप्रान्ते शीतालूनां वृतिमूलमुक्खिखताम् ।
डिम्भानां क्षुद्रेन्धनव्यापृतानां शून्यो ज्वलत्यग्निः ।।]

शीतार्त बालक—जाड़े से कुड़कुड़ाये बालक घेरे को उखाड़ने और ईंधन इकट्ठा करने में लग गए आग'''में केवल जल रही है ।। ७६४ ।।

मा ! मा ! मुय परिहासं देअर ! अणहोरणा वराई सा ।
सीअम्मि वि पासिज्जइ, पुणो वि एसिं कुणसु छायं ।। ७६५ ।।

[मा मा मुञ्च परिहासं देवर अप्रावरणा वराकी सा ।
शीतेऽपि प्रस्विद्यति पुनरपि अस्यां कुरु छायाम् ।।]

बेचारी—हे देवर ! मत, मत, मजाक छोड़ ! बेचारी के पास ओढ़नी नहीं है, सर्दी में भी पसीजती जा रही है, फिर भी इस पर छाया कर ।

विमर्श—प्रौढ़ा द्वारा भावज के कामुक नायक पर व्यङ्ग्यपूर्ण उपालम्भ । अर्थात् तुम दोनों का रहस्य मालूम हो गया है । छिपकर खेल करने से खुल-खेलना ही अच्छा है ! छाया पीताम्बर की टीका से प्राप्त ।। ७६५ ।।

किं तस्स पारएणं किमग्गिणा किं च गब्भहरएण ।
जस्स णिसम्मइ उअरे उण्हायतत्थणी जाया ? ।। ७६६ ।।

[किं तस्य पारदेन किमग्निना किं च गर्भहरकेण ।
यस्य निशाम्यति उदरे उष्णायतस्तनी जाया ।।]

उष्णायतस्तनी—जिसकी छाती पर गरम और फैले स्तनों वाली जाया विश्राम करती है उसे पारे (?) से क्या, अग्नि से क्या और मच्छरदानी (?) से क्या ? ।। ७६६ ।।

कमलायराण उण्हो हेमंतो, सीअलो जणवयस्स ।
को किर भिण्णसहावं जाणइ परमत्थअं लोए ? ।। ७६७ ।।

[कमलाकराणामुष्णो हेमन्तः शीतलो जनपदस्य ।
कः किल भिन्नस्वभावं जानाति परमार्थकं लोके ? ।।]

हेमन्त—हेमन्त कमलों के लिए गरम है और अन्य लोगों के लिए शीतल है; संसार में स्वभाव के भेद को परमार्थ रूप से कौन जान सकता है ?

---

१. आहारयसंवासालुयाण । २. कणिवअ, किंणिवअ ।

विमर्श—नायिका द्वारा सखी के इस प्रश्न का उत्तर कि नायक औरों के लिए सुखकर है और तुझे क्यों तड़पाता है ॥ ७६७ ॥

हेमंते हिमरअधूसरस्स ओअसरणस्स पहिअस्स ।
सुमरिअजायामुहसिज्जिरस्स सीयं चिअ पणट्ठं ॥ ७६८ ॥
[हेमन्ते हिमरजोधूसरस्याप्रावरणस्य पथिकस्य ।
स्मृतजायामुखशीतस्य शीतमेव प्रनष्टम् ॥]

शीत—हेमन्त में हिम की धूलि से धूसर, ओढ़न न ओढ़े पथिक ने जाया के मुख का स्मरण किया और गर्मी आ गई, इससे उसका शीत ही नष्ट हो गया ॥ ७६८ ॥

उवइसइ लडियाण, कड्ढेइ रसं, ण देइ सोत्तुं जे ।
जंतस्स जुव्वणस्स य ण होइ इच्छु च्चिय सहावो ॥ ७६९ ॥
[उपविशति ललितानां, कर्षयति रसं, न ददाति श्रोतुं च ।
यन्त्रस्य यौवनस्य च न भवति इक्षुरिव स्वभावः ॥]

यन्त्र और यौवन—गाथार्थ अस्पष्ट ।

विमर्श—ललितों का उपदेश करता है, रस काढ़ लेता है, सुनने नहीं देता, यन्त्र और यौवन का स्वभाव............ ॥ ७६९ ॥

बहुएहि [1]जंपिएहिं सिट्ठं अम्ह सवहे करेऊण ।
सद्दो च्चिय से भद्दो[2] [3]भोइणिजंते रसो णत्थि ॥ ७७० ॥
[बहुकैर्जल्पितैः कथितं स्मः शपथं कृत्वा ।
शब्द एव तस्या भद्रो भोगिनीयन्त्रे रसो नास्ति ॥]

सेठानी—बहुत मजदूरों ने शपथ करके कहा है कि सेठानी की मशीन में आवाज ज्यादा है, रस कुछ भी नहीं ।

विमर्श—अविदग्ध भोगिनी या सेठानी की निन्दा । यहाँ अन्यापदेश से यह कहा गया है कि नायिका बिलकुल सुरत के योग्य नहीं है यह अनुभव वालों का वचन है । 'जंपिएहि' को 'जंत्तिएहिं' (यान्त्रिकैः, नानाबन्धसुरतज्ञैः) मानकर अर्थ किया गया है । प्रस्तुत में, जिस मशीन में केवल आवाज ही आवाज है, कार्य करने की क्षमता नहीं वह कहाँ तक अपेक्षणीय होगी ? सिर्फ आवाज से तो काम चलने का नहीं ! ॥ ७७० ॥

पढमं चिय माहवपट्टयं व घेत्तूण डाहिणो वाओ ।
अंकोल्लपढमवत्तं पहिहिओ गामरच्छासु ॥ ७७१ ॥

---

1. जंतिएहिं । 2. रुंदो । 3. ग्रामणियन्त्रे ।

[प्रथममेव माधवपट्टकमिव गृहीत्वा दक्षिणो वातः ।
अशोकप्रथमपत्रं प्रभ्रमितो ग्रामरथ्यासु ॥]

दक्षिण-पवन—दक्षिण की ओर का पवन पहले ही वसन्त के वस्त्र की भांति अशोक के पहले पत्ते को गाँव की गलियों में उड़ाने लगा।

विमर्श—नायिका को वसन्त के आगमन की सूचना देकर नायक के प्रवास से लौटने का आश्वासन सखी द्वारा ॥ ७७१ ॥

सो माणो पियमुहअंददंसणे कह थिरो धरिज्जिहइ ।
[1]अंकोल्लकोरआण[2] वि जो [3]फुट्टमुहाण बीहेइ ॥ ७७२ ॥

[स मानः प्रियमुखचन्द्रदर्शने कथं स्थिरो धार्यते ।
अशोककोरकाणामपि यः स्फुटमुखानां बिभेति ॥]

मान—जो मान फूट पड़ी अशोक की कलियों से भी डर जाता है वह प्रिय के मुखचन्द्र का दर्शन होने पर कैसे स्थिर रूप से धारण किया जा सकता है ?

विमर्श—नायिका का उत्तर मानोपदेशिका सखी के प्रति ॥ ७७२ ॥

कारणगहिओ वि मए माणो एमेअ जं समोसरियो ।
अत्थक्कफुल्ल[4] अंकोल्ल ! तुज्झ तं मत्थए पडउ ॥ ७७३ ॥

[कारणगृहीतोऽपि मया मान एवमेव यत् समवसृतः ।
अतर्कितस्फुट अशोक ! तव तन्मस्तके पततु ॥]

अशोक—मेरे द्वारा कारणवश गृहीत भी मान जो कि यूंही खिसक गया, हे अकस्मात् विकसे अशोक ! वह तेरे माथे पर पड़े ।

विमर्श—अर्थात् जिस प्रकार मेरा मान तेरे फुलाने से छुट गया उसी प्रकार तू भी छुट जाय ॥ ७७३ ॥

रंजेइ, देइ रूवं, रएइ कुसुमाइ, देइ विच्छित्तिं ।
ण वि तह पुहवीसस्स वि हलहलओ जह वसंतस्स ॥ ७७४ ॥

वसन्तागम—सिंगार-पटार कर, बन-ठन, फूलों को सजा, और शोभा प्रकट कर; वसन्त के स्वागत की जैसी तैयारी है वैसी राजा की भी नहीं।

विमर्श—नायक द्वारा नायिका से वसन्तकाल में मानत्याग की प्रार्थना ॥ ७७४ ॥

सिसिरे वणदवडड्ढं वसंतमासम्मि उअह संभूयं ।
मंकुसकण्णसरिच्छं दीसइ पत्तं पलासस्स ॥ ७७५ ॥

---

१. अंकोढ । २. वारयाणं । ३. फुट्टहिययाण । ४. अथेक्क, अद्धक्क ।

[शिशिरे वनदवदग्धं वसन्तमासे पश्यत सम्भूतम् ।
मंकुसकर्णसदृशं दृश्यते पत्रं पलाशस्य ॥]

पलाश का पत्ता—देखो, शिशिर में जंगल की आग से जला, और वसन्त के महीने में पैदा हुआ पलाश का पत्ता मंकुस (?) के कान जैसा दीखता है ।

विमर्श—दूती द्वारा नायक अथवा नायिका को पलाश-वन में संकेत-स्थान निश्चित होने की सूचना । अथवा अन्यापदेश से यह बताया गया है कि मनुष्य की समृद्धि हमेशा एक समान नहीं रहती ॥ ७७५ ॥

दूरपइण्णपरिमलं सपल्लवं मुद्धपुप्फपंगुरणं ।
अंगच्छित्तं पिव वम्महेण दिण्णं महुसिरीए ॥ ७७६ ॥

मधुश्री—मन्मथ ने दूर तक फैले परिमल से युक्त, पल्लवसहित, सुन्दर पुष्प का वस्त्र मानों अङ्गाच्छादन के रूप में मधुश्री को अर्पित किया है ॥ ७७६ ॥

कारणगहिअं वि इमा माणं मोएइ माणिणिअणस्स ।
सहयारमंजरी पियसहि व्व कण्णे समल्लीणा ॥ ७७७ ॥

[कारणगृहीतमपि इयं मानं मोचयति मानिनीजनस्य ।
सहकारमञ्जरी प्रियसखीव कर्णे संलीना ॥]

सहकारमञ्जरी—कान में लगी सहकार की मञ्जरी किसी भी कारण से उत्पन्न मान को प्रियसखी की भांति छुड़ा देती है ॥ ७७७ ॥

अज्जं चिय छणदिहओ, मा पुत्ति ! रुएहि, एहइ पियो त्ति ।
सुण्हं आसासंती पडियत्तमुही रुवइ सासू ॥ ७७८ ॥

[अद्यैव क्षणदिवसो मा पुत्रि ! रोदिहि, एष्यति प्रिय इति ।
शून्यमाश्वासयन्ती परिवृत्तमुखी रोदिति श्वश्रूः ॥]

आश्वासन—'आज ही उत्सव का दिन है, हे पुत्रि ! मत रो, प्रिय आयेगा' इस प्रकार अकेले में आश्वासन देती हुई सासु मुंह फेर कर स्वयं रोती है ।

विमर्श—नायक के समीप जानेवाले पथिक के प्रति नायका-सखी द्वारा सन्देश-वचन । तात्पर्य यह है, नायिका तुम्हारे विरह में उत्पन्न दयनीय अवस्था तक पहुंच गई है । तुम्हारे अविलम्ब पहुंचने में ही कल्याण है ॥ ७७८ ॥

दियहे दियहे णिवडइ गिहवइधूआ सिणेह, माउच्छा।
संगहणइ त्ति वावउ वसुहारा खुज्जसहयारे॥ ७७९॥
मौसी—गाथार्थ अस्पष्ट।

[1]'आउच्छणोवऊहणकंठसमोसरियबाहुलइयाए[2]।
पलयाइ पहियचलणे बहूएँ णियलाइ व पडंति॥ ७८०॥
[आपृच्छनोपगूहनकण्ठसमवसृतबाहुलतिकायाः।
वलयानि पथिकचलने बध्वा निगडानीव पतन्ति॥]

जंजीर—विदाई के समय आलिङ्गन के लिए कंठ में पहुंची बाहु-लतिका॰ वाली वधू के वलय पथिक के चरण में जंजीर की भांति पड़ गए॥ ७८०॥

उड्डियपासं तणछुण्णकंदरं णिहुअसंठियावक्खं।
जूहाहिव? परिहर मुहमेत्तसरीयं कल······॥ ७८१॥
यूथाधिप—गाथा भ्रष्ट और त्रुटित, अर्थ अस्पष्ट॥ ७८१॥

गुणसालिनो वि करिणो होहइ जूहाहिवत्तणं कत्तो।
णवसालिकवललोहिल्लिआएँ विझं मुअंतस्स॥ ७८२॥
[गुणशालिनोऽपि करिणो भविष्यति यूथाधिपत्वं कुतः।
नवशालिकवललाभलालसया विन्ध्यं मुञ्चतः॥]

नेवाला—नये भात के नेवाले के लोभ से विन्ध्य को छोड़ते हुए गुणवान् भी हाथी का यूथाधिपत्व कहां से होगा?॥ ७८२॥

विहिणा अणज्जुएणं पुत्तय! जाओ कुलम्मि पढमम्मि।
जाइविसुद्धो भद्दो वि बंधणं पावइ खणम्मि॥ ७८३॥
[विधिनाऽनृजुकेन पुत्रक! जातः कुले प्रथमस्मिन्।
जातिविशुद्धो भद्रोऽपि बन्धनं प्राप्नोति क्षणे॥]

विधाता—हे पुत्र! कुटिल विधाता ने श्रेष्ठ कुल में जन्म दिया है, जहां भद्र एवं विशुद्ध जाति का होकर भी क्षण भर में ही बन्धन प्राप्त कर लेता है।

विमर्श—हस्तिनी द्वारा पुत्र को उपदेश॥ ७८३॥

चउपासहिण्णहुयवहविसमाहः हवेढणापिउलं।
णिव्वाहेउं जाणइ जूहं जूहाहिवो च्चेव॥ ७८४॥

---

१. आपुच्छणो। २. बाहुल्लअइआए।

अग्नि—चारों तरफ से उत्पन्न अग्नि के विषय में पड़े व्याकुल यूथ को यूथाधिप ही निकालने का ढंग जानता है ॥ ७८४ ॥

अल्लग्गकवोलेण वि गयमइणा पत्तदसाअसणम्मि ।
अज्ज वि मॉए सणाहं गयवइजूहं धरंतेण ॥ ७८५ ॥

गजपति—अस्पष्ट ॥ ७८५ ॥

ण वि तह दूमेइ मणं गयस्स बन्धो वि करिणिॅ विरहो वि ।
दाणविओयविमुहिए जह भमरउले भमन्तम्मि ॥ ७८६ ॥
[नापि तथा दूयते मनो गजस्य बन्धोऽपि करिणीविरहोऽपि ।
दानवियोगविमुखे यथा भ्रमरकुले भ्रमति ॥]

दान-जल—बन्धन भी और करिणी का विरह भी गज के मन को उतना दुखी नहीं करते जितना दान जल के अभाव से विमुख घूमते हुए भौंरों के कारण उसे दुःख होता है ॥ ७८६ ॥

गामम्मि मोहणाइं दिण्णे खग्गे व्व चोरहित्थाइं ।
गहवइणो णामेणं कियाइ अण्णेण वि जणेण ॥ ७८७ ॥

तलवार—अस्पष्ट ॥ ७८७ ॥

मलिणाइं अंगाइं, बाहिरलोएण मंसलुद्धेण ।
हिययं हियएण विणा ण देइ वाही, भमइ हट्टं ॥ ७८८ ॥
[मलिनान्यङ्गानि बाह्यलोकेन मांसलुब्धेन ।
हृदयं हृदयेन विना न ददाति व्याधी, भ्रमति हाटम् ॥]

वाजार—व्याध की स्त्री के अंग मलिन हैं, बाहर के मांसलोभी लोगों को वह हृदय के बिना हृदय नहीं देती और बाजार में घूमती है ।

विमर्श—वेबर के अनुसार इस गाथा का अर्थ ठीक नहीं लगता ॥७८८॥

कढिणरवरवीरपेक्खणहलं व पत्थरविणिग्गयग्गिकणे ।
धचलोआयरियवहे कसरा वि सुहेण वच्चंति ॥ ७८९ ॥

अस्पष्टार्थ ॥ ७८९ ॥

णक्खमऊहेसु खणं, कुसुमेसु खणं, खणं किसलएसु ।
हत्थेसु खणं कुसुमोच्चियाइ [1]लोडाविया भसला ॥ ७९० ॥
[नखमयूखेषु क्षणं, कुसुमेषु क्षणं, क्षणं किसलयेषु ।
हस्तेषु क्षणं कुसुमोच्चयिन्या दोलायिता भ्रमराः ॥]

१. ढोलाइया ।

भ्रमर—भौंरे क्षण-भर नख की किरणों में, क्षण-भर फलों में, क्षण-भर किसलयों में और क्षणभर फूल चुनने वालियों के हाथों में लोट-पोट करते हैं ॥ ७९० ॥

छेत्तम्मि जेण रमिया, ताओ किर तस्स चेअ मंदेइ ।
जइ तीअ इमं णिसुयं, फुट्टइ हिययं हरिसयाए ॥ ७९१ ॥

ताप—खेत में जिसने रमण किया है उसी का ताप मन्द पड़ रहा है, यदि उसने सुन लिया है तो उसका हृदय हर्ष से फूट पड़ेगा (?) ॥ ७९१ ॥

हिययं णियामि कढिणं···पा हासेण घडियं मे ।
विरहाणलेण तत्तं रससित्तं अंतिता फुडइ ॥ ७९२ ॥

विरहानल—अस्पष्टार्थ ॥ ७९२ ॥

अण्णे ते किल सिहिणो सिणरससेएण हुंति विच्छाया ।
आसाइयरससेओ होइ विसेसेण णेहजो दहणो ॥ ७९३ ॥
[अन्ये ते किल शिखिनः···रससेकेन भवन्ति विच्छायाः ।
आसादितरससेको भवति विशेषेण स्नेहजो दहनः ॥]

स्नेहाग्नि—वे अन्य अग्नि हैं जो पानी से सींचे जाने पर बुझ जाते हैं, स्नेह से उत्पन्न अग्नि रस का सेक पाकर भड़क उठता है ॥ ७९३ ॥

अंतो णिभुअट्ठिअपरिअणाइ ओरुद्धदारणअणाइं ।
गिम्हे घोरट्टघग्घररवेण घोरंति वं घराइं ॥ ७९४ ॥
[अन्तर्निभृतस्थितपरिजनान्यवरुद्धदारनयनानि ।
ग्रीष्मे घरट्टघर्घररवेण घुरघुरन्तीव गृहाणि ॥]

घर्घर—गर्मी में भीतर घर के लोग चुपचाप पड़े हैं, पत्नियों की आंखें मूंद रखी हैं, चक्की की घर्घर आवाज से मानों घर ही चिल्ला रहे हैं ॥७९४॥

विमर्श—दूती द्वारा मध्याह्नाभिसारिका को प्रोत्साहन ॥ ७९४ ॥

जीहाइ पर [1]लिब्भइ, दन्तोट्ठेणं ण तीरए गहिउं ।
अहरो व्व सव्वणो गोहणेण पढमो तणुच्छेओ ॥ ७९५ ॥
[जिह्वया परं लिह्यते, दन्तोष्ठेन न पार्यते ग्रहीतुम् ।
अधर इव सव्रणो गोधनेन प्रथमस्तृणोच्छेदः ॥]

जिह्वास्पर्श—गाय प्रथम घास के कौर को केवल जीभ से चाटती है, दांत और थुथुने से पकड़ नहीं पाती, जैसे अधर के व्रणयुक्त होने की स्थिति होती है ॥ ७९५ ॥

---

१. लिट्टइ ।

जह वेल्लीहि ण माअसि जह इच्छसि परवइं पि लंघेउं ।
तह णूणं कोहलिए ! अज्जं कल्हि व फुल्लिहिसि ॥ ७९६ ॥
[यथा वल्लीभिर्न मासि यथेच्छसि परवृतिमपि लंघयितुम् ।
तथा नूनं कूष्माण्डिके ! अद्य कल्यं वा स्फुटिष्यसि ॥]

कुम्हड़ी—री कुम्हड़ी ! तू तो अपनी छत्तरों में नहीं अँटती और दूसरे के घेरे (वृत्ति) को पार कर जाना चाहती है तो निश्चय ही आज या कल में ही टूट जायगी ।

विमर्श—तुलनीय गाथा ७६२ ॥ ७९६ ॥

[1]विलासिणिगुरुणिअंबो तीरउ चलणेहि दोहि उव्वहिउं ।
एआई उण मज्झो थणभारं कइ णु उव्वहइ ? ॥ ७९७ ॥
[विलासिनीगुरुनितम्बः पार्यते चरणाभ्यां द्वाभ्यामुद्वोढुम् ।
एकाकी पुनर्मध्यः स्तनभारं कथं नूद्वहति ? ॥]

मध्यभाग—विलासिनी का भारी नितम्ब तो दोनों चरणों से सम्हाला जाता है पर उसका अकेला मध्यभाग भला उसके स्तन-भार को कैसे सम्हाल सकता है ? ॥ ७९७ ॥

वारिज्जन्ती णवकोमुइ त्ति मा पुत्ति ! अंगणे सुवसु ।
मा ते अंवुपिसाओ चण्डो त्ति मुहं गसिज्जिहइ ॥ ७९८ ॥
[वार्यमाणा नवकौमुदीति मा पुत्रि ! अंगणे स्वपिहि ।
मा तेऽम्बुपिशाचश्चन्द्र इति मुखं ग्रसिष्यति ॥]

पूर्णिमा—बेटी ! मना कर रही हूँ, पूर्णिमा है, आँगन में मत सो, कहीं राहु चन्द्र समझ कर तेरे मुख को न ग्रस ले ।

विमर्श—'शृङ्गारतिलक' के इस पद्य से तुलनीय—'प्रविश झटिति गेहं मा बहिस्तिष्ठ कान्ते ! ग्रहणसमयवेला वर्तते शीतरश्मेः । तव मुखमकलङ्कं वीक्ष्य नूनं स राहुर्ग्रसति तव मुखेन्दुं पूर्णचन्द्रं विहाय ॥ ७९८ ॥

सुव्वंतो आसि परंपराइ, कहकह वि दिट्ठिमिलिओ सि ।
दे सुहअ ! किं पि जंपसु, पिअंतु कण्णाइ मे अमिअं ॥ ७९९ ॥
[श्रूयमाण आसीः परम्परया कथं कथमपि दृष्टिमिलितोऽसि ।
हे सुभग ! किमपि जल्प, पिबतां कर्णौ मेऽमृतम् ॥]

कर्णामृत—एक दूसरे से तुझे सुना करती थी, किसी-किसी प्रकार तू आँखों के सामने प्राप्त है, हे सुभग ! कुछ भी बोल, मेरे कान अमृत का पान करें ॥ ७९९ ॥

---

1. अज्जाए ।

विरहकिसिआ वराई, दिणाइ आसण्णगिम्हपरिणामाइं।
कढिणहिअओ पवासी, ण आणिमो कह समप्पिहिइ ॥ ८०० ॥
[विरहकृशिता वराकी, दिनान्यासन्नग्रीष्मपरिणामानि।
कठिनहृदयः प्रवासी, न जाने कथं समर्पिष्यते ॥]

वराकी—बेचारी विरह के मारे दुबरा गई है, समीप पहुँचे ग्रीष्मकाल में दिन बड़े होने लगेंगे, प्रवासी कठिन हृदय वाला है, कैसे गुजरेगा ? हमें समझ में नहीं आता ॥ ८०० ॥

रोआविअम्ह माए ! अंगणपहिएण दरपसुत्तेण।
परिवत्तसु माणिणि माणिणि त्ति सिविणे भणन्तेण ॥ ८०१ ॥
[रोदिताऽस्मि मातः ! अङ्गणपथिकेन दरप्रसुप्तेन।
परिवर्तस्व मानिनि मानिनीति स्वप्ने भणता ॥]

अङ्गण-पथिक—आंगन में सोये पथिक ने सपनाते हुए कहा 'हे मानिनी ! हे मानिनी ! प्रसन्न हो' (यह सुनकर) मां ! हमें रुलाई आ गई ॥ ८०१ ॥

माणंसिणीअ पइणा णअणकवोलाहरप्पहाभिण्णा।
उज्जुअसुरचावणिहा वाहोआरा चिरं दिट्ठा ॥ ८०२ ॥
[मनस्विन्याः पत्या नयनकपोलाधरप्रभाभिन्ना।
ऋजुकसुरचापनिभा बाष्पधारा चिरं दृष्टा ॥]

इन्द्रधनुष—मनस्विनी के पति ने उसके नयन, कपोल और अधर की प्रभा से रंगविरंगी बाष्पधारा को सीधे इन्द्रधनुष की भांति देर तक देखा ॥ ८०२ ॥

विमर्श—'अलंकारकौस्तुभ' में 'तद्गुण अलङ्कार' का उदाहरण ॥ ८०२ ॥

सरहसविणिग्गआइ वि इच्छाइ तुमं ण तीअ सच्चविओ।
सीसाहअवलिअभुअंगवंकरच्छे[1] हअग्गामे ॥ ८०३ ॥
[सरभसविनिर्गतयाऽपीच्छया त्वं न दृष्टः।
शीर्षाहतवलितभुजंगवक्ररथ्ये हतग्रामे ॥]

हतग्राम—उसकी इच्छा सहसा (तुम्हारे दर्शन की) हुई, पर मस्तक थूर देने से घुड़मुड़ाए साँप के कारण जानेवाली गली के टेढी हो जाने से, मुए गाँव में उसने तुम्हें नहीं देखा ॥ ८०३ ॥

सा तुह विरहे णिक्किव ! संधारिज्जइ सहीहि णिउणाहि।
चंडालहत्थगअसउणि व्व जीए णिरालम्बा ॥ ८०४ ॥

1. हुअग।

[सा तव विरहे निष्कृप ! सन्धार्यते सखीभिर्निपुणाभिः ।
चाण्डालहस्तगतशकुनीव जीवे निरालम्बा ॥]

निरालम्बा—अरे निर्दय ! उसके जीने का कोई आधार नहीं, वह तेरे विरह में निपुण सखियों द्वारा आश्वासन देकर सम्हाली जा रही है, वह चाण्डाल के हाथ में पड़ी चिड़िया की तरह हो गई है ।

विमर्श—दूती द्वारा नायक की भर्त्सना ॥ ८०४ ॥

कप्पासं कुप्पासन्तरम्मि तइ खित्तमित्ति भणिऊण ।
अत्ता ! वलाहिरेणं थणाण मह कारिआवत्था ॥ ८०५ ॥
[कर्पासं कूर्पासान्तरे त्वया क्षिप्तमिति [1]भणित्वा ।
श्वश्रु ! बलाभीरेण स्तनानां मम कारिताऽवस्था ॥]

अहीर—'चोली के अन्दर तूने (मेरा) कपास रख लिया है' यह कहकर ईया जी ! जबर अहीर ने मेरे स्तनों की यह हालत कर डाली है ॥ ८०५ ॥

गाईउ [1]पंचरवारिम्भरीउ, चत्तारि पक्कलवइल्ला ।
संपण्णं वालावल्लरअं, सेआ सिवं कुणउ ॥ ८०६ ॥

सेवा—गाथार्थ ठीक नहीं लगता है (वेबर) । साधारण देव ने इसकी व्याख्या में 'हितोपदेश' का यह श्लोक उद्धृत किया है—

'प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवनहेतोर्विमुञ्चति प्राणान् ।
दुःखीयति सुखहेतोः को मूढः सेवकादन्यः ॥ ८०६ ॥

अणुराअरअणभरिअं कंचणकलस व्व तरुणिथणवट्टं[2] ।
तस्स चिअ मुहम्मि किआ मसिमुद्दा मअणराएण ॥ ८०७ ॥

[अनुरागरत्नभरितं काञ्चनकलश इव तरुणीस्तनवृत्तम् ।
तस्यैव मुखे कृता मसिमुद्रा मदनराजेन ॥]

काली मुहर—तरुणी का स्तन-तट अनुराग के रत्न से भरा, सोने के कलश की भांति है, उसके मुख पर ही मदनराज ने काली मुहर लगा दी है ।

विमर्श—दूती द्वारा नायक को यह सूचना कि नायिका तत्काल गर्भिणी है उसे प्राप्त करने की कोशिश बेकार है, अनुराग के रत्न से भरे उसके स्तन-कलश पर राजा मदन ने कृष्णवर्ण के स्तनाग्र के रूप में काली मुहर लगा दी

---

१. चारि, २. थणतट्टं ।

है। मुहरबन्द चीज को प्राप्त करने की कोशिश राजाज्ञा के उल्लङ्घन का सबूत होती है ॥ ८०७ ॥

विज्ज ! पिआसा वड्ढइ, घणताओ, खणखणम्मि रोमंचो ।
हिअए ण भाइ अण्णं, लज्जापत्थेहि तेजिआ पाणा ॥ ८०८ ॥
[वैद्य ! पिपासा वर्धते, घनतापः क्षणक्षणे रोमाञ्चः ।
हृदये न भात्यन्यत् , लज्जापथ्यैस्त्याजिताः प्राणाः ॥]

वैद्य—वैद्य जी, प्यास जोर से लगती है, खूब ताप रहता है, तुरत-तुरत रोमाञ्च होता है, अन्न अच्छा नहीं लगता, लज्जा के पथ्य से प्राण छूट रहे हैं।

विज्ज = वैद्य, विज्ञ। अन्य छाया के अनुसार दूती द्वारा नायक के प्रति नायिका की विरहावस्था का प्रकाशन व्यञ्जित होता है ॥ ८०८ ॥

गाहाण अ गेआण अ तंतीसद्दाण पोढमहिलाण ।
ताणं सो च्चिअ दण्डो, ते ताण रसं ण 'आणंति ॥ ८०९ ॥
[गाथानां च गेयानां च तन्त्रीशब्दानां प्रौढमहिलानाम् ।
तेषां स एव दण्डस्ते तेषां रसं न जानन्ति ॥]

अरसिक—गाथाओं का, गीतों का, संगीत के शब्दों का, प्रौढ़ा महिलाओं का रस (मजा) जिन्हें मालूम नहीं, उन्हें वही दण्ड है ॥ ८०९ ॥

विवरीअरअम्मि सिरी बम्हं दट्ठूण णाहिकमलत्थं ।
हरिणो दाहिणनअणं रसाउला झत्ति ढक्केइ ॥ ८१० ॥
[विपरीतरते लक्ष्मीर्ब्रह्माणं नाभिकमलस्थम् ।
हरेर्दक्षिणनयनं रसाकुला झटिति छादयति ॥]

लक्ष्मी—विपरीत रत के समय लक्ष्मी ने नाभि-कमल में स्थित ब्रह्माजी को देखकर, रसातिरेक से व्याकुल हो, झट से विष्णु का दाहिना नेत्र ढाँक दिया।

विमर्श—अकस्मात् लक्ष्मी को विष्णु के साथ विपरीत रति की इच्छा हुई। पितामह ब्रह्मा जी वहाँ बाधक रूप में विद्यमान थे। लक्ष्मी ने झट से विष्णु के दाहिने नेत्र को ढाँक दिया, क्योंकि विष्णु का दाहिना नेत्र सूर्य है और सूर्य के ढंक जाने से कमल का मुँद जाना स्वाभाविक है। लक्ष्मी का तात्पर्य था कि नाभि-कमल बंद हो जाय और ब्रह्माजी के ओझल हो जाने से विष्णु के साथ उद्दाम विलास के मजे हों ॥ ८१० ॥

लडहविलआण लोअणकडक्खविक्खेवजणिअसंदावा ।
झिज्झन्ति महासत्ता, चित्तुव्वेअणसहा होंति ॥ ८११ ॥

[सुन्दरवनितानां लोचनकटाक्षविक्षेपजनितसन्तापाः ।
खिद्यन्ते महासत्त्वाश्चित्तोद्वेदनसहा भवन्ति ॥]

महासत्त्व—सुन्दर स्त्रियों के नेत्रों के कटाक्ष-विक्षेप से सन्ताप उत्पन्न होने पर महासत्व लोग क्षीण होते जाते हैं और चित्त का उद्वेजन सहते हैं ॥ ८११ ॥

तह हस जह ण हसिज्जसि, तह जंप जहा परप्पिअं होइ ।
तह जिअ जह लहसि जसं, तह मर जह ण उण संभवसि ॥८१२॥

[तथा हस यथा न हस्यसे, तथा जल्प यथा परप्रियं भवति ।
तथा जीव यथा लभसे यशस्तथा म्रियस्व यथा न पुनः सम्भवसि ॥]

उपदेश—ऐसा हँस कि तेरी हँसी न हो, ऐसा बोल कि दूसरे को प्रिय लगे, ऐसा जी कि तू यश प्राप्त करे और ऐसा मर कि फिर उत्पन्न न हो ॥ ८१२ ॥

छप्पअ ! गम्मसु सिसिरं पासाकुसुमेहि ताव, मा मरसु ।
जीअन्तो दच्छिहिसि अ पुणो वि रिद्धिं वसन्तस्स ॥ ८१३ ॥

[षट्पद ! गमयस्व शिशिरं पाशाकुसुमैस्तावन्मा म्रियस्व ।
जीवन् द्रक्ष्यसि च पुनरपि ऋद्धिं वसन्तस्य ॥]

वसन्त-समृद्धि—हे भौंरा ! पाशाकुसुमों के साथ तब तक जाड़े को बिता, मत मर । जीता रहेगा तो फिर भी वसन्त की समृद्धि देखेगा ।

विमर्श—अन्यापदेश से दूती का आश्वासन नायक के प्रति । 'वज्जालग्ग' में इस गाथा का पाठ और छाया—

'छप्पय गम्मेसु कालं वासवकुसुमाइ ताव मा मुयसु ।
मन्न नियंतो पेच्छसि पउरा रिद्धी वसन्तस्स ॥ ६११ ॥
षट्पद गमयस्व कालं वासवकुसुमानि तावन्मा मुञ्च ।
मन्ये जीवन् पश्यसि प्रचुरर्द्धीर्वसन्तस्य ॥ ८१३ ॥

सव्वत्थ होइ ठाणं रासहमहिसाण मेसवुसहाणं ।
भद्दगइंदाणमहो महावणं अहव महाराओ ॥ ८१४ ॥

[सर्वत्र भवति स्थानं रासभमहिषाणां मेषवृषभाणाम् ।
भद्रगजेन्द्राणामहो महावनमथवा महाराजः ॥]

गजराज—गधे, भैंसे, भेड़े और बैलों का स्थान सर्वत्र होता है पर गजराज का स्थान केवल महावन अथवा बादशाह के यहाँ होता है ।

विमर्श—'वज्जालग्ग' के अनुसार पाठ और छाया इस प्रकार हैं—

'गोमहिसतुरङ्गाणं पसूण सव्वाण जुज्जए ठाणं।
दड्ढगाइन्दाण पुणो अह विञ्झो अह महाराओ ॥ १८९ ॥
गोमहिषतुरङ्गाणां पशूनां सर्वाणां युज्यते स्थानम्।
दग्धगजेन्द्राणां पुनोऽथ विन्ध्योऽथ महाराजः ॥ ८१४ ॥

अव्वो ! ण [1]आमि [2]छेत्तं खज्जउ खाली वि [3]कीरणिवहेहिं।
जाणन्ता अवि पहिआ पुच्छन्ति पुणो पुणो [4]मग्गं ॥ ८१५ ॥

परेशान महिला—ओह ! सुग्गे धान खा भी जाँय तो खेत पर न जाऊंगी; पथिक जानते हुए भी बार-बार रास्ता पूछते हैं ॥ ८१५ ॥

अत्थक्कागअदिट्ठे बहुआ जामादुअम्मि गुरुपुरओ।
जूरइ णिवडंताणं हरिसविफंदंतवलआणं ॥ ८१६ ॥
[अकस्मादागतहृदये वधूका दयिते गुरुपुरतः।
क्रुध्यति विगलद्भ्यो हर्षविकसद्भ्यो वलयेभ्यः ॥]

प्रिय-दर्शन—गुरुजनों के सामने वधू को अचानक आया दिख गया तब वधू आनन्द के अधिक होने से गिरते जाते हुए वलयों पर कुपित होती है।

विमर्श—छाया 'सरस्वतीकण्ठाभरण' से प्राप्त ॥ ८१६ ॥

अच्छीहि तुज्झ सुन्दरि ! बाहिरधवलेहि मज्झकसणेहि।
एएहि को ण दयिओ पिसुणेहि कण्णलग्गेहि ? ॥ ८१७ ॥
[अक्षिभ्यां तव सुन्दरि ! बाह्यधवलाभ्यां मध्यकृष्णाभ्याम्।
एताभ्यां को न दयितः पिशुनाभ्यां कर्णलग्नाभ्याम् ॥]

सुनयना—हे सुन्दरी ! बाहर से सफेद और भीतर से काले, कान में लगे खलों की भांति तेरे इन नेत्रों ने किसे नहीं दमन किया ? ॥ ८१७ ॥

एह इमीअ, णिअच्छह विम्हिअहिअआ सही पुलोएइ।
अद्दाअम्मि कवोलं कवोलपट्टम्मि अद्दाअं ॥ ८१८ ॥
[आगच्छतास्या निरीक्षध्वं विस्मितहृदया सखी प्रलोकयति।
आदर्शे कपोलं कपोलपट्टे आदर्शम् ॥]

प्रतिबिम्ब—यहां आओ, देखो ! आश्चर्य भरे हृदय से सखी आइने में गाल को और गाल में आइने को देख रही है ॥ ८१८ ॥

कइआ जाआ ? कइआ णु सिक्खिआ, माइआ ! हअकुमारी ?
तं तं जाणइ सव्वं, जं जं महिलाओ जाणन्ति ॥ ८१९ ॥

१. जामि। २. छित्तं, खेत्तं। ३. कुरङ्गकीलेहिं। ४. संसग्गं।

[कदा जाता ? कदा नु शिक्षिता, मातः ! हतकुमारी ।
तत्तज्जानाति सर्वं यद् यन्महिला जानन्ति ॥]

कुमारी—ओ माँ ! यह मुई कुमारी कब पैदा हुई ? कब सीखा ? महिलाएं जो-जो जानती हैं वह सब कुछ जानती है ! ॥ ८१९ ॥

खणपिट्ठधूसरत्थणि ! महुमअतंबच्छि ! कुवलआभरणे !
कण्णगअचूअमंजरि ! पुत्ति ! तुए मंडिओ गामो ॥ ८२० ॥
[क्षणपिष्टधूसरस्तनि ! मधुमदताम्राक्षि ! कुवलयाभरणे !
कर्णगतचूतमञ्जरि ! पुत्रि ! त्वया मण्डितो ग्रामः ॥]

ग्रामशोभा—बेटी ! तेरे स्तन उत्सव के पिसान से धूसर हैं, तेरी आंखें मदिरा के नशे से लाल हैं, तूने कुवलय के गहने धारण किए हैं, तेरे कानों में आम की मौंजर है, तूने गाँव को भूषित कर दिया है ॥ ८२० ॥

मग्गिअलद्धे बलमोडिचुम्बिए अप्पाणेण उवणीडे ।
एक्कम्मि पिआअहरे अण्णण्णा होंति रसहेआ ॥ ८२१ ॥
[मार्गितलब्धे बलमोडचुम्बिते आत्मनोपनीते ।
एकस्मिन् प्रियाधरेऽन्यान्या भवन्ति रससेकाः ॥]

अधर—जो मांगने पर प्राप्त होता है, जो बल-पूर्वक चुम्बित होता है, जो अपने आप ला दिया जाता है, प्रिया के एक अधर में रस अनेक हैं ॥ ८२१ ॥

उप्फुल्लोअणेणं कवोलवोसट्टमाणसेएणं ।
अहणंतेण वि भणिआ मुहेण से कज्जणिव्वुत्ती ॥ ८२२ ॥
[उत्फुल्ललोचनेन कपोलविसर्पमाणसेकेन ।
अभणताऽपि भणिता मुखेन तस्याः कार्यनिवृत्तिः ॥]

तृप्ति—उस (नायिका) के मुख ने नहीं कहा, तथापि कार्य की निवृत्ति आंखों के विकसित होने एवं कपोल पर पसीना के फैल जाने से व्यक्त कर दी ॥ ८२२ ॥

जत्थ ण उज्जागरओ, जत्थ ण ईसा विसूरणं माणो ।
सब्भावचाडुअं जत्थ णत्थि, णेहो तहिं णत्थि ॥ ८२३ ॥
[यत्र नास्त्युज्जागरको यत्र नेर्ष्या खेदो मानः ।
सद्भावचाटुकं यत्र नास्ति स्नेहस्तत्र नास्ति ॥]

स्नेहचिह्न—जहां जगानेवाला नहीं है, ईर्ष्या नहीं है, खेद नहीं है और सद्भावपूर्ण मधुर वचन नहीं है, वहां स्नेह नहीं है ।

विमर्श—छाया 'सरस्वतीकण्ठाभरण' से प्राप्त ॥ ८२३ ॥

मह पइणा थणजुअले पत्तं लिहिअं ति गव्विआ कीस ! ।
आलिहइ महं पि पिओ जइ से कंपो च्चिअ ण होइ ॥ ८२४ ॥

[मम पत्या स्तनयुगले पत्रं लिखितमिति गर्विता कस्मात् ? ।
आलिखति ममापि प्रियो यदि तस्याः कम्प एव न भवति ॥]

चित्रकारी—'मेरे पति ने स्तनों में पत्र की चित्रकारी की है' यह गर्व क्यों करती है ? मेरा भी प्रिय चित्रकारी करता, अगर उसे कंप न हो पाता ॥८२४॥

कण्णे पडिअ हिअए पडिअं च्चिअ, ओ मए अभव्वाए ।
जामि त्ति तुज्झ वअणं-किं व ण सहिअं ! पवासस्स ॥ ८२५ ॥

[कर्णे पतितं हृदये पतितमेव, ओ मयाऽभव्यया ।
यामीति तव वचनं-किमिव न सोढं प्रवासस्य ॥]

अभागिन—'जाता हूं' यह तेरा वचन मुझ अभागिन के कान में पड़ा और हृदय में पड़ा ही; प्रवास का क्या (कष्ट) मैंने नहीं सहन किया ॥ ८२५ ॥

समपंथपत्थिअस्स वि पहिअस्स खलंति पुढमदिअहम्मि ।
हिअअट्ठिअजाआगुरुणिअंबहारेण व पआइं ॥ ८२६ ॥

[समपथप्रस्थितस्यापि पथिकस्य स्खलन्ति प्रथमदिवसे ।
हृदयस्थितजायागुरुनितम्बभारेणेव पदानि ॥]

गुरुनितम्ब—सम मार्ग में प्रस्थान करने पर भी पहले दिन पथिक के पैर मानों हृदय में स्थित पत्नी के भारी नितम्ब के भार से फिसल जाते हैं ॥ ८२६ ॥

संदेसो वि ण लिहिओ लेहे पहिएण कत्थ घरतत्ती ? ।
अणवरअलिहिअगेहिणि गोत्तक्खरपूरिए पत्ते ॥ ८२७ ॥

[सन्देशोऽपि न लिखितो लेखे पथिकेन कुत्र गृहस्थितिः ? ।
अनवरतलिखितगेहिनीगोत्राक्षरपूरिते पत्रे ॥]

नामाक्षर—पथिक ने लेख में सन्देश तक न लिखा, घर की स्थिति तो दूर रहे, केवल पत्र को गृहिणी के निरन्तर नामाङ्कन से भर डाला है ॥८२७॥

उप्पेक्खागअदइअंगसंगमुच्चलिअविउणसेआए ।
वोलीणो वि ण णाओ पउत्थपइआइ हेमन्तो ॥ ८२८ ॥

[उत्प्रेक्षगतदइताङ्गसङ्गमोच्चलितविपुलसेकायाः ।
व्यपक्रान्तोऽपि न ज्ञातः प्रोषितपतिकाया हेमन्तः ॥]

प्रोषितपतिका—हेमन्त बीत भी गया और प्रोषितपतिका ने नहीं जाना, क्योंकि कल्पना से आए प्रिय के अङ्ग का सम्पर्क पाकर वह पसीने-पसीने हो जाती ॥ ८२८ ॥

सिविणअलद्धपियअमपुलइउग्गमणिब्भरेहिँ अंगेहिँ ।
परिरम्भणे सुहाइं पावउ, मा णं पबोहेह ॥ ८२९ ॥

[स्वप्नकलब्धप्रियतमपुलकोद्गमनिर्भरैरङ्गैः ।
परिरम्भणे सुखानि प्राप्नोतु, मा तां प्रबोधयत ॥]

स्वप्नसुख—प्रियतम के स्वप्न में प्राप्त होने से रोमाञ्च-भरे अङ्गों से आलिङ्गन में सुख प्राप्त करे, इसे मत जगाओ ॥ ८२९ ॥

विज्झावेइ पइवं अब्भुट्ठन्तीएँ पहिअजाआए ।
पिअअमविओअदीहरणीसहणीसासरिञ्छोली ॥ ८३० ॥

[विध्यापयति प्रदीपमभ्युत्तिष्ठन्त्याः पथिकजायायाः ।
प्रियतमवियोगदीर्घनिःसहनिःश्वासरिञ्छोली ॥]

निःश्वास-पंक्ति—उठती हुई विरहिणी (पथिकजाया) की प्रियतम के वियोग से लम्बी और दुसह निःश्वास-पंक्ति प्रदीप को बुझा देती है ॥ ८३० ॥

जं पीअं मंगलवासणाएँ पत्थाणपढमदिअहम्मि ।
बाहसलिलं ण चिट्ठइ तं चिअ विरहे रुवंतीए ॥ ८३१ ॥

[यत् पीतं मङ्गलवासनया प्रस्थानप्रथमदिवसे ।
बाष्पसलिलं न तिष्ठति तदेव विरहे रुदत्याः ॥]

वाष्पजल—जिस वाष्पजल को (प्रियतम के) प्रस्थान के प्रथम दिन पान कर लिया था वही विरह में रुदन करती हुई के नहीं थमता ॥ ८३१ ॥

उक्कण्ठा णिच्छाआ सव्वं उण परिअणं रुआवेइ ।
आअंबिरेहि अज्झा फुसिअपरुणेहि अच्छीहि ॥ ८३२ ॥

[उत्कण्ठानिच्छाया सर्वं पुनः परिजनं रोदयति ।
आताम्राभ्यामार्या स्पृष्टप्ररुदिताभ्यामक्षिभ्याम् ॥]

शोभाहीन—उत्कण्ठा के कारण शोभाहीन आर्या पोछने और रोने से आँखों के लाल हो जाने के कारण सभी परिजनों को रुला देती है। (उसकी दशा को देखकर उसके परिजन शोकमग्न हो उठते हैं) ॥ ८३२ ॥

जह दिअहविरामो णवसिरीसगंधुद्धुराणिलग्धविओ।
पहिअघरिणीअ ण तहा तवेइ तिव्वो वि मज्झण्हो ॥ ८३३ ॥
[यथा दिवसविरामो नवशिरीषगन्धोद्धुरानिलधौतः।
पथिकगृहिण्या न तथा तापयति तीव्रोऽपि मध्याह्नः ॥]

सन्ध्याकाल—जो कि दिन का अन्त नये शिरीष की गन्ध से भरी हवा से युक्त होता है उससे वियोगिनी को तीव्र भी मध्याह्न सन्तप्त नहीं करता ॥ ८३३ ॥

चिरपवसिअदइअकहाणिउणाहि सहीहि विरहसहणत्थं।
अलिआ अवि अवराहा वहूएँ कमसो कहिज्जंति ॥ ८३४ ॥
[चिरप्रवसितदयितकथा निपुणाभिः सखीभिर्विरहसहनार्थम्।
अलीका अपि अवराधा वध्वाः क्रमशः कथ्यन्ते ॥]

प्रियकथा—निपुण सखियाँ बहुत दिनों से प्रवास पर गए प्रिय की कथाएँ विरह के सहनार्थ झूठ के अपराधों को गढ़कर वधू से कहती हैं ॥ ८३४ ॥

जं जं पउत्थपइआ पिअअमणामक्खरं लिहइ लेहे।
तं तं तल्लेहणिआणुसारगलिओ पुसइ सेओ ॥ ८३५ ॥
[यद् यत् प्रोषितपतिका प्रियतमनामाक्षरं लिखति लेखे।
तत्तल्लेखनिकानुसारगलितः प्रोञ्छति सेकः ॥]

लेखनी—प्रोषितपतिका प्रियतम का जो-जो नामाक्षर लेख में लिखती है उसे लेखनी के मार्ग से बहता हुआ पसीना पोंछ डालता है ॥ ८३५ ॥

अच्छउ णिमीलिअच्छी, मा मा वारेह, पिअअमासाए।
तेणविणा किं पेच्छउ उम्मिल्लेहिं वि अच्छीहिं ॥ ८३६ ॥
[तिष्ठतु निमीलिताक्षी मा मा वारयत, प्रियतमाशया।
तेन विना किं प्रेक्षतामुन्मीलिताभ्यामप्यक्षिभ्याम् ॥]

ध्यान—प्रियतम की आशा में वह आँखें बन्द करके रहे, उसे मत वारण करो; उसके बिना खुली आँखों से आखिर वह क्या देखेगी ? ॥८३६॥

दीहुण्हा णीसासा, रणरणओ कुज्जगग्गिरं गेअं।
पिअविरहे जीविअवल्लहाण एसो च्चिअ विणोओ ॥ ८३७ ॥
[दीर्घोष्णा निःश्वासाः, रणरणको······गेयम्।
प्रियविरहे जीवितवल्लभानामेव विनोदः ॥]

विरहविनोद—दीर्घ-उष्ण निःश्वास, परेशानी, जोर से रुदन की आवाज और गीत यही प्रिय के विरह में प्राणवल्लभाओं का विनोद है ॥ ८३७ ॥

जइ देव्व ! तुं पसण्णो मा करिहिसि मज्झ माणुसं जन्म ।
जइ जम्मं, मा पेम्मं, जइ पेम्मं, मा जणे दुलहे ॥ ८३८ ॥

[यदि दैव ! त्वं प्रसन्नो मा करिष्यसि मम मानुषं जन्म ।
यदि जन्म, मा प्रेम, यदि प्रेम, मा जने दुर्लभे ॥]

प्रार्थना—हे दैव ! यदि तू प्रसन्न है तो मुझे मनुष्य का जन्म मत देना, यदि जन्म देना तो प्रेम मत देना, यदि प्रेम देना तो दुर्लभ जन में मत देना ।

विमर्श—वेबर ने यह समानार्थी गाथा उद्धृत की है—
रे संकर ! मा सिजसि, अह सिजसि, मा देहि माणुसं जम्म ।
अह जम्मं मा पेम्मं, अह पेम्मं मा विओअं रहे ॥
'अलङ्काररत्नाकर' में 'अतिशय' अलङ्कार का उदाहरण ॥ ८३७ ॥

राईण भणइ लोओ जा किल गिम्हम्मि होंति मउहाओ ।
मह उण दइएण विणा ण आणिमो कीस वड्ढन्ति ॥ ८३९ ॥

[रात्रीणां भणति लोको याः किल ग्रीष्मे भवन्ति स्वल्पाः ।
मम पुनर्दयितेन विना न जाने कस्माद् वर्धन्ते ॥]

गर्मी की रातें—रातों के बारे में, लोग कहते हैं कि जो गर्मी में घट जाती हैं; परन्तु मेरे लिए, प्रिय के बिना, न जाने, कैसे बढ़ जाती हैं ॥ ८३९ ॥

एक्के अअणे दिअहा, वीए रअणीओ होन्ति दीहाओ ।
विरहाअणो अपुव्वो, एत्थ दुवे च्चेअ वड्ढन्ति ॥ ८४० ॥

[एकस्मिन्नयने दिवसाः, द्वितीये रजन्यो भवन्ति दीर्घाः ।
विरहायनोऽपूर्वः, अत्र द्वे एव वर्धेते ॥]

वर्ष—एक अयन (वर्ष) में दिन बड़े होते हैं और दूसरे में रातें; किन्तु विरह के वर्ष का अपूर्व नियम है कि यहाँ दोनों ही बढ़ जाते हैं ॥ ८४० ॥

चिरजीवित्तणकंखिरि ! मा तम्म, रसाअणेहि अथिरेहि ।
विरहं पवज्ज, जाअंति जेण जुअदीहरा दिअहा ॥ ८४१ ॥
[चिरजीवित्वकांक्षिणि ! मा ताम्य, रसायनैरस्थिरैः ।
विरहं प्रपद्यस्व, जायन्ते येन युगदीर्घा दिवसाः ॥]

विरह-रसायन—चिरकाल तक जीवित रहने की इच्छा वाली स्त्री ! अस्थिर रसायनों से मत घबड़ा, विरह का सेवन कर, जिससे दिन युग के समान लम्बे हो जाते हैं ॥ ८४१ ॥

रुअइ रुअंतीए मए, ओहिदिणे गणइ, झिज्जइ अहं व ।
पिअविरहे मामि ! सअज्झिआएँ णेहो च्चिअ अपुव्वो ॥ ८४२ ॥

[रोदिति रुदत्या मया, अवधिदिनानि गणयति, खिद्यतेऽहमिव ।
प्रियविरहे मातुलानि ! प्रतिवेशिन्याः स्नेह एवापूर्वः ॥]

पड़ोसिन—प्रिय के विरह में, मैं रोने लगती हूँ तो वह भी रोती है, अवधि का दिन गिनती है, मेरी तरह कृश होती है, री मामी ! पड़ोसिन का स्नेह ही अपूर्व है ॥ ८४२ ॥

कण्ठग्गहणेण सअज्झिआए[1] अब्भागओवआरेण ।
वहुआएँ पइम्मि वि आगअम्मि सामं मुहं जाअं ॥ ८४३ ॥

[कण्ठग्रहणेन प्रतिवेशिन्या अभ्यागतोपकारेण ।
वध्वाः पत्यावपि आगते श्यामं मुखं जातम् ॥]

अतिथि स्वागत—स्वागत में पड़ोसिन द्वारा अतिथि के कण्ठग्रहण से वधू का मुख पति के आने पर भी मलिन बना रहा ॥ ८४३ ॥

चंदो वि चंदवअणे ! मुणालबाहालए ! मुणालाइं ।
इंदीवराइ इंदीवरच्छि ! तावेन्ति तुह विरहे ॥ ८४४ ॥

[चन्द्रोऽपि चन्द्रवदने ! मृणालबाहुलते ! मृणालानि ।
इन्दीवराणि इन्दीवराक्षि ! तापयन्ति तव विरहे ॥]

चन्द्रमुखी—तेरा मुख चन्द्र के समान, बाहें मृणाल के समान और आँखें कमल के समान हैं; तेरे विरह में चन्द्र, मृणाल और कमल भी सन्ताप उत्पन्न करते हैं ॥ ८४४ ॥

गुरुअणपरवस पिअ ! किं भणामि तुह मंदभाइणी अहअं ।
अज्ज पवासं वज्जसि[2], वच्च, सअं चेअ मुणसि[3] करणिज्जं ॥८४५॥

[गुरुजनपरवश प्रिय ! किं भणामि त्वां मन्दभागिनी खल्वहम् ।
अद्य प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम् ॥]

पराधीन—हे प्रिय ! तू गुरुजनों के पराधीन है, तुझसे मैं क्या कहूँ, मैं

---

१. अअद्धिआए । २. वच्चसि । ३. सुणसि ।

मन्द भागवाली हूँ, आज प्रवास पर जा रहा है तो जा, जो करना है स्वयं उसे सुन लेगा।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त ॥ ८४५ ॥

वित्थिण्णं महिवेढं, विउलणिअम्बाओ पीणथणिआओ।
लब्भन्ति विसालच्छीओ सुहअ ! जुवईओ मा तम्म ॥ ८४६ ॥
[विस्तीर्णं महीपृष्ठं, विपुलनितम्बाः पीनस्तनिकाः।
लभ्यन्ते विशालाक्ष्यः सुभग ! युवतयो मा ताम्य ॥]

पृथ्वी—हे सुभग ! पृथ्वी विशाल है, चौड़े नितम्बों वाली, पीन स्तनों वाली, बड़ी आँखों वाली युवतियाँ बहुत मिलेंगी, मत खिन्न हो ॥ ८४६ ॥

कज्जं विणा वि विअलंतपेम्मराअं तुमं णिअच्छन्ती।
हिअआसंकिअणिजरोसदुम्मणा तामइ वराई ॥ ८४७ ॥
[कार्यं विनाऽपि विगलत्प्रेमरागं त्वां नियच्छन्ती।
हृदयाशङ्कितनिजदोषदुर्मनास्ताम्यति वराकी ॥]

आत्मदोष—विना कारण ही प्रेम छोड़ बैठे तुम्हें देखती हुई वह बेचारी हृदय में अपने दोष की आशङ्का से दुखी मन हो सन्तप्त हो रही है ॥ ८४७ ॥

दूई ण एइ, चंदो वि उग्गओ, जामिणी वि बोलेइ।
सव्वं सव्वत्तो च्चिअ विसंठुलं, कस्स किं भणिमो ? ॥ ८४८ ॥
[दूती नैति, चन्द्रोऽप्युद्गतो यामिन्यपि व्यतिक्रामति।
सर्वं सर्वत एव विसंष्ठुलं, कस्मै किं भणामः ? ॥]

व्याकुलता—दूती नहीं आई, चन्द्र भी उग आया, रात भी बीतने वाली है, सभी सब ओर गड़बड़ है, किससे क्या कहूँ ? ॥ ८४८ ॥

दूई गआ चिराअइ, किं सो मह पासमेहिइ ण वे त्ति।
जीविअमरणन्तरसण्ठिआएँ अंदोलए हिअअं ॥ ८४९ ॥
[दूती गता चिरायते, किं स मम पार्श्वमेष्यति न वेति।
जीवितमरणान्तरसंस्थिताया आन्दोलते हृदयम् ॥]

जीवन और मरण—दूती जाकर देर कर रही है, क्या वह मेरे पास आएगा या नहीं ?, मैं जीवन और मरण के बीच स्थित हूँ और मेरा हृदय डोल रहा है ॥ ८४९ ॥

सो णागओ त्ति पेच्छह परिहासुल्लाविरीएँ दूईए।
णूमंतीअ पहरिसो ओसट्टइ गण्डपासेसु ॥ ८५० ॥

[स नागत इति प्रेक्षध्वं परिहासोल्लापिन्या दूत्याः ।
अनुमानयन्त्याः प्रहर्षोऽवशिष्यते गण्डपार्श्वयोः ॥]

प्रहर्ष—'देखो, वह नहीं आया' परिहासपूर्वक कहती हुई दूती के गालों में प्रहर्ष दौड़ गया ॥ ८५० ॥

कह णु गआ ? कह दिट्ठो ? कि भणिअं ? किं व तेण पडिभणिअं ।
एअं चिअ ण समप्पइ पुणरुत्तं जंपमाणीए ॥ ८५१ ॥

[कथं तु गता कथं दृष्टः किं भणिता किं च तेन प्रतिपन्नम् ।
एवमेव न समाप्यते पुनरुक्तं जल्पमानायाः ॥]

पुनरुक्त—कैसे गई, कैसे देखा, क्या कहा और उसने क्या उत्तर दिया, इसी प्रकार कहती हुई उसका बार-बार का कथन पूरा नहीं होता ।

विमर्श—छाया 'सरस्वतीकण्ठाभरण' से प्राप्त ॥ ८५१ ॥

दूईमुहअंदपुलोइरीएँ किं भणिहिइ त्ति अज्झाए ।
पिअसंगमललिअमणोरहाएँ हिअअं थरथरेइ ॥ ८५२ ॥

[दूतीमुखचन्द्रप्रलोकिन्याः किं भणिष्यतीत्यार्यायाः ।
प्रियसङ्गमललितमनोरथाया हृदयं थरथरायते ॥]

औत्सुक्य—प्रिय के सङ्गम के मनोरथ से भरी, दूती का मुखचन्द्र निहारती हुई आर्या का हृदय '(प्रिय ने) क्या कहा है ?' (यह सोचकर) थर-थर कांपता है ॥ ८५२ ॥

अप्पाहिआइ तुह तेण जाइ ताइं मए ण मुणिआइं ।
अच्चुण्हस्सासपरिक्खलंतविसमक्खरपआइं

[आशिक्षितायास्तव तेन यानि तानि मया न ज्ञातानि ।
अत्युष्णश्वासपरिस्खलद्विषमाक्षरपदानि ॥ ८५३ ॥

विषमाक्षर—तुझे शिक्षा देती हुई मैंने······अत्यन्त उष्ण श्वास के कारण परिस्खलित होते हुए विषमाक्षर पदों को नहीं सुना (?) ॥ ८५३ ॥

साहेन्ती सहि ! सुहअं खणे खणे दूमिआ सि मज्झ कए ।
सब्भावणेहकरणिज्जसरिसअं दाव विरइअं तुमए ॥ ८५४ ॥

[साधयन्ती सखि ! सुभगं क्षणे क्षणे दूनाऽसि मत्कृते ।
सद्भावस्नेहकरणीयसदृशं तावद् विरचितं त्वया ॥]

सखी का सापत्न्य—हे सखी सुभग को मेरे लिए मनाती हुई तूने क्षण-क्षण कष्ट का अनुभव किया है, सद्भाव और स्नेह के सदृश ही तूने काम किया है ।

विमर्श—छाया 'काव्यानुशासन' से प्राप्त। नायिका ने नायक को अपने प्रति अनुकूल करने के लिए सखी को भेजा और इसके विपरीत सखी ने ही स्वयं नायक के साथ सुरत का आनन्द मचा लिया। नायिका द्वारा अपकारिणी सखी के प्रति यह वचन मुख्य—विपरीत रूप से यह प्रकट होता है कि मेरे प्रिय के साथ रमण करके तूने सद्भाव और स्नेह के विसदृश कार्य किया है, अर्थात् यह शत्रुता का व्यवहार है ॥ ८५४ ॥

जं तुह कज्जं तं चिअ कज्जं मज्झ त्ति जं सआ भणसि।
ओ दूइ सच्चवअणे! अज्ज सि पारं गआ तस्स ॥ ८५५ ॥

[यत्तव कार्यं तदेव कार्यं ममेति यत् स्वयं भणसि।
ओ दूति! सत्यवचने! अद्यासि पारं गता तस्य ॥]

सत्यवादिनी—'जो तेरा कार्य है वही मेरा कार्य है' यह जो तू सदा कहती है, ओ सत्यवादिनी दूती! आज तू उसे पार कर गई ॥ ८५५ ॥

णवलअपहरुत्तट्ठाएँ[1] तं कअं हलिअवहुआए[2]।
जं अज्ज वि जुवइजणो घरे घरे सिक्खिउं महइ ॥ ८५६ ॥

[पतिनामकप्रश्नपूर्वकप्रहारतुष्टया तत्कृतं किमपि हलिकस्नुषया।
यदद्यापि युवतिजनो गृहे गृहे शिक्षितुं भ्रमति ॥]

हलिकवधू—नवलता का प्रहार देने से सन्तुष्ट हलिकवधू ने वह किया जिसे आज भी घर-घर में युवतियां सीखना चाहती हैं।

विमर्श—छाया 'सरस्वतीकण्ठाभरण' से प्राप्त। 'साहित्यमीमांसा' के अनुसार पाठ—

'इवणदळअपहजजद्ददाणतक्कअं किं वि हलिअसुण्हए।
अज्जउज्जबिंदुवइजणो घरे घरे सिक्खउम्महइ ॥ ८५६ ॥

धण्णो सि रे हलिद्दअ! हलिअसुआपीणथणभरुच्छंगे।
पेच्छन्तस्स वि रे पइणो जह तुह कुसुमाइ णिवडन्ति ॥ ८५७ ॥

[धन्योऽसि रे हरिद्रक! हलिकसुतापीनस्तनभरोत्सङ्गे।
प्रेक्षमाणस्यापि पत्युर्यथा तव कुसुमानि निपतन्ति ॥]

हरिद्रावृक्ष—हे हरिद्रावृक्ष! तू धन्य है कि हलिकसुता के पीन स्तनों से युक्त अंक में तेरे फूल गिरते रहते हैं और (मेरा) पति देखता रहता है ॥ ८५७ ॥

---

1. तुट्ठाइ। 2. सोण्हाए।

सच्चं चिअ कट्ठमओ सुरणाहो, जेण हलिअधूआए।
हत्थेहि कमलदलकोमलेहि चिक्को[1] ण पल्लविओ ॥ ८५८ ॥

[सत्यमेव काष्ठमयः सुरनाथो येन हलिकदुहित्रा।
हस्तैः कमलदलकोमलैः स्पृष्टो न पल्लवितः ॥]

इन्द्र—ठीक ही देवताओं का राजा इन्द्र काठ का बना होता है, जिस कारण, हलिक की पुत्री ने कमल के समान कोमल अपने हाथों से स्पर्श किया तब भी पल्लवित न हुआ।

विमर्श—छाया 'सरस्वतीकण्ठाभरण' से प्राप्त। लोक में कूप आदि की पूजा के समय इन्द्र की काष्ठमयी मूर्ति बनाई जाती है, जिसे प्रस्तुत में हलिकपुत्री द्वारा स्पृष्ट होने पर भी पल्लवित न होने के कारण द्रष्टा नायक का निर्णय है कि इन्द्र अगर सच्चे अर्थ में काष्ठमय अर्थात् अचेतन या निर्जीव न होता तो पल्लवित अवश्य हुआ होता अतः वह ठीक ही अचेतन या निर्जीव देवता है ॥ ८५८ ॥

एमेअ अकअपुण्णा अप्पत्तमणोरहा विवज्जिस्सम्।
जणवाओ वि ण जाओ, तेण समं हलिअउत्तेण ॥ ८५९ ॥

[एवमेवाकृतपुण्याऽप्राप्तमनोरथा विपत्स्ये।
जनवादोऽपि न जातस्तेन समं हलिकपुत्रेण ॥]

जनापवाद—उस हलिक के छोकरे के साथ न कोई लोगों में अपवाद फैला है, यूं ही अभागिन, मनोरथ को न प्राप्त मैं विपत् भोगने वाली हूँ।

विमर्श—छाया 'सरस्वतीकण्ठाभरण' से प्राप्त ॥ ८५९ ॥

लज्जापज्जत्तपसाहणाइं परतत्तिणिप्पिवासाइं।
अविणअदुम्मेहाइं धण्णाण घरे कलत्ताइं ॥ ८६० ॥

[लज्जापर्याप्तप्रसाधनानि [2]परतृप्तिनिष्पिपासानि।
अविनयदुर्मेधांसि धन्यानां गृहे कलत्राणि ॥]

कुलाङ्गना—एकमात्र लज्जा के प्रसाधन वाली, परपुरुष के प्रति निरभिलाप, अविनय के कार्यों में मूढ़ कुलाङ्गनाएं धन्य लोगों के घर में होती हैं।

विमर्श—छाया 'दशरूपक' से प्राप्त। श्वश्रु का उपदेश निर्लज्ज, चपल, अविनीत वधू के प्रति ॥ ८६० ॥

---

1. छित्तो। 2. चिता, भर्तृ।

हसिअमविआरमुद्धं, भमिअं विरहिअविलाससच्छाअं ।
भणिअं सहावसरलं धण्णाण घरे कलत्ताणं ॥ ८६१ ॥
[हसितमविकारमुग्धं भ्रमितं विरहितविलाससुच्छायम् ।
भणितं स्वभावसरलं धन्यानां गृहे कलत्राणाम् ॥]

कुटुम्ब-सौख्य—कुलाङ्गनाओं का विकाररहित एवं मुग्ध हास, विलास-रहित एवं सुन्दर चाल और स्वभावसरल वचन धन्य लोगों के घर में (प्राप्त होते हैं)।

विमर्श—छाया 'दशरूपक' से प्राप्त ॥ ८६१ ॥

पइणा वण्णिज्जन्ते अक्खाणअसुन्दरीएँ रूवम्मि ।
ईसामच्छरगरुअं घरिणी हुंकारअं देइ ॥ ८६२ ॥
[पत्या वर्ण्यमाने आख्यानकसुन्दर्या रूपे ।
ईर्ष्यामत्सरगुरुकं गृहिणी हुङ्कारकं ददाति ॥]

कहानी की सुन्दरी—पति जब कहानी की सुन्दरी का रूप वर्णन करने लगा तब उसकी घरवाली ईर्ष्या और मत्सर से भर कर हुंकारी देने लगी ॥ ८६२ ॥

बाहिज्जन्ति ण कस्स वि, रोत्तूणं णेअ पाअडिज्जन्ति ।
माणविआरा कुलपालिआएँ हिअए विलावेन्ति ॥ ८६३ ॥
[बाधयन्ति न कस्यापि रुदित्वा नैव प्रकटीक्रियन्ते ।
मानविकाराः कुलपालिकाया हृदये विलीयन्ते ॥]

कुलस्त्री के मानविकार—कुलस्त्री के मानविकार किसी को बाधा नहीं पहुंचाते, रोकर प्रकट नहीं किये जाते और हृदय में समाप्त हो जाते हैं ।

विमर्श—सखी का उपदेश अपराधी नायक पर कुपित नायिका के प्रति ॥ ८६३ ॥

अहिअं सुण्णाइ णिरंजणाइ वइरिक्करुण्णपुसिआइ ।
विरहुक्कण्ठं कुलपालिआइ साहन्ति अच्छीइं ॥ ८६४ ॥
[अधिकं शून्यानि निरञ्जनानि वृतिरिक्तरुदितस्पृष्टानि ।
विरहोत्कण्ठां कुलपालिकायाः साधयन्त्यक्षीणि ॥]

विरहोत्कण्ठा—कुलीन स्त्री की अधिक सूनी, अंजनरहित, एकान्ततः रोते रहने से पुंछी हुई आंखें विरहोत्कण्ठा का साधन करती हैं ॥ ८६४ ॥

कुलपालिआए पेच्छह जोव्वणलाअण्णविब्भमविलासा ।
पवसन्ति व्व पवसिए, एन्ति व्व पिए घरं एन्ते ॥ ८६५ ॥

[कुलबालिकायाः प्रेक्षध्वं यौवनलावण्यविभ्रमविलासाः ।
प्रवसन्तीव प्रवसिते आगच्छन्तीव प्रिये गृहमागते ॥]

विभ्रम-विलास—देखो, कुलीन स्त्री के यौवन, लावण्य, विभ्रम और विलास प्रिय के प्रवास करने पर मानों प्रवास करते हैं और घर आने पर मानों चले आते हैं।

विमर्श—छाया 'दशरूपक' से प्राप्त। 'वज्जालग्ग' (४६७) के अनुसार पाठ—

(उत्तरार्ध) सव्वे वि अग्गचलिया पियम्मि कयनिच्छए गन्तुं ॥
सर्वेऽप्यग्रचलिताः प्रिये कृतनिश्चये गन्तुम् ॥ ८६५ ॥

पइ पुरओ च्चिअ रभसेण चुम्बियो देवरो असइआए ।
मह वअणं मइरागंधिअं ति हाआ तुहं भणइ ॥ ८६६ ॥
[पतिपुरत एव रभसेण चुम्बितो देवरोऽसत्या ।
मम वदनं मदिरागन्धितमिति भ्राता तव भणति ॥]

मदिरा-गन्ध—'तुम्हारे भाई कहते हैं कि मेरा मुंह मदिरा से बसा रहा है (तुम्हीं बोलो सचमुच क्या मैंने मदिरा-पान किया है ?' यह कह कर) पति के सामने ही छिनाल ने देवर को आवेशपूर्वक चूम लिया ॥ ८६६ ॥

तह असइआएँ रुण्णं पइमरणे बाहरुद्धकण्ठीए ।
अणुमरणसंकिणो जह जारस्स वि संकिअं हिअअं ॥ ८६७ ॥
[तथाऽसत्या रुदितं पतिमरणे बाष्परुद्धकण्ठ्या ।
अनुमरणशङ्किनो यथा जारस्यापि शङ्कितं हृदयम् ॥]

अनुमरण—पति के मर जाने पर आंसू से रुंधे कंठवाली छिनाल इस प्रकार रोने लगी कि अनुमरण की शङ्का से भरे जार का भी हृदय शङ्कित हो उठा (कि कहीं सचमुच उसके साथ चिता में बैठने के लिए उतारू तो नहीं हो जायगी !)॥ ८६७ ॥

वाणीरकुडुंगुड्डीणसउणिकोलाहलं सुणंतीए ।
घरकम्मवावुडाए वहूए सीअन्ति अंगाइं ॥ ८६८ ॥
[वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनि कोलाहलं शृण्वन्त्याः ।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि ॥]

वानीरकुञ्ज—वानीर कुञ्ज से उड़े हुए पक्षियों का कोलाहल सुनती हुई, घर के काम में लगी वधू के अङ्ग पीड़ित होते हैं।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त। नायिका को विदित हो गया कि नायक संकेत स्थान पर पहुंच गया और वह अभी घर के कामों को निपटा भी न पाई, आज के दिन उसका वहां पहुंचना सम्भव नहीं ॥ ८६८॥

णोल्लेइ अणोल्लमणा अत्ता मं घरभरम्मि सअलम्मि।
खणमेत्तं जइ संझाए णवर ण व होइ वीसामो ॥ ८६९ ॥
[नुदत्यार्द्रमनाः[1] श्वश्रुर्मां गृहभारे सकले।
क्षणमात्रं यदि सन्ध्यायां भवति न वा भवति विश्रामः ॥]

कठदिल सासू—घर का सारा बोझ कठदिल सासू मुझ पर डाल देती है, छन भर संझा को अगर फुर्सत होती है या नहीं होती है।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त। नायिका का वचन नायक के प्रति। तात्पर्य यह कि मुझसे मिलने का दिन भर में एक ही बार वह भी शाम को सम्भव है। 'अलङ्काररत्नाकर' में 'सूक्ष्म' अलङ्कार का उदाहरण ॥ ८६९ ॥

ठाणे ठाणे वलिआ, वलणे वलणे सवेडसकुडुंगा।
ण गओ सि अम्ह गामं दिअर ! ण दिट्ठा तुए मुरला ॥ ८७० ॥
[स्थाने स्थाने वलिता, वलने वलने सवेतसकुञ्जा।
न गतोऽसि अस्माकं ग्रामं देवर ! न दृष्टा त्वया मुरला ॥]

मुरला—देवर जी ! तुम हमारे गांव पर नहीं गए हो और तुमने मुरला नदी नहीं देखी है जो जगह-जगह पर मुड़ी हुई है और प्रत्येक मोड़ पर बेंत के कुञ्ज हैं ॥ ८७० ॥

महुएहि किं व वालअ[2] ! हरसि णिअम्बाहि जइ वि मे सिअअं[3]।
साहामि कस्स रण्णे[4] दूरे गामो अहमेक्का ॥ ८७१ ॥
[मधुकैः किं वा पान्थ यदि हरसि निवसनं नितम्बात्।
शास्मि कस्यारण्ये ग्रामो दूरेऽहमेकाकिनी ॥]

अकेली—बटोही ! महुए से क्या ? अगर मेरे नितम्ब से तू कपड़ा भी लेगा तो जंगल में किससे कहूँगी, गांव दूर है और मैं अकेली हूँ।

विमर्श—छाया 'काव्यानुशासन' से प्राप्त। 'साहित्यमीमांसा' के अनुसार पाठ—

'मह एहि किंव पन्थअ जइ रहसि णिअस्सणं णिअं वा।
ओहो साहेमि कस्स रणे गामो दूरं अहं एक्का ॥ ८७१ ॥

---

1. अणद्द। 2. पंथिअ। 3. णिअंसणं। 4. पुरओ।

कालक्खरदूसिक्खिअ धम्मिअ ! रे णिम्बकीडअसरिच्छ ।
दोण्ण वि णिरअणिवासो समअ जइ होइ तहि होदु ॥ ८७२ ॥

[कालाक्षरदुःशिक्षित बालक रे लग मम कण्ठे ।
द्वयोरपि नरकनिवासः समकं यदि भवति तद् भवतु ॥]

नरकनिवास—हे धार्मिक ! तू काले अक्षर तक को नहीं जानता और नीम के कीड़े के समान है, दोनों तरह से तुझे नरक में ही रहना है, यदि बराबर हो तो हो ।

विमर्श—छाया 'सरस्वतीकण्ठाभरण' से प्राप्त । तात्पर्य यह कि तुझे शास्त्र का ज्ञान रंचमात्र भी नहीं । तू जैसे यहां पर नारकीय कार्य में लिपटा रहता है वैसे ही मरने के बाद भी नरक में ही जायगा । अगर शास्त्र को प्रमाण मानता है तो उसके अनुसार चल ! ॥ ८७२ ॥

पंथअ ! ण एत्थ संथरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे ।
उण्णअपओहरे पेक्खिऊण जइ वसइ ता वससु ॥ ८७३ ॥

[पथिक ! नात्र संस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे ।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद् वस ॥]

उन्नत पयोधर—हे पथिक ! इस पथरीली जगह वाले गांव में छोटा भी बिछावन नहीं है, उन्नत पयोधर को देखकर यदि रहना है तो रह जा ।

विमर्श—स्वयंदूती नायिका का वचन सन्ध्याकाल में रुके पथिक के प्रति । यहां सोने में कष्ट तो होगा, क्योंकि जगह पथरीली है, मगर उन्नत पयोधर अर्थात् सामने आकाश में उमड़ते हुए बादल को देखकर (संकेत यह है कि उन्नत पयोधर अर्थात् उठे हुए मेरे स्तन को देखकर) तू यदि ठहरना चाहे तो ठहर जा । छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त । 'वज्जालग्ग' के अनुसार पाठ—

'कह लब्भइ सत्थरयं (स्वस्थरतं) अम्हाण य पहिय पामरघरम्मि ।
उन्नयपयोधरे पेच्छिऊण जइ वससि ता वससु ॥ ४९४ ॥ ८७३ ॥

विहलक्खणं[1] तुमं सहि ! दट्ठूण कुडेण तरलतरदिट्ठिं ।
वारप्फंसणिहेण[2] अ अप्पा गरुओ त्ति पाडिअ विहिण्णो ॥ ८७४ ॥

[विह्वलां खलां त्वां सखि दृष्ट्वा कुडेन तरलतरदृष्टिम् ।
द्वारस्पर्शमिषेण आत्मा गुरुक इति पातयित्वा विभिन्नः ॥]

१. विहलंखलं । २. मिसेण ।

आत्मार्पण—हे सखी ! तुझे विश्रृंखल अतएव चञ्चलदृष्टि देखकर घट ने द्वार स्पर्श के बहाने अपने को 'भारी' होने के कारण गिराकर फोड़ डाला।

विमर्श—विदितरहस्य सखी का वचन नायिका के प्रति। तात्पर्य यह कि तूने जान बूझकर घट को फोड़ दिया, क्योंकि संकेत-समय पर न पहुंचे और घर में प्रवेश करने पर पीछे से पहुँचे नायक को पुनः नदीतट पर पहुंचने का संकेत तुझे अभीष्ट है। इत्मीनान से अपनी अभीष्टसिद्धि के लिए जा, मैं सब कुछ सम्हाल लूंगी। आचार्य मम्मट के अनुसार यह 'वस्तु' 'द्वार-स्पर्शमिष' इस 'अपह्नुति' अलङ्कार से व्यञ्जित होता है। छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त ॥ ८७४ ॥

अइपिउलं[1] जलकुम्भं घेत्तूण समागअम्हि सहि तुरियं।
समसेअसलिलणीसासणीसहा विसमामि खणं ॥ ८७५ ॥

[अतिपृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागताऽस्मि सखि त्वरितम्।
श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम् ॥]

जलकुम्भ—हे सखी ! भारी जल का घड़ा लेकर जल्दी-जल्दी आई हूँ, मिहनत के कारण पसीने और साँस से परेशान, छनभर आराम कर लूँ।

विमर्श—असती का वचन प्रतिवेशिनी के प्रति। यहाँ वक्तृवैशिष्ट्य से प्रतीत होता है कि नायिका सुरतश्रम को छिपाने का प्रयत्न कर रही है। छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त ॥ ८७५ ॥

अणुमरणे हसइ जणो, रोत्तुं वि ण लब्भइ जहेच्छं।
ता एत्थ किं करिस्सं चोरियरमणे विवज्जन्ते ? ॥ ८७६ ॥

[अनुमरणे हसति जनो रोदितुमपि न लभ्यते यथेच्छम्।
तदत्र किं करिष्यामि चौर्यरमणे विपद्यमाने ? ॥]

प्रच्छन्न प्रिय—प्रच्छन्न प्रिय के मरने पर अनुमरण के लिए प्रवृत्त होती हूँ तो लोग हँसते हैं, इच्छा भर रो भी नहीं पाती हूँ, तो अब क्या करूँ ॥ ८७६ ॥

मा पुत्ति ! वंकभणिअं जंपसु पुरओ तुमं छइल्लाणं।
हिअएण जं च भणिअं, तं पि हआसा विआणन्ति ॥ ८७७ ॥

[मा पुत्रि ! वक्रभणितं जल्प पुरतस्त्वं विदग्धानाम्।
हृदयेन यच्च भणितं तदपि हताशा विजानन्ति ॥]

1. विउलं।

छैल—बेटी ! छैलों के आगे टेढ़ी बात (व्यङ्ग्य वचन) न बोला कर, ये हताश उसे भी जान लेते हैं जो बात दिल की होती है।

विमर्श—'वज्जालग्ग' के अनुसार पाठ और छाया—

मा पुत्ति वङ्कवङ्कं जम्पसु पुरओ छइल्ललोयाणं हिअए।
जं च निहित्तं तं पि हयासा मुणन्ति सुबुद्धीए॥ २८२॥

मा पुत्रि वक्रवक्रं जल्प पुरतः छेकलोकानां हृदये।
यच्च निहितं तदपि हताशा जानन्ति स्वबुद्धया॥ ८७७॥

वंकभणिआइ कत्तो, कत्तो अद्धच्छिपेच्छिअव्वाइ।
उसासिउं पि ण तीरइ [1]छअल्लपरिवारिए गामे॥ ८७८॥

[वक्रभणितानि कुतः कुतोऽर्धाक्षिप्रेक्षितव्यानि ?।
अवश्वसितुमपि न पार्यते विदग्धपरिवारिते ग्रामे॥]

व्यङ्ग्य वचन—कहाँ के व्यङ्ग्य वचन और कहाँ के कटाक्षों से निरीक्षण ? छैलों से भरे गाँव में तो साँस लेना भी मुश्किल है !

विमर्श—नायिका द्वारा सखी के कुशल-प्रश्न का उत्तर॥ ८७८॥

तत्थ वि होंति सहीओ पुत्तलि ! मा रुवसु जत्थ दिण्णा सि।
तत्थ वि णिउंजलीला, तत्थ वि गिरिवाहिणी गोला॥ ८७९॥

[तत्रापि भवन्ति सख्यः पुत्रिके ! मा रुदिहि यत्र दत्ताऽसि।
तत्रापि निकुञ्जलीला तत्रापि गिरिवाहिनी गोदा॥]

आश्वासन—बेटी ! मत रो, जहाँ तुझे दिया है वहाँ भी सहेलियाँ हैं, वहाँ भी निकुञ्जों की क्रीडा है और वहाँ भी पर्वत से बहने वाली गोदावरी है।

विमर्श—ससुराल जाने के अवसर में रोती हुई पुत्री को माता का आश्वासन। सम्भव यह भी है कि 'पुत्तलि' शब्द 'पुत्तलिका' के अर्थ में सम्बोधनार्थक है, इसके अनुसार यह सखी का वचन ठहरता है, सम्बोधन का अर्थ होगा 'आँख की पुतरी या गुड़िया'॥ ८७९॥

कस्स व ण होइ रोसो दट्ठूण पिआएँ सव्वणं अहरं।
[2]सभरकमलग्घाइरि ! वारिअवामे ! सहसु एण्हि॥ ८८०॥

[कस्यैव न भवति दोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्राणशीले वारितवामे सहस्वेदानीम्॥]

---

1. चउरल-छइल्लबहुले हअग्गामे। 2. पउमग्घाइणि।

व्रणयुक्त अधर—अरी, अपनी प्रिया का अधर व्रणयुक्त देखकर किसे रोष न होगा ! मना करने पर भी भ्रमरयुक्त कमल को सूँघने की आदत वाली अब अपने किए का फल भोग।

विमर्श—छाया 'ध्वन्यालोक' से प्राप्त। नायिका को निरपराध सिद्ध करने के उद्देश्य से सखी का वचन समीप में स्थित नायक को सुनाते हुए नायिका के प्रति। तात्पर्य यह कि तेरा व्रणयुक्त अधर देखकर तेरे प्रिय को जरूर आशङ्का होगी कि तूने कोई चपलता का काम कर लिया है और इससे तू अपने प्रिय का कोप-भाजन भी बनेगी। पर अब क्या ? मैंने तो तुझे पहले ही बार-बार मना किया था कि कमलों को बिना देखे-ताके मत सूंघा कर, भौंरे छिपे रहते हैं, ऐसा करने पर काट खाते हैं, मगर तूने मेरी न सुनी ॥ ८८० ॥

छप्पत्तिआ वि खज्जइ णिप्पत्ते पुत्ति ! एत्थ को दोसो ? ।
णिअपुरिसे वि रमिज्जइ परपुरिसविवज्जिए गामे ॥ ८८१ ॥

[षट्पत्रिकाऽपि खाद्यते निष्पत्रे पुत्रि ! अत्र को दोषः ? ।
निजपुरुषेऽपि रम्यते परपुरुषविवर्जिते ग्रामे ॥]

आपद्धर्म—बेटी ! जहाँ पान नहीं मिलता वहाँ षट्पर्ण भी खाया जाता है, यहाँ दोष कौन ? जिस गाँव में परपुरुष नहीं मिलते वहां अपने मरद के साथ भी रमण किया जाता है ॥ ८८१ ॥

अमुणिअपरपुरिससुहो जंपउ जं किं पि अण्णओ लोओ ।
णिअपुरिसेहि वि अम्हे परपुरिसो च्चिअ रमामो ॥ ८८२ ॥

[अज्ञातपरपुरुषसुखो जल्पतु यत् किमपि अन्यो लोकः ।
निजपुरुषैरपि वयं परपुरुष इत्येव रमामहे ॥]

परपुरुष—परपुरुषों के सुख जिन्होंने अनुभव नहीं किये हैं ऐसे अन्य लोग जो कुछ भी कहें, हम तो अपने पुरुष के साथ 'परपुरुष' की भावना करके ही रमण करते हैं ॥ ८८२ ॥

माए ! घरोवअरणं अज्ज खु ण त्थि त्ति साहिअं तुमए ।
ता भण किं करणिज्जं ? एमेअ ण वासरो ठाइ ॥ ८८३ ॥

[मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया ।
तद्भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी ॥]

सामान—मां ! आज घर में सामान नहीं है यह तूने नहीं कहा था ? तो बोल, क्या करना है, दिन ऐसा ही नहीं रहेगा।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त। प्रस्तुत स्वैरिणी नायिका बाजार से सामान लाने के बहाने नायक से मिलन की योजना बना रही है ॥८८३॥

सच्छंदरमणदंसणसंवड्ढिअगरुअवम्महविलासं।
सुविअड्ढवेसविलआ रमिअं को वण्णिउं तरइ ॥ ८८४ ॥

[स्वच्छन्दरमणदर्शनसंवर्धितगुरुकमन्मथविलासम्।
सुविदग्धवेशवनितारमितं को वर्णयितुं त्वरति? ॥]

वेश्या-प्रसङ्ग—जिसमें स्वच्छन्द रमण और दंशन से मन्मथ का विलास बढ़ जाता है ऐसे विदग्ध वेश्या के सम्भोग का वर्णन कौन कर सकता है?

सामण्णसुन्दरीणं विब्भममावहइ अविणयो च्चेअ।
धूमो वि ह पज्जलिआणं महुरो होइ सुरभिदारुणं ॥ ८८५ ॥

[सामान्यसुन्दरीणां विभ्रममावहत्यविनय एव।
धूम एव प्रज्वलितानां बहुमतः सुरभिदारुणाम् ॥]

वेश्या-विभ्रम—सामान्य सुन्दरियों का अविनय ही विशेष विभ्रम धारण कर लेता है, खुशबूदार लकड़ियों का धुआं भी मधुर होता है।

विमर्श—छाया 'सरस्वतीकण्ठाभरण' से प्राप्त। सामान्य सुन्दरी अर्थात् वेश्या। ८८५ ॥

अव्वो! कालस्स गई, सो वि जुआ सरसकव्वदुल्ललिओ।
पढइ परासरसद्दं अम्हे वि णिअं पइं गमिमो ॥ ८८६ ॥

[अव्वो कालस्य गतिः सोऽपि युवा सरसकाव्यदुर्ललितः।
पठति पराशरशब्दं वयमपि निजं पतिं गच्छामः ॥]

पराशरसूत्र—ओहो! काल की गति तो देखो, सरस काव्य का प्रेमी वह तरुण भी पराशर-सूत्र (धर्मशास्त्र) पढ़ता है और हम भी अपने पति का गमन करती हैं ॥ ८८६ ॥

पणमह माणस्स, हला? चलणे, किं देवएहि अण्णेहिं?।
जस्स पसाएण पिओ घोलइ पाअन्तपासेसु ॥ ८८७ ॥

[प्रणम मानस्य, हला? चरणौ, किं देवैरन्यैः।
यस्य प्रसादेन प्रियो भ्रमति पादान्तपार्श्वयोः ॥]

मानदेवता—हला सहेलियो! मानदेवता के चरणों को प्रणाम करो, अन्य देवताओं से क्या मतलब? जिस मानदेवता के प्रसाद से प्रिय पैर के अग्रभाग का चक्कर काटता है ॥ ८८७ ॥

अणुणअपसरं पाअपडनूसवं रभसचुम्बणसुहेल्लिं ।
एआइ अ अण्णाइ अ अवसो व्व कओ फलइ माणो ॥ ८८८ ॥

[अनुनयप्रसरं पादपतनोत्सवं रभसचुम्बनसुखक्रीडाम् ।
एतानि चान्यानि चावश इव कृतः फलति मानः ॥]

मान-फल—अनुनय का विस्तार, पादपतन का उत्सव, आवेश के साथ चुम्बन की सुखक्रीड़ा, इस तरह अनेक अन्य फलों को मान यूं ही करने पर फलता है ॥ ८८८ ॥

जइ पुत्तिज्ञ ? बहुएहिं अणुणअसोक्खेहिं अत्थि ते कज्जं ।
ताव रुअ, गेण्ह माणं, खणमेत्तं तम्मि सुहअम्मि ॥ ८८९ ॥

[यदि पुत्रिके ? बहुकैरनुनयसौख्यैरस्ति ते कार्यम् ।
तावद् रुदिहि, गृहाण मानं, क्षणमात्रं तस्मिन् सुभगे ॥]

मानाख्य—पुत्रि ! यदि अनुनय के बहुत सुखों से तेरा मतलब है तो क्षण भर के लिए उस सुभग के प्रति रो और मान ग्रहण कर ॥ ८८९ ॥

आणा अणालवंतीएँ कीरए, दीसए पराहुत्तो ।
णितम्मि णीसिसिज्जइ, पुत्ति ! अपुव्वो क्खु दे माणो ॥ ८९० ॥

[आज्ञाऽनालपन्त्या क्रियते दृश्यते पराभूतः ।
निभृते निःश्वस्यते, पुत्रि ! अपूर्वः खलु ते मानः ॥]

अपूर्व मान—तू विना बोले ही आज्ञा करती है, वह पराङ्मुख होकर तुझे देखता है, अकेले में निःश्वास लेता है, बेटी ! तेरा मान अपूर्व है ! ॥ ८९० ॥

जं जं भणह सहीओ ! आम करिस्साम सव्वहा तं तं ।
जइ तरह रुंभिउं मह धीरं समुहागए तम्मि ॥ ८९१ ॥

[यद् भणथ तत् सख्य आम करिष्यामि तद् यथा सर्वम् ।
यदि त्वरध्वं रोद्धुं मे धैर्य सम्मुखागते तस्मिन् ॥]

धैर्यरोध—सखियो ! तुम लोग जो कुछ कहो, हां, मैं वह सब करूँगी, यदि तुम उसके सामने होने पर मेरा धैर्य रोक सको ।

विमर्श—छाया 'काव्यानुशासन' से प्राप्त ॥ ८९१ ॥

अक्खिअइ दिट्ठिणिब्भच्छिओ वि, विहुओ वि लग्गए सिअए ।
पहओ वि चुम्बइ बला, अलज्जए कह णु कुप्पिस्सं ? ॥ ८९२ ॥

[आलीयते दृष्टिनिर्भर्त्सितोऽपि, विधूतोऽपि लगति सिचये ।
प्रहतोऽपि चुम्बति बलात्, अलज्जके कथं नु कुपिष्यामि ॥]

निर्लज्ज—नजर से डांटने पर भी पास आने लगता है, झाड़ देने पर भी कपड़ा पकड़ लेता है, प्रहार करने पर भी बलपूर्वक चुम्बन करता है, ऐसे निर्लज्ज पर कैसे नहीं कोप करूं ?

विमर्श—सखी के इस प्रश्न पर, कि नायक के प्रति क्यों खिसियानी है ? नायिका का उत्तर ॥ ८९२ ॥

हिमजोअचुण्णहत्थाओ जस्स दप्पं कुणन्ति राईओ।
कह तस्स पिअस्स मए तीरइ माणो हला ! काउं ? ॥ ८९३ ॥

[हिमयोगचूर्णहस्ता यस्य दर्पं कुर्वन्ति रात्र्यः।
कथं तस्य प्रियस्य मया शक्यते मानो हला ! कर्तुम् ? ॥]

हिम-रात्रि—बर्फीली ठंढक से हाथ तोड़ देनेवाली रातें जिसका दर्प करती हैं, सखी ! मैं कैसे उस प्रिय से मान कर सकती हूँ ? ॥ ८९३ ॥

किं भणह मं, सहीओ ! करेहि माणं ति किं थ माणेण ? ।
सब्भावबाहिरे तम्मि मज्झ माणेण वि ण कज्जं ॥ ८९४ ॥

[किं भणथ मां सख्यः ! कुरु मानमिति किं स्यान्मानेन ? ।
सद्भावबाह्ये तस्मिन् मम मानेनापि न कार्यम् ॥]

सद्भावरहित—सखियो ! मुझसे क्या कहती हो कि मान कर ? मान से क्या होगा ? सद्भावरहित उसके प्रति मान की भी जरूरत नहीं ! ॥ ८९४ ॥

जइआ पिओ ण दीसइ भणह हला ! कस्स कीरए माणो ? ।
अह दिट्ठम्मि वि माणो ? ता तस्स पिअत्तणं कत्तो ? ॥ ८९५ ॥

[यदा प्रियो न दृश्यते भणत हला कस्य क्रियते मानः।
अथ दृष्टेऽपि मानस्तत्तस्य प्रियत्वं कुतः ॥]

मान कैसा ?—अरी सखियो ! जब प्रिय नजर के सामने नहीं तो, कहो, किससे मान करें ? और जब नजर के सामने है तो भी मान ? तो फिर प्रेम कहां ?

विमर्श—छाया 'सरस्वतीकण्ठाभरण' से प्राप्त ॥ ८९५ ॥

जाणिमि कआवराहं, जाणिमि अलिआइ भणइ सअलाइ ।
अणुणेंते उण जाणे कआवराहं व अप्पाणं ॥ ८९६ ॥

[जानामि कृतापराधं, जानामि अलीकानि भणति सकलानि ॥
अनुनयति पुनर्जाने कृतापराधमिवात्मानम् ॥]

कृतापराध—जानती हूं कि अपराध उसने किया है और जानती हूँ कि

सारा झूठ बोलता है; पर जब अनुनय करने लगता है तो मैं समझती हूँ कि जैसे अपराध मैंने किया है ॥ ८९६ ॥

अवराहसहस्साइं भरिमो हिअएण तम्मि अद्दिट्ठे।
दिट्ठम्मि उण, पिअसही! एक्कं पि हु णं ण संभरिमो ॥ ८९७ ॥

[अपराधसहस्राणि स्मरामो हृदयेन तस्मिन्नदृष्टे।
दृष्टे पुनः प्रियसखि! एकमपि खलु तं न संस्मरामः ॥]

हजारों अपराध—उसके न दीखने पर हृदय से हजारों अपराध हमें याद आते हैं, फिर दीख जाने पर, हे प्रियसखी! एक भी नहीं याद आता ॥ ८९७ ॥

भण भण जं जं पडिहाइ तुज्झ, तं तं सहामिमो अम्हे।
असहत्तणं च जीअं च वल्लभे दोइ ण घडंति ॥ ८९८ ॥

[भण भण यद् यत् प्रतिभाति ते, तत् तत् सहामहे वयम्।
असहत्वं च जीवं च वल्लभे द्वे न घटतः ॥]

सहिष्णुता—कहो, कहो, जो तुम्हें अच्छा लगता है हम वह सब सह लेंगे, न सहना और जीना दोनों प्रिय के पास सम्भव नहीं हैं ॥ ८९८ ॥

एअं चिअ मह णामं? भण भण दे सुहअ! किं विलक्खो सि?।
पडिहाइ जं ण तुज्झ वि, मम पि किं तेण णामेण ॥ ८९९ ॥

[एतदेव मम नाम? भण भण हे सुभग! किं विलक्षोऽसि?।
प्रतिभाति यन्न तवापि, ममापि किं तेन नाम्ना ॥]

गोत्रस्खलन—क्या यही मेरा नाम है? हे सुभग! बोल, बोल, क्यों लज्जित हो गया? यदि तुझे भी अच्छा नहीं लगता तो मुझे भी उस नाम से क्या? ॥ ८९९ ॥

सुहअ! मुहुत्तं सुप्पेउ, जं ते पडिहाइ तं पि भणिहिसि।
अज्ज ण पेच्छंति तुहं णिद्दागरुआइ अच्छीइ ॥ ९०० ॥

[सुभग! मुहूर्तं स्वपिहि, यत्ते प्रतिभाति तद् भणिष्यसि।
अद्य न प्रेक्षेते त्वां निद्रागुरुके अक्षिणी ॥]

नींद से भारी आंखें—हे सुभग, मुहूर्त भर सो जा, जो तुझे अच्छा लगे वही कह लेना, आज नींद से भारी आंखें तुझे नहीं देख रही हैं ॥ ९०० ॥

मा वेलवेसु वहुअं पुत्तअ! अलिएहि गोत्तेहि।
एसा वि जाणइ चिअ परिहासुम्मिस्सभणिआइं ॥ ९०१ ॥

[मा व्यपत्तपस्व बहुकं पुत्रक ! अलीकैर्गोत्रैः ।
एषाऽपि जानात्येव परिहासोन्मिश्रभणितानि ॥]

प्रतिकार—बेटा ! झूठे नामों से बहुत मत पुकार, यह भी परिहास-भरी बोलियां जानती है ॥ ९०१ ॥

अइ चण्डि ! किं ण पेच्छसि ? जइ सो वाहरइ अण्णगोत्तेण ।
अह दे इच्छइ मच्छरपणच्चिअच्छं मुहं दट्ठुं ॥ ९०२ ॥

[अयि चण्डि ! किं न प्रेक्षसे यदि स व्याहरति अन्यगोत्रेण ।
अथ हे इच्छति मत्सरप्रणर्तिताक्षं मुखं द्रष्टुम् ॥]

गुस्सैल—अरी गुस्सैल ! तू क्या नहीं देखती है कि वह तेरा मत्सर से नाचती आंखोंवाला मुखड़ा देखना चाहता है और दूसरी का नाम लेकर बोलता है ? ॥ ९०२ ॥

वेआरिज्जसि, मुद्धे ! गोत्तक्खलिएहि मा खु तं रुवसु ।
कि व ण पेच्छइ अण्णह एद्दहमेत्तेहि अच्छीहि ॥ ९०३ ॥

[व्याकारिताऽसि मुग्धे ! गोत्रस्खलितैर्मा खलु तद् रुदिहि ।
किमिव न प्रेक्षतेऽन्यथा एतावन्मात्राभ्यामक्षिभ्याम् ॥]

नासमझी—अरी नासमझ ! उसने तुझे अन्य नामों से पुकारा है, इस कारण उसे मत रुला, क्या वह इतनी (एतावन्मात्र) आंखों से तुझे नहीं देखती है ? ॥ ९०३ ॥

सोत्तुं सुहं ण लब्भइ, अव्वो ! पेम्मस्स वंकविसमस्स ।
दुग्घडिअमंचअस्स व खणे खणे पाअपडणेण ॥ ९०४ ॥

[श्रोतुं सुखं न लभ्यते, अव्वो ! प्रेम्णो वक्रविषमस्य ।
दुर्घटितमञ्चकस्येव क्षणे क्षणे पादपतनेन ॥]

वक्र-विषम प्रेम—ओ हो ! गलत ढंग से बने मञ्चक (खाट) के समान, जिसके पाये क्षण-क्षण गिरा करते हैं, वक्र और विषम प्रेम के कारण सोने का सुख नहीं मिलता है ॥ ९०४ ॥

एक्कसअणम्मि सुमुही विमुही गरुएण माणबंधेण ।
सिविणकलहम्मि होंती परम्मुही सम्मुही जाआ ॥ ९०५ ॥

[एकशयने सुमुखी विमुखी गुरुकेण मानबन्धेन ।
स्वप्नकलहे भवन्ती पराङ्मुखी सम्मुखी जाता ॥]

पराङ्मुख—एक शयन पर सुमुखी पत्नी भारी मानबन्ध के कारण विमुख

हो गई और फिर स्वप्न के कलह में पराङ्मुख होती हुई सम्मुख हो गई ॥ १०५ ॥

वड्ढउ ता तुह गव्वो, भणसि रे जइ विहंडणं वअणं ।
सच्चं ण एइ णिद्दा तुए विणा, देहि ओआसं ॥ १०६ ॥

[वर्धतां तावत् तव गर्वो भणसि रे यथा विभण्डनं वचनम् ।
सत्यं नैति निद्रा त्वया विना देहि अवकाशम् ॥]

सेज पर जगह—तेरा गर्व बढ़े और जो कि तू झगड़े की बात करती है पर, सचमुच तेरे विना नींद नहीं आती (मुझे भी सेज पर) जगह दे ॥ १०६ ॥

कअविच्छेओ सहि भंगिभणिअसंभाविआवराहाए ।
झडि आपल्लवइ पुणो णअणकवोलेसु कोवतरू ॥ १०७ ॥

[कृतविच्छेदः सखीभङ्गिभणितसम्भावितापराधायाः ।
झटिति आपल्लवति पुनर्नयनकपोलयोः कोपतरुः ॥]

कोपतरु—सखी की लटपट बातों से तेरा अपराध मानकर उसका विच्छेद किया हुआ भी कोपतरु फिर नेत्र और कपोलों में तुरत पल्लवित हो गया ॥ १०७ ॥

उन्मूलन्ति व हिअअं अणुणिज्जंतीओ माणवंतीओ ।
संभरिअमण्णुणिब्भरबाहभरोरुंभिअमुहीओ ॥ १०८ ॥

[उन्मूलयन्तीव हृदयमनुनीयमाना मानवत्यः ।
संस्मृतमन्युनिर्भरबाष्पभरावरुद्धमुख्यः ॥]

मानवती—अनुनय करने पर, अपराध स्मरण करके निर्भर बाष्प-भार से रुंधे मुख वाली मानवती स्त्रियां हृदय को जैसे उखाड़ देती हैं ॥ १०८ ॥

ण वि तह तक्खणसुअमण्णुदुक्खविअणाओ वि रुवंति ।
जह दिट्ठम्मि पिअअमे अणुणिज्जंतीओ तरुणीओ ॥ १०९ ॥

[नापि तथा तत्क्षणश्रुतमन्युदुःखविनता अपि रुदन्ति ।
यथा दृष्टे प्रियतमेऽनुनीयमानास्तरुण्यः ॥]

रुदन—तरुणियाँ तत्क्षण अपराध सुन करके दुःख से विमना हो उतना नहीं रोतीं जितना कि प्रियतम के दिख जाने पर और अनुनय करने पर रोती हैं ॥ १०९ ॥

हिअए रोसुक्खित्तं पाअपहारं सिरेण पत्थंतो ।
ण हओ दइओ माणंसिणीएँ, थोरंसुअं रुण्णं ।। ९१० ।।

[हृदये रोषोद्गीर्णं पादप्रहारं शिरसि प्रार्थयमानः ।
तथैवेति प्रियो मनस्विन्या स्थूलाश्रु रुदितम् ।।]

पाद-प्रहार—प्रिय ने रोष के कारण मन ही मन पद-प्रहार को सिर पर माँगा तो मनस्विनी ने नहीं मारा और मोटे-मोटे आँसू ढारकर रोने लगी ।

विमर्श—नायिका प्रिय पर रुष्ट होकर उस पर मन ही मन पाद-प्रहार करने लगी, जब प्रिय ने प्रत्यक्ष रूप से उसके पाद-प्रहार को अपने सिर पर माँगा तो रोने लगी । छाया 'वज्जालग्ग' से प्राप्त ।। ९१० ।।

पिअअमविइण्णचसअं अचक्खिअं पिअसहीएँ देंतीए ।
अभणंतीएँ वि माणंसिणीएँ कहिओ च्चिअ विरोहो ।। ९११ ।।

[प्रियतमवितीर्णचषकमस्वादितं प्रियसख्या ददत्या ।
अभणन्त्याऽपि मनस्विन्या कथित एव विरोधः ।।]

चषक—प्रियतम के द्वारा अर्पित मदिरा-चषक को न चखकर प्रिय सखी जब देने लगी तब कुछ न बोलती हुई भी मनस्विनी ने विरोध प्रकट कर ही दिया ।। ९११ ।।

वच्चिहिइ सो घरं से, लहिहिइ ओआसमेहिइ सआसं ।
भणिहिइ जं भणिअव्वं, पच्चुत्तं किं णु पाविहिइ ? ।। ९१२ ।।

[व्रजिष्यति स गृहं तस्याः, लप्स्यति अवकाशमेष्यति सकाशम् ।
भणिष्यति यद् भणितव्यं प्रत्युक्तं किन्नु प्राप्स्यति ।।]

प्रत्युत्तर—वह उसके घर जायेगा, अवसर पायेगा, समीप पहुँचेगा, जो कहना होगा कहेगा तो क्या प्रत्युत्तर पायेगा ? ।। ९१२ ।।

तणुआइआ वराई दिअहे दिअहे मिअंकलेहव्व ।
बहलपओसेण तुए णिसंस ! अंधारिअमुहेण ।। ९१३ ।।

[तनुकायिता वराकी दिवसे दिवसे मृगाङ्कलेखेव ।
बहलप्रदोषेण त्वया नृशंस ! अन्धकारितमुखेन ।।]

चन्द्रलेखा—रे नृशंस ! बहुत दोषों से भरे, कलमुँहे तेरे कारण (पक्ष में बहलप्रदोष = कृष्णपक्ष के कारण) वह बेचारी चन्द्रलेखा की भांति दिन-दिन दुबराती जा रही है ।। ९१३ ।।

दावंतेण तुह मुहं भुमआभंगम्मि होन्त णवसोहं ।
अकएण उवकअं अज्ज मण्णुणा मज्झ, पसिअच्छि ॥ ६१४ ॥

[दापयता तव मुखं भ्रूकुटिभङ्गे भवन्नवशोभम् ।
अकृतेनोपकृतमद्य मन्युना मम, प्रसृताक्षि ! ॥]

नवशोभा—अरी फैली आँखों वाली ! आज न किए हुए अपराध ने मेरा उपकार कर दिया कि भ्रूभङ्ग में तेरे मुख की उद्दीयमान नवीन शोभा को दिखा दिया ॥ ९१४ ॥

भिउडी ण कआ, कडुअं णालविअं, अहरअं ण पच्चुट्ठं ।
उवऊहिआ ण रुण्णा एएण वि जाणिमो माणं ॥ ६१५ ॥

[भ्रूकुटिर्न कृता, कटुकं नालपितं, अधरकं न प्रजुष्टम् ।
उपगूढा न रुदिता, एतेनापि जाने मानम् ॥]

मानानुमान—उसने भृकुटि नहीं की, कड़वी न बोली, अधर को न काटा, मुझे आलिङ्गन किया और न रोई; इतने पर भी हमें मालूम है कि वह रूठ गई है ॥ ९१५ ॥

किं पि ण जंपसि कामं, भणिअं च करेसि तं तहा तुरिअं ।
हिअअं रोसुव्वेअं ति तुज्झ विणओ च्चिअ कहेइ ॥ ६१६ ॥

[किमपि न जल्पसि कामं, भणितं च करोषि तत्तथा त्वरितम् ।
हृदयं रोषोद्विग्नमिति तव विनय एव कथयति ॥]

आभाषण—तू कुछ भी नहीं बोलती है और कहने पर जल्दी उसे कर देती है, यह तेरा विनय ही बताता है कि तेरा हृदय रोषयुक्त है ॥९१६॥

परिपुच्छिआ[1] ण जंपसि, चुम्बिज्जंती बला मुहं हरसि ।
परिहासमाणविमुहे ! पसिअच्छि ! मअं म्ह दूमेसि ॥ ६१७ ॥

[परिपृष्टा न जल्पसि चुम्ब्यमाना बलान्मुखं हरसि ।
परिहासमानविमुखे ! प्रसृताक्षि ! मनो मे दुनोषि ॥]

प्रतिकूल—पूछने पर नहीं बोलती, चुम्बन करने पर बल से मुँह फेर लेती है, परिहास करने पर विमुख हो जाती है, अरी फैली आँखों वाली ! तू हमारा मन दुखा देती है ॥ ९१७ ॥

अइ पीणत्थण उत्थंभिआणणे ! सुणसु सुणसु मह वअणं ।
अथिरम्मि जुज्जइ ण जोव्वणम्मि माणो पिए काउं ॥ ९१८ ॥

---

1. उच्छिआ, उत्थिआ ।

[अयि पीनस्तनि ! उत्तम्भितानने ! शृणु शृणु मम वचनम् ।
अस्थिरे युज्यते न यौवने मानः प्रिये कर्तुम् ॥]

अस्थिर यौवन—हे पीनस्तनि ! उन्मुखि ! सुतनु ! मेरा वचन सुन, यौवन स्थिर नहीं, अतः प्रिय के प्रति मान करना ठीक नहीं ॥ ९१८ ॥

तरलच्छि ! चंदवअणे ! थोरत्थणि ! करिअरोरु ! तणुमज्झे !
दीहा ण समप्पइ सिसिरजामिणी, कह णु दे माणो ॥९१९॥

[तरलाक्षि ! चन्द्रवदने ! स्तोकस्तनि ! करिवरोरु ! तनुमध्ये !
दीर्घा न समाप्यते शिशिरयामिनी, कथं नु हे मानः ॥]

शिशिररात्रि—हे तरल आँखों वाली, चन्द्रमुखि, थोड़े स्तनोंवाली, हाथी के सूंड के सदृश ऊरुवाली, एवं चीण कटिवाली ! लम्बी यह शिशिर की रात नहीं बीत रही है, तेरा मान कैसा है ? ॥ ९१९ ॥

सुहआ वि सुन्दरी वि हु तरुणी वि हु माणिणि त्ति आ पुत्ति ! ।
चंदणलट्ठि व्व हुअंगदूमिआ किं णु दूमेसि ॥ ९२० ॥

[सुभगाऽपि सुन्दर्यपि खलु तरुण्यपि खलु मानिनीति आः पुत्रि ! ।
चन्दनयष्टिरिव भुजंगदूना किं नु दुनोषि ॥]

चन्दनयष्टि—हे पुत्रि ! तू सुभग भी है, सुन्दरी भी है, तरुणी भी है, केवल मानिनी होकर भुजङ्गदूषित चन्दनयष्टि की भांति क्यों कष्ट देती है ? ॥ ९२० ॥

पडिवक्खस्स वि पुरओ समुहं भणिआ सि तेण पसिअ त्ति ।
अवलंबिअस्स माणिणि ! माणस्स अ किं फलं अण्णं ॥ ९२१ ॥

[प्रतिपक्षस्यापि पुरतः सम्मुखं भणिताऽसि तेन प्रसीदेति ।
अवलम्बितस्य मानिनि ! मानस्य च किं फलमन्यत् ॥]

फिर क्या ?—सौत के भी सामने मुंह पर उसने 'प्रसन्न हो' यह तुझसे कह दिया, फिर हे मानिनि ! धारण किए हुए मान का अन्य फल क्या है ? ॥ ९२१ ॥

कड्ढेसि[1] चलिअवलए हत्थे, मुंचेसि अहमुही बाहं ।
पडिरुंभसि णीसासे, बहुअं ति ते माणविण्णाणं ॥ ९२२ ॥

[कर्षसि चलितवलयौ हस्तौ मुञ्चसि असम्मुखी बाष्पम् ।
प्रतिरुणत्सि निःश्वासान्, बहुकं ते मानविज्ञानम् ॥]

---

१. ढक्केसि, ढक्केसि ।

मानविज्ञान—तू गिरते हुए वलयवाले हाथों को खींच लेती है, मुँह नीचा करके बाष्प छोड़ती है, निःश्वासों को रोकती है, तेरा मानविज्ञान बहुविध है ! ॥ १२२ ॥

कज्जं विणा वि कअमाणडंबरा पुलअभिण्णसव्वंगी ।
उज्जलत्तालिंगणसोक्खलालसा पुत्ति ! मुणिआ सि ॥ १२३ ॥

[कार्यं विनाऽपि कृतमानडम्बरा पुलकभिन्नसर्वाङ्गी ।
उज्ज्वलालिङ्गनसौख्यलालसा पुत्रि ! ज्ञाताऽसि ॥]

मानाडम्बर—कार्य के बिना भी मानाडम्बर किए हुई, रोमाञ्चित शरीर वाली, हे पुत्रि ! मुझे मालूम हो गया कि तुझे आलिङ्गन-सुख की तीव्र लालसा है ॥ १२३ ॥

हंहो ! किं व ण दिट्ठं हला ! मए जीविअं धरन्तीए ।
सो मं अणुणेइ पिओ अहं पि अणुणिज्जिमि हआसा ॥ १२४ ॥

[हंहो ! किमिव न दृष्टं हला ! मया जीवितं धरन्त्या ।
स मामनुनयति मियोऽहमपि अनुनीये हताशा ॥]

स्वप्न-दर्शन—हे सखि ! हाय-हाय ! जीवन धारण करती हुई मैंने क्या-क्या नहीं देख लिया ? वह प्रिय मुझे अनुनय करता है और हताशा मैं भी अनुनय की जा रही हूँ ॥ १२४ ॥

ता सोक्खं, ताव रई, ता रणरणअस्स ण त्थि ओआसो ।
जा दुक्खेक्कणिहाणे ण होइ बहुवल्लहे पेम्मं ॥ १२५ ॥

[तावत् सौख्यं, तावद् रतिः, तावद् रणरणकस्य नास्त्यवकाशः ।
यावद् दुःखैकनिधाने न भवति बहुवल्लभे प्रेम ॥]

बहुवल्लभ—जब तक दुःखों के एकमात्र निधान, बहुत वल्लभाओं वाले पुरुष में प्रेम नहीं होता, तब तक सौख्य है, तब तक आनन्द (रति) है और तब तक परेशानी का अवकाश नहीं ॥ १२५ ॥

माणहरिएहि गंतुं ण तीरए, सो ण एइ अवराही ।
को वि अपत्थिअमुणिओ णेज्जं मन्तं व आणेज्ज ॥ १२६ ॥

[मानहरितैर्गन्तुं न शक्यते, स नैति अपराधी ।
कोऽपि अप्रार्थितज्ञो नेयं मन्त्रमिवानयेत् ॥]

अपराधी—मानधारण किए हुए हम जा नहीं सकते, वह अपराधी नहीं आता है, कोई पहुँचानेवाले मन्त्र की भांति, अभिलषित जानने वाला उसे ला दे (?) ।

विमर्श—गाथा का अर्थ स्पष्ट नहीं लगता ॥ १२६ ॥

उव्वहइ दइअगहिआहरोट्ठज्झिज्जंतकोवगअराअं ।
पाणोसरन्तमइरं व फलिहचसअं मुहं बाला ॥ १२७ ॥

[उद्वहति दयितगृहीताधरोष्ठक्षीयमाणकोपगरागम् ।
पानावसरन्मदिरमिव स्फटिकचषकं मुखं बाला ॥]

स्फटिकचषक—बाला प्रिय के द्वारा अधरोष्ठ के पकड़े जाने, अतएव कोप के क्षीयमाण होने से लाली से रहित अपने मुख को, पान के पश्चात् समाप्त मदिरा वाले स्फटिकचषक की भांति धारण कर रही है ॥ १२७ ॥

गाढालिंगणरभसुज्जुअम्मि दइए लहुं समोसरइ ।
माणंसिणीएँ माणो पेल्लणभीओ व्व हिअआहि ॥ १२८ ॥

[गाढालिङ्गनसरभसोद्यते दयिते लघु समुपसरति ।
मनस्विन्या मानः पीडनभीत इव हृदयात ॥]

गाढालिङ्गन—प्रिय जब गाढालिङ्गन के लिए आवेश के साथ उद्यत हुआ तब मानवती का मान मानों दब जाने से डर कर हृदय से शीघ्र खिसक गया।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त। 'उत्प्रेक्षा' का उदाहरण ॥ १२८ ॥

तुङ्गो थिरो विसालो जो सहि ! मे माणपव्वओ रइओ ।
सो दइअदिट्ठिवज्जासणीएँ घाए वि ण पहुंतो ॥ १२९ ॥

[तुङ्गः स्थिरो विशालो यो रचितो मानपर्वतस्तस्याः ।
स दयितदृष्टिवज्राशनेर्घातमेव न प्राप्तः ॥]

मानपर्वत—हे सखि ! जो मेरे मान का पर्वत तुङ्ग, स्थिर और विशाल बना है, उसने प्रिय के दृष्टि-वज्र का प्रहार नहीं पाया है।

विमर्श—छाया 'वज्जालग्ग' से प्राप्त ॥ १२९ ॥

सहि ! विरइऊण माणस्स मज्झ धीरत्तणेण ओआसं ।
पिअअमदंसणविहलक्खणम्मि सहसे त्ति तेण ओसरिअं ॥ १३० ॥

[सखि ! विरचय्य मानस्य मम धीरत्वेनाश्वासम् ।
प्रियदर्शनविश्रृङ्खलक्षणे सहसैव तेनापसृतम् ॥]

धैर्य-मान—हे सखि ! धैर्य ने मेरे मान को अवकाश (आश्वासन) देकर, प्रियतम के दर्शन के व्याकुल क्षण में वह सहसा खिसक गया।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त ॥ १३० ॥

[व्रज ममैवैकस्य भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि ।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत ॥]

दाक्षिण्य—जा, मुझ एक के (तेरे बिना) निःश्वास और रोना हों, दाक्षिण्य के कारण परेशान तुझे भी उसके बिना ये मत हों।

विमर्श—गोत्रस्खलन से विदितापराध नायक को खण्डिता द्वारा निर्भर्त्सना। छाया 'ध्वन्यालोक' से प्राप्त। दाक्षिण्य = कई नायिकाओं के साथ गुप्त रूप से नायक का अनुकूलाचरण ॥ ९३८ ॥

अणुवत्तंतो अम्हारिसं जणं आहिजाईए ।
चिंतेसि उणो हिअए अणाहिजाई सुहं जअइ ॥ ६३९ ॥

[अनुवर्तमानोऽस्मादृशं जनमभिजात्या ।
चिन्तयसि पुनर्हृदयेऽनभिजातिः सुखं जयति ॥]

निम्न विचार—हमारे सदृश जन का कुलीनता से अनुगमन करते हुए भी तुम सोचा करते हो कि अकुलीनता के कारण सुख से जीते हैं ! ॥ ९३९ ॥

हुं णिल्लज्ज समोसर तं चिअ अणुणेसु, जीएँ दे एअं ।
पाअंगुट्ठालत्तअरसेण तिलअं विणिम्मविअं ॥ ९४० ॥

[हुं निर्लज्ज समपसर तामेवानुनय यस्यास्त एतत् ।
पादाग्राङ्गुष्ठालक्तकेन तिलकं विनिर्मितम् ॥]

ललाटतिलक—हुं, निर्लज्ज ! परे हट, जिसके पैर के अंगूठे के आलते से तूने तिलक किया है उसी से यह अनुनय कर ।

विमर्श—छाया 'सरस्वतीकण्ठाभरण' से प्राप्त । ईर्ष्या का उदाहरण ॥ ९४० ॥

सा वसइ तुज्झ हिअए, स च्चिअ अच्छीसु, सा अ सिविणेसु ।
अम्हारिसाण सुन्दर ! ओआसो कत्थ पावाण ? ॥ ९४१ ॥

[सा वसति तव हृदये सैवाक्ष्णोः सैव वचनेषु ।
अस्मादृशीनां सुन्दर अवकाशः कुत्र पापानाम् ॥]

वही सर्वत्र—हे सुन्दर ! वह तेरे हृदय में, वही आँखों में और वही सपनों में रहती है, हम जैसी पापिनियों के लिए जगह कहाँ है ?

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त। 'विशेष' अलंकार का उदाहरण ॥ ९४१ ॥

तण्हा मे तुज्झ पिअत्तणस्स, कह तं ति णो हि जाणामो ।
दे सुहअ ! तुमं चिअ सिक्खवेसु जह दे पिआ होमि ॥ ६४२ ॥

[तृष्णा मे तव प्रियत्वस्य कथं त्वमिति नो हि जानीमः ।
हे सुभग ! त्वमेव शिक्षय यथा ते प्रिया भवामि ॥]

प्रियशिष्या—तुम्हारा प्रियत्व लाभ करने की मुझे इच्छा है, वह कैसा है हमें मालूम नहीं, हे सुभग ! तुम्हीं सिखा दो, जिससे कि मैं तुम्हारी प्रिया बनूं ॥ ९४२ ॥

मलिणवसणाण किअवणिआणं आपंडुगंडपालीणं ।
पुप्फवईआण कामो अंगेसु कआउहो वसई ॥ ९४३ ॥

[मलिनवसनानां कृतवनितानां (?) आपाण्डुगण्डपालीनाम् ।
पुष्पवतीनां कामोऽङ्गेषु कृतायुधो वसति ॥]

पुष्पवती—मैले वस्त्रों वाली, अलग रहनेवाली (?) पीले गालों वाली पुष्पवतियों (रजस्वलाओं) के अङ्गों में कामदेव आयुध धारण किए हुए निवास करता है ।

विमर्श—'साहित्यमीमांसा' के अनुसार पाठ—

'मलिणवसणाण कअवेणिआण आपस्सु गीढ पाढीण ।
पुप्फवईअण कामो अग्गे सुयकाउहो वसइ ॥ ९४३ ॥

पुप्फवइअ म्हि बालअ ! मां चिवसु अदीहराउसो होसि ।
अज्जं चेअ मरिज्जउ मअच्छि ! किं कालहरणेण ॥ ६४४ ॥

[पुष्पवत्यस्मि बालक ! मा स्पृश अदीर्घायुर्भविष्यसि ।
अद्यैव म्रियतां मृगाक्षि ! किं कालहरणेन ॥]

स्पर्शनिषेध—नायिका—"मैं पुष्पवती हूँ, बालक ! मुझे मत छू—तेरी आयु कम होगी !"

विमर्श—नायक—"हे मृगाक्षि ! आज ही मर जाँय, समय खोने से क्या ?" ॥ ९४४ ॥

वाणिअअ ! हत्थिदंता कत्तो अम्हाण वग्घकत्तीओ ।
जाव लुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्कए सोण्हा ॥ ६४५ ॥

[वाणिजक ! हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयः ।
यावल्लुलितालकमुखी गृहे प्रतिवसति स्नुषा ॥]

पतोहू—हे व्यापारी ! हमारे यहां हाथी के दांत और बाघ के चमड़े कहाँ से मिलेंगे, जब तक कि घर में घुंघराले बाल मुंह पर लिए पतोहू निवास करती है ।

विमर्श—व्यापारी बनिये के इस प्रश्न पर कि तुम्हारे यहाँ दाँत और

बाघ के चमड़े मिलेंगे ?, वृद्ध व्याध का उत्तर। तात्पर्य यह कि पतोहू के साथ ही मेरा लड़का घर में पड़ा रहता है, दाँत और चमड़े की तलाश में बाहर नहीं निकलता। छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त। 'वज्जालग्ग' के अनुसार पाठ और छाया—

'उत्तुङ्गथोरथणवट्टसालसा जं वहू सुवई।'

'उत्तुङ्गपृथुस्तनपृष्ठसालसा यद्वधूः स्वपिति' ॥ १४५ ॥

गण्हंति पिअअमाण वअणाहि हंसीओ विसलद्धाइ।
हिअआइ व कुसुमाउहबाणकआणेअरंधाइ ॥ १४६ ॥

[गृह्णन्ति प्रियतमानां वनिता हंस्यो बिसलतार्धानि।
हृदयानीव कुसुमायुधबाणकृतानेकरंध्राणि ॥]

हंसी—हंसियाँ अपने प्रियतम हंसों के मुखों से बिसलताओं के टुकड़े लेती हैं, मानों, कामदेव के बाणों के लगने से हुए अनेक छिद्रों वाले उनके हृदय हों।

विमर्श—'साहित्यमीमांसा' के अनुसार पाठ—

'गण्हन्ति पिअअमापि अ अमाअवअणा हि विसअद्धाइं।
हिअआइं वि कुसुमाउहसाणकआणेअरद्धाइं' ॥ १४६ ॥

हंसाण सरेहिं सिरी, सारिज्जइ अह सराण हंसेहि।
अण्णोण्णं चिअ एए अप्पाणं णवर गरुअंति ॥ १४७ ॥

[हंसानां सरोभिः श्रीः सार्यते अथ सरसां हंसैः।
अन्योन्यमेवैते आत्मानं केवलं गरयन्ति ॥]

हंस—हंसों की शोभा सरोवरों से बढ़ती है और सरोवरों की हंसों से, ये परस्पर ही अपना गौरव बढ़ाते हैं।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त। 'अन्योन्य' अलङ्कार का उदाहरण ॥ १४७ ॥

अणुदिअहकआभोआ जह जह थणआ विणिंति कुमरीए।
तह तह लद्धोआसो व्व वम्महो हिअममाविसइ ॥ १४८ ॥

[अनुदिवसकृताभोगौ यथा यथा स्तनकौ विनिर्यातः कुमार्याः।
तथा लब्धावकाश इव मन्मथो हृदयमाविशति ॥]

कुमारी—कुमारी के स्तन दिन-दिन फैलाव करके जैसे-जैसे निकलते जा रहे हैं वैसे-वैसे मानों जगह पाकर मन्मथ हृदय में प्रवेश करता जा रहा है ॥ १४८ ॥

केसा पाण्डुरछाआ असईसंगेण चम्म जज्जरिअं।
चित्त तुह सोहग्गं ! गोदा दूइत्तणं कुणई ॥ १४९ ॥

[केशाः पाण्डुरच्छाया असतीसङ्गेन चर्म जर्जरितम्।
चित्त तव सौभाग्यं ! गोदा दूतीत्वं करोति ॥]

दूतीकर्म—छिनाल स्त्री का संग करने से केश उजले और देह का चमड़ा जर्जर हो गया है, फिर भी तेरा सौभाग्य आश्चर्यजनक है कि गोदावरी तेरा दूतीकर्म करती है ॥ १४९ ॥

णिण्णिद्दं दोब्बल्लं चिन्ता अलसत्तणं सणीससिअं।
मह मंदभाइणीए कए सहि ! तुमं वि अहह ! परिभवई ॥ १५० ॥

[औन्निद्र्यं दौर्बल्यं चिन्ताऽलसत्वं सनिःश्वसितम्।
मम मन्दभागिन्याः कृते सखि ! अहह त्वामपि परिभवति ॥]

मन्दभागिनी—हे सखि ! रात भर का जागरण, दुर्बलता, चिन्ता, आलस्य, निःश्वास—यह मुझ मन्दभागिनी के लिए हैं, पर हाय ! तुझे भी परेशान करते हैं।

विमर्श—नायक के साथ रमण करके लौटी दूती के प्रति विदित वृत्तान्त नायिका द्वारा कटाक्षपूर्ण निर्भर्त्सना ॥ १५० ॥

णिअदइअदंसणुसुअ पंथिअ ! अण्णेण वच्चसु पहेण।
घरवइधूआ दुल्लंघवाउरा ठाइ हअगामे ॥ १५१ ॥

[निजदयितादर्शनोत्क्षिप्त पथिकान्येन व्रज पथा।
गृहपतिदुहिता दुर्लङ्घ्यवागुरेह हतग्रामे ॥]

गृहपतिपुत्री—अपनी प्रिया के दर्शन के लिए उत्सुक हे पथिक ! दूसरे मार्ग से जा, इस दुष्ट गाँव में गृहपति की पुत्री रहती है, जिससे बचकर निकलना मुश्किल हो जायगा।

विमर्श—छाया 'काव्यानुशासन' से प्राप्त। 'साहित्यमीमांसा' के अनुसार पाठ—

'णिअदइअदंसणक्खित्तपथ्यहिअंअण्णेण मच्छुसुवहेण।
गहवइधूआ दुव्वलुग्घमाउरा इह अअं गामे ॥ १५१ ॥

आसाइअमण्णाएण जेत्तिअं, ता तुइ ण बहुआ धिई।
उवरमसु वुसह ! एण्हि, रक्खिज्जइ गेहवइखेत्तं ॥ १५२ ॥

[आस्वादितमज्ञातेन यावत्तावदेव व्रीहीणाम्।
उपरम वृषभेदानीं रक्ष्यते गृहपतिक्षेत्रम् ॥]

वृषभ—हे वृषभ ! अनजाने तूने जितना धान का खेत चर लिया उतना ही तक रुक जा, अब मालिक के खेत की रखवाली की जा रही है।

विमर्श—सम्भवतः वृषभ-प्रकृति नायक को नायिका के प्रति अनुराग से सावधान होने का यहाँ निर्देश किया गया है। छाया 'सरस्वतीकण्ठाभरण' से प्राप्त। छाया का भिन्न पाठ—

'आस्वादितमज्ञातेन यावत्तावतव बन्धय धृतिम्।
उपरमस्व वृषभात्र रक्षयित्वा गृहपतिक्षेत्रम् ॥ ९५२ ॥

उच्चिणसु पडिअकुसुमं मा धुण सेहालिअं, हलिअसुण्हे।
एस अवसाणविरसो ससुरेण सुओ वलअसद्दो ॥ ९५३ ॥
[उच्चिनु पतितानि कुसुमानि माधुनीः शेफालिकां हालिकस्नुषे।
एष ते विषमविरावः श्वशुरेण श्रुतो वलयशब्दः ॥]

वलयशब्द—अरी हलिक की पुत्रवधू ! गिरा हुआ ही फूल चुन ले, शेफालिका को मत कंपा। तेरे ससुर ने विषम आवाज करनेवाले वलय का शब्द सुन लिया है (इसका परिणाम बुरा होगा)।

विमर्श—छाया 'ध्वन्यालोक' से प्राप्त। अविनय-पति के साथ रमण करती हुई नायिका को सखी का प्रतिबोधन ॥ ९५३ ॥

पविसन्ती घरदारं विवलिअवअणा विलोइऊण पहं।
खंधे मोत्तूण घडं हा हा णट्ठो त्ति रुअसि सहि ! किं ति ॥ ९५४ ॥
[प्रविशन्ती गृहद्वारं विवलितनयना विलोक्य पन्थानम्।
स्कन्धे गृहीत्वा घटं हा हा नष्ट इति रोदिसि किमिति ॥]

घटनाश—हे सखि ! घर के द्वार में प्रवेश करती हुई तूने मुंह फेरा और रास्ता को देखकर और कंधे पर घड़ा रखकर 'हाय हाय फूट गया' यह कहती हुई क्योंकर रोती है ?

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त। तात्पर्य यह कि संकेत स्थान पर जाते हुए कामुक को देखकर यदि जाना चाहती है तो दूसरा घड़ा लेकर जा, रो क्यों रही है। तेरी करतूत तो मालूम है ! ॥ ९५४ ॥

मा पन्थ रुंधसु ! पहमवेहि बालअ ! असेसिअहिरीअ।
अम्हे[1] अणिरिक्काओ, सुण्णं घरअं व अक्कमसि ॥ ९५५ ॥
[मा पन्थानं रुधः अपेहि बालक अप्रौढ अहो असि अह्रीकः।
वयं परतन्त्रा यतः शून्यगृहं मामकं रक्षणीयं वर्तते ॥]

---

१. अम्हेअ णिरिक्काओ सुण्णघरं रक्खिदव्वं णो।

सूना घर—राह मत रोक, अपनी राह ले, बालक ! निर्लज्ज ! हम अकेली हैं, सूने घर में चला जा रहा है ?

विमर्श—छाया 'ध्वन्यालोक' से प्राप्त। कुछ भिन्न रूप से प्राप्त छाया के अनुसार अर्थ यह होगा—'राह मत रोक, चला जा, बालक ! अप्रौढ ! ओह, तू निर्लज्ज है, हम पराधीन हैं, क्योंकि हमें अपने सूने घर की रखवाली करनी है ॥ ९५५ ॥

सुव्वइ समागमिस्सइ तुज्झ पिओ अज्ज पहरमेत्तेण ।
एमेअ किं ति चिट्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिज्जं ॥ ९५६ ॥

[श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण ।
एवमेव किमिति तिष्ठसि तत् सखि सज्जय करणीयम् ॥]

प्रियागमन—हे सखि ! सुनती हूँ, आज पहर गए ही तेरा प्रिय आनेवाला है, यूं ही क्यों बैठी है ? काम ठीक कर ले।

विमर्श—सखी का वचन उपपति के निकट अभिसार के लिए उद्यत नायिका के निवारणार्थ। छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त ॥ ९५६ ॥

खणपाहुणिआ देअरजाया ए सुहय ! किं ति दे हणिदा ? ।
रुअइ घरोपंतफलिणिघरम्मि[1], अणुणिज्जउ वराई ॥ ९५७ ॥

[क्षणप्राघुणिका देवर जायया सुभग किमपि ते भणिता ।
रोदिति पश्चाद्भागवलभीगृहेऽनुनीयतां वराकी ॥]

पाहुनी—हे देवर ! सुभग ! उत्सव में पाहुनी बनी उसे तेरी पत्नी ने कुछ कह दिया, वह बेचारी घर के पिछवाए में रो रही है, उसका अनुनय कर।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त। यहां आचार्यों ने अविवक्षित-वाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य का सन्देह संकर माना है, क्योंकि अनुनय सम्भोग रूप लक्ष्य में संक्रमित है अथवा विवक्षित रूप से ही सम्भोग का व्यञ्जक है यह सन्देह होता है ॥ ९५७ ॥

पुप्फभरोणमिअभूमिगअसाहंतरूण(?)विण्णवणं ।
गोलाअडविअडकुडुंगमहुअ············ ॥ ९५८ ॥

गोदातटमधूक—गाथा अपूर्ण ॥ ९५८ ॥

गृहिणिप्रवेशितजारे गृहे गृहे (गृहिणो ?) स्थापिता ।
मिलिता वदति (असती ?) जारउ पश्चाद् गृहिणी गृहस्थश्च॥९५९॥

---

1. पडोहरवलहीघरम्मि ।

गृहिणी—गाथा अपूर्ण एवं अशुद्ध ॥ ९५९ ॥

एकत्तो रुअइ पिआ अण्णत्तो समरतूरणिग्घोसो ।
पेम्मेण रणरसेण अ भडस्स डोलाइअं हिअअं ॥ ९६० ॥
[एकतो रोदिति प्रियाऽन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः ।
प्रेम्णा रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम् ॥]

दोलायित हृदय—एक ओर प्रिया रोती है, दूसरी ओर समर के तूर्य की आवाज है; भट का हृदय प्रेम से और रणोत्साह से दोलायित हो रहा है।

विमर्श—छाया 'दशरूपक से प्राप्त ॥ ९६० ॥

केलीगोत्तक्खलणे विकुप्पए केअवं अआणंती ।
दुट्ठ उअसु परिहासं जाआ सच्चं चिअ परुण्णा ॥ ९६१ ॥
[केलीगोत्रस्खलने विकुप्यति कैतवमजानन्ती ।
दुष्ट पश्य परिहासं जाया सत्यमिव प्ररुदिता ॥]

परिहास—रे दुष्ट ! परिहास करने का नतीजा देख, वह कुपित होगी, इसलिए तूने क्रीडा में गोत्रस्खलन (परस्त्री का नामोच्चारण) किया, पर तेरा छल न जानकर वह सचमुच रोने लगी।

विमर्श—छाया 'दशरूपक' से प्राप्त ॥ ९६१ ॥

दे आ पसिअ णिअत्तसु मुहससिजोण्हाविलुत्ततमणिवहे ।
अहिसारिआणँ विग्घं करोसि अण्णाणँ वि हआसे ॥ ९६२ ॥
[दैवाद् दृष्ट्वा नितान्तसुमुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे ।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे ॥]

प्रार्थना—प्रार्थना करता हूँ, प्रसन्न हो, निवर्तित हो, अपने मुखचन्द्र की चांदनी से अन्धकारसमूह को नष्ट कर देनेवाली री हताशे ! अन्य अभिसारिकाओं के भी विघ्न करती है !

विमर्श—छाया 'ध्वन्यालोक-लोचन' से प्राप्त। आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रतिषेध रूप वाच्य के अनुभय रूप व्यङ्ग्य के प्रसङ्ग में इस गाथा को उदाहृत किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने 'विप्रतिपत्तिनिराकरणपूर्वक' इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—यहाँ 'अपने व्यवसित या निश्चित गमन-कार्य से निवर्तित हो' इस प्रतीति के होने से निषेध वाच्य हो रहा है। नायिका ने नायक को स्खलितादि अपराध से युक्त पाया तब उसके पास से चले जाने के लिए प्रवृत्त हो गई, तत्काल नायक ने चाटु का उपक्रम करके उसे अपने उद्योग से निवर्तित किया। नायक का अभिप्राय रूप चाटुविशेष यह

व्यङ्ग्य होता है कि इस उपक्रम से तू न केवल अपने और मेरे सुख (निर्वृति) में खलल डालती है, बल्कि अन्य महिलाओं के भी; इस कारण तुझे कदापि सुखलेश का भी लाभ नहीं होने का, अतएव तू हताशा है। अथवा अन्य अवतरण के अनुसार उपदेश न मानकर चली जाती हुई नायिका के प्रति सखी का वचन। न केवल अपना विघ्न कर रही है, लाघव के कारण अपने को अबहुमानास्पद करती हुई, अतएव हताशा तू अपने मुख की चाँदनी से मार्ग को प्रकाशित करके अन्य अभिसारिकाओं के भी विघ्न करती है, यह सखी का अभिप्रायरूप चाटुविशेष व्यङ्ग्य होता है। इन दोनों भी व्याख्यानों में व्यवसित प्रतिकूल-गमन और प्रियतम के गृह से गमन-कार्य से निवर्तित हो, इस वाक्य में विश्रान्ति होती है, अतः यह गुणीभूत व्यङ्ग्य के भेद रसवदलङ्कार का उदाहरण है न कि ध्वनि का। इसलिए यहाँ यह भाव है—आवेशपूर्वक प्रियतम के घर अभिसार में आती हुई किसी नायिका के प्रति उसके घर की ओर आते हुए उसी प्रियतम का अपरिचय के छल से वचन। इसीलिए अपने अपरिचय के ज्ञापनार्थ ही 'हताशा' यह नर्मवचन सङ्गत है। यह कैसी प्रत्याशा है कि अन्य महिलाओं के विघ्न करती है और तेरे अभीष्ट का लाभ होगा! अतएव मेरे घर तूं आ या तेरे घर चलें इन दोनों में तात्पर्य होने से यहाँ नायक का चाटु अनुभयरूप व्यङ्ग्य के रूप में व्यवस्थित है। दूसरे लोगों का कहना है कि यह तटस्थ सहृदयों की उक्ति अभिसारिका के प्रति है। वहाँ 'हताशे' यह आमन्त्रण आदि युक्त है अथवा नहीं, इसमें सहृदय लोग ही प्रमाण हैं' (लोचन व्याख्या) ॥ ९६२ ॥

अण्णं लहुअत्तणअं अण्ण च्चिअ का इ वत्तणच्छाआ।
सामा सामण्णपआवइओ रेह च्चिअ ण होइ ॥ ९६३ ॥
[अन्यत् सौकुमार्यं अन्यैव च काऽपि वर्तनच्छाया।
श्यामा सामान्यप्रजापतेः रेखैव च न भवति ॥]

प्रजापति—साँवली का सौकुमार्य दूसरा है और शरीर की कान्ति भी कोई दूसरी ही है, यह सर्वसाधारण प्रजापति का निर्माण भी नहीं हो सकती है।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त। 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार का उदाहरण ॥ ९६३ ॥

अलससिरोमणि धुत्ताणं अग्गिमो पुत्ति! धणसमिद्धिमओ।
इअ भणिएण णअंगी पप्फुल्लविलोअणा जाआ ॥ ९६४ ॥
[अलसशिरोमणिधूर्तानामग्रिमः पुत्रि धनसमृद्धिमयः।
इति भणितेन नताङ्गी प्रफुल्लविलोचना जाता ॥]

सरदार—'बेटी ! वह आलसियों का सिरमौर है, धूर्तों का सरदार है और धन-दौलत वाला है।' यह कहने से झुके अङ्गों वाली की आँखें खिल उठीं।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त। नायिका को ऐसा नायक इस लिए स्वीकार है कि वह आलसी होने के कारण कहीं इधर-उधर नहीं जाना चाहेगा, धूर्त होने के कारण रति कार्य में मजा देगा, धनिक होकर कृपण होगा, इसलिए मेरे ही उपभोग के योग्य है॥ ९६४॥

उल्लोल्लकरअरअणक्खएहिँ तुह लोअणेसु मह दिण्णं।
रत्तंसुअं पसाओ, कोवेण पुणो इमे ण अक्कमिआ॥ ९६५॥

[आर्द्रार्द्रकरजरदनक्षतैस्तव लोचनयोर्मम दत्तम्।
रक्तांशुकं प्रसादः कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते॥]

रक्तांशुक का प्रसाद—तुम्हारे ओदे-ओदे नखक्षत और दन्तक्षतों ने मेरी आँखों में प्रसाद के रूप में रक्तांशुक दे दिया है, ये कोप से आक्रान्त नहीं हैं।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त। 'अपह्नुति' अलङ्कार का उदाहरण॥ ९६५॥

ए एहि दाव सुन्दरि ! कण्णं दाऊण सुणसु वअणिज्जं।
तुज्झ मुहेण किसोअरि ! चंदो उअमिज्जइ जणेण॥ ९६६॥

[अयि एहि तावत् सुन्दरि कर्णं दत्वा शृणु वचनीयम्।
तव मुखेन कृशोदरि ! चन्द्र उपमीयते जनेन॥]

अयश—अय सुन्दरि ! आ, कान देकर निन्दा की बात सुन, हे कृशोदरि ! लोग तेरे मुख से चन्द्र की उपमा देते हैं।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त। 'प्रतीप' अलङ्कार का उदाहरण॥ ९६६॥

एद्दहमेत्तत्थणिआ एद्दहमेत्तेहि अच्छिवत्तेहि।
एद्दहमेत्तावत्था एद्दहमेत्तेहि दिअऐहि॥ ९६७॥

[एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्राभ्यां अक्षिपत्राभ्याम्।
एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः॥]

अभिनय—उसके स्तन इतने (विशाल) हैं और उसके नेत्र इतने (विस्तृत) हैं, केवल इतने थोड़े दिनों में इतनी स्थिति प्राप्त हो गई है।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकास' से प्राप्त। 'अभिनय' अलंकार। वक्ता ने

हाथ को विभिन्न आकारों में बनाकर नायिका के स्तन आदि का परिचय दिया है ॥ ९६७ ॥

करजुअगहिअजसोआत्थणमुहविणिवेसिआहरपुडस्स ।
संभरिअपंचजण्णस्स णमह कण्हस्स रोमंचं ॥ ९६८ ॥

[करयुगगृहीतयशोदास्तनमुखविनिवेशिताधरपुटस्य ।
संस्मृतपाञ्चजन्यस्य नमत कृष्णस्य रोमाञ्चम् ॥]

पाञ्चजन्य—कृष्ण ने जब यशोदा का स्तन दोनों हाथों से पकड़ा और अपने अधरपुट में स्तन का अग्रभाग लगाया तब उन्हें अपना पाञ्चजन्य शङ्ख स्मृत हुआ, जिससे उन्हें रोमाञ्च हो आया; कृष्ण के रोमाञ्च को नमन करो।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त। 'स्मरण' अलङ्कार का उदाहरण। श्री जोगलेकर ने प्राचीन टीकाकारों के अर्थ के विपरीत यह लिखा है कि कृष्ण ने जब पाञ्चजन्य शङ्ख मुख में लगाया तब उन्हें यशोदा के स्तन की स्मृति हो आई और उनके अङ्गों में रोमाञ्च हो गया। परन्तु 'पाञ्चजन्य' के साथ 'संस्मृत' प्रयोग को देखते हुए यह अर्थ गाथाकार का अभिप्रेत नहीं प्रतीत होता ॥ ९६८ ॥

का विसमा ? देव्वगई, किं दुल्लभं ? जणो गुणग्गाही ।
किं सोक्खं ? सुकलत्तं, किं दुक्खं ? जं खलो लोओ ॥ ९६९ ॥

[का विषमा देवगतिः किं लब्धव्यं यज्जनो गुणग्राही ।
किं सौख्यं सुकलत्रं किं दुःखं यत् खलो लोकः ॥]

प्रश्नोत्तर—विषम क्या है ? भाग्य की गति; दुर्लभ क्या है ? गुणग्राही जन; सौख्य क्या है ? सुपत्नी; दुःख क्या है ? दुष्टजन (का सहवास)।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त। 'उत्तर' अलंकार ॥ ९६९ ॥

किवणाणँ धणं, णाआणँ फणमणी, केसराइँ सीहाणं ।
कुलबालिआणँ त्थणआ कुत्तो छिप्पंति अमुआणं ? ॥ ९७० ॥

[कृपणानां धनानि नागानां फणमणयः केसराः सिंहानाम् ।
कुलपालिकानां स्तनाः कुतः स्पृश्यन्तेऽमृतानाम् ॥]

अस्पृश्य—नहीं मरे (अर्थात् जीवित) कृपणों का धन, नागों के फन पर के मणि, सिंहों के केसर (अयाल) और कुलीन स्त्रियों के स्तन कहाँ स्पर्श किए जा सकते हैं ?

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त। 'दीपक' अलङ्कार। जीते-जी कृपण अपने धन को, सर्प अपने मणि को, सिंह अपने केसर (अयाल) को और कुलीन स्त्री अपने स्तन को किसी का स्पर्श तक होने नहीं देती, भले ही मर जाने पर उन्हें कोई छू ले ॥ १७० ॥

केसेसु वलामोडिअ तेण समरम्मि जअस्सिरी गहिआ।
जह कंदरहिँ विहुरा तस्स दढं कण्ठअम्मि सण्ठविआ ॥ ६७१ ॥
[केशेषु बलादामोटय तेन समरे जयश्रीर्गृहीता।
यथा कन्दराभिर्विधुरास्तस्य दृढं कण्ठे संस्थापिताः ॥]

जयश्री—उसने समर में केश पकड़ कर उस प्रकार जयश्री को अपना लिया कि कन्दराओं ने उसके शत्रुओं को जोर से कंठ में दाब कर रखा।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त। वस्तु से अलङ्कार ध्वनि का उदाहरण। क्योंकि प्रस्तुतार्थ वस्तु से व्यङ्ग्य यह ध्वनित होता है कि एक ही जगह संग्राम में विजय देखकर उसके शत्रु भागकर कन्दराओं में निवास करते हैं, अथवा, उसके शत्रु भागकर नहीं गए, बल्कि उससे पराभव की सम्भावना करके कन्दराएं ही उन्हें नहीं छोड़ती हैं यह 'अपह्नुति' भी व्यञ्जित होती है। यदि यहां 'केशग्रहण को देखने से मानों उद्दीप्तकाम होकर कन्दराओं ने उसके शत्रुओं को कण्ठग्रह कर लिया है' यह उत्प्रेक्षा की व्यञ्जना मानेंगे तो पहले से कन्दराओं में नायिकात्व का आरोप अनिवार्य होगा, अन्यथा कन्दराओं का कामोद्दीप्त होना नहीं बनेगा। ऐसी स्थिति में वस्तुमात्र का व्यञ्जकत्व न मानकर समासोक्ति अलङ्कार का भी व्यञ्जकत्व स्वीकार करना होगा ॥ १७१ ॥

खलववहारा दीसन्ति दारुणा जन वि, तह वि धीराणं।
हिअअवअस्सवहुमआ ण हु ववसाआ विमुज्झन्ति ॥ ६७२ ॥
[खलव्यवहारा दृश्यन्ते दारुणा यद्यपि तथापि धीराणाम्।
हृदयवयस्यबहुमता न खलु व्यवसाया विमुह्यन्ति ॥]

धीर जन—यद्यपि दुष्ट जनों के व्यवहार दारुण दिखलाई पड़ते हैं तथापि धीर जनों के व्यवसाय हृदय रूपी साथी के बहुमत होकर प्रतिरुद्ध नहीं होते।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त। धीरजन के व्यवसाय प्रतिरुद्ध नहीं होते, अर्थात् उनकी उपकार आदि की प्रवृत्ति को कभी ठेस नहीं लगती ॥ १७२ ॥

जं परिहरिउं तीरइ मणं पि ण सुंदरअत्तणगुणेण।
अह णवर तस्स दोसो पडिवक्खेहिं पि पडिवण्णो ॥ ६७३ ॥

[यं परिहर्तुं तीर्यते मनागपि न सुन्दरत्वगुणेन
अथ केवलं तस्य दोषः प्रतिपक्षैरपि प्रतिपन्नः ॥]

गुणदोष—सौन्दर्य के गुण के कारण जो थोड़ा भी नहीं छोड़ा जा सकता है उसका दोष प्रतिपक्ष (अर्थात् ब्रह्मचारी आदि) लोगों ने भी केवल स्वीकार किया है।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त ॥ १७३ ॥

जस्स रणंतेउरए करे कुणंतस्स मंडलग्गलअं ।
रससम्मुही वि सहसा परम्मुही होइ रिउसेणा ॥ १७४ ॥

[यस्य रणान्तःपुरे करे कुर्वतो मण्डलाग्रलताम् ।
रससम्मुख्यपि सहसा पराङ्मुखी भवति रिपुसेना ॥]

पराङ्मुखी—जो रण के अन्तःपुर में खड्गलता को हाथ में ले लेता है तो रसाभिमुख भी रिपुसेना पराङ्मुख हो जाती है।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त। 'रूपक' अलङ्कार। यहां कवि ने खड्गलता को नायिका और रिपुसेना को प्रतिनायिका बनाया है। तात्पर्य यह कि जब वह वीर अपने हाथ में तलवार ले लेता है तब रिपुसेना पराङ्मुख होकर भाग पड़ती है ॥ १७४ ॥

जस्सेअ वणो तस्सेअ वेअणा, भणइ तं जणो अलिअं ।
दंतक्खअं कवोले वहूएँ विअणा सवत्तीणं ॥ १७५ ॥

[यस्यैव व्रणस्तस्यैव वेदना भणति तज्जनोऽलीकम् ।
दन्तक्षतं कपोले वध्वाः वेदना सपत्नीनाम् ॥]

व्रण-वेदना—'जिसके ही व्रण हो वेदना उसीके होती है' लोगों का यह कथन झूठा है, वधू के कपोल में दन्तक्षत और वेदना सौतों के होती है।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त। 'असङ्गति' अलङ्कार ॥ १७५ ॥

जह गहिरो, जह रअणणिब्भरो, जह अ णिम्मलच्छाओ ।
तह किं विहिणा एसो सवाणिओ[1] जलणिही ण किओ ? ॥ १७६ ॥

[यथा गम्भीरो यथा रत्ननिर्भरो यथा च निर्मलच्छायः ।
तथा किं विधिना एषः सरसपानीयो जलनिधिर्न कृतः ॥]

जलनिधि—विधाता ने जैसा जलनिधि को गम्भीर, रत्नपूर्ण और निर्मल बनाया वैसा पीने योग्य नहीं बनाया।

---

१. सरसवाणीओ ।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त । 'समासोक्ति' और 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलङ्कारों के 'सन्देह संकर' का उदाहरण ॥ ९७६ ॥

जा ठेरं व हसन्ती कइवअणंबुरुहबद्धविणिवेसा ।
दावेइ भुअणमंडलमण्णं विअ जअइ सा वाणी ॥ ६७७ ॥

[या स्थविरमिव हसन्ती कविवदनाम्बुरुहबद्धविनिवेशा ।
दर्शयति भुवनमण्डलमन्यदिव जयति सा वाणी ॥]

सरस्वती—कवियों के मुखकमल पर आसन जमाकर, बूढ़े प्रजापति को हंसती-सी सरस्वती मानों भुवन मण्डल को दूसरा ही दिखाती है, ऐसी सरस्वती की जय हो ।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त । 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार से 'व्यतिरेक' अलङ्कार का ध्वनि का उदाहरण ॥ ९७७ ॥

जोण्हाइ महुरसेण अ विइण्णतारुण्णउच्छुअमणा सा ।
वुड्ढा वि णवोढा व्व परवहू अह हरइ तुह हिअअं ॥ ६७८ ॥

[ज्योत्स्नया मधुरसेन च वितीर्णतारुण्योत्सुकमनाः सा ।
वृद्धाऽपि नवोढेव परवधूरहह हरति तव हृदयम् ॥]

जरत्तरुणी—अहह, वह वृद्ध भी परवधू चांदनी और मदिरा से अपना यौवन व्यक्त करके उत्सुक हो, नवोढा की भांति तेरा हृदय हर लेती है !

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त । 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कारसे 'आक्षेप' अलङ्कार की ध्वनि ॥ ९७८ ॥

ढुंढुण्णंतो[1] मरिहिसि कंटअकलिआइ केअइवणाइं ।
मालइकुसुमसरिच्छं भमर? भमन्तो ण पाविहिसि ॥ ६७९ ॥

[ढुण्ढुलायमानो मरिष्यसि कण्टककलितानि केतकीवनानि ।
मालतीकुसुमसदृशं भ्रमर भ्रमन्नपि न प्राप्स्यसि ॥]

मालती—रे भौंरा ! कंटीले केतकीवनों में भटकता हुआ तू मरेगा, पर घूमता हुआ, मालती के फूल के सदृश फूल नहीं पायेगा ।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त । विट द्वारा अन्यापदेश से अन्य गणिकाओं में दोषदर्शनपूर्वक अपनी गणिका (मालती) के प्रति कामुक को प्रलोभन ॥ ९७९ ॥

णवपुण्णिमामिअंकस्स सुहअ ? को तं सि ? भणसु मह सच्चं ।
का सोहग्गसमग्गा पओसरअणि व्व तुह अज्ज ? ॥ ६८० ॥

---

1. ढुण्ढुल्लन्तो ।

[नवपूर्णिमामृगाङ्कस्य सुभग कस्त्वमसि भणतु मम सत्यम् ।
का सौभाग्यसमग्रा प्रदोषरजनीव तवाद्य ॥]

प्रदोषरजनी—हे सुभग ! तुम नये पूर्णिमाचन्द्र के क्या लगते हो ? मुझसे सच कहना । प्रदोषरजनी की भांति आज की तुम्हारी कौन सुहागिन है ?

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त ॥ ९८० ॥

णिहुअरमणम्मि लोअणपहम्मि पडिए गुरुअणमज्झम्मि ।
सअलपरिहारहिअआ वणगमणं चेअ महइ वहू ॥ ९८१ ॥
[निभृतरमणे लोचनपथे पतिते गुरुजनमध्ये ।
सकलपरिहारहृदया वनगमनमेवेच्छति वधूः ॥]

वनगमन—जब प्रच्छन्न प्रिय गुरुजनों के बीच आंखों के सामने आ गया तब वधू सब कुछ छोड़कर वन में जाने की इच्छा करने लगी ।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त । वन में जाने की इच्छा विराग से नहीं, बल्कि अनुराग से करने लगी । तात्पर्य यह कि नायक के साथ एकान्त में मिलन के मजे लेने के लिए उत्सुक हो गई ॥ ९८१ ॥

तं ताण सिरिस होअररअणाहरणम्मि हिअअमेक्करसं ।
बिं बाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुमबाणेण ॥ ९८२ ॥
[तत्रैषां श्रीसहोदररत्नाभरणे हृदयमेकरसम् ।
बिम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमबाणेन ॥]

काममोह—लक्ष्मी के सहोदर रत्न (कौस्तुभ) के आभरण वाले विष्णु पर उन (असुरों) के एकाग्रभावयुक्त हृदय को कुसुमायुध ने प्रियाओं के बिम्ब-सदृश अधर में लगा दिया ।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त । मोहिनी-वेष में विष्णु को देख कर दैत्यों को अपनी प्रियाओं का अधर याद आ गया, अर्थात् वे काममोहित हो गए । 'पर्याय' अलंकार का उदाहरण ॥ ९८२ ॥

ताला जाअन्ति गुणा जाला ते सहिअएहिँ घेप्पन्ति ।
रइकिरणाणुग्गहिआइ होन्ति कमलाइं अ कमलाइँ ॥ ९८३ ॥
[यदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते ।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥]

अनुग्रह—गुण तब गुण होते हैं जब सहृदय लोग स्वीकार कर लेते हैं; कमल सूर्य की किरणों से अनुगृहीत होकर कमल होते हैं ।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त ॥ ३०३ ॥

तुह वल्लहस्स गोसम्मि आसि अहरो मिलाणकमलदलो ।
इअ णववहुआ सोउण कुणइ वअणं महीसमुहं ॥ ९८४ ॥

[तव वल्लभस्योषसि आसीदधरो म्लानकमलदलम् ।
इति नववधूः श्रुत्वा करोति वदनं महीसम्मुखम् ॥]

म्लान कमलदल—'तेरे प्रिय का अधर मुर्झाए कमलदल के समान था' यह सुनकर नववधू मुँह जमीन की ओर करने लगी ।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त । रूपक अलंकार से काव्यलिङ्ग अलंकार की ध्वनि का उदाहरण । तात्पर्य यह कि तूने उसके मुख का बार-बार चुम्बन किया, इस कारण अधर म्लान या मुर्झाया दिखता था ॥ ९८४ ॥

मह देसु रसं धम्मे, तमवसमासं गमागमा हर णे ।
हर वहु ! सरणं तं चित्तमोहमवसरउ मे सहसा ॥ ९८५ ॥

[महदेसुरसंधमे तमवसमासंगमागमाहरणे ।
हरवहुसरणं तं चित्तमोहमवसर उमे सहसा ॥]

प्रार्थना—प्राकृत गाथा का अर्थ—हे हरवधू पार्वती ! तू मेरी शरण है, मुझे धर्म में अनुराग दे, संसार के आवागमन के अन्धेरे की हमारी आशा को हर ले जिससे कि हमारा चित्तमोह सहसा दूर हो ।

विमर्श—संस्कृत छाया का अर्थ—हे उमे ! मेरे उत्सवदायक विद्योपार्जन में देवताओं से मिलन के हेतु समासङ्ग (प्रवृत्ति) की रक्षा कर, समय पर उस संसार के कारण चित्तमोह को सहसा हर

'काव्यप्रकाश' में उद्धृत गाथा । भाषाश्लेष का उदाहरण ।

प्राकृतपक्षे—'हे हरवधु पार्वति, त्वं शरणं मम, धर्मे रसं देहि—पुण्ये प्रीतिमुत्पादय, नोऽस्माकं गमागमात्—संसारात्, तमोवशामाशां हर, मे चित्तमोहः सहसा—झटिति, अपसरतु—दूरीभवत्वित्यर्थः ।'

संस्कृतपक्षे—हे गौरि ! मम महदे—उत्सवदायके (सम्बोधनविशेषणमप्येतत्), विद्योपार्जन, सुरैः देवैः सन्धानं मिलनं यस्मात् तादृशं समासङ्गं अव—रक्ष । वहु अनेकधा सरणं प्रसरणं यस्य तं किं वा बहु सरणं—संसारो यस्मात् तं चित्तमोहं सहसा हर' ॥ ९८५ ॥

राईसु चंदधवलासु ललिअमाप्फालिऊण जो चावं ।
एक्कच्छत्तं च्चिअ कुणइ भुअणरज्जं विअम्भन्तो ॥ ९८६ ॥

[रात्रीषु चन्द्रधवलासु ललितमास्फाल्य यश्चापम् ।
एकच्छत्रमिव करोति भुवनराज्यं विजृम्भमाणः ॥]

कामदेव—चन्द्रधवल रात्रियों में जो (कामदेव) अपने सुन्दर धनुष को चढ़ाकर भ्रमण करता हुआ, मानों संसार का एकछत्र राज्य करता है।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त; अर्थात् कामदेव के शासन में कोई भी उसके आदेश से मुंह मोड़ने का साहस नहीं कर सकता है, सब लोग जाग-जाग कर उपभोगों से रातें गुजारते हैं ॥ ९८६ ॥

लहिऊण तुज्झ बाहुप्फंसं जीए स को वि उल्लासो।
जअलच्छी तुह विरहे ण हुज्जला दुब्बला णं सा ॥ ९८७ ॥

[लब्ध्वा तव बाहुस्पर्शं यस्याः स कोऽप्युल्लासः।
जयलक्ष्मीस्तव विरहे न खलूज्ज्वला दुर्बला ननु सा ॥]

जयलक्ष्मी—जिसे तुम्हारे बाहु का स्पर्श पाकर कोई अपूर्व उल्लास होता था वह जयलक्ष्मी तुम्हारे विरह में दुर्बल और विह्वल हो गई है।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त। 'समासोक्ति' अलङ्कार का उदाहरण ॥ ९८७ ॥

वारिज्जन्तो वि उणो संदावकअत्थिएण हिअएण।
थणहरवअस्सएण विसुद्धजाई ण चलइ से हारो ॥ ९८८ ॥

[वार्यमाणोऽपि पुनः संतापकदर्थितेन हृदयेन।
स्तनभरवयस्येन विशुद्धजातिर्न चलत्यस्या हारः ॥]

हार—सन्ताप से परेशान इसके हृदय द्वारा बार-बार प्रेरित किया गया भी विशुद्ध जाति का उसका हार स्तनभार की मित्रता के कारण अपने स्थान से नहीं डिगता है।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त। कुलीन व्यक्ति विपत्ति में अपने मित्र का साथ नहीं छोड़ता है। प्रस्तुत गाथा में सम्भवतः विपरीत रति की सूचना है ॥ ९८८ ॥

सअलकरणपरवीसामसिरिविअरणं ण सरसकव्वस्स।
दीसइ अहं व्व णिसुम्मइ[1] अंसंसमेत्तेण ॥ ९८९ ॥

[सकलकरणपरविश्रामश्रीवितरणं न सरसकाव्यस्य।
दृश्यतेऽथवा श्रूयते सदृशमंशांशमात्रेण ॥]

सरस काव्य—सरस काव्य समस्त इन्द्रियों के परम विश्राम की शोभा वितरण करता है, उसके अंशमात्र से भी सदृश दूसरा न दिखाई देता है अथवा न सुन पड़ता है।

---

१. णिसम्मइ।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त ॥ ९८९ ॥

सहि ! णवणिहुअणसमरम्मि अंकवालीसहीए णिविडाए ।
हारो णिवारओ च्चिअ [1]उच्छीरन्तो, तदा कहं रमिअं ? ॥ ९९० ॥

[सखि नवनिधुवनसमरेऽङ्कपालीसख्या निबिडया ।
हारो निवारित एव उद्वृण्वन् ततः कथं रमितम् ॥]

हार—हे सखि ! नये सुरत के समर में, दृढ़ अंकपाली (आलिङ्गन) रूपी सखी ने हार को तो हटा ही दिया, फिर कैसे रमण का प्रसङ्ग चला ?

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त ॥ ९९० ॥

सो णत्थि एत्थ गामो जो एअं महमहन्तलाअण्णं ।
तरुणाणं हिअअलुडिं परिसक्कतिं णिवारेइ ॥ ९९१ ॥

[स नास्ति अत्र ग्रामे य एनां महमहल्लावण्याम् ।
तरुणानां हृदयलुण्टाकीं परिष्वक्कमाणां निवारयति ॥]

दिल लूटने वाली—वह इस गाँव में नहीं है जो महमहाते हुस्न वाली, दिल लूटने वाली, अटपटी चलती हुई इसे रोक दे ।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त ॥ ९९१ ॥

सो मुद्धसामलंगो[2] धम्मिल्लो, कलिअललिअणिअदेहो ।
तीए खंधाहि बलं गहिअ[3] सरो सुरअसंगरे जअइ ॥ ९९२ ॥

[स मुग्धश्यामलाङ्गो धम्मिल्लः कलितललितनिजदेहः ।
तस्याः स्कन्धाद् बलं गृहीत्वा स्मर सुरतसङ्गरे जयति ॥]

संग्रामविजयी—सुन्दर और श्यामल अङ्गों वाला, शोभन शरीर को प्राप्त वह धम्मिल्ल रूप स्मर सुरत के संग्राम में उस (नायिका) के स्कन्ध (कन्धे, पक्ष में सेनानिवेश) से बल (शक्ति, पक्ष में सेना) को लेकर विजय प्राप्त करता है ।

छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त । अलंकार से विभावना अलंकार की ध्वनि ॥ ९९२ ॥

होमि वहत्थिअरेहो णिरङ्कुसो अह विवेअरहिओ वि ।
सिविणे वि तुमम्मि पुणो पत्तिहि ! भत्तिं ण सुमरामि ॥ ९९३ ॥

[भवाम्यपहस्तितरेखो[4] निरङ्कुशोऽथ विवेकरहितोऽपि ।
स्वप्नेऽपि त्वयि पुनः प्रतीहि भक्तिं न प्रमोदयामि ॥]

---

१. उच्चेरन्तो, ऊव्वरयंतो । २. मुद्ध । ३. लहिअ । ४. भमामि ।

राजभक्ति—हे राजन्! मैंने मर्यादा छोड़ दी है, मैं निरंकुश और विवेक-रहित भी हूँ, फिर भी तुम विश्वास करो, स्वप्न में भी तुम्हारे प्रति भक्ति नहीं छोड़ूंगा।

विमर्श—छाया 'काव्यप्रकाश' से प्राप्त ॥ ९९३ ॥

सज्जेइ सुरहिमासो ण आपणेइ[1] जुअइजणलक्खसहे[2]।
अहिणअसहआरमुहे णअपल्लवपत्तणे अणंगसरे ॥ ९९४ ॥

[सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यमुखान्।
अभिनवसहकारमुखान् नवपल्लवपत्त्रलाननङ्गस्य शरान् ॥]

सुरभिमास—सुरभिमास युवति जनों को लक्ष्य करनेवाले नये सहकार प्रमुख और नये पल्लवों वाले, अनङ्ग के बाणों को केवल सजा देता है, न कि अर्पित करता है।

विमर्श—छाया 'ध्वन्यालोक' से प्राप्त ॥ ९९४ ॥

ताण पुरओ य मरीहं कयलीथंभाण सरिसपुरिसाणं।
जे अत्तणो विणासं फलाइं दिंता न चिंतंति ॥ ९९५ ॥

[तेषां पुरतश्च······कदलीस्तम्भानां सदृशपुरुषाणाम्।
य आत्मनो विनाशं फलानि ददाना न चिन्तयन्ति ॥]

कदलीस्तम्भ—उन्हें नमन है, जो कदली स्तम्भों के समान पुरुष फल को देते हुए, अपने विनाश की चिन्ता नहीं करते हैं ॥ ९९५ ॥

जह सरसे तह सुक्के वि पायवे धरइ अणुदिणं विंझो।
उच्छंगसंगयं णिग्गुणं वि गरुया न मुंचंति ॥ ९९६ ॥

[यथा सरसान् तथा शुष्कानपि धरत्यनुदिनं विन्ध्यः।
उत्सङ्गसङ्गतं निर्गुणमपि गुरुका न मुञ्चन्ति ॥]

सरस-नीरस—विन्ध्य पर्वत प्रतिदिन जैसे सरस वृक्षों को, उसी प्रकार शुष्क वृक्षों को भी धारण करता है, गौरवशाली लोग शरण में आए गुणहीन को भी त्याग करते नहीं हैं ॥ ९९६ ॥

सरिसे माणुसजम्मे दहइ खलो सज्जणो सुहावेइ।
लोह च्चिअ सन्नाहो रक्खइ जीअं असी हरइ ॥ ९९७ ॥

[सदृशे मानुषजन्मनि दहति खलः सज्जनः सुखाकरोति।
लोह एव सन्नाहो रक्षति जीवमसिर्हरति ॥]

---

1. अप्पेइ दाव। 2. मुहे।

सुखदुःख—मनुष्य की योनि में समान रूप से पैदा होने पर भी खल कष्ट देता है और सज्जन सुख देता है; सन्नाह लोहा ही है जो रक्षा करता है और तलवार प्राण हर लेती है ॥ ९९७ ॥

सयलजणाणन्दयरो सुक्कस्स वि एस परिमलो जस्स ।
तस्स नवसरसभावंमि होज्ज किं चंदणदुमस्स ॥ ९९८ ॥
[सकलजनानन्दकरः शुष्कस्याप्येष परिमलो यस्य ।
तस्य नवसरसभावे भवेत् किं चन्दनद्रुमस्य ॥]

चन्दन—सूखे भी जिस चन्दन वृक्ष का यह परिमल सभी लोगों को आनन्दित करता है तो नये और सरस भाव में उसका क्या होता ? ॥ ९९८ ॥

हारो वेणीदण्डो खट्टुग्गलियाइं तहय तालु त्ति ।
सालाहणेण गहिया दहकोडीहिं च चउगाहा ॥ ९९९ ॥

दशकोटि मुद्रा—हार, वेणीदण्ड, खट्टुग्गलिय और तालु शब्दों से आरम्भ होने वाली चार गाथाओं को सालाहण ने दशकोटि मुद्राओं से खरीद लिया ॥ ९९९ ॥

मग्गु च्चिय अलहंतो हारो पीणुन्नयाण थणयाण ।
उव्विग्गो भमइ उरे जउणाणइफेणपुंज व्व ॥ १००० ॥
[मार्गमेवालभानो हारः पीनोन्नतयोः स्तनकयोः ।
उद्विग्नो भ्रमत्युरसि यमुनानदीफेनपुञ्ज इव ॥]

फेनपुञ्ज—पीन और उन्नत स्तनों में मार्ग न प्राप्त करता हुआ हार उद्विग्न होकर यमुना नदी के फेनपुञ्ज की भाँति (नायिका के) वक्ष पर भ्रमण करता है ।

विमर्श—क्रमांक ६६९ गाथा भी यही है ॥ १००० ॥

कसिणुज्जलो रेहइ ॥ १००१ ॥

कृष्ण-उज्ज्वल—गाथा का इतना ही भाग उपलब्ध है ॥ १००१ ॥

परिओससुन्दराइं सुरए जायंति जाइं सुक्खाइं ।
ताइं च्चिअ तव्विरहे खट्टुग्गलियाइं कीरंति ॥ १००२ ॥
[परितोषसुन्दराणि सुरते जायन्ते यानि सौख्यानि ।
तान्येव तद्विरहे खादितोद्गीर्णानि कुर्वन्ति ॥]

दुःखद सुख—जो सुख सुरत में परितोष-सुन्दर लगते हैं वे ही उसके विरह में खट्टे (अथवा खाकर) उगले हुए हो जाते हैं ।

विमर्श—क्र० ६६८ गाथा भी यही है ॥ १००२ ॥

ता किं करोमि माए खज्जउ सालीउ कीरनिवहेहिं ॥ १००३ ॥

[तत् किं करोमि मातः ! खाद्यते शालयः कीरनिबहैः ।]

सुग्गे—माँ सुग्गे धान चुग जांय ! तो मैं क्या करूँ ?

विमर्श—इस गाथा का यही भाग उपलब्ध है ॥ १००३ ॥

अहलो पत्तावरिओ फलकाले मुयसि मूढ ! पत्ताइं ।
इण कारणि रे विड विडव मुद्ध ! तुअ एरिसं नामं ॥ १००४ ॥

[अफलः पत्रावृतः फलकाले मुञ्चसि मूढ ! पत्राणि ।
अनेन कारणेन रे विट विटप मुग्ध ! तवेदृशं नाम ॥]

विटप—रे मूढ़ ! जब तू पत्तों से ढंका था तब तू फलरहित था, और जब फल का समय हुआ तो पत्तों को छोड़ता है ? इसी कारण से मूर्ख ! विट विटप ऐसा तेरा नाम है ।

विमर्श—विट वेश्याओं का अनुचर कहलाता है जो धनरहित होने पर लोगों के साथ लगा रहता है और धन पा लेने पर लोगों का साथ छोड़ देता है । प्रस्तुत में, वृक्ष को विट-जीवन से घटाकर भर्त्सना की गई है ॥ १००४ ॥

निव्वूढपोरिसाणं असच्चसंभावणा वि संभवइ ।
इक्काणणे वि सीहे जाया पंचाणणपसिद्धी ॥ १००५ ॥

[निर्व्यूढपौरुषाणमसत्यसम्भावनाऽपि सम्भवति ।
एकाननेऽपि सिंहे जाता पञ्चाननप्रसिद्धिः ॥]

पञ्चानन—पराक्रमी पुरुषों के सम्बन्ध में झूठ की अफवाहें भी हो जाती हैं, जब कि सिंह का आनन एक ही होता है, फिर भी उसकी प्रसिद्धि 'पञ्चानन' के रूप में हो गई है ॥ १००५ ॥

आसन्ने रणरंभे मूढे मंते तहेव दुब्भिक्खे ।
जस्स मुहं जोइज्जइ सो च्चिअ जीवउ किमन्नेण ॥ १००६ ॥

[आसन्ने रणारम्भे मूढे मन्त्रे तथैव दुर्भिक्षे ।
यस्य मुखं प्रतीक्ष्यते स एव जीवतु किमन्येन ॥]

महापुरुष—युद्धारम्भ होने के समय, और जब कि मनुष्य की मति मूढ़ हो जाती है, उसी प्रकार दुर्भिक्ष पड़ने पर, जिसका मुंह ताका जाता है वही जीवित रहे, अन्य से क्या लाभ ? ॥ १००६ ॥

उत्तरार्ध समाप्त

परिशिष्ट

(१) पूर्वार्धगत-गाथानुक्रमणिकादि

(२) उत्तरार्धगत-गाथानुक्रमणिका

(३) कवि एवं कवयित्री

गा.	क्र. पीतांबर	भुवनपाल
१	१ शालिवाहन	हाल
,,	२ ०	०
,,	३ हालः कु.	पोट्टिस
,,	४ योदित, वोडिसः कु.	सालाहण
,,	५ त्रिलोक, चुल्लोहः कु.	चल्लोडय
,,	६ मकरन्द.	मयरन्दसेर
,,	७ प्रवरराज, अमरराजः कु.	०
,,	८ कुमारिल.	कुमारिल
,,	९ ०	महिभूपाल
,,	१० अनीक, सिरिराअः कु.	दुर्गस्वामिन्
,,	११ ०	दुर्गस्वामिन्
,,	१२ दुर्गस्वामिन्.	०
,,	१३ हाल. कु. गं.	हाल
,,	१४ भीमस्वामिन्, कु. गं.	०
,,	१५ गजसिंह.	रुद्रसुत
,,	१६ शालिवाहन.	श्री शातवाहन
,,	१७ ०	श्रीवर्मण
,,	१८ ०	श्रीवर्मण
,,	१९ गज.	गुण
,,	२० चन्द्रस्वामिन्.	वघर्ष
,,	२१ कलिराज.	कलिङ्ग
,,	२२ ०	बहुराग
,,	२३ मकरन्द.	मेघांधकार
,,	२४ ब्रह्मचारिन्.	ब्रह्मचारिन्
,,	२५ कालसार.	कालसार
,,	२६ अर्धराज्य.	वत्सराज
,,	२७ कुमार.	वत्सराज
१	२८ प्रणाम.	कृताल
,,	२९ शल्याण	०
,,	३० हरिजन.	हरिराज
,,	३१ अङ्गराज.	वाक्पतिराज
,,	३२ भोगिक.	भोज
,,	३३ अनङ्ग.	अनङ्गदेव
,,	३४ अनङ्ग.	रविराज
,,	३५ शालिवाहन.	हाल
,,	३६ मल्लोक.	माहिल
,,	३७ अवटङ्क	अदम्बक
,,	३८ ०	चुल्लोडक
,,	३९ कविराज	विन्ध्य
,,	४० ०	मुग्ध
,,	४१ नाथा.	रोहा
,,	४२ वल्लभ.	वल्लभ
,,	४३ अमृत.	वैरसिंह
,,	४४ रतिराज.	कविराज
,,	४५ प्रवरराज.	प्रवरराज
,,	४६ लंप	मेघट
,,	४७ सिंह.	सीहल
,,	४८ अनिरुद्ध.	अनिरुद्ध
,,	४९ सुरभवत्सल.	सुरभवक्ष
,,	५० स्वर्गवर्म.	गजवर्म
,,	५१ काल.	हाल
,,	५२ वैशार.	केरल
,,	५३ मन्मथ.	षण्मुख
,,	५४ कर्ण.	कर्णराज
,,	५५ कुसुमायुध	कुसुमायुध
,,	५६ गजलज्ज.	गृहलङ्घित
,,	५७ मकरंद.	करमंदशेल
,,	५८ असदृश.	असद्ध
,,	५९ मुग्धाधिप.	हूणाधिप

गा.	क्र. पीतांवर	भुवनपाल
१	६० मुग्धाधिप.	विग्जूहराज
,,	६१ मुग्धाधिप.	विचित्र
,,	६२ ब्रह्मराज.	ईश्वरराज
,,	६३ कालित.	पालिक
,,	६४ प्रवरसेन.	सयरसेन
,,	६५ मुखराज.	आढ्यराज
,,	६६ धीर.	कृष्टखदिर
,,	६७ धीर.	कोढिल्लक
,,	६८ कालाधिपर.	चित्तराज
,,	६९ अनुराग.	धृवराज
,,	७० अनुराग.	चन्द्रपुट्टिका
,,	७१ ०	मुद्धसील
,,	७२ ०	अज्झ
,,	७३ वसलक.	पीतहर्म्यण
,,	७४ पौलिनय.	पालित्तक
,,	७५ ०	वासुदेव
,,	७६ भीमविक्रम.	भीमविक्रम
,,	७७ विनयायित.	विरयादित
,,	७८ मुक्ताधर.	मुक्ताफल
,,	७९ काटिल्ल.	काढिल्लक
,,	८० मकरन्द.	मधुकर
,,	८१ स्वामिक.	मधुकर
,,	८२ स्वामिक.	स्वामिन्
,,	८३ कृतशशील.	कृतपुराशील
,,	८४ ईशान.	निधट्ट
,,	८५ आदिवराह.	आदिवराह
,,	८६ प्रहता.	पृथिवी
,,	८७ रेवा.	रेवत्ती
,,	८८ ग्रामकूट.	ग्रामकुट्टिका
,,	८९ पोट.	पुट्टिस
,,	९० रेवा.	०
,,	९१ गजदेव	०
,,	९२ मातङ्ग	मातङ्ग
,,	९३ वज्र.	वट्टुक
,,	९४ हारकुंत.	फरकुंत
,,	९५ वप्रराज.	वाक्पतिराज
,,	९६ स्थिरसाहस.	स्थिरसाहस
,,	९७ वप्रराज.	०
,,	९८ मकरन्द.	नन्नराज

गा.	क्र. पीतांवर	भुवनपाल
१	९९ श्रीशक्तिक.	धर्मण
,,	१०० श्रीशक्तिक.	नरनाथ
२	१ मान	मान
,,	२ मान	ग्रामणीक
,,	३ मान.	महाइय
,,	४ मान.	श्रीधर्मिल
,,	५ महादेव.	दामोदर
,,	६ दामोदर.	०
,,	७ अलीक.	महादेव
,,	८ भ्रमर.	चमर
,,	९ कालसिंह	कालियसिंह
,,	१० मृगाङ्क.	रसिक
,,	११ मृगाङ्क.	ताराभद्रक
,,	१२ निधिविग्रह.	नारायण
,,	१३ मुद्द.	मृगेंद्र
,,	१४ बुर.	गुरप
,,	१५ कमल.	कमलाकर
,,	१६ हालिक.	ललित
,,	१७ शालिवाहन.	काहिल
,,	१८ शालिवाहन.	कृष्णराज
,,	१९ शालिवाहन.	स्कंददास
,,	२० शालिवाहन.	०
,,	२१ गन्धराज	०
,,	२२ कर्णपुत्र.	कर्णपूर
,,	२३ अविराग.	अनुराग
,,	२४ राम.	राम
,,	२५ राम.	प्रवरसेन
,,	२६ उजय.	०
,,	२७ शालिवाहन	०
,,	२८ शालिक.	ग्रामकुट्टिका
,,	२९ शालिक.	स्वामिन्
,,	३० शालिवाहन.	सरभिवृक्ष
,,	३१ सोमराज.	बोगराज
,,	३२ ०	०
,,	३३ ब्रह्मगति	०
,,	३४ विक्रमराज.	०
,,	३५ कीर्तिराज.	कीर्तिरसिक
,,	३६ कुंदपुत्र.	कदुध्क
,,	३७ शक्तिहस्त.	माधव

गा.	क्र.	पीतांबर	भुवनपाल
२	३८	०	देवराज
„	३९	अनुराग.	अनुराग
„	४०	०	हाल
„	४१	वैरशक्ति.	रवशक्ति
„	४२	०	बंधुधर्मन्
„	४३	०	०
„	४४	वलयीपित.	मालवाधिप
„	४५	वलयीपित.	मालवाधिप
„	४६	०	विजयशक्ति
„	४७	०	हाल
„	४८	०	विरहाणल
„	४९	०	अवटंक
„	५०	०	केशवराज
„	५१	कलंक.	निष्कलंक
„	५२	०	मातंग
„	५३	०	मातुल
„	५४	०	सवज्ञ
„	५५	०	मंगलकलश
„	५६	०	हाल
„	५७	०	प्रवरराज
„	५८	०	०
„	५९	०	हरिकेशव
„	६०	०	गुणाढ्य
„	६१	०	भ्रातृक
„	६२	०	स्वधर्मण
„	६३	०	रेहा
„	६४	०	हाल
„	६५	०	काढिल्लक
„	६६	०	स्वामिन्
„	६७	०	आढ्यराज
„	६८	०	महिषासुर
„	६९	०	पुण्डरीक
„	७०	०	०
„	७१	०	नरवाहन
„	७२	०	सर्वस्वामिन्
„	७३	०	०
„	७४	०	०
„	७५	०	व्याघ्रस्वामिन्
„	७६	०	आम्रलक्ष्मी
२	७७	०	नागधर्म
„	७८	०	०
„	७९	०	हाल
„	८०	०	अविरत
„	८१	०	माधवशक्ति
„	८२	०	नागभट्ट
„	८३	०	अचल
„	८४	०	हाल
„	८५	०	साहस
„	८६	०	निकोप
„	८७	०	शल्ल
„	८८	०	०
„	८९	०	अनंगदेव
„	९०	०	धर्मिण
„	९१	०	हाल
„	९२	०	मदाहड
„	९३	०	स्थिरवित्त
„	९४	०	काटिल्ल
„	९५	०	गागिल
„	९६	०	वत्सराज
„	९७	०	भाव
„	९८	०	कशपुत्र
„	९९	०	हरिवृद्ध
„	१००	०	मणिनाग
३	१	०	राम्रदेव
„	२	०	प्रवरसेन
„	३	०	कुडलहस्तिन्
„	४	०	बंधुदत्त
„	५	०	हाल
„	६	०	०
„	७	०	नागहस्तिन्
„	८	०	प्रवरसेन
„	९	०	भानुशक्ति
„	१०	०	माधवराज
„	११	०	अनंग
„	१२	०	अद्दमरि
„	१३	०	त्रिविक्रम
„	१४	०	०
„	१५	०	हाल

गा.	क्र.	पीतांबर	भुवनपाल
३	१६	०	सर्वसेन
”	१७	०	पालित्तक
”	१८	०	आढ्यराज
”	१९	०	देवराज
”	२०	०	अरिकेसरिन्
”	२१	०	ब्रह्मचारिन्
”	२२	०	अनवरत
”	२३	०	०
”	२४	०	०
”	२५	०	मकरन्द
”	२६	०	विक्रम
”	२७	०	हाल
”	२८	०	आन्ध्रलक्ष्मी
”	२९	०	वल्लभ
”	३०	०	असमसाह
”	३१	०	०
”	३२	०	निरुपम
”	३३	०	सर्वसेन
”	३४	०	आढ्यराज
”	३५	०	हाल
”	३६	०	वेज्झर
”	३७	०	मल्लसेन
”	३८	०	०
”	३९	०	अनुराग
”	४०	०	०
”	४१	०	मन्मथ
”	४२	०	वल्लभट्ट
”	४३	०	सुंदर
”	४४	०	इल्लक
”	४५	०	रोलदेव
”	४६	०	०
”	४७	०	हाडुल्ल
”	४८	०	सुचरित
”	४९	०	मुद्दक
”	५०	०	सज्जन
”	५१	०	हाल
”	५२	०	रिद्द
”	५३	०	०
”	५४	०	पालित्तक

गा.	क्र.	पीतांबर	भुवनपाल
३	५५	०	गोविंदस्वामिन्
”	५६	०	पालित्तक
”	५७	०	पालित्तक
”	५८	०	कविराज
”	५९	०	हाल
”	६०	०	कर्ववंश
”	६१	०	दुर्विदग्ध
”	६२	०	पालित्तक
”	६३	०	आन्ध्रलक्ष्मी
”	६४	०	मुईक
”	६५	०	हाल
”	६६	०	पराक्रम
”	६७	०	समुद्रशक्ति
”	६८	०	हाल
”	६९	०	मेघनील
”	७०	०	राघव
”	७१	०	पर्वतकुमार
”	७२	०	०
”	७३	०	हाल
”	७४	०	०
”	७५	०	ईशान
”	७६	०	समरस
”	७७	०	निरवग्रह
”	७८	०	हाल
”	७९	०	जीवदेव
”	८०	०	विन्ध्यराज
”	८१	०	विशुद्धशील
”	८२	०	०
”	८३	०	अलङ्कार
”	८४	०	०
”	८५	०	अभिनवगजेंद्र
”	८६	०	०
”	८७	०	रत्नाकर
”	८८	०	हरिमृग
”	८९	०	लक्ष्मण
”	९०	०	कृष्णचित्त
”	९१	०	कृष्णराज
”	९२	०	राज्यधर्मन
”	९३	०	पाहिल

गा.	क्र.	पीतांबर	भुवनपाल
३	९४	०	मधुसूदन
”	९५	०	खल
”	९६	०	विषद
”	९७	०	समविषमाक
”	९८	०	सर्वस्वामिन्
”	९९	०	कीर्तिवर्मन्
”	१००	०	आउक
४	१	०	शिखण्डिन्
”	२	०	कलसचिह्न
”	३	०	माधव
”	४	०	शशिप्रभा
”	५	०	ग्रामकुट्टिका
”	६	०	सुग्रीव
”	७	०	०
”	८	०	भूषण
”	९	०	०
”	१०	०	सुदर्शन
”	११	०	अनुराग
”	१२	०	हाल
”	१३	०	पण्डित
”	१४	०	नरसिंह
”	१५	०	नागहस्तिन्
”	१६	०	त्रिलोचन
”	१७	०	यशस्वामिन्
”	१८	०	श्रीमाधव
”	१९	०	अवन्तिवर्मण
”	२०	०	प्रवरराज
”	२१	०	०
”	२२	०	हंस
”	२३	०	हंस
”	२४	०	चुल्लोडक
”	२५	०	चुल्लोडक
”	२६	०	हाल
”	२७	०	महासेन
”	२८	०	धनञ्जय
”	२९	०	कृष्णचरित्र
”	३०	०	प्रसन्न
”	३१	०	महाराज
”	३२	०	वजटदेव
४	३३	०	विरहानल
”	३४	०	आउक
”	३५	०	कैवर्त
”	३६	०	भूतदत्त
”	३७	०	महादेव
”	३८	०	विश्वसेन
”	३९	०	हाल
”	४०	०	प्रवरराज
”	४१	०	जीवदेव
”	४२	०	प्राणरजा
”	४३	०	पाहिल
”	४४	०	चुल्लोडक
”	४५	०	कैलास
”	४६	०	मन्दर
”	४७	०	माणिक्यराज
”	४८	०	शेषर
”	४९	०	नागहस्तिन्
”	५०	०	०
”	५१	०	चंद्रक
”	५२	०	कदलीगृह
”	५३	०	सिधराज
”	५४	०	नकुल
”	५५	०	नंदन
”	५६	०	अशोक
”	५७	०	०
”	५८	०	गुणनन्दिन्
”	५९	०	जयकुमार
”	६०	०	०
”	६१	०	रोलदेव
”	६२	०	वज्जुल्लक
”	६३	०	वासुदेव
”	६४	०	विशाल
”	६५	०	विक्रमादित्य
”	६६	०	०
”	६७	०	राहव
”	६८	०	०
”	६९	०	०
”	७०	०	वत्सराज
”	७१	०	हाल

गा.	क्र.	पीतांबर	भुवनपाल
४	७२	०	हाल
,,	७३	०	नागहस्तिन्
,,	७४	०	दुगल्लक
,,	७५	०	अनुराग
,,	७६	०	मातृराज
,,	७७	०	विशेषरसिक
,,	७८	०	कल्याणसिंह
,,	७९	०	संवत्सर
,,	८०	प्रतान.	मृणाल
,,	८१	केशव.	केशव
,,	८२	नीलभानु.	शिलिंध्र
,,	८३	मत्तगजेंद्र.	मत्तगजेंद्र
,,	८४	कुविंद.	कुविंद
,,	८५	अल्ल	०
,,	८६	दुर्द्धर.	दुर्द्धर
,,	८७	दुर्द्धर.	०
,,	८८	सुरभिवत्स.	०
,,	८९	सुरभिवत्स.	विरहानल
,,	९०	शालिवाहन.	ताराभट्ट
,,	९१	०	हाल
,,	९२	नन्दिपुत्र.	०
,,	९३	पालित.	पालित्तक
,,	९४	पालित.	वयस्य
,,	९५	मीनस्वामिन्.	०
,,	९६	वल्लण.	श्रीदत्त
,,	९७	मलयशेखर.	मलयशेखर
,,	९८	०	०
,,	९९	मङ्गलकलश.	मङ्गलकलश
,,	१००	महोदधि.	महोदधि
५	१	शालवाहन.	०
,,	२	विग्रहराज.	०
,,	३	०	०
,,	४	कड्डिल.	०
,,	५	ब्रह्मचारिन्.	०
,,	६	०	०
,,	७	०	०
,,	८	शालवाहन.	०
,,	९	शालवाहन.	०
,,	१०	०	पृथ्वीनन्दन
,,	११	०	०

गा.	क्र.	पीतांबर	भुवनपाल
४	१२	श्रीशक्ति.	नील
,,	१३	शङ्कर.	श्रीदत्त
,,	१४	शालवाहन.	स्वभाव
,,	१५	ब्रह्मदत्त.	ब्रह्मदत्त
,,	१६	रोलदेव.	रोलदेव
,,	१७	पालित.	देवदेव
,,	१८	देवदेव.	०
,,	१९	तुङ्गक.	भुजङ्ग
,,	२०	शालवाहन.	०
,,	२१	राजरसिक.	प्रवरराज
,,	२२	दशरथ.	मुग्धहरिण
,,	२३	सरण.	परबल
,,	२४	कङ्कणतुंग.	काञ्चनतुंग
,,	२५	पालित.	स्फुटिक
,,	२६	मृगांकलक्ष्मी.	०
,,	२७	लक्ष्मण.	स्फुटिक
५	२८	पोटिस.	विषग्रंथि
,,	२९	मकरंद.	०
,,	३०		रामदेव
,,	३१	शालवाहन.	०
,,	३२	मान.	पालित्तक
,,	३३	पालित.	कुमारदेव
,,	३४	पालित.	०
,,	३५	०	०
,,	३६	शालवाहन.	०
,,	३७	कहिल.	०
,,	३८	उल्लोल.	०
,,	३९	अट्टराज.	हाल
,,	४०	माधव.	मार्गशक्ति
,,	४१	खरग्रह.	खरग्रहण
,,	४२	मुग्ध.	कर्कंधर्मन्
,,	४३	गजेंद्र.	उत्त
,,	४४	गजेन्द्र.	दोसीर
,,	४५	जोज्जदेव.	पेह्य
,,	४६	कैशोराय.	कल-कत
,,	४७	शालवाहन.	देव
,,	४८	शालवाहन.	०
,,	४९	कुमारिल.	विन्ध्यराज
,,	५०	कुमारिल.	विन्ध्यराज

गा.	क्र.	पीतांबर	भुवनपाल
५	५१	चारुदत्त.	विष्णुना
”	५२	विष्णुराज.	कुंददत्त
”	५३	कज्जलराय.	कर्णराज
”	५४	दुर्गराज.	दुर्गराज
”	५५	शालवाहन.	वसन्त
”	५६	वसन्त.	वसन्त
”	५७	०	वासुदेव
”	५८	चुल्लोत.	चुल्लोडक
”	५९	चुल्लोत.	धवल
”	६०	चुल्लोत.	वल्लभ
”	६१	शालवाहन.	रोहा
”	६२	रेखा.	रोहा
”	६३	रेखा.	संवरराज
”	६४	पादवशवर्तिन्	हाल
”	६५	शालवाहन.	हाल
”	६६	पोटिस.	पोट्टिस
”	६७	पृथ्वीनाथ.	वृच्छिन
”	६८	पृथ्वीनाथ.	वृच्छिन
”	६९	०	मतुल
”	७०	चुल्लेत.	चुल्लोढक
”	७१	चुल्लेत.	हाल
”	७२	मुकुन्द.	इन्द्र
”	७३	अनङ्गक	अनङ्गदेव
”	७४	गुणाढ्य.	गुणमुग्धा
”	७५	शालवाहन.	आन्ध्रलक्ष्मी
”	७६	आन्ध्रलक्ष्मी.	आन्ध्रलक्ष्मी
”	७७	कहिलं.	सीहाल
”	७८	वराह.	वराह
”	७९	सेनेंद्र.	कुंभिभोगिन्
”	८०	निःसह.	निषह
”	८१	प्रवरसेन.	परमेश्वर
”	८२	दुर्लभराज.	दुर्लभराज
”	८३	निःसह.	०
”	८४	हरिराज.	हरिराज
”	८५	विदग्ध.	ध्रुवभट्ट
”	८६	अजय.	सूद्रक
”	८७	महादेव.	विखाचार्य
”	८८	वनगज.	वनदेव
”	८९	राघव.	राघव
५	९०	राघव.	०
”	९१	दूरमान.	दूरामर्ष
”	९२	विरहविलास.	०
”	९३	विदग्ध	दुध
”	९४	दुर्लभराज.	हाल
”	९५	परमेश्वर.	०
”	९६	दुर्द्धरूढ.	दुर्गस्वामिन्
”	९७	माधव.	विन्ध्यराज
”	९८	शालवाहन.	रोहदेव
”	९९	०	०
”	१००	शालवाहन.	वुद्धभट्ट
६	१	विक्रमभानु.	विक्रान्तभानु
”	२	सर्वसेन.	शिवराज
”	३	सर्वसेन.	सलवण
”	४	महिषासुर.	महिषासुर
”	५	श्रीमाधव.	आन्ध्रलक्ष्मी
”	६	रेखा.	वनकेसरिन्
”	७	केशव.	संभ्रम
”	८	रोलदेव.	०
”	९	०	जयदास
”	१०	रमिल्ल.	जयदेव
”	११	यशःसिंह.	जयसिंह
”	१२	बहुबल.	साधुवलित
”	१३	कुमारिल.	सुमति
”	१४	मन्मथ.	ब्रह्मभट्ट
”	१५	ईश्वर.	गिरिसुता
”	१६	ईश्वर.	अभिमान
”	१७	शालवाहन.	हाल
”	१८	०	रघुवाहन
”	१९	०	विपन्नाविल्लिक
”	२०	०	सरस्वती
”	२१	०	कालदेव
”	२२	०	अनुराग
”	२३	०	कलितसिंह
”	२४	०	तारीगण
”	२५	०	आन्ध्रलक्ष्मी
”	२६	०	०
”	२७	०	हर्ष
”	२८	०	०

गा.	क्र.	पीतांबर	भुवनपाल
६	२९	०	०
,,	३०	०	शिव
,,	३१	०	गगड
,,	३२	०	जयन्तकुमार
,,	३३	०	बहुक
,,	३४	०	०
,,	३५	०	रुद्रराज
,,	३६	०	अर्जुन
,,	३७	०	अनङ्ग
,,	३८	०	अनुभट
,,	३९	०	अनुभट
,,	४०	०	स्पन्दन
,,	४१	०	०
,,	४२	०	आदित्यसेन
,,	४३	०	आदित्यसेन
,,	४४	०	०
,,	४५	०	पालित्तक
,,	४६	०	सिरिसत्ता
,,	४७	०	०
,,	४८	०	०
,,	४९	०	कालिङ्ग
,,	५०	०	०
,,	५१	०	०
,,	५२	०	हाल
,,	५३	०	वाणेसूर
,,	५४	०	०
,,	५५	०	विद्ध
,,	६४	०	शातवाहन
,,	६५	प्रवरसेन.	प्रवर
,,	६६	कलश.	कलशचिह्न
,,	६७	बहुगुण	बहुगुण
,,	६८	शालवाहन.	प्रेमराज
,,	६९	चामीकर	अर्जुन
,,	७०	०	अर्जुन
,,	७१	चारुदत्त.	अर्जुन
,,	७२	चारुदत्त.	कव्वाहनर
,,	७३	देहल.	भोगिन्
,,	७४	इन्द्रराज.	इन्दुराज
,,	७५	अनुराग.	हाल
,,	७६	समर्थ.	अमर्ष
६	७७	इन्दीवर.	इन्द्रकर
,,	७८	पालित.	पालित्त
,,	७९	अनुरसाइक.	पालित्तक
,,	८०	शालवाहन	०
,,	८१	नारायण.	काढिल्लक
,,	८२	चुल्लोह.	आन्ध्रलक्ष्मी
,,	८३	जीवदेव.	जीवदेव
,,	८४	झेज्झा.	झोज्झा
,,	८५	०	गेलदेव
,,	८६	शेखर.	श्वेतपट्ट
,,	८७	मुग्धहरिण.	बप्प
,,	८८	सार.	सार
,,	८९	सार.	शकट
,,	९०	सार.	गुणानुराग
,,	९१	कुमार.	माधवप्रिय
,,	९२	अनङ्ग	सीहल
,,	९३	अनङ्ग.	देव
,,	९४	पोटिस.	०
,,	९५	भीमस्वामिन्.	०
,,	९६	शालवाहन.	०
,,	९७	०	०
,,	९८	शालवाहन.	०
,,	९९	मकरन्दसेन.	०
,,	१००	०	०
७	१	चुल्लोह.	०
,,	२	चुल्लोह.	०
,,	३	चुल्लोह.	०
,,	४	दुर्लभराज.	गोग्ग
,,	५	शालवाहन.	रेहा
,,	६	शालवाहन.	विन्ध्याधिप
,,	७	महिपासुर.	जीवदेव
,,	८	पोटिस.	अरदेव
,,	९	पालित.	अपराजित
,,	१०	चन्द्रोह.	चुल्लोहक
,,	११	भीमस्वामिन्.	गणपति
,,	१२	भीमस्वामिन्.	विंध
,,	१३	मुग्धराज.	रविराज
,,	१४	मेघचन्द्र.	कोणदेव
,,	१५	मेघचन्द्र.	सुरभिवृक्ष

गा.	क्र.	पीतांवर	भुवनपाल
७	१६	वाक्पतिराज.	०
”	१७	वाक्पतिराज.	कुब्जरङ्गी, कुरङ्गी ?
”	१८	वाक्पतिराज.	कुब्जरङ्गी, कुरङ्गी ?
”	१९	शालवाहन.	०
”	२०	अनुराग.	दोभङ्कुल
७	२१	शालवाहन.	०
”	२२	शालवाहन.	०
”	२३	पालित.	०
”	२४	रोहा.	०
”	२५	माधव.	मदन
”	२६	विदग्ध.	०
”	२७	०	०
”	२८	शालवाहन.	०
”	२९	शालवाहन.	०
”	३०	वोहा.	०
”	३१	०	०
”	३२	०	०
”	३३	०	०
”	३४	०	०
”	३५	०	०
”	३६	०	०
”	३७	०	०
”	३८	०	०
”	३९	०	०
”	४०	०	०
”	४१	०	०
”	४२	०	०
”	४३	०	०
”	४४	०	०
”	४५	०	०
”	४६	०	०
”	४७	०	श्री स्वामिन्
”	४८	०	०
”	४९	०	०
”	५०	०	०
”	५१	०	०
”	५२	०	०
”	५३	शालवाहन	०
”	५४	०	०
”	५५	०	०
”	५६	०	०
”	५७	०	०
”	५८	०	०
७	५९	०	०
”	६०	०	०
”	६१	०	०
”	६२	०	०
”	६३	०	०
”	६४	०	०
”	६५	०	०
”	६६	०	०
”	६७	०	०
”	६८	०	०
”	६९	०	०
”	७०	०	०
”	७१	०	०
”	७२	०	०
”	७३	०	०
”	७४	०	०
”	७५	०	०
”	७६	०	०
”	७७	०	०
”	७८	०	०
”	७९	०	०
”	८०	०	०
”	८१	०	०
”	८२	०	०
”	८३	०	०
”	८४	०	०
”	८५	०	०
”	८६	०	०
”	८७	०	०
”	८८	०	०
”	८९	०	०
”	९०	०	०
”	९१	०	०
”	९२	०	०
”	९३	०	०
”	९४	०	०
”	९५	०	०
”	९६	०	०
”	९७	०	०
”	९८	०	०
”	९९	०	०

(४) प्रमुख प्राकृत शब्द-सूची